भारतीय पुरातत्व

पुरातत्वाचार्य मुनि जिनविजय

अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादन समिति :

श्री आर. एन. दाण्डेकर—पूना
श्री हरिवल्लभ भायाणी—बंबई
श्री दलसुख मालवणिया—अहमदाबाद
श्री दशरथ शर्मा—जोधपुर
श्री वासुदेवशरण अग्रवाल—काशी
श्री प्रबोध पंडित—पूना
श्री अगरचन्द नाहटा—बीकानेर
श्री गोपालनारायण बहुरा—जयपुर
श्री जवाहिरलाल जैन—जयपुर (संयोजक)

प्रकाशक :
श्री मुनिजिनविजय सम्मान समिति
किशोर निवास, त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर-१ (राजस्थान)

मुद्रक :
पॉपुलर प्रिंटर्स
नवाब साहब की हवेली, त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर-२

मूल्य : [illegible] रुपये मात्र
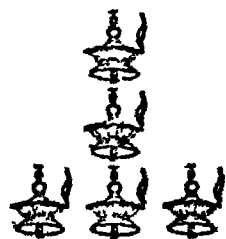
समिति की ओर से — श्री पूर्णचंद्र जैन

सम्पादकीय — श्री जवाहिर लाल जैन

प्रास्ताविक — श्री दलसुख मालवणिया

समिति की ओर से

श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी पुरातत्ववेत्ताओं और प्राच्य-विद्या-प्रेमियों में विश्व-विश्रुत विभूति है।

मुनिजी ने अनेक शोध-संस्थान, ग्रन्थ-संस्थान, ग्रथ-भण्डार प्राचीन पुस्तक-माला आदि का संस्थापन, निर्देशन, संयोजन, संचालन किया है।

विविध विषयो के बड़े-छोटे नाना ग्रन्थों के परिश्रमपूर्वक गहन-अध्ययन, संपादन और प्रकाशन के द्वारा उन्होंने एक ओर देश-विदेश के विद्वानों की ज्ञान-पिपासा-पूर्ति का और दूसरी ओर भारतीय-वाङमय-निधि को समृद्ध करने व पुराने इतिहास की कड़ियो को जोड़ने का असाधारण काम किया है।

अगणित अलभ्य प्राचीन ग्रन्थों को उन्होंने सुरक्षित कर दिया है।

राष्ट्रीय-शिक्षण और राष्ट्रीय-जन-जागरण भी उनका कार्य-क्षेत्र रहा है।

इस मनीषी का सार्वजनिक-सम्मान व अभिनंदन करने का विचार कुछ वर्षों पूर्व किया गया। इस प्रसंग में अभिनंदन-ग्रन्थ समर्पण के पीछे यह दृष्टि भी रही कि राजस्थान में जन्मी, लेकिन फिर सारे भारत मे ख्याति-प्राप्त, इस प्रतिभा की जीवन सेवाएं प्रकाश मे लाई जायें, इनकी खास कुछ रचनाएं अप्रकाशित रही हों उनको ग्रन्थ मे संकलित कर दिया जाय और मुनिजी का निकट-परिचित, स्नेहीजन का जो विशाल समुदाय है उससे उपयुक्त लेख-सामग्री प्राप्त कर इसमें दी जाय।

मुनिजी ने इस कार्य के लिये बहुत ही कठिनाई से सहमति दी। इस निमित्त से कहीं भी जाने-आने से तो उन्होने स्पष्ट ही इनकार किया। इसलिये चित्तौड़ मे ही यह कार्यक्रम आयोजित करने का निश्चय किया गया।

ग्रन्थ की सामग्री के संचय, सपादन मे काफी समय लगा। उससे भी अधिक अप्रत्याशित विलम्ब ग्रन्थ के मुद्रण, प्रकाशन मे हुआ।

अर्थ-सग्रह के लिये पूरी शक्ति नहीं लग सकी। इस स्थिति मे पत्रं-पुष्प-फल तोय रूप अभिनन्दन-ग्रन्थ-मात्र समर्पण का ही कार्य-क्रम रखना तय रहा।

मुनिजी ने चितौड़ में श्री हरिभद्र सूरि स्मारक व पुरात्व-शोध-केन्द्र और श्री भामाशाह-भवन की स्थापना द्वारा जो महत्व का कार्य किया है और जिसके लिये आर्थिक सहायता मे सहयोग वे चाहते रहे उसमें यत्किंचित् योग देने का यह ही उपाय सोचा गया कि अभिनन्दन-ग्रन्थ की बिक्री से जो राशि आये उसका, ग्रथ की छपाई के खर्चे की पूर्ति में लगने वाले अंश के अलावा, शेषांश मुनिजी के परामर्शानुसार स्मारक के काम मे ही लगाया जाय।

ग्रथ के प्रकाशन और सम्मान-कार्यक्रम के संयोजन मे असाधारण देर हुई उसके लिये मैं मुनिजी, सम्मान-समिति के सदस्यगण, इस कार्यक्रम के लिये उत्सुक अनेक विद्वान् बन्धुओ और अन्य भाई-बहनो के समक्ष क्षमाप्रार्थी हूं।

इस बीच समिति के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुन्शी का हाल ही मे स्वर्गवास हो गया। वे इस कार्यक्रम की संयोजना के दिन हमारे बीच नहीं रहेंगे यह अत्यत दु ख की बात है। मुनिजी के तो वे अनन्य प्रेमी थे और इसी कारण वृद्धावस्था व स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुये भी उन्होने समिति के अध्यक्ष-पद के लिये स्वीकृति दे दी थी। उनके प्रति हमारी विनम्र श्रद्धांजलि है।

अभिनन्दन-कार्य मे देश के विद्वद्गण, धनी-मानीजन, राज्य-सरकार, प्रेस आदि का जो सहयोग मिला उसके लिये समिति सबकी आभारी है।

जयपुर,
मार्च १९७१

पूर्णचन्द्र जैन
मन्त्री,
श्री मुनि जिनविजय सम्मान समिति।

— : —

सम्पादकीय

आजादी के पश्चात् जब राजस्थान का एकीकरण हुआ और जयपुर राज्य प्रजामंडल के प्रमुख नेता श्री हीरालाल जी शास्त्री के नेतृत्व मे नव निर्मित राजस्थान सरकार ने कार्यारम्भ किया तो राज्य की बहुमुखी समृद्धि की दृष्टि से राज्याधिकारियो और जन सेवको के मिले जुले दस मंडल कायम किये गये । उस समय संस्कृत मंडल मे पुरातत्वाचार्य श्री जिनविजयजी मुनि भी शामिल हुए और उनकी देख रेख मे राजस्थान पुरातत्व मंदिर की स्थापना हुई जिसने राजस्थान की प्राचीन साहित्यिक निधि के सग्रह, सुरक्षा और प्रकाशन की जिम्मेदारी ली । श्री मुनिजी से परिचय तो पहले से ही था, पर तब से उनके व्यक्तित्व से निकट का सम्पर्क बना और उनके विचार और कार्य के प्रति सराहना की भावना उत्तरोत्तर दृढ होती गई । उस समय हम लोग—श्री सिद्धराज जी ढढ्ढा, श्री पूर्णचन्द जी जैन और मै दैनिक लोकवाणी से सम्बद्ध थे और उक्त माध्यम से मुनिजी के द्वारा राजस्थान मे चलाई जाने वाली इस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को अधिकतम बल देने का प्रयास किया गया ।

समय बीतता गया । १९६३ मे जब मुनिजी ने अपनी आयु के ७५ वर्ष पूरे किये और उसके पूर्व उन्हे भारत सरकार के द्वारा पद्मश्री की उपाधि से भी सम्मानित किया गया तथा वे राजस्थान पुरातत्व मन्दिर से भी जो अब राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के रूप मे उत्तरोत्तर विकसित और समृद्ध होता जा रहा था अवकाश लेने की चर्चा करने लगे, तो सहज ही मुनिजी का अभिनन्दन करने और उन्हे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का विचार उत्पन्न हुआ और इसे परम आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी का आशीर्वाद तथा श्री दलसुख मालवणिया और श्री रतिलाल देसाई का प्रोत्साहन और सहयोग मिला तो मुनि जिनविजयजी सम्मान समिति का सगठन हुआ तथा उसकी प्रबध समिति और संपादन समिति बनी । कार्यारम्भ हुआ और अच्छी सख्या मे लेख श्री दलसुखभाई तथा अन्य मित्रो के प्रयास से प्राप्त हुये ।

यहीं से कठिनाइयो का प्रारम्भ हो गया । स्वाभाविक रूप से इस काम की जिम्मेदारी श्री पूर्णचन्द जी जैन पर और मुझ पर आई, हमे यह भार उठाने मे प्रसन्नता भी थी और रुचि भी । पर हम लोग विविध प्रवृत्तियो मे बहुत अधिक फसे हुये थे । अत इस काम के लिए समय निकालना बहुत कठिन पड़ा और फिर अर्थ सग्रह का काम तो इतना कष्टमय और निराशापूर्ण रहा कि कई बार हम लोग हिम्मत हार गये और समिति के ही विसर्जन का विचार करने लगे, पर विसर्जन की भी हिम्मत नहीं हुई और जैसे भी हो इस कार्य को सम्पन्न करने का ही तय किया । इस निर्णय को राजस्थान सरकार द्वारा स्वीकृत आर्थिक सहायता से भी बहुत बल मिला। प्रेस की कठिनाइयाँ भी अत्यधिक रही और विलम्ब भी इतना हो गया कि प्रारम्भ के छपे अनेक फार्म ही मैले हो गये और कुछ फार्म तो दुबारा छापने पड़े । प्रेस के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के कारण काम भी काफी समय तक रुका रहा । खैर, कुछ भी परिस्थितियां बनीं, अब यह अभिनन्दन ग्रन्थ आपके सम्मुख है ।

ग्रन्थ की योजना और लेखों की प्राप्ति मे श्री दलसुख भाई का मुख्य हाथ रहा है और प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने इसका प्रास्ताविक भी लिखा है। सपादन समिति के अन्य सदस्यों मे श्री गोपालनारायण जी बहुरा का बहुमूल्य सहयोग हमे मिला है। उनके अतिरिक्त प्राचीन राजस्थानी के मान्य विद्वान श्री महताबचन्दजी खारैड ने ग्रन्थ के मुद्रण और प्रकाशन के कार्य मे बहुत परिश्रम और उत्साह के साथ हाथ बटाया है। आदरणीय श्री अगरचन्द जी नाहटा बराबर तीव्रता के साथ इस कार्य की पूर्ति के लिए तकाजा करते रहे हैं। लेखक बन्धुओ ने इस ग्रन्थ के लिए अपने बहुमूल्य लेख प्रदान किये और धीरज के साथ इसके प्रकाशन की प्रतीक्षा करते रहे। इन सब बन्धुओ की कृपा के लिये मैं समिति की ओर से कृतज्ञता प्रकट करता हूं। अत्यन्त खेद की बात है कि श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल और श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार इस बीच दिवगत हो गये।

आदरणीय मुनिजी प्रारम्भ से ही अपने अभिनन्दन तथा अभिनन्दन ग्रन्थ दोनो के प्रति अपनी उदासीनता और अनिच्छा अत्यन्त तीव्रता के साथ व्यक्त करते रहे हैं। इसके उपरान्त भी हम लोग इस काम मे लगे रहे और उनके व्यक्तित्व तथा उनकी सेवाओं के प्रति सम्मान और सराहना के रूप मे यह ग्रन्थ उन्हें अर्पित है। इसमें जो कमियां और दोष रहे हैं उनकी जिम्मेदारी हमारी है, मेरी अपनी है और जो अच्छाइयां हैं वे सब लेखक बन्धुओ, सहयोगियो और प्रेस के मित्रो के कारण है और वे ही इसके लिये बधाई के पात्र हैं। मुझे प्रसन्नता इसी बात की है कि आठ वर्ष पहले जो जिम्मेदारी ली वह पूरी हुई और मुनिजी के अभिनन्दन में जो शतश कर युगल जुड़े हैं उनमें हमारे साथ भी शामिल हैं। व्यक्ति समाज सेवा का कार्य निस्पृह और नि स्वार्थ होकर करे, पर समाज उस सेवा को कृतज्ञता के साथ मान्यता दे इसी में व्यक्ति का विकास और समाज की समृद्धि है।

जवाहिरलाल जैन

सम्पादन समिति
किशोर निवास, जयपुर,
महावीर जयन्ति, १९७१

प्रास्ताविक

आजन्म विद्योपासक आचार्य श्री जिनविजयजी के अभिनन्दन की योजना का एक मूर्तरूप प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ है। आचार्य श्री ने भारतीय पुरातत्त्व के संशोधन मे अपना समग्र जीवन खपा दिया है, यह कहे तो अनुचित न होगा। श्री मुन्शीजी के भारतीय विद्या भवन के पाये के पत्थर ये ही हैं और महात्मा गांधी जी द्वारा स्थापित पुरातत्व मदिर के भी ये ही सचालक रहे और जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की आत्मा भी आचार्य श्री ही हैं। भाडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना मे भी इनका बलवत्तर योगदान था। केवल विद्याकार्य ही किया हो यह नही। राष्ट्रीय आन्दोलन मे भी इन्होने भाग लिया है और धरासणा के सत्याग्रह मे लाठिया भी खाई और जेल भी गये। आधुनिक सशोधन की पद्धति का परिज्ञान करने के लिये जर्मनी भी गये और लौट कर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शातिनिकेतन मे भी कुछ वर्ष रहे। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थो का सपादन किया और अनेक ग्रन्थो को लुप्त होने से बचाया। परिणाम है कि आज उनकी आख की शक्ति नहीवत् रह गई है।

आचार्य श्री जिनविजय जी की अनिच्छा के बावजूद मित्रो ने ई० १९६३ मे जब उन्हे ७५ वा वर्ष पूरा होने वाला था ई० १९६२ मे एक योजना उनके अभिनन्दन की बनाई। उन मित्रो के उत्साह के होते हुए भी देश के कार्य मे वे इतने व्यस्त थे कि अब जब आचार्य श्री जिनविजय जी ८३ वर्ष के हो चुके उनका अभिनन्दन ग्रन्थ छप कर तैयार हुआ है। यह भी एक सतोष की बात है और हमे उनका धन्यवाद ही करना चाहिये कि अन्य कार्यों मे रत उन मित्रो ने एक विद्वान के अभिनन्दन के लिये उत्साह तो दिखाया। इस अभिनन्दन ग्रन्थ के लेखको का मैं यहा विशेष रूप से आभार मानना चाहता हू कि उन्होने मेरी प्रार्थना को ध्यान मे लेकर अपना अमूल्य समय निकाल कर इस ग्रन्थ के लिये लिखा ही नही किन्तु दीर्घ समय तक छपने की प्रतीक्षा भी करते रहे और अपने लेखो को वापस नही मागा। इसकी छपाई का सारा कार्य जयपुर मे ही हुआ है और प्रूफ मेरे पास आये नही है। अतएव छपाई मे कोई क्षति रह गई हो तो उसके लिये भी लेखकगण कृपा पूर्वक क्षमा करें।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ मे आचार्य श्री जिनविजय जी के विषय मे लिखे गये प्रशस्ति लेखो के अलावा स्थायी मूल्य रखने वाले सशोधनात्मक लेख भी हैं। लेखो की भाषा गुजराती, हिन्दी, और अग्रेजी है। अतएव भारतीय प्राचीन विद्याओ मे रस रखने वाले अभ्यासिजनो के लिये भी यह ग्रन्थ उपादेय होगा ऐसा

मेरा विश्वास है। राजस्थान मे ही आचार्य श्री ने जन्म लिया और अंतिम जीवन राजस्थान में ही बिता रहे हैं। इस दृष्टि से इस मे राजस्थान की भाषा और सस्कृति के विषय मे विशेष देने का हमारा प्रयत्न था, किन्तु उसमे हम विशेष सफल नही हुए। फिर भी जो कुछ हो पाया है वह विशेष उपयोगी सिद्ध होगा इसमे सदेह नही है।

आचार्य श्री जिनविजयजी के प्रति आदर रखने वाले देश-विदेश के विद्वानो ने इसमे भारतीय दर्शन, मूर्ति कला, सगीत, साहित्य, पुरातत्व आदि विषयो मे जो लिखा है वह बहुमूल्य है। यहा हम विशेष रूप से डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को याद करते हैं जिन्होने इसके लिये भारतीय कला के विषय मे लेख दिया किन्तु वे इस अभिनन्दन ग्रन्थ को देख नही सके। इस बीच उनका स्वर्गवास हो गया।

आचार्य श्री जिनविजय जी का विद्वज्जगत् मे जो नाम है और कार्य है उसके अनुरूप यह अभिनन्दन ग्रन्थ बना नही है—इसे स्वीकार करना ही चाहिए। किन्तु जो भी अल्प-स्वल्प बन पडा यह विद्वज्जगत् के समक्ष रख रहे है। इस ग्रन्थ मे जो भी कमी रह गई हो—उसके लिये क्षमाप्रार्थी हू और इस अभिनन्दन के सयोजको मे खास कर श्री पूर्णचन्द्र जैन तथा श्री जवाहरलाल जैन को अनेक कार्यों मे व्यस्त रहने पर भी यह कार्य पूरा किया एतदर्थ उनका आभार मानता हू।

दलसुख मालवणिया

ला० प० विद्या मदिर,

अहमदाबाद—९

ता० ३१—३—७१

प्रथम खंड:
जीवन परिचय

पुरातत्वाचार्य श्री जिनविजय मुनि [जन्म—१८८८ ई०]

आचार्य श्री जिनविजय मुनि : संक्षिप्त परिचय

पुरातत्वाचार्य श्रीजिनविजय मुनि का जन्म राजस्थान के भीलवाडा जिले की हुरडा तहसील के अन्तर्गत रूपाहेली नामक ग्राम मे माघ शुक्ला १४ स० १९४४ तदनुसार २७ जनवरी सन् १८८८ ई० के दिन सूर्योदय के पश्चात हुआ। परमारवशीय क्षत्रिय कुलीन श्री बिरधीसिह (बडदसिह) इनके पिता थे तथा सिरोही राज्य के देवडा वशीय चौहान घराने के एक जागीरदार की पुत्री राजकुंवर इनकी माता थी। इस बालक का नाम किसनसिंह रखा गया, यद्यपि मा दुलार से इन्हे रणमल के नाम से पुकारती थी।

मुनिजी के पूर्वजो ने १८५७ के स्वातंत्र्ययुद्ध के समय अजमेर—मेरवाड़ा जिले मे अंग्रेजो के विरुद्ध आचरण किया था, अत. प्रतिशोध के रूप मे अंग्रेज सरकार द्वारा इनकी जमीन-जायदाद, जागीर आदि सब सम्पत्ति जब्त कर ली गई और इनके परिवार के अनेक लोगो को मार भी डाला गया। इनके दादा अपने दो पुत्रो—इन्द्रसिह और बिरधीसिह के साथ किसी तरह बच निकले और उन्होने लगभग सारी जिन्दगी अज्ञातवास मे इधर-उधर घूमते-फिरते ही व्यतीत की। वे भटकते-भटकते रूपाहेली पहुँचे और वहा के ठाकुर से सहानुभूति प्राप्त करके वहा अपने पुत्रो को रख गये। वृद्धिसिह सिरोही राज्य में जंगलात विभाग के अधिकारी बने। वहीं उनका विवाह हुआ। तत्पश्चात् वे रूपाहेली लौट आये।

बुढापे मे वृद्धिसिह को सग्रहणी रोग हो गया जिसका इलाज उन्होने एक जैनयति श्री देवीहस से कराया। श्री देवीहस ने बालक की बुद्धिमत्ता और प्रत्युत्पन्नमति को देखकर उनके पिता से कहा—किसनसिंह को अच्छी तरह पढाओ-लिखाओ। यह बालक कुल का मुख उज्वल करने वाला होगा। स० १९५५ मे वृद्धिसिह का देहावसान हो जाने पर परिवार एकदम निराश्रित हो गया और फलत किसनसिंह की पढाई की कुछ व्यवस्था न रही। यह देखकर यतिदेवीहस ने किसनसिंह को पढाने के लिए अपने पास रख लिया। उनके यहां ऐसे ही ८-१० बालक और भी थे, पर कुछ समय बाद ही यतिजी अकस्मात् अपनी बैठक मे तख्त पर से नीचे गिर पडे जिससे उनकी पिंडली के पास की हड्डी टूट गई। कुछ दिन बीमार रहने के बाद वानेण के एक यति वहा आये जो श्री देवीहस को सेवा-सुश्रुषा के लिए अपने गाव ले गए। किसनसिंह ने यतिजी की बडी सेवा की, पर तीन महिने बाद उनका देहावसान होने पर वह बालक फिर निराश्रित हो गया।

जब किसनसिंह की माता को यह समाचार मिला तो उसने किसनसिंह को रूपाहेली आजाने के लिए कहा, पर किसनसिंह के मन मे तो ज्ञान तथा अध्ययन की तीव्र पिपासा जागृत हो गई थी, अत. वे रूपाहेली न आकर यति गभीरमल के कहने से उनके गाव मझ्या चले गए और वहा दो-ढाई साल तक अध्ययन करते रहे।

कुछ समय बाद जब यतिजी मालवे मे चातुर्मास बिताने के विचार से यात्रा पर निकले तो किसनसिंह भी साथ हो लिया। रास्ते मे वे चित्तौड मे एक भोजक के यहा ठहरे। किसनसिंह यतिजी के साथ न जाकर वहीं रुक गया और खेती करने लगा। कुछ समय बाद वहा खाकी साधुओ की मडली आई उसमे अनेक युवक साधु भी थे जो नियमित रूप से अध्ययन करते थे। इस अध्ययन मडल को देखकर किसनसिंह की अध्ययन-कामना फिर बलवान हुई और वह खेतीवाडी छोडकर इस मडली मे शामिल हो गया। यहा उसने देखा कि इस मडली मे केवल युवक ही नही हैं, पर मुन्डित सिर वाली युवतिया भी हैं यद्यपि उनका अन्तर आसानी से मालूम नही पडता। रात मे वे सब मास-मदिरा और व्यभिचार मे प्रवृत्त होते हैं। यह देखकर किसनसिंह ने वहा से निकल भागने का सकल्प किया और साधुवेष छोडकर एक गृहस्थ से प्राप्त धोती कुर्ता पहन कर चुपचाप रात मे निकल गया। वहा से बाणीन, देवगढ़-बारिया, रतलाम आदि घूमता हुआ वह बदनावर आ गया, जहा प्रात काल मदिर मे मागलिक सुनाने का काम करने लगा।

बदनावर से १०-१५ कोस दूर दिगठाण मे उन दिनो एक जैन साधु ने ६० दिन का उपवास किया था। जब उनका उपवास पूर्ण होकर पारणा हुआ तो किसनसिंह बदनावर के गृहस्थ के साथ उनके दर्शन को गया। वहा पर भी किसनसिंह ने स्थानकवासी जैन साधुओ को देखा और उनके अध्ययन–अध्यापन के कार्यक्रम से प्रभावित हुआ। साधु मडली भी इस युवक की प्रतिभा से प्रभावित हुई और उन्होने इसे साधु दीक्षा देने का विचार किया। फलत स० १९५७ ई० की आश्विन शुक्ला १३ के दिन इस १५ वर्ष के किसनसिंह को समारोह पूर्वक जैन धर्म में दीक्षित कर जैन साधु का वेष धारण करवा दिया गया। इस साधु जीवन की चर्या का अनुसरण किसनसिंह ने लगभग ७-८ वर्ष तक किया।

अब भिक्षु किसनसिंह को स्थानकवासी जैन साधुओ की परिपाटी के अनुसार मूल सूत्रो का तथा भाषा मे उनके सार का अध्ययन करना था। साथ ही पौराणिक कथाए और व्याख्यान देने के लिए गद्य-पद्य के अनेक उद्धरण कण्ठस्थ करने थे। वे सब उसने दो ढाई साल मे ही याद कर लिये और यह इस सारी कथा मे निपुण होकर मालवा, खान्देश आदि मे घूमता रहा और साधु वेष और चर्या का पालन करते हुए प्रवचन आदि का कार्यक्रम पूरा करता रहा, पर इस युवक की ज्ञान-पिपासा इतने से परम्परागत ज्ञान से शात नही होती थी और ऐसा लगता था कि इन साधुओ का अध्ययन बहुत ही अपर्याप्त है। फिर जैन साधुओ मे ज्ञान की अपेक्षा तपस्या की अधिक प्रतिष्ठा थी और वे साठ से अस्सी दिन के उपवास करते थे, जिससे उनके सम्मान मे चार चाद लग जाते थे। किसनसिंह को यह सब अनुकूल नही लगता था, वह अपनी ख्याति विद्वत्ता और वक्तृत्व शक्ति के आधार पर ही मानता था और जब भी ऐसे नये साधु मिलते या नए ग्रन्थ मिलते, उनसे नवीन ज्ञान जानकारी प्राप्त करने का इसका सदैव प्रयास रहता था और जो ज्ञान मिलता उसे नोट कर लेता और कण्ठस्थ करने की इसकी रुचि रहती।

सं० १९६० मे किसनसिंह चातुर्मास बिताने के विचार से धार गया तो वहा एक दिन सयोग से भोज के विख्यात सरस्वती मदिर को तोडकर बनाई गई कमाल मौला की मस्जिद का गुम्बद ढह गया। इसमे से कुछ ऐसी शिलाए निकली जिन पर भोज के समय के कुछ पाठ्य ग्रन्थ खुदे हुए थे। सरकार के पुरातत्व विभाग ने उनका सग्रह किया। जब किसनसिंह ने यह बात सुनी तो वह भी उन्हे देखने पहुचा। किसनसिंह उन्हे थोडा-थोडा पढ सका। उस समय विख्यात पुरातत्व वेत्ता श्री रा० गो० भाडारकर के सुपुत्र

श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर भी वहा आये हुये थे। उन्होने किसनसिंह को बुलवाया। किसनसिंह ने उसे पूरा पढा और उसे उत्तराध्ययन सूत्र बतलाया, जिसे श्री भडारकर ने नोट कर लिया।

यहा किसनसिंह को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि उन प्राचीन लिपियो का ज्ञान और अधिक प्राप्त करना चाहिए, पर जैन साधु स्वय तो अधिक पढे-लिखे थे नही और गृहस्थ अध्यापक से पढना पाप मानते थे, इसलिए उसके लिए नए ज्ञान प्राप्ति के द्वार अवरुद्ध लगे। कुछ समय बाद सस्कृत भाषा के एक ब्राह्मण पडित से मिलना हुआ। उसने इनके उच्चारण की अशुद्धिया बतलाई और व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता पर जोर दिया तो किसनसिंह के मन मे ज्ञान की जिज्ञासा और भी तीव्र बनी। अगले साल महाराष्ट्र के चातुर्मास के समय किसनसिंह ने मराठी भाषा सीखी और तुकाराम तथा ज्ञानदेव के अभग कठस्थ किये। यहा इसका परिचय एक ऐसे साधु से हुआ जो श्वेताबर मदिरमार्गी सप्रदाय को छोडकर स्थानकवासी बना था। उसने बतलाया कि उस सम्प्रदाय मे बड़े बडे विद्वान हैं तथा ब्राह्मण पंडित उन्हे व्याकरण काव्य, अलकार, पिंगल आदि पढाते हैं, तो उनका झुकाव भी उस सप्रदाय की ओर हुआ, पर वे देखते थे कि मंडली से भागने की चेष्टा करने वाले साधु-साध्वियो को किस तरह मारा-पीटा जाता था और उस मडली से निकल भागना कितना कठिन था, पर अब वे अधिकाधिक उद्विग्न होने लगे और वहा से चुपचाप किसी दिन रात को निकल भागने की सोचने लगे।

इस साधु मंडली मे से निकल भागने की कहानी अब आप उन्ही की जबानी सुनिए .—

"ज्यो ज्यो मेरा अनुभव बढता गया और कुछ ज्ञान भी बढता गया त्यो त्यो मेरे मन मे उस जीवनचर्या के सबध मे अनेक सकल्प विकल्प उठने लगे। मेरा मन उस चर्या मे स्थिर नही होने लगा। अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न विचारो का अध्ययन, मनन करता हुआ मैं कई प्रकार के व्यक्तियो के सम्पर्क मे भी आता रहा। परिणाम मे उस सम्प्रदाय से निकल जाने की मेरी भावना बलवती बनी और एक दिन मैंने सवत् १६५६ के आश्विन शुक्ला १३ के उस दिगठान गाव के बाहर की बगीची मे हजारो लोगो के सम्मुख बडे उत्सव के साथ जो साधु भेष मैंने पहना था उसको एक अधेरी रात मे गुपचुप उज्जैन के पास बहने वाली क्षिप्रा नदी मे बहा दिया और मैंने फिर बदनावर के उस जैन मदिर मे रहते समय जैसा वेश धारण-कर लिया अर्थात् एक फटी हुई-धोती और शरीर ढकने के लिए एक मामूली पुरानी चादर के सिवाय कोई चीज उस समय मेरे पास नही थी। मैं उसके दूसरे दिन उज्जैन से नागदा जाने वाली रेल की पटरी पर चलने लगा। कहा जाना चाहिए इसका कोई लक्ष्य नही बना और मन मे यह भय हो रहा था कि पिछली रात को गुपचुप मैं उज्जैन के जिस धर्म स्थान से निकल पडा उस स्थान वाले लोग मेरी खोज करने के लिए इधर उधर दौडते हुए मेरे पीछे न आ जावे और मुझे जबर्दस्ती डरा धमकाकर वापस अपने स्थान मे ले जाकर बद न कर दें इसलिए मैंने दो चार मील रेल की सडक पर चलने के बाद खेतो का रास्ता पकडा। बारिश के दिन थे, इसलिए बीच बीच मे खूब वर्षा हो जाती थी। मेरे पास सिवाय एक पुरानी लट्ठे की चद्दर के और कोई वस्त्र नहीं था नीचे पहनने के लिए वैसी ही एक मामूली धोती थी। वैसी हालत मे मैं जब जब पानी की मूसलाधार वर्षा आ जाती थी तो किसी एक दरख्त के सहारे बैठ जाता था। वर्षा कम होने पर फिर चल देता था। नजदीक मे कहा पर कोई गाव है या नही इसका मुझे कोई पता नही था। न कोई उस बारिश की सघन झाडी मे व्यक्ति ही दिखाई देता था। भूख अलग लग रही थी और ठडी वर्षा के कारण शरीर भी

खूब कांप रहा था। आखिर सारा दिन इस तरह चलने के बाद एक छोटे से गांव के पास में पहुंच गया। संध्या हो गई थी, अ धेरा छा रहा था और आकाश मे काली घटाए उमड़ रही थी। ऐसी स्थिति मे रास्ते के पास ही एक किसान का घर दिखाई दिया। किसान का घर अन्दर से बन्द था। उसके दरवाजे के आगे छोटा सा चौतरा था। उस पर गाय भैंस को बाधने के लिए खाखरे के पत्तो से ढका हुआ एक छोटासा छप्पर था। उसके नीचे जाकर मैं थरथराता हुआ अपने हाथ पैर सिकोड कर बैठ गया। मेरी चलने की शक्ति भी अब नही रही जिससे मै गांव मे जाकर कही किसी ठीक जगह पर आश्रय लूं। कोई घटे बाद एक बाहर की स्त्री उस किसान के घर पर आई और किसान का दरवाजा खटखटाया। अन्दर मे किसान ने आकर दरवाजा खोला और उसको उस स्त्री ने पूछा कि जानवर कहाँ बाधे हैं? इतने मे उसकी नजर उस छप्पर के एक कौने मे हाथ पैर सिकोड कर बैठे हुए अ धेरे मे मुझ पर पडी। पहले तो वह स्त्री चौंक गई कि यह कोई भूत आकर बैठा है। किसान तुरत अ दर से एक घासलेट के तेल से जलती हुई चिमनी लेकर आया और उजाले मे मेरी ओर आखें फाडफाड़ कर देखने लगा। मुझे कुछ ज्वर सा भी हो रहा था पर वह किसान जरा समझदार था मुझे देखकर वह घबराया डरा नही परतु धीरे से पूछने लगा कि अरे भाई तू कौन है और यहां यों किस लिए बैठा है? मैंने कहा-पटेल मैं एक अनजान अतिथि हूँ और उज्जैन की तीर्थ यात्रा के लिए जा रहा हू। आज दिन भर पिछले गाव से चलता रहा और रास्ता भूल गया इसलिए इस अ धेरी रात में और बरिश की झडी मे यह एक सूना सा छप्पर देखकर विश्राम लेने की दृष्टि मे आकर बैठ गया हूं। किसान के मन मे मेरी बात सुनकर दया आई और कहा कि "बाबा! चलो तुम अ दर घर मे आकर बैठ जाओ, यहाँ बारिश आवेगी तो तुम को बहुत दुख होगा। मैं उस किसान के प्रेम भरे वचन से कुछ शाति का अनुभव करता हुआ मकान के अ दर जिधर गाय-भैस बधी हुई थी उधर ही एक कौने मे पडी हुई चारपाई पर बैठ गया। किसान मुझसे कई बातें पूछने लगा लेकिन उसका सही उत्तर मैं देना नही चाहता था। मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि, बाबा, मैं किसी दूसरे देश का एक अतिथि हू—तीर्थयात्रा के निमित्त इसी तरह घूमता रहता हू। जहा कुछ कोई खाने को दे देता है तो वह खा लेता हू और ठहरने करने के लिए कोई स्थान दे देता है तो वहा रुक जाता हू। इसी तरह से मैं घूमता हुआ यहा पहुँच गया हू। मुझे उज्जैन की यात्रा करनी है इसलिए कल उधर जाना चाहता हू। किसान ने कोई विशेष बात पूछने की इच्छा नही की और मुझे एक ज्वार की रोटी और कटोरी मे दूध लाकर दिया क्योंकि उसको मेरी बात से मालूम हो गया था कि मैं सारे दिन का भूखा हू। मैंने वह रोटी दूध के साथ खाना शुरू किया उस समय मेरे मन मे आया कि पिछले ८ वर्षों तक जो साधुचर्या का बडी निष्ठापूर्वक और मुक्ति की प्राप्ति की कामना से अनुसरण किया उस चर्या का आज एकदम सहसा कैसे विसर्जन हो गया। मैं स्वय आश्चर्य मे निमग्न हो रहा था कि पिछले ८ वर्षों तक सूर्यास्त के बाद अन्न दूध आदि तो क्या पानी की बूद भी मुँह मे नही डाली थी उसी चर्या का भग आज के इस दिन रात्रि में मैं भूखा प्यासा एक अनजान किसान के घर मे पशुओ के पास बैठा बैठा ठडी जुवार की रोटी खाकर कर रहा हू। मैं फिर उस चारपाई पर लेट गया। किसान अपने सोने बैठने के कोठे मे चला गया उसके घर मे शायद दो एक स्त्रियो के सिवाय और कोई नही था। बारिश बरसनी फिर शुरू हो गई और उसकी झडी मे सब निस्तब्ध होकर निद्रा देवी की गोद मे लेट गये पर मुझे नीद कहां आनी थी। मैं पिछली रात की उस घडी से अपने दिन की चर्या का विचार करने लगा, जिस घड़ी मे मैंने उज्जैन की लूणमडी मे स्थित अपना धर्म स्थान छोडकर सध्या के समय शौच जाने निमित्त बाहर निकल गया था।

उस रात के व्यतीत होने पर सवेरे ही उस दयालु किसान को अपना हार्दिक धन्यवाद देता हुआ वहाँ से आगे के लिए चल पडा।"

किसनसिंह जैसे तैसे घूमता-फिरता अहमदाबाद पहुचा। वहा १०-१५ दिन भटकते रहने के बावजूद कोई मार्ग नही मिला। एक दिन रात को जब यह एक दुकान के सामने सो रहा था तो चोर होने के सदेह मे पुलिस पकड कर ले गई। पूछताछ करने पर उसे छोड दिया गया। कोई सहारा न देखकर किसनसिंह एक होटल मे चार आने रोज की मजदूरी पर प्याले-रकाबी धोने का काम करने लगा, ताकि पेट की चिंता से मुक्त होकर लिखने-पढने की ओर कुछ ध्यान दे सके। खाली समय मे किसनसिह जैन उपासरो का चक्कर लगाता और तलाश करता कि कहा पढाई की अच्छी व्यवस्था है। वहा से पता चला कि पालनपुर मे कोई अच्छा केन्द्र है। किसनसिंह अहमदाबाद छोडकर पालनपुर चला गया, पर वहा भी निराशा ही हाथ लगी। किसी साधु ने वहा बतलाया कि पाली मे ऐसा उपासरा है जहा पडितगण पढाते हैं। किसनसिंह वहा जा पहुचा और मुनि सुन्दर विजय के पास रहने लगा। मुनि स्वय तो खास पढे-लिखे नही थे, पर उन्होने किसन सिंह की पढाई की समुचित व्यवस्था करवा दी। यहा मार्गशीर्ष शुक्ला ७, १९६६ के दिन पाली के पास भाखरी पर बने जैन मदिर मे उन्होने इस बार जैन श्वेताबर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की साधु–दीक्षा स्वीकार की, मुनि वेष धारण किया और इस बार सम्प्रदाय के व्यवहार के अनुसार उनका नाम जिनविजय रखा गया और उस दिन से वे इस नाम से संबोधित होने लगे।

दीक्षा के कुछ समय बाद मुनिजी ब्यावर गये जहाँ उनकी भेंट आचार्य विजयवल्लभ सूरि से हुई जो अपने शिष्यो के साथ गुजरात जा रहे थे। उनके साथ २-३ पडित भी थे। अपनी अदम्य ज्ञान-पिपासा के कारण मुनिजी इनके साथ हो लिये। फिर पालनपुर होकर बडौदा आये। इस समय तक उनका अध्ययन काफी विस्तृत हो गया था और इतिहास तथा शोध सबधी रुचि भी परिपक्व होती जा रही थी। "टाड राजस्थान" के पढने से राजस्थान तथा मेवाड के अतीत की ओर भी उनका आकर्षण बढा। पाटन मे हस्तलिखित ग्रन्थो, तथा ताडपत्र पर लिखे प्राचीन ग्रन्थो का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया। मेवाड के प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्रीऋषभदेव केसरयाजी की यात्रा भी इन्होने की। इसके बाद मेहसाना मे चातुर्मास किया। इन्ही दिनो मुनिजी का परिचय आचार्य श्री कातिविजय, उनके शिष्य श्री चतुरविजय तथा प्रशिष्य श्री पुण्य विजय से हुआ। ये सब इनकी प्रेरणा तथा सक्रिय सहयोग के स्रोत रहे हैं। मुनिजी ने आचार्यवर के स्मारक रूप मे श्री कातिविजय जैन इतिहास माला का प्रारम्भ किया। इसमे अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हुआ और विद्वानो के द्वारा इनका अच्छा अभिनन्दन हुआ।

मुनिजी १९०८ से ही 'सरस्वती' पढने लगे थे। गुजराती में लेख भी दीक्षा के पश्चात् लिखने लगे थे जो साप्ताहिक 'गुजराती' 'जैन हितेषी' तथा दैनिक 'मुबई समाचार' मे छपते थे। मुनिजी ने प्रसिद्ध जैन वैयाकरण शाकटायन के पाटन भडार मे प्राप्त अन्य ग्रंथो के संबध मे एक लेख सरस्वती मे छपने भेजा। इस पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पाटन के जैन भण्डारो के सबध मे विस्तृत जानकारी मागी, जो लेख के रूप मे सरस्वती मे छपी। इन लेखो तथा अपने सपादित ग्रथो के कारण मुनिजी न केवल गुज-राती साहित्याकाश मे बल्कि हिन्दी जगत मे भी चमकने लगे।

वडोदा-निवास के समय मे ही मुनिजी का वहा नवस्थापित गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज के मुख्य कार्यकर्त्ता श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल से परिचय हुआ जो समानशील और समव्यसन के कारण प्रगाढ मैत्री मे वदल गया तथा परिणामस्वरूप कुमारपाल प्रतिबोध नामक वृहत्काय प्राकृत ग्रन्थ मुनिजी द्वारा सपादित होकर प्रकाशित हुआ ।

इसी समय पूना मे भाण्डारकर प्राच्य विद्या सशोधन मदिर की स्थापना हुई । इस सस्थान के सस्थापको का एक शिष्ट मडल बम्वई के जैन समाज से मिलने आया । मुनिजी इस समय बम्वई मे ही चातुर्मास कर रहे थे । मडल का परिचय इन से भी हुआ और उसने मुनिजी को पूना आने का निमन्त्रण दिया । चातुर्मास के पश्चात् मुनिजी पदयात्रा करते हुए पूना पहुचे । इस सस्थान को देखकर वे बडे प्रसन्न हुए और स्वय भी उसके विकास मे यथाशक्ति योग देने का निश्चय करके वहीं रह गए । यही उन्होने जैन साहित्य सशोधक समिति की स्थापना की और जैन साहित्य सशोधक नामक त्रैमासिक खोज पत्रिका और ग्रन्थमाला का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया ।

मुनिजी का पूना-निवास उनके जीवन मे नया मोड देने वाला सावित हुआ । १९१६–१७ से वे पूना मे रहने लगे थे । उनके निवास का स्थान लोकमान्य तिलक के निवास के निकट ही था । इतिहास, प्राचीन सस्कृति तथा शोध मे लोकमान्य की रूचि और ज्ञान भी अगाध था; अत दोनों मे शीघ्र ही परिचय हो गया और मुनिजी लोकमान्य की देश की स्वाधीनता के लिए तडप तथा उनके राजनैतिक विचारो से अत्यन्त प्रभावित हो गए । कुछ क्रातिकारी विचारो के युवको के ससर्ग मे भी वे आये । राजस्थान के प्रसिद्ध क्रातिकारी श्री अर्जुनलाल सेठी से भी उनका वही परिचय तथा मैत्री हुई । उनकी विचार धारा भी उसी ओर वहने लगी ।

मुनिजी के हृदय मे फिर अतर्द्वन्द्व खडा हो गया । जैन श्वेतावर मूर्तिपूजक साधुचर्या भी उन्हे खलने लगी । देश की पराधीनता की परिस्थिति मे निष्क्रिय से तथा बाह्य त्यागी जीवन से उन्हें अरुचि हो गई और वे पुनः कोई नया मार्ग खोजने लगे । १९१९ मे वे पूना में ही सर्वेट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी के भवन मे महात्मा गाधी से मिल चुके थे और उनके साथ विचार विनिमय करके उनके आश्रम मे प्रविष्ट होने का विचार भी बना था, पर अत मे जब असहयोग आदोलन उन्होने प्रारम्भ किया और अग्रेजी शिक्षा के बहिष्कार के साथ तथा उसके स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा के विचार को मूर्त रूप देने के लिए अहमदाबाद मे राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित करने की योजना बनने लगी तब गाधीजी ने मुनिजी को याद किया ।

इसके बाद की घटना का जिक्र मुनिजी के शब्दो मे ही जानना अधिक रुचिकर होगा :—

"महात्मा जी का बंबई आने का और उनसे मुझे मिलने का जब सदेश मिला तो मैं अकस्मात् बडी असमंजसता की स्थिति मे पड गया । यदि मुझे महात्माजी से मिलना है तो कल ही यहां से रेलगाडी मे बैठकर मुझे बबई पहुँचना चाहिए । गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना व योजना के बारे मे इससे पहले मेरे मित्रो द्वारा मुझे काफी जानकारी मिल गई थी और बहुत ही निकट समय में उसकी स्थापना होने वाली है और उसमे मुझे निश्चित रूप से योग देना है यह भी मेरे कई मित्रो ने सूचित कर दिया था । इन सब बातों

को ध्यान में रखते हुए मैंने तुरत ही बम्बई जाने का निश्चय कर लिया। यह दिन भी आश्विन शुक्ला त्रयोदशी का था। जिस बोर्डिंग हाउस मे मैं रहता था उसमे कई कालेज के विद्यार्थी भी रहते थे जो फर्गुसन कॉलिज और एग्रीकल्चर कॉलेज आदि मे पढ रहे थे। वे विद्यार्थी मेरे सब भक्त थे। मैंने उनमे से एक विश्वस्त विद्यार्थी को अपने पास बुलाया और कहा कि मुझे आज किसी विशेष कार्य निमित्त रेलगाडी मे बैठकर जाना है सो तुम मुझे स्टेशन पर लेजाकर टिकट लेकर गाडी मे बिठा दो और यह बात किसी से कहना मत। बोर्डिंग हाउस के जिस कमरे मे मैं रहता था उसमे मेरी पुस्तकें वगैरह का बहुत कुछ सामान था। उसके ताला लगाकर उसकी चावी मैंने उस विद्यार्थी को दे दी और मैं केवल अपने पहने हुए साधुवेश वाले कपडो के साथ स्टेशन पर चला गया। विद्यार्थी ने मुझे टिकट लाकर गाडी मे बिठा दिया और उस आश्विन शुक्ला त्रयोदसी के दिन तीन बजे की गाडी मे बैठकर बवई के लिए रवाना हो गया। पिछले ९ वर्षो तक पाद भ्रमण करते रहने के बार 'केवल एक दफे प्राणघातक बीमारी के प्रसग को छोडकर यह मेरी प्रथम रेल यात्रा थी। इस यात्रा के साथ ही मेरी जीवन यात्रा ने भी और नया मोड लिया जो मेरे जीवन के सिंहावलोकन की दृष्टि से अधिक महत्व की बनी। गाडी मे बैठने के साथ ही मेरे मन मे कई प्रकार की तरंगे उछलने लगी। उस समय १९५९ वाला वह आश्विन शुक्ला त्रयादेशी का स्मरण हुआ जिस दिन मैंने साधु जीवन की चर्या के पथपर चलना प्रारम्भ किया था और आज का यह आश्विन शुक्ला त्रयादशी का दिन अब किसी और ही प्रकार के जीवन पथ पर ले जाने की सूचना दे रहा है। बबई आने तक रास्ते मे मुझे अनेक प्रकार के विचारो का ऊहापोह होता रहा। महात्माजी के पास जाकर क्या बातचीत होगी और अहमदाबाद मे स्थापित होने वाले राष्ट्रीय विद्यापीठ में मेरा क्या उपयोग हो सकेगा इत्यादि बातें मैं सोचता रहा। शाम को ७ बजे गाडी जब बोरी बदर स्टेशन पर पहुँची तो मैं गाडी मे से उतरकर घोडा गाडी कर गिरगाव मे चंदावाडी नामक स्थान में जा उतरा। उस वाडी मे मेरे अत्यत घनिष्ट मित्र श्री नाथूरामजी प्रेमी रहते थे। प्रेमीजी का सबध मेरे साथ बहुत वर्षों से था। वे वारबार पूना मे मेरे साथ आकर रहा करते थे और साहित्य विषयक अनेक कामो मे योग देते रहते थे। उनको मेरी भावना और विचार की अच्छी कल्पना थी और आगामी स्थापित होने वाले गुजरात के राष्ट्रीय विद्यापीठ आदि के विषय मे भी वे सब बातो से सुपरिचित थे। मुझे उसका सदेश पहुँचाने की भी सब खबर देने वाले स्व सेठ श्री जमनालालजी बजाज उस समय बबई ही मे थे और उन्ही के द्वारा मुझे महात्माजी से मिलने का संदेश मिला था और उन्होने प्रेमीजी से भी इस बात का जिक्र कर रक्खा था अत. मेरा वहा पहुँचना उनके लिए कोई आश्चर्यजनक न था। दूसरे दिन सवेरे प्रेमीजी के साथ मैं महात्माजी जिस मणि भवन मे ठहरे हुए थे उनसे मिला। महात्माजी ने प्रसन्न भाव से मुझे पूछा कि कब आ गए ? मैंने सक्षेप मे सारी बात कही, तो उन्होने कहा यहा मैंने आपको सदेश भिजवाया था और अहमदाबाद मे आपके सब साथी गुजरात विद्यापीठ मे आपको सहयोग लेना चाहते हैं इसलिए उनके साथ मिलकर विद्यापीठ की सारी योजना बनानी है, अत. मैंने आपको बुलाया है। आज रात को ही यहा से अहमदाबाद चलना है सो आप भी मेरे साथ चलो। सेठ जमनालालजी बजाज भी उस समय वहा बैठे थे। महात्माजी ने उनसे कहा कि इनकी टिकट, वगैरह का इन्तजाम कर दिया जाय क्योकि महात्माजी जानते थे कि मैं अपने पास कोई रुपया-पैसा नही रखता तथा रेलगाडी मे बैठने का भी यह पहला ही प्रसग है। सेठजी ने मेरे लिए एक II Class का टिकट ले दिया और मैं चदावाडी से प्रेमीजी के साथ कोलाबा स्टेशन पर पहुँच गया जहा से उन दिनों गुजरात मेल अहमदाबाद के लिए चलता था। गाडी मे मेरी सीट II Class के उस कम्पार्टमेन्ट के बगल में थी

जिसमे महात्माजी की सीट रिजर्व थी । महात्माजी के साथ उस समय कौन थे इसका मुझे ठीक स्मरण नहीं है । मै तो गाडी मे जाकर बैठ गया और प्रेमीजी तथा एक अन्य मेरे वैसे ही आत्मीय स्वजन भी वहा पहुंचा गए थे । महात्माजी ठीक गाडी चलने के पहले ५ मिनट वहा पहुचे—सेठजी जमनालालजी वगैरह उनके साथ थे । जैसे ही महात्माजी अपने बैठने के डिब्बे के पास पहुँचे तुरत उन्होने जमनालालजी से पूछा कि जिन विजय जी आगए या नही और मालूम होने पर कि मैं पहुच गया हू तुरत वे मेरी सीट के सामने आए और पूछा कि क्यो ठीक आ गए हो ना, बैठने करने की पूरी सुविधा है न ? मैंने नम्रता के साथ कहा कि आपकी कृपा से सब कुछ ठीक है और फिर बोले कल सुबह तो अपने को आनद स्टेशन पर उतरना है क्योंकि वहा से शरद पूर्णिमा के निमित्त डाकोर मे बडा मेला लगता है वहा पर सभा रक्खी गई है अत वहा जाना आवश्यक होगा । वहा से फिर अहमदाबाद जावेंगे । इतने ही मे गाडी के इ जन ने सीटी दे दी और महात्माजी अपने कम्पार्टमेन्ट में जाकर बैठ गए, मैं शायद जिन्दगी मे पहली बार रेल के II Class मे बैठा । सारी रात मुझे अपने मनोमन्थन में डूबे रहने का आनद आता रहा, इसलिए मैने नीद को अपने पास नहीं आने दिया ।

सवेरे गाडी आनद स्टेशन पर पहुँची । वहा पर कई लोग अहमदाबाद से भी आये हुऐ थे उनमें स्व. C. F. Andrews भी शामिल थे । हम लोग स्टेशन के पास कोई छात्रालय या विद्यालय था वहां पर ठहराये गए । महात्माजी ने श्री Andrews को मेरा परिचय कराया क्योंकि उस समय मेरा वेष जैन साधु का था जो उपस्थित अन्य लोगो मे विलक्षण सा लग रहा था । महात्माजी ने श्री Andrews से कहा कि यह एक जैन साधु हैं और पूना मे शिक्षा और साहित्य विषयक बहुत कुछ काम कर रहे हैं । अहमदाबाद मे जो हम राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना करने जा रहे हैं उसमे इनकी सेवा की आवश्यकता है इत्यादि । उसके दो-तीन घटे बाद सब लोग डाकोर गए जहा पर सभा हुई और महात्माजी ने अपने असहकार विषयक कार्यक्रम की योजना लोगो के सामने रक्खी । सरदार वल्लभ भाई पटेल भी वहा उपस्थित थे । दूसरे दिन सवेरे की गाडी से अहमदाबाद पहुचे । महात्माजी ने मुझे अपने साथ ही मोटर मे बिठाया और साबरमती आश्रम में ले गए वहा पर स्व. सेठ पून्जाभाई हीराचद उपस्थित थे जो गुजरात प्रातीय कांग्रेस समिति के कोषाध्यक्ष थे । वे सुप्रसिद्ध तत्वज्ञ श्रीमद् राजचद्र के अनुयायियो मे से एक प्रमुख व्यक्ति थे । उन्होने श्रीमद राजचद्र के नाम से कोई ज्ञान प्रसारक सस्था की स्थापना के लिए महात्माजी को ५०,००० का दान दे रखा था । महात्माजी ने उनको कहा कि जिन विजयजी जैन साहित्य और तत्वज्ञान के विद्वान हैं, पूना मे साहित्य और शिक्षा विषयक अच्छी प्रवृत्ति करते रहते हैं, वहा के विद्वानो में इनका अच्छा आदर है, ये आप यहां स्थापित होने वाले राष्ट्रीय विद्यापीठ मे अपनी सेवा देना चाहते हैं और इसलिए मैंने इनको यहा बुलाया है । श्री किशोरलाल भाई, नरहरिभाई आदि से इनको मिलाना है जिनके साथ बैठकर विद्यापीठ की योजना का विचार किया जायगा । पून्जाभाई को खासकर के कहा कि इन्होने मुझे श्रीमद् राजचद्र के कोई स्मारक निमित्त जो ५०,०००रु दे रक्खें हैं उनका उपयोग कैसे किया जाय उस विषय मे भी इनसे तुम विचार विनिमय करो । महात्माजी ने मेरा आसन अपने ही बैठने के कमरे मे लगवाया और तुरत कस्तूरबा से कहा कि ये जिनविजयजी गरम पानी पीते हैं और 'कदमूल' आदि नही खाते हैं क्योकि, मैं तब तक जैन साधु की जीवन चर्या का ही यथावत् पालन कर रहा था, अत इस बात को ध्यान मे रखकर महात्माजी ने कस्तूरबा को उक्त प्रकार की सूचना दी । मैं वहां महात्माजी के साथ ४-५ दिन ठहरा और जब जब भी समय मिलता था उनसे अनेक प्रकार की तें होती रहती थी । गुजरात विद्यापीठ की योजना के विषय मे मेरी श्री किशोरलाल भाई तथा नरहरिभाई

एवं मेरे अन्य विद्वान मित्र श्री इन्दुलाल याज्ञिनक, रामनारायण पाठक, रसिकलाल पारीख आदि से भी यथेष्ट विचार विनिमय और चर्चा—वार्ता हुई। परिणामस्वरूप गुजरात विद्यापीठ मे अपनी सेवा समर्पित करने का मैने निश्चय किया और फिर मैंने महात्माजी से अपनी वातें यथायोग्य निवेदन की। मैंने महात्माजी से निवेदन किया कि मुझे अपने जीवनक्रम मे आपात परिवर्तन करना अपेक्षित है—मैं अपनी भावना के अनुकूल ही अपना वेप तथा जीवन व्यवहार रखना चाहता हूँ। वर्तमान में जो आचार-व्यवहार है वह मेरे मानसिक मथन के अनुरूप तथा अनुकूल नही है इसलिए मैं अब इस वेप का भी त्याग करना चाहूँगा और अपने आहार-विहार आदि बातो मे भी परिवर्तन करना होगा। मैं एक साधु के रूप मे अपने आपको प्रसिद्ध नही होने देना चाहता, परतु मैं देश का एक सामान्य सेवक बनना चाहता हूँ और इसके लिए मुझे विद्यापीठ मे सयुक्त होने के पहले एक जाहिर वक्तव्य द्वारा अपने मनोभाव स्पष्ट करने होंगे और यह सब मैं अब यहा से वापस पूना जाकर वही अपने स्थान मे बैठकर तय करू गा और फिर मैं विद्यापीठ की स्थापना के समय यहा उपस्थित होऊ गा—महात्माजी ने मेरे सब विचार बडी सहानुभूति के साथ सुने और कहा कि ऐसा करना तुम्हारे लिए उपयुक्त ही है।

महात्माजी से विदा होकर मैं कठियावाड मे बढवाण के पास एक छोटे से लीमली नामक गाव मे गया वहा पर मेरे अनन्य सुहृद् एवं चिरसाथी प० सुखलाल जी कुछ बीमारी के कारण टिके हुए थे उनकी तबीयत के समाचार पूछने तथा अहमदाबाद के राष्ट्रीय विद्यापीठ मे सयुक्त होने तथा महात्माजी से हुए विचार विमर्श के बारे मे सारी बातें करनी थी इसलिए मैं लीमली पहुँचा।"

अहमदाबाद से चलकर मुनिजी काठियावाड मे बढवाण के निकट लीमली नामक स्थान मे गये जहा उनके अनन्य सुहृद तथा चिरसाथी प्रज्ञाचक्षु प. सुखलाल बीमारी के कारण ठहरे हुए थे। वहा उन्होने महात्मा गाधी के साथ हुई सारी बातचीत की चर्चा की और विचार-विमर्श करके अपना अगला कार्यक्रम निश्चित किया। तदनुसार जब गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई, तब उसके अन्तर्गत प्राचीन साहित्य और इतिहास के अध्ययन एव सशोधन के लिए गुजरात पुरातत्त्व मदिर का भी निर्माण किया गया और मुनिजी राष्ट्र की सेवा के व्रती बने और मुनि-वेश तथा जीवन-चर्या मे आवश्यक परिवतन करके उन्होने राष्ट्र सेवक के रूप मे उक्त मदिर के नियामक का पद स्वीकार कर लिया। यहा भी मुनिजी ने पुरातत्व मदिर ग्रन्थावली की स्थापना की जिसके अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ।

लगभग ८ वर्ष तक मुनिजी विद्यापीठ मे रहे। इस समय गुजरात विद्यापीठ की पुनर्रचना होने लगी और हरेक कार्यकर्त्ता के लिए एक प्रतिज्ञापत्र भरना लाजमी हुआ जिसमे एक मान्यता यह भी थी कि केवल अहिंसा से ही भारत को स्वराज्य प्राप्त हो सकता है। मुनिजी तो प्रारभ से ही बंधनो के प्रति विद्रोही रहे थे, अतः उन्होंने विद्यापीठ की सेवाओ से मुक्त होने का निश्चय किया। सुयोग यह भी बना कि कुछ ही समय पूर्व जर्मनी मे भारतीय विद्या के कुछ मान्य विद्वान, जिनमें हाइनरिख ल्यूडर्स, ओर्डरिग रलेजनोव आदि शामिल थे, भारत-भ्रमण के लिए आये थे और उन्हे कुछ महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थो पर विचार-विनिमय तथा सपादन की दृष्टि से जर्मनी आने का निमत्रण दे गये थे। इसे स्वीकार कर मुनिजी गांधीजी की सम्मति से १९२८ मे जर्मनी चले गये और वहा लगभग डेढ वर्ष रहे। जर्मनी मे मुनिजी ने बोन, हाम्बर्ग, और लाइपित्सिग विश्वविद्यालयों के प्राच्य-विद्या के विद्वानो से गभीर विचार-विमर्श किये और घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। बर्लिन मे मुनिजी ने

भारत-जर्मन मित्रता बढाने और दृढ करने की दृष्टि से एक राष्ट्रीय भावना-युक्त मुस्लिम मित्र की सहायता से हिन्दुस्तान हाउस के नाम से एक सस्थान की स्थापना की ।

मुनिजी को लगा कि जर्मनी मे गाधीजी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा भारत के बारे मे जानने की तीव्र जिज्ञासा है, इसकी पूर्ति के लिए विचार-विनिमय का एक केन्द्र आवश्यक है । दूसरी बात यह अनुभव मे आई कि जर्मनी मे भारतीय काफी सख्या मे रहते है तथा आते-जाते है, इनके आपस मे मिलने और ठहरने का भी कोई स्थान नही है । तीसरी बात यह कि इस सारे विचार-विनिमय और सपर्क मे भोजनालय का महत्वपूर्ण स्थान है जिसमे निरामिष भोजन की भी व्यवस्था हो । इन तीनो कमियो की पूर्ति की दृष्टि से २४ अगस्त १९२८ को इस हाउस का उद्घाटन श्री शिवप्रसाद गुप्त के हाथो हुआ । हिन्दुस्थान हाउस बर्लिन मे भारत-जर्मन सपर्क और सुविधा का उत्तम केन्द्र बना और मुनिजो के भारत आ जाने के बाद भी भारत के अनेक गण्य-मान्य नेता, विद्यार्थी, व्यापारी आदि उससे लाभान्वित होते रहे । पिछले महायुद्ध के अवसर पर नेताजी सुभापचन्द्र बोस भी कुछ समय वहाँ रहे थे ।

मुनिजी १९२९ के दिसम्बर मास मे जर्मनी से वापिस लौटे और लाहौर के काग्रेस अधिवेशन मे शामिल हुये । लाहौर-काग्रेस के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया । मुनिजी गाधी जी से मिले और उन्होने पुन जर्मनी जाने का अपना इरादा प्रकट किया तो महात्मा जी ने कहा—अब हमे देश मे ही तुम्हारे जैसे लोगो की अत्यत आवश्यकता है । मैं तुम्हे विदेश जाने की कैसे सलाह दे सकता हूँ ? फलत मुनिजी का जर्मनी जाने का विचार समाप्त हो गया ।

कलकत्ते के प्रमुख जैन साहित्यानुरागी श्री बहादुर सिंह सिंघी के निमत्रण पर मुनिजी १९३० मे कलकत्ते गये और वहाँ से वे शाति निकेतन गये और अपने चिर-परिचित मित्र श्री क्षिति मोहन से वही मिले । गुरुदेव उस समय बाहर गये हुये थे । शाति निकेतन को देखकर मुनिजी का हृदय हर्षित हुआ और यह भाव उठा कि इस तपोवन मे ४-६ महीने रहकर जीवन मे समृद्धि एव मूल्यवान् स्मृतियो की वृद्धि प्राप्त करनी चाहिये । शाति निकेतन से लौटने पर श्री सिंघी ने उनसे कहा कि वे अपने पूज्य पिता की स्मृति मे ज्ञान-प्रसार एव साहित्य-प्रकाशन का कोई सुधार-कार्य करने की सोच रहे हैं । विशद चर्चा और विचार-विनिमय के पश्चात् शाति निकेतन मे सिंघी जैन ज्ञानपीठ की स्थापना की योजना बनी और मुनिजो ने अपनी सेवाए इस कार्य के लिए अर्पित करना स्वीकार किया ।

इसी बीच १२ मार्च को गाधी जी ने नमक सत्याग्रह के लिए 'दाडी कूच' का प्रारभ कर दिया । इससे स्वाभाविक रूप से ही गुजरात में बडी हलचल मची । धरासना का सरकारी नमक डिपो सत्याग्रहियो के कार्य का मुख्य क्षेत्र बना । मुनिजी भी ७५ स्वय सेवको की बडी टोली के साथ धरासना के लिए अहमदाबाद से रवाना हुए, पर गाडी रवाना होने के १५—२० मिनट बाद ही एक छोटे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये और वक्तव्य लेकर तुरत ही उन्हे ६ मास के सपरिश्रम कारावास की सजा दे दी गई । उन्हे 'ए' क्लास दिया गया । उसी रात वे लोग बम्बई मे 'वरली चाल' की काम-चलाऊ जेल मे लाये गये और कुछ दिन वहाँ रखकर उन्हे नासिक जेल मे भेज दिया गया । वहाँ श्री जमनालाल बजाज, श्री नरीमान, डा० चौकसी, श्री रणछोड भाई सेठ, श्री मुकुद मालवीय आदि भी साथ मे थे ।

नासिक जेल मे ही मुनिजी का परिचय श्री कन्हैयालाल माणिक्य लाल मुशी से हुआ जो धीरे २ उन्मुक्त सौहार्द मे विकसित होता गया । स० १९८६ की विजया दशमी को वे जेल से छूटे । श्री जमना लाल

बजाज तथा श्री मु शी ने उन्हे पुन साहित्य-सेवा की प्रेरणा दी और कलकत्ते से श्री बहादुर सिंह सिंघी का भी बराबर आग्रह बना रहा। परिणामस्वरूप १९३० के दिसम्बर मास मे वे अपने कुछ सहकारियो और विद्यार्थियो के साथ शाति निकेतन चले गये और वहाँ सिंघी जैन ज्ञान पीठ तथा सिंघी जैन ग्रन्थ माला का प्रारम्भ हो गया। ग्रन्थमाला का पहला ग्रन्थ प्रवन्ध चिंतामणि उसी समय प्रकाशित हुआ। शाति निकेतन मे एक जैन छात्रावास भी मुनिजी ने प्रारभ कर दिया। इन सब का व्ययभार श्री बहादुर सिंह सिंघी ही उठाते थे। मुनिजी शाति निकेतन मे लगभग तीन वर्ष रहे। बगाल का जलवायु उनके अनुकुल नही रहा और वे अस्वस्थ रहने लगे, इस लिए उनका विचार अपना कार्य केन्द्र शाति निकेतन के वजाय अहमदाबाद या बम्बई मे रखने का वनने लगा।

उन्ही दिनो उदयपुर मे श्री केसरियाजी तीर्थ के सबध मे जैनो के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर संप्रदायो मे विवाद, चर्चा और मुकद्दमे बाजी हुई। इस सिलसिले में पुराने शिलालेखो, ग्रन्थो आदि को पढकर प्रमाण तैयार करने की जिम्मेदारी मुनिजी पर आई। इसी दौरान श्री मोतीलाल सीतलवाड और श्री कन्हैया लाल मु शी जैसे धुरधर वकील उदयपुर आये। श्री मु शी ने भारतीय विद्या भवन की स्थापना की बात मुनिजी के सामने रखी और सहयोग देने को कहा।

उदयपुर से लौटते समय मुनिजी तथा श्री वहादुर सिंह सिंघी दोनो चित्तौडगढ गये। वहा से अजमेर की ओर आते समय सूर्योदय के लगभग रूपाहेली स्टेशन के पास से गुजरे तो मुनिजी अपनी जन्मभूमि को देखकर वडे विह्वल हो गये। मालूम नही चित्तौडगढ और रूपाहेली के सबध मे क्या भावना उठी जो बाद मे पल्लवित हुई। वामन वाड मे वे मुनि शाति विजय जी से मिले और वहाँ से अहमदाबाद चले गये।

श्री मु शी का अनुरोध तीव्रतर होता गया और मुनिजी को अपने परम मित्र प० सुखलाल के अपैन्डीसाइटिस के आपरेशन के सिलसिले मे बम्बई रहना पडा। फलत उन्होने भारतीय विद्या भवन के कार्य मे सहयोग देना तय किया। सिंघी जैन ग्रन्थ माला के कार्य को भी भवन के कार्य के साथ मिला दिया और दोनो काम साथ चलने लगे।

इसी बीच १९४२ का 'भारत छोडो आदोलन' प्रारंभ हुआ और भवन के बहुत से विद्यार्थी इस आदोलन मे शरीक होने चले गये। मुनिजी का मन भी बहुत उत्तेजित और व्याकुल होने लगा। वे स्थान-परिवर्तन करके अहमदाबाद आ गये, पर यहाँ तो आदोलन और भी तीव्र था। मुनिजी इसी अन्तर्द्वन्द्व मे फसे थे कि उन्हे जैसलमेर से आचार्य श्री जिनहरि सागर का निमंत्रण वहाँ के ज्ञान भण्डारो को देखने और उन्हे व्यवस्थित करने का निमत्रण मिला। मुनिजी ने जैसलमेर जाने की तैयारी की और ३० नवम्बर १९४२ को वे अहमदाबाद से जैसलमेर को रवाना हो गये। जैसलमेर मे वे लगभग ५ महीने ठहरे। वहाँ उन्होने लगभग २०० ग्रन्थो की प्रतिलिपिया करवाई और १ मई १९४३ को वे वापिस अहमदाबाद चले गये और वहाँ से बम्बई जाकर अपने काम में लग गये।

१९४७ मे मुनिजी श्री मुंशी के साथ उदयपुर के महाराणा की इच्छानुसार प्रताप विश्वविद्यालय की योजना बनाने और उसे कार्य रूप मे परिणत करने के प्रयास मे सलग्न हुये पर वह योजना देश की स्वतन्त्रता की घोषणा और देशी राज्यो के विलीनीकरण के साथ ही भविष्य के गर्भ मे विलीन हो गई।

और मुनिजी फिर पूर्ववत् भारतीय विद्या भवन के निर्देशक रूप मे ग्रन्थो के सपादन-प्रकाशन और विद्यार्थियो को डॉक्टरेट के अध्ययन मे मार्गदर्शन करते रहे।

मुनिजी के मन मे देश और समाज की कठिनाइयो और समस्याओ के सबध मे सदा चिंतन चलता ही रहता था। आजादी के बाद खाद्य समस्या जैसे-जैसे गभीर रूप पकडती गई, वैसे २ मुनिजी का ध्यान भी कृषि, अन्न उत्पादन, शरीरश्रम और स्वावलबन की ओर अधिकाधिक होता गया और उनके मन में किसी गाव मे जाकर बैठ जाने और कम से कम अपने उपयोग का अन्न स्वय उत्पन्न करने की भावना तीव्र होती गई। इसके लिए उन्होने अनेक गाव देखे। अ त मे चित्तौड के पास चदेरिया गाव उन्हे पसद आया, क्योंकि चित्तौड-गढ के समीप रहने की हार्दिक इच्छा थी। वे माता की सेवा तो नही कर सके थे, पर मातृभूमि की सेवा अवश्य कर सकते थे। उनके मन मे राणा प्रताप, भक्त मीरा और आचार्य हरिभद्र सूरि की भूमि के प्रति बडा आकर्षण था अत उन्होने उस गाव मे पुठोली के ठाकुर से कुछ भूमि प्राप्त कर २८ अप्रेल १९५० के दिन वहाँ सर्वोदय साधना आश्रम की स्थापना कर दी।

इधर राजस्थान के एकीकरण के पश्चात् जब प्रथम लोकप्रिय मंत्रि मडल ने शासन की बागडोर सभाली तो राजस्थान की उन्नति और समृद्धि की अनेक योजनाओ का जन्म हुआ। उन्ही मे एक योजना राजस्थान के प्राचीन हस्तलिखित साहित्य के सग्रह, सरक्षण और प्रकाशन की भी थी। मुनिजी के परामर्श से राजस्थान पुरातत्व मदिर की योजना ने साकार स्वरूप ग्रहण किया और १३ मई १९५० के दिन इस सस्थान की स्थापना हुई और मुनिजी को इसका सम्मान्य सचालक नियुक्त किया गया। इस प्रकार अब मुनिजी की शक्ति दो कामो मे लगी। एक भूमि साफ करना, खेती करना और आवास के स्थान बनाना और दूसरा पुरातत्व भडार के काम को जमाना और बढाना। मुनिजी पूरे मनोयोग से इन दोनो कार्यो मे जुट गये। १९५२ मे मुनि जिनविजय जर्मनी की विश्वविख्यात ओरिएन्टल सोसाइटी (Deutsche Morgenlundische Cesellschaft) द्वारा उसके सम्माननीय सदस्य चुने गये। अत्यन्त अल्प सख्या के भारतीयो को यह सम्मान प्राप्त हुआ है। मुनिजी को यह सम्मान भारतीय विद्या की शोध को प्रोत्साहन देने मे जो महान् कार्य गत वर्षों मे उन्होने किया उसकी सराहना और मान्यता के रूप मे प्राप्त हुआ। मुनिजी ने उक्त सोसाइटी को तत्सम्बन्धी पत्र के उत्तर मे लिखा—'मैं स्वय को सम्मान के योग्य नही मानता। मेरा विश्वास है कि यह प्रतिष्ठा मुझे न व्यक्तिगत नाते मिली है न भारतीय होने के नाते, अपितु ज्ञान की भारत-जर्मन सहकारिता के सदस्य होने के नाते ही प्राप्त हुई है।'

१९६१ मे मुनिजी को भारत सरकार द्वारा पद्मश्री की उपाधि से अलकृत किया गया। सारे देश मे, खास कर गुजरात और राजस्थान मे तथा जैन समाज मे, इस सम्मान पर विशेष संतोष और प्रशसा प्रगट की गई। मुनिजी ने भारतीय विद्या और पुरातत्व की सामान्यतः और राजस्थान के पुरातत्व तथा जैन विद्या की प्राचीन सामग्री के अध्ययन, शोध और प्रकाशन का जो विशाल, मौलिक और ऐतिहासिक कार्य किया है वह सर्वदा ही सम्मान और अनुकरण के योग्य है।

राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के कार्य का प्रारम्भ जयपुर के सस्कृत कालेज मे हुआ था जहा बडी सख्या मे पुरातत्व तथा इतिहास से सम्बन्धित हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थो का सग्रह किया गया तथा प्रकाशन-कार्य

भी बडे पैमाने पर चालू हुआ। मुनिजी के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप इस कार्य को स्थायित्व देने की दृष्टि से राजस्थान सरकार द्वारा जोधपुर मे एक नवीन भवन का निर्माण किया गया। उसका उद्घाटन राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाडिया द्वारा १९५८ मे हुआ। यह सस्थान आज राजस्थान मे ही नही सारे देश मे भारतीय विद्या और पुरातत्व सम्बन्धी हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थो का विशिष्ट केन्द्र माना जाता है और इसके प्रकाशनो को इस क्षेत्र मे विशिष्ट प्रतिष्ठा तथा आदर प्राप्त है। इनमे से प्रत्येक पर मुनिजी के ज्ञान तथा अध्ययन, शोध और परिश्रम की छाप है। मुनिजी १९६७ मे इस सस्थान के सम्मान्य सचालक के उत्तरदायित्व से मुक्त हुए।

मुनिजी ने जिस सर्वोदय साधना आश्रम की स्थापना १९५० में की थी उसे सन्त विनोबा की राजस्थान की पदयात्रा के अवसर पर चन्देरिया आने पर अर्पित कर दिया। वह आश्रम अब एक पजीकृत समिति द्वारा चलाया जा रहा है। मुनिजी ने आश्रम के सामने की जमीन पर अपना अलग निवासस्थान बना लिया है। वहा वे अब रहते हैं। वही मुनिजी ने सर्व-देवायतन के नाम से एक मन्दिर बनाया है जिसमे वैदिक, जैन तथा बौद्ध सभी देवी-देवताओ की स्थापना की है। यह मन्दिर मुनिजी की धार्मिक दृष्टि की विशदता और सर्व-धर्म-समभावना का बहुत सुन्दर और व्यावहारिक प्रतीक है।

मुनिजी की अवस्था अब लगभग ८३ वर्ष की है। उनका स्वास्थ्य काफी कमजोर हो गया है, आखो की दृष्टि भी मन्द पड गई है। पर अब भी भारतीय पुरातत्व, जैन दर्शन और राजस्थान तथा चित्तौड के प्राचीन गौरव के प्रति उनकी आस्था और अध्ययन की ओर रुचि कम नही हुई है। ज्ञान और कर्म को जोडने की जिस दृष्टि ने उन्हे राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के साथ सर्वोदय साधना आश्रम स्थापित करने, चलाने और बढाने को प्रेरित किया था वह आज भी कायम है। विद्वानो के साथ ज्ञान-चर्चा वे जितने उत्साह और गहराई से करते हैं उतनी ही रुचि वे कृषि और बागबानी मे भी लेते हैं।

मुनिजी का चित्तौड के प्रति बहुत गहरा आकर्षण है और उसका विशेष कारण चित्तौड के त्याग-बलिदान की अत्यन्त गौरवपूर्ण गाथा तो है ही, साथ ही उसके ज्ञान के प्राचीन केन्द्र होने के कारण भी उन्हें यह प्रिय है। यही के महान् जैन विद्वान् और आचार्य हरिभद्र सूरि के जीवन और रचनाओ के प्रति मुनिजी की आस्था बडी गहरी है। उनके ग्रन्थो तथा जीवन के सम्बन्ध मे मुनिजी ने बहुत खोज की है तथा उनके विशाल, उदार तथा व्यापक दृष्टिकोण के वे बडे प्रशसक है। मुनिजी ने चित्तौड के दुर्ग के सामने ही जमीन प्राप्त करके हरिभद्र सूरि स्मारक मन्दिर की स्थापना की है जो चित्तौड का दर्शनीय स्थान बन गया है। वही उन्होने भामाशाह की स्मृति मे एक भामाशाह भारती-भवन का निर्माण किया है।

मुनिजी ने अपने जीवन-काल मे अनेको संस्थानो की स्थापना की है, पर अब स्वय अपने आप मे एक सस्था है जो विद्वानो और कार्यकर्ताओ दोनो की प्रेरणा के अखड स्रोत है। मुनिजी चिरायु हो।

राजस्थान को मुनिजी की देन

उस दिन राजस्थान सचिवालय मे बहुत से आदमियो ने कहा, 'आज तो चक्रवर्ती राजगोपालाचारी पधारे हैं'; दूसरो ने कहा, 'नही, यह महोदय तो कोई और ही हैं, परन्तु आकृति राजाजी से बहुत मिलती है।' वास्तव मे, मुनि जिन विजय जी को देखकर यह चर्चा हो रही थी। उनकी पार्श्व-झलकी मे ऐसा ही आभास होता है। स्वय राजाजी ने भी भारतीय विद्याभवन, बम्बई के एक समारोह मे खीचे गए फोटो पर लिख दिया है 'Who is Muniji and who is I'। विशिष्ट पुरुषो की आकृतियाँ भी विशिष्ट ही होती हैं।

मार्च, १९५० की शायद ८ वी तारीख थी। उस दिन श्री मुनि जी राजस्थान के तत्कालीन मुख्य-मत्री श्री हीरालाल शास्त्री द्वारा गठित दस मण्डलो के अन्तर्गत 'संस्कृत-मण्डल' की बैठक मे भाग लेने के लिए आए थे। बैठक मुख्यमत्री के कक्ष मे ही हुई थी और स्वय शास्त्री जी इस मडल के अध्यक्ष थे तथा उनके मुख्य निजी सचिव स्व० प० श्यामसुन्दर शर्मा मत्री थे। स्व० म० म० प० गिरिधर शर्मा, स्व० प० मथुरानाथ शास्त्री, स्व० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, प० शम्भुदत्त शर्मा, प० मार्कण्डेय मिश्र, प्रो० कण्ठमणि शास्त्री आदि सदस्यरूप मे उपस्थित थे, अन्य भी थे, जिनके नाम मुझे अब याद नही हैं; मुनि जी तो थे ही। सचिवालय मे प० श्यामसुन्दर शर्मा के सहायक के रूप मे सस्कृत-मण्डल का काम मुझे करना पडता था अत मैं भी उसमे शामिल हुआ था।

बैठक मे सस्कृत-मण्डल की विभिन्न प्रवृत्तियों के विषय-निर्धारण के अतिरिक्त मुनिजी का प्रस्ताव बहुत जोरदार रहा। उन्होने अपनी ओजभरी वाणी मे कहा, 'और तो सभी बाते हो रही हैं और चलेंगी, परन्तु मैं आपका ध्यान एक विशेष बात पर दिलाना चाहता हू। राजस्थान मे बहुत बडी हस्तलिखित ग्रन्थ-सम्पदा है, जो दिनो-दिन नष्ट होती जा रही है और यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो कुछ दिनो मे कुछ भी नही बचेगा और हम लोगो को एक महान् सास्कृतिक खजाने से हाथ धोना पडेगा। अत इसकी रक्षा के लिए समुचित उपाय होना चाहिए।' उनके वक्तव्य का यही आशय था। सदस्यो ने इस प्रस्ताव की हृदय से सराहना की और इस दिशा मे ठोस कदम उठाने की आवश्यकता को अनुभव किया। उसी समय यह भी विचार हुआ कि जल्दी ही आगामी बैठक बुलाई जाय और उसमे श्री मुनि जी राजस्थान मे ग्रन्थो के सग्रह, सुरक्षा और प्रकाशन सम्बन्धी कार्य करने के लिए अपनी योजना प्रस्तुत करें।

बैठक के बाद प० श्यामसुन्दर शर्मा ने मुझे मुनि जी से मिलाया और कहा 'यह जयपुर महाराजा के पोथीखाने से आये हैं अत ग्रन्थो के बारे मे आपकी सहायता कर सकेंगे' बस, सब से पहले यही परिचय मुनि जी से हुआ था।

मडल की दूसरी बैठक शायद २८/२९ मार्च, १९५० को हुई और मुनि जी ने 'राजस्थान पुरातत्व

मदिर' की स्थापना का प्रस्ताव उसकी एक मोटी रूपरेखा के साथ प्रस्तुत किया, वह सभी को मान्य हुआ। शर्मा जी ने मुझे मुनि जी से मिला कर 'मन्दिर' के लिए बजट और कार्य-क्रम की रूपरेखा आदि तैयार करने का आदेश दिया और यही से मैं मुनि जी के सम्पर्क मे आने लगा। मुनि जी ने जो रूपरेखा तैयार कराई तदनुसार बजट का ढाँचा बनाकर मैंने शर्मा जी को प्रस्तुत कर दिया और उन्होने अपने विशेष प्रयास से 'सस्कृत-मण्डल' के अन्तर्गत 'पुरातत्व मन्दिर' की योजना व बजट स्वीकार करा लिया। 'मन्दिर' के सचालक पद पर पहले तो म० म० गिरिधर शर्मा जी को नियुक्त करने की बात सोची गई थी परन्तु वे उस समय काशी मे ओरियण्टल स्टडीज के डाइरैक्टर थे और काशीवास का लोभ छोडने को तैयार नही थे, इसलिए श्री मुनि जी से यह पद स्वीकार करने के लिए आग्रह किया गया। मुनि जी भी भारतीय विद्याभवन, बम्बई के सम्मान्य डाइरैक्टर थे और उनकी अन्यान्य सामाजिक एव साहित्यिक प्रवृत्तियाँ चल रही थी, इसलिए उन्होने भी इस पद को यहाँ पर नियमित रूप मे तो स्वीकार नही किया, परन्तु यथावकाश आते रहकर सस्था को जमाने व परामर्श देते रहने की बात मान ली। उस समय मुनि जी की अवस्था यद्यपि ६३—६४ वर्ष की थी और बम्बई, अहमदाबाद तथा चन्देरिया (चित्तौड़) से वहा की परिश्रमसाध्य प्रवृत्तियो मे भाग लेकर लम्बे-लम्बे प्रवास और यात्रा करने मे जो श्रम और असुविधा होने वाली थी उसका उनको ध्यान था, परन्तु कार्य की गुरुता और परमावश्यकता को देखते हुए उन्होने इस बोझ को अपने ऊपर ओढ ही लिया। वास्तव मे, यह कार्य और किसी से हो भी नही सकता था और यदि किसी पर थोप भी दिया जाता तो वह सफलता न मिलती जो मुनि जी के द्वारा प्राप्त हुई है। और, अब देख ही रहे है कि मुनि जी की निवृत्ति के उपरान्त जो दशा हो रही है।

अस्तु, मुनि जी ने यह कार्यभार सम्मान्य (ऑनरेरी) सचालक के रूप मे स्वीकार कर लिया और १३ मई, १९५० ई० को महाराजा सस्कृत कालेज भवन मे एक उत्तराभिमुख कमरे मे तत्कालीन प्रिंसीपल प० पट्टाभिराम जी शास्त्री और प० सूर्य नारायण जी वेदिया द्वारा अनुष्ठित पूजा सम्पन्न करके 'पुरातत्व मन्दिर' का शुभारम्भ कर दिया। मैं भी उस समय उपस्थित था। कोई विशेष समारोह नही किया गया, किसी मत्री को आमन्त्रित नही किया गया और न कोई प्रचार-प्रसार ही किया गया। मुनि जी को दिखावा पसन्द नही है, ठोस काम करने मे ही उनकी आस्था है।

बजट के अनुसार 'पुरातत्व मन्दिर' मे दो सहायक, एक अशकालीन लेखक और दो चपरासियो के ही पद स्वीकृत हुए थे। मुनि जी ने अपनी सुविधा और रौब-दाब सहित दफ्तर जमाने की परवाह न करके सब से पहले कुछ आवश्यक सन्दर्भ-ग्रन्थो और कुछ हस्तलिखित ग्रन्थो को खरीदने तथा पाँच दुर्लभ्य अप्रकाशित ग्रन्थो को प्रकाशित करने की योजना प्रस्तुत की जो स्वीकार कर ली गई और इस प्रकार पुरातत्त्व मन्दिर का कार्यारम्भ अकेले मुनि जी ने ही कर दिया, सहायको आदि की नियुक्तियाँ तो बाद मे होती रही। उन्होने अपने ही दम पर तो यह दयित्व सभाला था, वे जानते है—

'सता सिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे'।

मई मास से काम चालू होकर आगे बढा परन्तु दिसम्बर मे शास्त्री-सरकार डगमगाने लगी और जनवरी, ५१ मे वह अपदस्थ हो गई। नई अन्तरिम सरकार ने बैठते ही पिछले तन्त्र के किए को अनकिया करने का उपक्रम आरम्भ कर दिया और पहला कदम यह उठाया कि दसो विकास मण्डलो को समाप्त कर

दिया गया। सस्कृत-मण्डल का भाग्य भी इन सभी के साथ बंधा हुआ था और 'पुरातत्त्व मन्दिर' भी उसी मे अटका हुआ था। परन्तु मुनि जी अपने सकल्प पर दृढ थे। उन्होने और प० श्यामसुन्दर शर्मा ने, जो शास्त्री जी के त्यागपत्र दे देने के बाद भी सरकार मे चालू थे, प्रयत्न जारी रखे। अन्ततोगत्वा सरकार के गृह एव शिक्षा मत्री श्री भोलानाथ झा को 'पुरातत्त्व मन्दिर' के उद्देश्य और कार्यक्रम से अवगत कराया गया। वे 'मन्दिर' को देखने और मुनि जी से मिलने स्वय 'सस्कृत कालेज भवन' मे आए। उस दिन मुनि जी ज्वर-पीडित थे परन्तु फिर भी उन्होने झा-महोदय को संक्षेप मे सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट रूप मे कह सुनाई। वे मुनि जी के व्यक्तित्व और वक्तव्य से बहुत प्रभावित हुए और उस समय से पहले साक्षात्कार न कर सकने का पश्चात्ताप प्रकट किया। श्री झा साहब ने सहृदयतापूर्वक 'मन्दिर' को राजकीय शोध-संस्थान विभाग के रूप मे चालू रखने की स्वीकृति प्रदान कर दी और १ अप्रेल, १९५१ से यह एक सरकारी विभाग बन गया। श्री मुनि जी यथावत् इसके सम्मान्य सचालक रहे तथा मन्दिर का बजट, किञ्चित् काट-छाट के बाद, सरकारी बजट मे सम्मिलित हो गया।

इसके बाद ही पुरातत्त्व मन्दिर का कार्य दिनो-दिन नियमित रूप से आगे बढने लगा और सरकार का ध्यान भी उत्तरोत्तर इधर आकृष्ट हुआ। सस्कृत कालेज भवन के दो तीन कमरे अपर्याप्त सिद्ध हुए और मन्दिर का एक निजी भवन निर्माण कराने की बात भी स्वीकृत हुई।

मुनि जी की उपयोगिता और प्रभावशीलता उस समय और भी प्रबल रूप मे सामने आई जब उनकी अध्यक्षता मे गठित आबू समिति ने अपने प्रतिवेदन मे तथ्यपूर्ण और अकाट्य भौगोलिक, ऐतिहासिक प्राचीन साहित्यिक सन्दर्भों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि आबू राजस्थान का ही अ श रहा है और है, न कि गुजरात का। इस पर प्रान्तीयता की सकुचित भावना से ग्रस्त मुनि जी के कुछ मित्रो ने नाक भौं सिकोडी परन्तु उन्होने न्याय्य पथ को नही छोडा—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पद न धीरा ।

सरकार ने पुरातत्त्व मन्दिर के लिए भवन-निर्माण की योजना स्वीकार करली और १ अप्रेल, १९५५ ई० को जोधपुर मे भारत के प्रथम राष्ट्रपति माननीय डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने उसका शिलान्यास किया। उस समय राष्ट्रपति महोदय ने कहा था 'देश में अन्यान्य वस्तुओं के उत्पादन और प्राप्त करने के काम मे अनेक लोग लगे हुए है और उनके निमित्त बहुत-सा धन भी व्यय किया जा रहा है परन्तु हमारी पुरातन सस्कृति के अनुसन्धान और उद्धार के काम मे मुनि जी जैसे कर्मठ, त्यागी और तपस्वी विरले ही लोग लगे हुए हैं, मेरा वश चले तो इस काम के लिए अधिक से अधिक धन देने की व्यवस्था करूँ।' स्व० राजेन्द्र बाबू के ये उद्गार इस बात के प्रमाण हैं कि मुनि जी के उदात्त चरित्र और सदुद्देश्य की प्रशसा देश के सर्वोच्च स्तर पर की जाती रही है।

जोधपुर मे भवन तैयार होने मे तीन वर्ष से अधिक समय लगा। इस बीच मे मन्दिर का ग्रन्थ-संग्रह, सन्दर्भ-पुस्तकालय और प्रकाशित ग्रन्थो का स्टाक काफी बढ गया था। अन्त मे १४ दिसम्बर, १९५८ को राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाडिया ने नए भवन का उद्घाटन किया और सम्पूर्ण सग्रह

के साथ मन्दिर का मुख्य कार्यालय जोधपुर स्थानान्तरित हो गया। यहा पर कार्य और भी अधिक उत्साह से चला और सरकार ही नही, अन्य कतिपय सग्रह-स्वामियो ने भी श्रीमुनिजी की प्रेरणा से बहुजनहिताय अपने बडे बडे सग्रह पुरातत्व मन्दिर (जिसका अब राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान नाम हो गया था) को भेट कर दिये, इनमे विद्याभूषण पुरोहित हरिनारायण सग्रह, स्व लक्ष्मीनाथ शास्त्री सग्रह विश्वनाथ शारदानन्दन सग्रह, जयपुर मे और मोतीचद खजाञ्ची सग्रह, श्री पूज्यजी सग्रह, यति जतनलाल सग्रह, हिम्मतविजयजी सग्रह, बीकानेर मे विशेप उल्लेखनीय हैं। सरकार ने भी अपने सग्रहालयो और पुस्तकालयो मे रखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थ-सग्रहो को प्रतिष्ठान के ही आयत्त कर दिया। इस प्रकार प्रतिष्ठान ने बढ कर एक विभाग का रूप ले लिया और जयपुर, अलवर, टोक, कोटा, उदयपुर, चित्तौड और बीकानेर मे शाखा-कार्यालयो की स्थापना हुई। इन सभी सग्रहो के ग्रन्थो की मख्या ५५ हजार से ऊपर है जिनमे बीकानेर मे ही २२ हजार ग्रन्थ है और मुख्य कार्यालय मे प्रतिवर्प की खरीद से जो संग्रह होता रहा वह भी ३५ हजार से ऊपर पहुच गया था।

प्राचीनतम ग्रन्थो के सग्रह के लिए जैसलमेर के जैन-ग्रन्थ-भण्डार प्रसिद्ध है। राजस्थान मे आगमन से पूर्व मुनिजी ने वहा रह कर ग्रन्थो का निरीक्षण करके उद्धार-योजना वनाई थी। उस समय उनके माथ ८–१० साथी भी वही रहे थे। बाद मे, मुनिजी के गुरुभाई मुनिवर्य पुण्यविजयजी ने यह कार्य अपने हाथ मे ले लिया और वे अव भी वहा की सूचियो तथा ग्रन्थो के प्रकाशन-कार्य मे सलग्न हैं। परन्तु राजस्थान की इतनी वडी शोध-सस्था प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान को इस महान कार्य मे योगदान देने से मुनिजी अलग कैसे रख सकते थे? उनके प्रस्ताव पर, प्रथम पञ्चवर्षीय योजना मे ही सरकार ने प्रतिष्ठान के लिए समुचित धनराशि का प्रावधान किया और उससे जैसलमेर ग्रन्थ-भण्डारो मे से प्राय सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थो की फोटोस्टाट कापिया तैयार करवा कर प्रतिष्ठान के सग्रह मे सुरक्षित कर ली गई तथा उनमे से अनेक का प्रकाशन भी किया गया। इतने बडे दायित्वपूर्ण और दुरूह कार्य को सफलता से सम्पन्न करना मुनिजी का ही कार्य था। अब जैसलमेर जा कर ग्रन्थावलोकन की अ-सरल प्रणाली का सामना किए विना ही अनुसन्धित्सु विद्वान् प्रतिष्ठान में बैठकर आसानी से अभीष्ट ग्रन्थो का अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार सत्रह वर्प से भी अधिक समय तक अपनी पूरी शक्ति लगाकर श्रीमुनिजी प्रतिष्ठान को उत्तरोत्तर समृद्ध, प्रवृद्ध और प्रसिद्ध करते रहे जिसमे राजस्थान सरकार का गौरव इस प्रकार की प्रवृत्ति मे निराला ही माना गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर भारत के किसी भी अन्य प्रान्त मे ऐसे वडे पैमाने पर ऐसा शोध प्रतिष्ठान अव तक सस्थापित नही हुआ।

प्रतिष्ठान की सस्थापना के लिए बीजल्प से जिस दिन विचार हुआ उसी दिन से मुझे श्री मुनिजी के साथ रह कर कार्य करने का अवसर मिला और मैं विगत सत्रह वर्षों की अवधि मे प्राय निरन्तर ही उनके मम्पर्क मे रहा। मुनिजी एक कुशल, अशिथिल और सहृदय प्रशासक रहे हैं। उनके कार्यकाल मे विभागीय कार्यकर्त्ताओ मे कभी असतोप या असद्भावना का लेश भी उत्पन्न नही हुआ। सभी कर्मचारी एक परिवार की तरह एकजुट होकर प्रतिष्ठान का कार्य तनमन से करते थे। छोटे और चतुर्थ वर्ग के कर्मचारियो के प्रति तो मुनिजी का व्यवहार वहुत ही सहानुभूतिपूर्ण रहता था। वे यथाशक्ति उनकी सहायता करते रहते और अपने प्रत्येक दौरे पर उनको इनाम-इकराम देते ही रहते थे।

व्यवस्था और कार्यालयीय मुद्दो को वे तुरन्त समझ कर हाथो-हाथ निर्णय ले लेते थे और किसी प्रकार की उलझन पैदा नही होने देते थे। कभी किसी कर्मचारी अथवा सहयोगी मे कोई भूल या प्रमाद बन जाता तो आत्मीय की तरह समझा-बुझा कर ही उसका समाधान कर देते थे—कभी किसी को दण्ड देने की बात सोचते भी न थे, उनके कार्यकाल मे निलबन, निष्कासन तो दूर रहा, किसी कर्मचारी को कठिन चेतावनी देने तक का अवसर नही आया।

मुनिजी अपना काम अपने हाथ से ही करते थे—जो कुछ लिखना होता स्वय लिखते—डिक्टेशन देना उन्हे अच्छा नही लगता था। आखो से बहुत कम दिखाई देने लगा तो भी रात मे तेज पावर के बल्ब लगाकर एकाकी पढते ही रहते थे। मनन तो उनका चलता ही रहता था, जब लिखने पढने के काम मे जुटते तो रात दिन एक कर देते थे, परन्तु यह सब कुछ वे स्वय ही करते थे, सहयोगियो को इससे कोई कष्ट या असुविधा नही होती थी। और, अब भी उनका यही हाल है; दृष्टि अत्यन्त क्षीण हो जाने पर भी कोई न कोई जुगत लगाकर जितना हो सकता है उतना पढते ही रहते हैं; आने जाने वालो से साहित्यिक, शैक्षणिक और खोज सम्बन्धी बातें बडे उत्साह से करते है, उनकी वाणी मे कोई शिथिलता नही आई है।

मैंने मुनिजी के सामने बहुत बडे–बडे आदमियो को प्रणत होते हुए देखा है, यहाँ तक कि भू० पू० भारत-राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी भी उनको बहुत आदर देते थे और अति विनम्रतापूर्वक सम्बोधित करते थे, परन्तु इससे मुनिजी मे किसी प्रकार का हर्ष या अभिमान उत्पन्न नही हुआ—प्रतिष्ठान के कार्य के लिये वे सचिवालय के किसी भी सामान्य से लेखक के सामने जा खडे होते और उसको बडे सौजन्य और सद्भाव से कर्तव्य-बोध कराकर काम पूरा करा लेते थे। एक बार एक अधिकारी से भेंट करने गए—उन महोदय ने बार-बार सूचना देने पर भी दिन के बारह बजे से शाम के चार बजे तक मुनिजी को अन्दर बुलाया ही नही। इधर मुनिजी थे कि डटकर खडे हो गए और उनके कमरे के बाहर अविचल होकर खडे ही रहे, चार बजे तक टस से मस नही हुए और अन्त मे अधिकारी महोदय से मिल कर ही आये। प्रतिष्ठान का कार्य था, कोई निजी प्रार्थना-पत्र लेकर नही खडे थे। इसके विपरीत यह भी देखा कि मुनिजी कभी किसी मिनिस्टर से मिलने उसके दरवाजे पर नही जाते थे, जैसा कि प्रायः अन्य अधिकारी लोग करते हैं।

मुनिजी आडम्बर और थोथे दिखावे को कभी पसन्द नही करते। सराहनीय और महत्वपूर्ण कार्यों को लक्ष्य में लेकर भारत सरकार ने उनको पद्मश्री से अलकृत किया। इसके लिए उन्हें दिल्ली जाना पडा। हम लोग भी साथ गये। वहाँ मुख्य समारोह के बाद कुछ प्रशसको और सस्थाओ ने सम्मान-समारोह करने की इच्छा प्रकट की परन्तु मुनिजी ने इसे अनावश्यक आडम्बर समझा और तुरन्त ही लौट आये।

व्यङ्ग्य विनोद में भी मुनिजी किसी से कम नही हैं। उनकी चुटकिया तथ्यभरी और चोट करने वाली होती हैं। एक बार बहुत बडे-बडे अधिकारी विभाग के कार्य का निरीक्षण करने आए। उस समय कुछ ग्रन्थ तो प्रकाशित हो चुके थे और कुछ प्रकाशनाधीन थे; उनका मुद्रण कार्य शायद वित्तीय स्वीकृति मे विलम्ब के कारण रुका हुआ था। हम लोगो ने उन फार्मों को लाल लेस मे अलग-अलग बाधकर निरीक्षणार्थ रख दिया था। अधिकारियो ने जिल्द-बधे ग्रन्थो की बगल मे फार्मो को देख कर उनके बारे मे पूछा तो मुनिजी ने तुरन्त कह दिया 'ये अभी 'लाल फीते' के नीचे हैं।' सब लोगो मे कहकहा लग गया।

इसी प्रकार जब राजस्थान साहित्य अकादमी ने तत्कालीन राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्दजी और शिक्षामंत्री हरिभाऊ जी उपाध्याय के साथ मुनिजी को 'मनीषी' पदवी से विभूषित किया तो मुख्य समारोह मे डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के दायी ओर मुनिजी बैठे थे और बायी ओर उपाध्यायजी। स्वागत भाषण का उत्तर देने जब मुनिजी खडे हुए तो उन्होने कहा 'मैं तो इस योग्य कदापि नही था, आप लोग यह हाथी की झूल ऊंट पर डाल रहे हैं।' सम्पूर्णानन्दजी और मुनिजी के शरीरो को देख कर पूरी सभा मे हसी के फव्वारे चल गए।

मुनिजी सामान्यतया जितने सरल और नम्र हैं, मौका पडने पर उतने ही दृढनिश्चयी और हठ ठान कर बैठने वाले भी है। सन् १९६५ ई० मे जब पाकिस्तान ने भारतीय क्षेत्रो पर गोला-बारी शुरू की तो उत्तर पश्चिमी सीमा पर जोधपुर पहला स्थान था जो उसकी चपेट मे आता था। वहा १५-१६ दिन तक प्राय नित्य ही गोले पडते रहे। मुनिजी उस समय प्रवास मे थे परन्तु सूचना मिलते ही तुरन्त वहा आ धमके और वीर सेनानी की भाति मैदान मे डट गए। प्रतिष्ठान के सभी कर्मचारियो का मनोबल बढ गया और हम सब के सब मुनिजी के साथ सुरक्षा कार्यवाही मे भाग लेने लगे। कुछ लोग सुरक्षा दल मे तो, कुछ नागरिक रक्षा टुकडियो मे प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे। मुनिजी और कुछ साथी प्रतिष्ठान के प्रागण मे ही रात दिन खाइयो मे और पेडो तले बने रहते थे। परन्तु मुनिजी एक दिन भी खाई मे नही बैठे। जब शत्रुओ का हवाई जहाज आता और anti-aircraft guns चलने लगती तो वे भवन से बाहर आकर मैदान मे खडे हो जाते और इस तरह तमाशा देखने लगते जैसे कोई आतिशबाजी देख रहा हो। अन्य सभी लोग बैठते और उनसे भी निवेदन करते परन्तु वे कहते—'इन ग्रन्थो की रक्षा करते हुए इनके भवन के साथ स्वाहा हो जाने से अच्छा मरण और किस तरह हो सकता है?'

अब से पहले राजस्थान के इतिहास के नाम से जो कुछ लिखा गया था वह अधिकतर वर्तमान एकीकृत राजस्थान की घटक रियासतो के राजाओ के विवरणो से ही भरा पडा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति और राजस्थान के एकीकरण के अनन्तर मुनिजी ने राजस्थान का एक ऐसा इतिहास लिखाने की कल्पना की जिसमे इस देश की भौगोलिक इकाई को लेकर यहा की संस्कृति, साहित्य, अर्थनीति और राजनीति का विशद् विश्लेषण हो। उन्होने इस विषय मे अपने मित्र स्व. नाथूरामजी खडगावत (निदेशक, राजस्थान अभिलेखागार) से परामर्श करके उन्ही के द्वारा इस प्रसंग को राजस्थान सरकार मे चालू कराया। डॉ० मोहनसिंह मेहता, तत्कालीन उपकुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय के सभापतित्व मे एक इतिहास-समिति गठित की गई और मुनिजी की अध्यक्षता मे सम्पादक-मण्डल का गठन हुआ। तदनुसार डॉ० सत्यप्रकाश और दशरथ शर्मा द्वारा तैयार किया हुआ ग्रन्थ 'Rajasthan Through the Ages' राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर से प्रकाशित किया गया।

मुनिजी ने अपने कार्यकाल मे राजस्थान के लिए जो कुछ किया है उसका मूल्याङ्कन करना कठिन। सवाल यह है कि इतने से समय में क्या कोई इतना कर सकता था? और यदि कोई करता भी, तो मुनिजी पर जो कुछ नाममात्र व्यय हुआ है इससे दस गुना व्यय करना पड़ता। फिर, मुनिजी ने तो जो कुछ उनको मिला उसे कई गुना करके वापस ही लौटा दिया है। चित्तौड मे हरिभद्र सूरि स्मारक मन्दिर, भामाशाह भारती भवन और चन्देरिया मे सर्वोदय साधना आश्रम, सर्वदेवायतन तथा अपने जन्मस्थान रूपाहेली

मे महात्मा गाधी स्मृति मन्दिर आदि इमारते कई लाख रुपयो की लागत से मुनिजी ने निर्मित कराई हैं जिनका सार्वजनिक उपयोग हो रहा है ।

वास्तव मे राजस्थान के लिए मुनिजी ने वहुत किया है जिससे इसका नाम ऊचा हुआ है, इनके कार्यो से किसान से लेकर आचार्य तक लाभान्वित हुआ है ।

सन् १९६३ के आरम्भ मे ही श्री मुनिजी वहुत बीमार हो गए थे । वात यह हुई कि अहमदावाद से जोधपुर आते समय रेल की खिडकी का काच उनके वाए हाथ की तर्जनी पर आ गिरा और घाव वन गया । वह घाव वाद मे सैप्टिक हो गया और मुनिजी वहुत कमजोर हो गए । जोधपुर और अहमदावाद मे दो तीन महीने इलाज के बाद घाव तो ठीक हो गया परन्तु कमजोरी वढती ही गई । उस समय ही मुनिजी ने राजस्थान सरकार को एक पत्र मे स्पष्ट लिख दिया था कि वे अब प्रतिष्ठान के कार्य से निवृत्त होना चाहते है । परन्तु सरकार के ध्यान मे उस समय कोई विकल्प नही आया और मुनिजी के परामर्श से ही कुछ ऐसे प्रवन्ध कर दिए गए कि मुनिजी को श्रम कम करना पडे और उनका मार्ग-दर्शन प्रतिष्ठान को निरन्तर मिलता रहे । कार्य चलता रहा और कोई विशेष अडचन नही आई । सरकार को मुनिजी का स्थान लेने के लिए कोई उपयुक्त व्यक्ति नही मिल रहा था और न इस दिशा मे सोचने की किसी को आवश्यकता ही अनुभव हो रही थी । परन्तु सन् १९६७ मे राजस्थान सरकार ने राजकीय कर्मचारियो की सेवा-निवृत्ति की आयु-सीमा ५८ से घटाकर ५५ वर्ष की कर दी और सभी पञ्चपञ्चाशतोत्तरवर्षीयो को एक साथ सेवा-निवृत्त करने के अनिवार्य आदेश जारी कर दिए गए । इस आदेश की परिधि मे मैं भी आ गया और १ जुलाई, १९६७ ई० से मेरी निवृत्ति का आदेश प्राप्त हो गया । उस समय मुनिजी ने तत्कालीन शिक्षा-सचिव स्व विष्णुदत्तजी शर्मा के पास जा कर स्पष्ट कह दिया कि अब मैं प्रतिष्ठान का काम बिल्कुल नही करूगा और मुझे भी निवृत्त कर दिया जाय । तदनुसार वे भी १ जुलाई, १९६७ ई० से ही प्रतिष्ठान के कार्य से निवृत्त हो गए । परन्तु अब भी चन्देरिया मे रहते हुए वे कोई न कोई रचनात्मक कार्य करते रहते हैं, नये निर्माण कराते हैं, बालवाडियो को देखते हैं, खेतीवाडी को सम्हालते है और उनके तीर्थ-स्थान-कल्प आश्रम मे आते रहने वाले दर्शनार्थियो से मिल कर विविध चर्चाए करते रहते हैं ।

राजस्थान में कहावत है कि नाम या तो 'भीतड़ो' से रहता है या 'गीतडो' से, अर्थात् नाम अमर करने के लिए या तो सुन्दर इमारतें वनवाये या फिर ऐसा यश उपार्जित करे कि गीतो में बखान हो या स्वय काव्य-निर्माण करे । मुनिजी ने राजस्थान की कीर्ति को भीतडो और गीतडो, दोनो ही के द्वारा चिरस्थायी वनाने के कार्य किये है । चित्तौड, चन्देरिया और रूपाहेली मे जो इमारतें उन्होने बनवायी है वे चिरकाल तक मुनिजी की यशोगाथा तो गाती ही रहेंगी, साथ ही महात्मा गाधी, हरिभद्र सूरि और भामासाह के नामो से सम्बद्ध होने के कारण राजस्थान के पूर्व गौरव को भी प्रतिदिन पुनरुज्जीवित करती रहेगी । यही नही, उन इमारतो की रचना-कल्पना मे जिस प्राचीन भारतीय स्थापत्य को आधार-भूमि बनाया गया है वह भी युग-युग के सशोधक के लिए अध्ययन की वस्तु वना रहेगा ।

इसी प्रकार शोध कार्य मे सतत् सलग्न रह कर मुनिजी ने जो अज्ञात एव दुर्लभ्य विपुल साहित्यिक सामग्री सामने ला दी है वह भी सशोधक विद्वानो को कई पीढियो तक शोध-ग्रन्थ लिखने मे प्रेरणा और

पृष्ठभूमि उपलब्ध करानी रहेगी। विविध ग्रन्थमालाओ, सामयिक पत्रिकाओ और अभिनन्दन ग्रन्थो आदि मे प्रकाशित मुनिजी के सम्पादित ग्रन्थो और लेखो की सख्या बहुत बडी है। कितनी ही ग्रन्थमालाओ के तो जन्मदाता ही स्वय मुनिजी रहे है। 'सिघी जैन ग्रन्थमाला' और 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' से विश्व के भारतीय-साहित्यिक-अनुसधित्सु-जगत् मे जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वह बहुत बडी है। देश मे और विदेशो मे भारतीय-विद्या सम्बन्धी लिखे गये शोध-निबन्धो मे शायद ही कोई ऐसा हो जिसमे मुनिजी अथवा उनके सम्पादित ग्रन्थो का उल्लेख न किया गया हो। इस माध्यम से राजस्थान प्रान्त को जो मान प्राप्त हुआ है वह किसी भी राजनीतिक अथवा अन्य उपलब्धि की तुलना मे कम नही है।

अपने कार्यकाल मे राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' मे प्रकाशनार्थ मुनिजी ने शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अपने प्रधान सम्पादकत्व मे तैयार कराये जिनमे से अनेक का सम्पादन देश के जाने-माने भारतीय-विद्या-विशारद विद्वत्तज्जनो ने किया है। प्रायः ८६ ग्रन्थ मुनिजी के सामने ही सम्पूर्ण रूप मे प्रकाशित हो चुके थे और शेष भी उस स्थिति मे पहुँच चुके थे कि बाद मे आने वालो को उन्हे यथावत् प्रस्तुत कर देने मे न अधिक श्रम करना पडा और न अधिक समय ही लगा। इन ग्रन्थो पर मुनिजी द्वारा लिखे गये प्रधान सम्पादकीय और सम्पादकीय मार्मिक वक्तव्य तथ्योद्‌बोधक और स्थायी महत्त्व के हैं। यो तो सभी ग्रन्थो के सम्पादन मे रीति-नीति-निर्धारण और मार्ग दर्शन मुनिजी का ही रहा है परन्तु इस ग्रन्थमाला के लिए जिन ग्रन्थो का सम्पादन स्वय मुनिजी ने किया है उनकी सूची इस प्रकार है :—

१ त्रिपुराभारतीलघुस्तव (स०), लघ्वाचार्य प्रणीत, सोमतिलक सूरि कृत एव एक अज्ञात कर्तृक टीका सहित।

२ कर्णामृतप्रपा (स०), सोमेश्वर भट्ट रचित।

३ बालशिक्षा व्याकरण (सं०), ठक्कुर सग्रामसिंह विरचित।

४ प्राकृतानन्द (स० प्रा०) रघुनाथकविकृत प्राकृतव्याकरण।

५ उक्तिरत्नाकर (स०) साधुसुन्दर गणि विरचित।

६ पदार्थरत्नमञ्जूषा (स०), श्री कृष्णमिश्र प्रणीत।

७ हम्मीर–महाकाव्य (स०), नयचन्द्र सूरि कृत।

८. शकुन–प्रदीप (सं०)

९. गोरा बादल चरित्र (रा०), कवि हेमरतन रचित।

१०. मधुमालती सचित्र कथा (रा०)

११. ए कैटलॉग आफ सस्कृत एण्ड प्राकृत्त मैन्युस्क्रिप्ट्स (३ जिल्दो मे)

मुनि जी के इन बहुविध कार्यकलापो से राजस्थान का जो उपकार हुआ है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

वास्तव में वे देवकल्प हैं

"इन दिनो श्री मुनिजी की शारीरिक स्थिति क्षीरण हो चली है और वे श्री बहुराजीको और आपको याद करते हैं।" यह सन्देशा मेरे आयुष्मान गोकुलप्रसाद शर्मा ने नाथद्वारा से जयपुर पहुँच कर दिया। श्री प० गोपाल नारायण जी बहुरा महोदय को अवगत किया गया। श्री बहुराजी को राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान मे उप-निदेशक पद पर १७ वर्ष तक मुनि जी के साथ कार्यनिरत रहने का सौभाग्य प्राप्त है। मुझ पर भी उनकी अहेतुकी कृपा है।

सन् १९५७ से १९६३ ई० तक श्री गोकुलप्रसाद चित्तौडगढ-उप-जिलाधीश रहे। उन दिनो समय-समय पर मुझे भी मुनि जी के दर्शन का सुयोग मिलता रहा। मुनि जी इस समय स्मरण कर रहे हैं—यह सुनते ही हम लोग उनके दर्शनार्थ प्रस्तुत हो गये और ६ जनवरी को वडे सवेरे श्री गोकुलप्रसाद के साथ ही रवाना होकर उसी दिन नाथद्वारा जा पहुँचे। श्रीनाथजी के दर्शन कर वहा के स्थान देखे और अगले दिन चित्तौड पहुचने के लिये बस का सहारा लिया। बस १२।। बजे चित्तौड के समीप उस मोड पर पहुँची जहा से चन्देरिया को सीधी सडक जाती है।

यहाँ से हम पदयात्री बने और अढाई मील पैदल चलकर श्री मुनिजी की सेवा में उपस्थित हुये। जिस समय हम श्री मुनि जी के आश्रम मे पहुँचे वे अपने कमरे मे जगले के सहारे चौके पर विराजमान थे। हमने उनके समक्ष पहुँच कर स्वनामोच्चारपूर्वक प्रणाम निवेदन किया और वे प्रेम से गद्‌गद् होकर खडे हो गये और हमारा अभिवादन स्वीकार किया। कैसे आये? उन्होने पूछा। उनका मतलब सवारी से था। हमने बताया 'चित्तौड के मोड से पैदल आये हैं। आप तीर्थस्वरूप हैं और तीर्थयात्रा पदयात्रा बिना सफल नही होती।' वे मुसकराये। हमने श्री गोकुलप्रसाद द्वारा दोनो को स्मरण करने की वात कही—तो उन्होने कहा—'गोकुलप्रसाद जी तो हमारे सहायक स्तम्भ हैं। वे उस दिन अचानक आये थे और तभी मैंने उनसे आप लोगो का जिकर किया था।' इसके वाद उन्होने श्री बहुरा जी से आत्मीयता पूर्वक उनके परिवार की कुशल-क्षेम पूछी। इसके बाद हमने उनके जीवन की अनेक घटनाओ के विषय मे प्रश्न किये जिनका उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया।

इस प्रसग मे मुनिजी की जर्मनी की यात्रा की एक घटना चिरस्मरणीय रहेगी। जर्मनी जाते समय आप अपने जर्मन विद्वान मित्रो को प्रत्यक्ष दर्शन कराने के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र की १२ वी शताब्दी की हस्तलिखित अद्वितीय किन्तु अल्प एव त्रुटित प्रति साथ ले जाना नहीं भूले जिसकी चर्चा वे उनसे कर चुके थे और जिसका कडी खोज के वाद उन्होने स्वय पता लगाया था। देवनागराक्षरो मे इस ग्रन्थ की उत्तर भारत की अव तक वही एक मात्र उपलब्धि है। जव इसका मुनिजी ने दर्शन कराया तो डॉ० हरमन याकोबी और ल्यूडर्स—दोनो ही वडे आनन्दित हुए। डॉ० ल्यूडर्स वर्लिन विश्वविद्यालय मे इण्डोलॉजिकल स्टडीज के अध्यक्ष

थे । बातो ही बातो मे वे श्री मुनिजी से पूछ बैठे—"क्या आप जर्मनी की नेशनल लाइब्रेरी के लिए यह अद्वितीय और अमूल्य प्रति दे सकते है" ? और बडे सकोच के साथ इसका मूल्य कम से कम एक लाख मार्क आका । उत्तर मे मुनिजी ने उनका धन्यवाद करते हुए स्पष्ट कह दिया कि "जिस प्रकार आप इस प्रति को अद्वितीय और अमूल्य समझते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने मन मे इसको अपने देश की एक अमूल्य निधि मानता हूँ और प्राणो से भी अधिक इसकी रक्षा करना चाहता हूँ; यह एक दुर्भाग्य की बात है कि मेरे देश के लोगो को ऐसी राष्ट्रीय अमूल्य निधि का परिज्ञान नही हैं और वे इसका महत्व नही आक सकते । मैं किसी मूल्य पर भी इससे वियुक्त होने के लिए तैयार नही हूँ ।" अन्त मे इस सदर्भ मे यह बात तय हुई कि, इस प्रति का प्रकाशन मुनिजी के सम्पादकत्व मे बर्लिन विश्वविद्यालय से किया जाय और उसकी समीक्षात्मक तालिका आदि डॉ० ल्यूडर्स तैयार करें । प्रति की फोटो-प्रतिया तैयार कराई गई और दोनो विद्वान अपने-अपने कार्य मे सलग्न हो गए । मूल प्रति की बहुत कुछ प्रेसकापी भी तैयार हो गई । परन्तु उसी समय मुनिजी जर्मनी से लौटकर भारत आये और अहमदाबाद मे गाधीजी मे मिले । उनको अपनी प्रवृत्तियो का परिचय दिया । दो तीन मास ठहर कर—जर्मनी लौट जाने का सकल्प भी बताया । उसी समय महात्माजी ने स्वाधीनता सग्राम के सिलसिले में डाँडी-कूच का बिगुल वजा दिया—सत्याग्रह के पहले जत्थे का नेतृत्व स्वय महात्माजी ने किया—उनके बाद दूसरे जत्थे का नेतृत्व ग्रहण कर मुनिजी भी जेल चले गए । जर्मनी जाने की योजना जहा की तहा रही ।

दूसरी रोचक घटना चित्तौड मे भामाशाह भारती भवन के निर्माण की है । श्रीमुनिजी को यह प्रेरणा तब हुई जब चीन का भारत पर आक्रमण हुआ और सरकार भामाशाह का उदाहरण याद दिलाकर सोना एकत्र करने लगी । मुनिजी ने कहा—'भामाशाह का नाम लेकर इस प्रकार धन तो एकत्र किया जाता है किन्तु उस त्यागी देशभक्त का नाम कोई माचिस की पेटी या बीडी के बडल पर भी अंकित नही करता । इसी भावना से उन्होने इस भवन का निर्माण कराया जिसमे आजकल राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान का शाखा कार्यालय और एक बाल-मन्दिर चलता है । उसमे मुनिजी ने लगभग ५० हजार रुपये व्यय किए हैं । १४४० ग्रन्थो के निर्माता प्रकाण्ड विद्वान हरिभद्रसूरि की स्मृति मे हरिभद्रसूरि-स्मारक-मन्दिर बनवाया है । इसमे हरिभद्रसूरि एव अन्य महात्माओ की सुन्दर सगमरमर की मूर्तिया जयपुर के कारीगरो से बनवाकर स्थापित की गई हैं । इस मन्दिर की लागत लगभग सवा लाख रुपये है ।

स्पृहणीया कस्य न ते सुमते सरलाशया महात्मानः
त्रयमयि येषा सदृश हृदय वचन तथा ऽऽचारः । —सुभाषित

ऐसे सरलाशय महात्मा सबके स्पृहणीय एव बन्दनीय हैं, जिनके तीनो—हृदय, वचन और आचार एक समान सदृश होते हैं, कोई बाह्याडम्बर नही होता । बाह्याभ्यतर शुचिता-सम्पन्न विद्वद्वरेण्य श्री मुनि जिन विजय जी महाराज इसी कोटि के महत् पुरुषो मे परिगणनीय हैं । सही अर्थ मे, श्री मुनि जी वाणी—सरस्वती के वर-पुत्र हैं ।

मुनि जी ने सर्वदेवायतन मन्दिर का दर्शन हमे स्वय कराया । मदिर मे भगवान् शकर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी, राम-सीता, कृष्ण-रुक्मिणी, जिनदेव, बुद्ध, महावीर, गणेश, हनुमान, और शीतलामाता, लक्ष्मी,

दुर्गा महिषासुरमर्दिनी आदि देव-देवियो की मगमरमर की जयपुर के कारीगरो द्वारा निर्मित नयनाभिराम मूर्तियाँ स्थापित हैं। साथ ही वर्तमान युग के महापुरुष महात्मा गाधी तथा श्री जवाहर लाल नेहरू, स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधान मत्री की मूर्तिया भी प्रतिष्ठित है।

सर्वदेवायतन मन्दिर मे और क्या क्या प्रवृत्तियाँ आप रखना चाहते हैं ?—हमारे इस प्रश्न पर वे गभीर हो गये और भाव-विभोर होकर एक गुजराती भजन की कडी लहजे के साथ दोहराने लगे—

टूट्यो म्हारा तबूरानु तार
अधूरो रह्यू रे भजन भगवाननु ।

इसके वाद उन्होने यह भी बताया कि वे अपने जीवन का सिंहावलोकन गद्यपद्य रचना मे कर रहे हैं। उसकी भी कई कडिया आपने सुनाई—और यह भी बताया कि, अपने विद्वान मित्रो के आये हुये पत्रो को छाटकर के मैने अजमेर के श्री जीतमलजी लूणिया को प्रकाशनार्थ दे दिये हैं।

बस के लौटने का समय हो चुका था इसलिए हम लोगो ने उनसे विदा ली। वे आश्रम के दरवाजे तक पहुँचाने आये। अवस्था के कारण उनका शरीर दुर्बल और दृष्टि क्षीण हो चुकी है किन्तु उनकी वाणी मे वही ओज भरा हुआ है।

श्री मुनिजी महाराज कृतकर्मा हैं और उनका समस्त जीवन सरस्वतीजी की अखण्ड साधना मे लगा रहा है। इस अवस्था मे भी हमने उनको कार्यनिरत पाया। वास्तव मे वे देवकल्प हैं।

द्वितीय खण्ड
प्रशस्ति

आचार्य जिनविजयजी

गुजरात पुरातत्व मदिरना भूतपूर्व अचार्य श्रीमान जिनविजयजी आचार्य तरीकेना जीवनमा सीधी रीते परिचयमा आवनार के अेमनी साहित्य कृतिओ द्वारा परिचयमा आवनार बधा मोटे भागे तेमने गुजराती तरीके ओलखे छे अने जाणे छे। अने तेथी हरेक अेम मानवा ललचाय के गुजरातनी व्यापार जन्य साहस वृत्तिए ज अेमने दरिया पार मोकल्या हशे, पण खरी बिना जुदी ज छे। तेवी ज रीते, तेमनीसाथे सीधा परिचय बिनाना माणसो, मात्र तेमना नाम उपरथी तेमने जैन अने तेमा पण जैन साधु माने अने तेथीज कदाच तेमने वैश्य तरीके ओलखवा पण प्रेराय, परन्तु ते बाबतमा पण बिना जुदी छे।

आचार्य जिनविजयजीना जीवनमा आ विदेश यात्राना प्रसगथी तद्दन नवु प्रकरण शरु थाय छे अने तेथी आ प्रसगे तेमना अत्यार सुधीना जीवननो अने तेनाँ मुख्य प्रेरक बलोनो परिचय आपवो उचित गणाशे।

तेमनु जन्मस्थान गुजरात नहि पण मेवाड छे। तेओ जन्मे वैश्य नहि पण क्षत्रिय रजपूत छे। परदेशमा जनारा घणाखराओ पाछा आवी अही इष्ट कारकीर्दि शरू करवा जाय छे। आ जिनविजयजीनु तेम नथी। तेमणे इष्ट दिशानी एटले प्राचीन सशोधननी कारकीर्दि अही क्यारनी शरू करी दीधी छे। पोतानी शोधो, लेखो, निबधों द्वारा आ देश मां अने परदेशमा तेओ मशहूर थई गया छे अने हवे, तेमने पोताना अभ्यासमा जे काँई बधारो करवों आवश्यक जणायो ते करवा तेओ परदेश गया छे।

तेमनी जन्म अजमेरथी केटलेक दूर रूपाहेली नामना एक नाना गामडामाँ थयेलो। ते गाममां एकसो वरसथी वधारे ऊमरनां जैन यति रहेता। तेमना उपर तेमना पितानी प्रबल भक्ति हती, कारण के अे जैन यतिश्री वैद्यक ज्योतिष आदिना परिपक्व अनुभवनो उपयोग मात्र निष्काम भावे जनसेवामा करता। जिनविजयजीनु मूलनाम किसनसिंह हतु। किसनसिंह ना पगनी रेखा जोईने अे यतिअे तेमना पिता पासेना तेमनी मागणी करी। भक्त पिताअे विद्याभ्यास माटे अने वृद्ध गुरुनी सेवा माटे ८–१० वरसना किसनने यतिनी परिचर्यामा मूक्या। जीवनना छेल्ला दिवसोमा यतिश्रीने कोई बीजा गाममा जई रहेवु पड्यु। किसन साथे हतो। यतिजीना जीवन अवसान पछी किसन अेक रीते निराधार स्थितिमा आवी पड्यो। मां बाप दूर अने यतिनाशिष्य परिवारमा जे सभालनार ते तद्दन मूर्ख अने आचारभ्रष्ट। किसन रातदिवस खेतरमा रहें, काम करे अने छता तेने पेट पूरु अने प्रेमपूर्वक खावानु न मले अे बालक उपर आं आफतनु पहलु बादलु आव्यु अने तेमाथीज विकासनु बीज-नखायु। किसन बीजां एक मारवाड़ी जैनस्थानकवासी साधुनी सोबतमां आव्यो। अनी वृत्ति प्रथमथी ज जिज्ञासा प्रधान हती। नवु नवु जोवु, पूछवु अने जाणवु अे तेनो सहज स्वभावहतो। अेज स्वभावे तेने स्थानकवासी साधु पासे रहेवा प्रेर्यो। जेम दरेक साधु पासेथी आशा राखी-शकाय तेम ते जैन साधुअे पण अे बालक किसनने साधु बनाव्यो। हवे अे स्थानकवासी साधु तरीकेना जीवनमा किसननो अभ्यास शरू थाय छे।

अेमणे केटलाक खास जैन धर्म-पुस्तको थोडा समयमा कठस्थ करी लीधां अने जाणी लीधा; परन्तु जिज्ञासाना वेगना प्रमाणमा त्या अभ्यासनी सगवड न मली । अने प्रकृति स्वातत्र्य न सहन करी शके अेवा निरर्थक रूढिबधन खटक्या । तेथीज केटलाक वर्ष बाद घणाज मानसिक मंथन ने अते छेवटे अे सम्प्रदाय छोडी ज्या वधारे अभ्यासनी सगवड होय तेवा कोइ पण स्थान मां जवानो बलवान सकल्प कर्यो ।

उज्जयिनीना खडरोमां फरता फरता सध्याकाने सिप्राने किनारे तेणे स्थानकवासी साधुवेष छोड्यो । अने अनेक आशकाओ तेम ज भयना सखत दाबमा रातोरात ज पगपाला चाल नीकल्या । मोढे सतत बांधेल मु मतीने लीधे पडेल सफेद डाघाने कोइ न ओलखे माटे भूंसी नाखवा तेमणे अनेक प्रयत्नों कर्या। पाछलथी कोइ ओलखी पकडी न पाडे माटे अेक बे दिवसमा घणा गाउ कापी नाख्या । अे दोडमा राते अेकवार पाणी भरेला कूवामा तेओ अचानक पडी गयेला ।

रतलाम अने तेनी आजुबाजुना परिचित गामो मा थी पोतानी जातने बचावी लई क्याक अभ्यास योग्य स्थान अने सगवड शोधी लेवाना उद्वेगमा तेमणे खावा पीवानी पण परवा न राखी । पण पुरुषार्थीने वधु अचानक ज सापडे छे । कोई गामडमा श्रावको पजुसणमा कल्पसूत्र वचाववा कोई यति के साधुनी शोध मा हता । दरमियान किसनजी पहोच्या । कोईमा नहि जोयेलु अेवु त्वरित वाचन अे गामडियाओअे अेमनामा जोयु अने त्याज तेमने रोकी लीधा । पजुसण बाद थोडी दक्षिणा बहु सत्कार पूर्वक आपी । कपडा अने पैसा बिनाना किसनजी ने मुसाफरीनु भातु मल्यु अने तेमणे अमदावाद जवानी टिकिट लीधी । अेमणे साभलेलु के गुजरातमाँ अमदावाद मोटु शहेर छे अने त्या मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मोटो छे । अे सप्रदायमा विद्वानो बहु छे अने विद्या मेलववानी वधी सगवड छे । आ लालचे भाई अमदावाद आव्या, पण पुरुपार्थनी परीक्षा अेक ज आफते पूरी थती नथी । अमदावादनो प्रसिद्ध विद्याशाला आदिमाँ क्यांय घडो थयो नहि । पैसा खूट्या । अेक बाजु व्यवहारनी माहिती नहि अने बीजी बाजु जातने जाहेर न करवानी वृत्ति अने त्रीजी बाजु उत्कट जिज्ञासा, अे बधी खेंचताणमा अेमने बहु ज सहेवु पड्यु । अते भटकता मारवाडमा पाली गाममा अेक सुंदरविजयजी नामना सवेगी साधुनो भेट थयो । जेओ अत्यारे पण वृद्धावस्थामा विचरे छे, अने अत्यार सुधीना बधा परिवर्तनोमा सरल भावे अेम कहेता रहे छे के ते जे करशे ते ठीक ज हशे । अेमनी पासे तेमनी सवेगी दीक्षा लीधी अने जिनविजयजी थया । अेमना गुरु तरीकेनो आश्रय तेमणे विद्वाननी दृष्टिअे नहि पण तेमणे आश्रयथी विद्या मेलववामा वधारे सगवड मलशे अे दृष्टिअे लीधेलो । आ बीजु परिवर्तन पण अभ्यासनी भूमिका उपर ज थयु । थोडा बखत बाद मात्र अभ्यासनी विशेष-सगवड मेलववा माटे जिनविजयजी अेक बीजा जैन सुप्रसिद्ध साधुना सहवासमा गया । परन्तु विद्वत्ता अने गुरुपदना मोटा पट्ट उपर बेठेल साप्रदायिक गुरुओमाथी बहुज ओछाने अे खबर होय छे के क्यु पात्र केवु छे अने तेनी जिज्ञासा न पोपवाथी के पोषवाथी शु शु परिणाम आवे ? जो के अे सहवासथी तेमने जोवांजाणवानु विस्तृत क्षेत्र तो मल्यु पण जिज्ञासानी खरी भूख भागी नहि । वली अे उद्वेगे तेमने बीजाना सहवास माटे ललचाव्या अने प्रसिद्ध जैन साधु प्रवर्तक कातिविजयजीना सहवासमा तेओ रह्या । त्या तेमने प्रमाणमा घणीज सगवड मली अने तेमनी स्वत सिद्ध अैतिहासिक दृष्टिने पोषे अने तृप्त करे अेवा घणाज महत्वना साधनो मल्या । गमे त्या अने गमे तेवा प्रतिकूल के अनुकूल सहवासमा तेओ रहेता छता पोतानी जन्मसिद्ध मितभाषित्व अने अेकान्तप्रियतानी प्रकृति प्रमाणे, अभ्यास वाचन अने लेखन चालु ज राखता ।

अेकबाजु साधुजीवनमां रात्रिअे दीवा सामे वचाय नहि अने बीजी वांचवानी प्रवल वृत्ति के लखवानी तीव्र प्रेरणा रोकी शकाय पण नहि । समय निरर्थक जवानु दुःख अे वधारामां । आ वधा कारणोथी तेमने अेकवार बीजलीनी बेटरी मेलववानु मन थयु । आजथी लगभग ३७ वर्ष पहेला ज्यारे हू तेओना परिचयमा पहलेपहेलो आव्यो त्यारे तेमणे मने बेटरी लेता अववानु कह्यु । हु बैटरी अमदावाद थी पाटण लई गयो, अने अेने प्रकाशे तेमणे तद्दन खानगीमा कोई साधु के गृहस्थ न जाणे तेवी रीते लखवा अने वाचवा माड्यु । जो हु न भूलतो होऊं तो तिकलमंजरीना कर्ता धनपाल विशे अेमणे जे लेख लखेलो छे ते अेज बेंटरीनी मददथी । ते सिवाय बीजु पण तेमणे तेनी मददथी घणु वाच्यु अने लख्यु, परन्तु दुर्दैव बेंटरी बगड़ी अने विघ्न आव्यु । आखो दिवस सतत वाच्या-विचार्या पछी पण तेमनेराते वाचवानी भूख रहती । ते उपरान्त अभ्यासनां आधुनिक घणा साधनो मेलववानी वृत्ति पण उत्कट थती हती । छापा, मासिको अने विजु नवीन साहित्य अे वधु तेमनी नजर बहार भाग्येज रहे । तेओ अन्य जैन साधुओनी पेठे कोई पडित पासे भणता पण भणवानो आराम अने अंत लगभग साथेज थतो । संस्कृत साहित्य होय के प्राकृत अे वधु अेमणे मुख्यपणे स्वाश्रित वाचन अने स्वाश्रित अभ्यासथी ज जाण्यु छे । जेनी दृष्टि तीक्ष्ण होय अने प्रतिभा जागरुक होय अे गमे तेवा पण साधनोनो सरस उपयोग करी ले छे । अे न्याये तेओ भावनगर, लीमडी, पाटण आदि जे जे जैन स्थलोमां गया अने रह्या त्याथी तेमणे अभ्यासनी खोराक खूब मेलवी लीधो । परन्तु जूनी शोध खोलोनो अगे ज्यारे ते ओ आधुनिक विद्वानोना लखाणो वाँचता त्यारे वली तेमनी जिज्ञासा भभूकी ऊठती अने जैन साधुजीवननु-रूढिबंधन खटकतु । तेओ घणीबार मने पत्रमा लखता के तमे भाग्यशाली छो । तमारी पासे रेलवेनी लब्धि छे, गमे त्या जई शको छो अने गमे ते रीते अभ्यास करी शकोछो । अे लखाण शोखीन मनोवृत्तिनु नहि पण अभ्यास परायण जीवननु प्रतिविम्ब छे, अेम मने तो ते वखते ज लागेलु; पण आजे अे सौने प्रत्यक्ष छे । पाटणना लगभग वधा भंडारो, जूनां कलामय मंदिरो, अने बीजी जैन सस्कृतिनी अनेक प्राचीन वस्तुओना अवलोकने अेमनी जन्मसिद्ध गवेषणावृत्तिने उत्तेजी अने ऊंडो अभ्यास करवा तेमज लखवा प्रेर्या । महेसाणा अने पाटण पछी त्रीजु चोमासु मे बडोदरामा तेमनी साथे गाले लु । हुं जोतो के सेंट्रल लायब्रेरीना पुस्तकोनां पुस्तको अने जैन भडारनी पोथीओनी पोथीओ उपाश्रयमा तेमनी पासे खडकायेली रहेती । अने जो कोई जाते जइने न वोलावे तो तेओ मकानमा छे के नहि तेनी खबर मात्र लेखणना अवाजथी ज पडती । सद्गत चिमनलाल अे अेमना जेवा ज विद्याव्यसनी अने शोधक हता । चिमनलाल अंग्रेजीना विद्वान अेटले तेमनो मार्ग वधारे खुल्यो । श्री जिनविजयजी अंग्रेजी न जाणे अेटले ते अे बाबतमां पराधीन छतां जिज्ञासा माणस ने सूवा दई शकती नथी । तेथी धीरे धीरे तेओ अंग्रेजी तरफ ढल्या । दरम्यान पोताना विषयनु अंग्रेजी भाषामा के जर्मन भाषामा पुस्तक लखायु होय तो तेने मेलवी गमे ते रीते तेनो अनुवाद करावी मतलब समजी तेनो उपयोग करता, पण आ रीते अेक अभ्यासनिष्ठ माणस लावा वखत सुधी सतुष्ट रही शके नहि । हु जाणु छुं त्या सुधीमा कृपारसकोश, विज्ञप्ति त्रिवेणी, शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबध वगेरे पुस्तको लखवानो पायो बडोदरामां ज नखायो । अने तेमनी साहित्य विषयक आकर्षक कारकिर्दी त्याथी शुरू थई । जेम जेम वाचन वध्यु अने लखवानी वृत्ति तीव्र बनी तेम तेम वधारे ऊणप भासती गई अने जैन साधुजीवननां बधनो तेमने सालवा लाग्यां । कालक्रमे मुंबई पहोच्या । अनेक जैन साधु साथे हता । मूंबईमां समशील विविध विद्वानोना परिचये अने त्याना स्वतन्त्र वातावरणे तेमनी अभ्यास वृत्तिने अनेक मुखे उद्दीप्त करी । अे अेमनो मथनकाल हतो । हु वालकेश्वरमां तेओने अेकवार मल्यो त्यारे जोयु के ते सतत वांचवा-विचारवामा मग्न छतां ऊंडा असंतोषमां गरक हता । थोड़ा मास पछी तेमनी वृत्ति

पूनाना विद्यामय वातावरणे आकर्षी । तेओ पूज्य वृद्धसाधुओनो साथ छोडी दुःखित मने अेकला पड्या, अने पगे चालता पूना पहोंच्या । अही भंडार अने विद्वानोना इष्टतम परिचयथी तेमने खूब गोठी गयु । त्यानी प्राकृतिक रमणीयता, सादु जीवन अने विद्यार्थी तथा विद्वानोनी बहुलताओ तेमने पूनाना स्थायी निवास माटे ललचाव्या । भारत जैन विद्यालयनी चालु संस्थाने तेमणे स्थायी रूप आपवा प्रयत्न कर्यो, अने बीजी बाजु भांडारकर इन्स्टीट्यूटमानो लिखित जैन पुस्तक संग्रह जोइ काढ्यो: आमाथी तेमनी शोधक बुद्धिने पुष्कल सामग्री मली ।

अत्यार सुधी तेओ मने के कमने दृढ जैनत्वना आश्रय तले विद्याव्यासंग पोषी रह्या हता, ते जैनत्व हवे पूनाना राष्ट्रीय वातावरणमा, अने देश व्यापी हीलचालना वावाझोडामां ओसरवा माड्यु । असहकारना मंडाणना दिवसो आव्या, अने तेमनी वधु विशाल कार्यक्षेत्र शोधवानी वृत्ति ने जोइतु नवु कार्यक्षेत्र मली आव्यु । आ अेमनो त्रीजो मथनकाल । अने ते सौथी वधारे महत्वनो । कारण, आ वखते काइ नानी उमरमा जैन साधुवेष फेंकी दीधो तेवी स्थिति न हती । अत्यारे तेओ जैन अने जैनेतर विद्वानोमा अेक प्रसिद्ध लेखक तरीके जाणीता थया हता । जैन साधु तरीकेनु जीवन समाप्त करवु अने नवु जीवन शुरू करवु, ते केम अने केवी रीते तथा शा माटे अे विकट प्रश्नोअे घणा दिवस तेमने उजागरो कराव्यो ।

उजागराना आ कारणोमा अेक विशेष कारण हतु जे नोधवा योग्य छे । पिता तो पहेलां गुजरी गयेला तेनी तेमने खबर हती । पण माता जीवित तेथी तेमनु दर्शन करवु अे इच्छा प्रबल थइ हती । अेक-वार तेओअे मने कहेलु के हु माने कदी जोइ शकीश के नहि ! अने जाउ तो माताजी ओलखशे के नहि ? शु मारे माटे अे जन्मस्थान तद्दन पुनर्जन्म जेवु थइ गयु नथी ? स्वप्ननी वस्तुओ जेवी पण जन्मस्थाननी वस्तुओ मने आजे स्पष्ट नथी' । माताने मलवा ट्रेनमा बेसवानु जे पगलु भरी शक्या नहि ते पगलु राष्ट्रीयता मोजाना वेगमा भर्यु । जैन साधुजीवनना बंधनो छोडी देवानो पोतानो निश्चय तेमणे वर्तमान पत्रोमा प्रसिद्ध कर्यो अने गुजरात विद्यापीठनी स्थापना साथे पुरातत्व मन्दिरनी योजनाने अगे तेमने अमदावाद बोलाव्या त्यारे ते ओ रेलवे ट्रेनथी गया अने त्यार थी तेमणे रेलवे विहार शरू कर्यो छे । महात्माजीअे अने विद्यापीठना कार्यकर्ताओअे तेमनी पुरातत्व मंदिरमा नीमणूक करी अने तेमना जीवननो नवो युग शरु थयो । जैन साधु मटी-तेओ पुरातत्त्व मंदिरना आचार्य थया ।

मंदिर शरु करवाना काममा तेअे माताजीने मलवा तरत तो न जाइ शक्या, पण अेकाद वर्ष पछी गया त्यारे माताजी विदेह थयेला । जिनविजयजी आ आघातथी रडी पड्या । जिनविजयजी अे संसार पराङ्मुख सन्यासना आटला वरस गाल्या छे पण तेमनामा मानवताना सर्व कुमला भावो छे । तेमने अनुयायीओ करता सहृदय मित्रो वधारे छे तेनु आ कारण छे ।

लगभग आठ वर्षना पुरातत्त्व मंदिरना कार्यकाल दरमियान तेओनी भावना अने विचारणामा तेमना क्रांतिकारी स्वभाव प्रमाणे मोटु परिवर्तन थयु ।

पुरातत्त्व मंदिरनो महत्त्वनो पुस्तक संग्रह मुख्यपणे तेमनी पसंदगीनु परिणाम छे । अही आव्या पछी पण तेमनु वाचन अने अवलोकन सतत चालु ज रह्यु । अनेक दिशाओमा तेमनी कार्य करवानी वृत्ति

तेमणे चलावेल जैन साहित्य संशोधक नामना त्रैमासिक पत्रनु वीजु वर्ष पूरु थवा आवे छे। जैन समाजना कोइ पण फिरकामा ए कोटिनु पत्र अद्यापि नीकल्यु नथी। ए पत्र जैन साहित्य प्रधान होवा छता तेनी प्रतिष्ठा जैनेतर विद्वानोमां पण घणी छे। तेनु कारण तेमनी तटस्थता अने ऐतिहासिक निष्णातता छे। जैन समाजना लोको तेमने जाणे छे ते करता जैनेतर विद्वानो तेमने वधारे प्रमाणमा अने मार्मिक रीते पिछाने छे।

जो के जैन समाज तद्दन रूढ जेवो होवाथी बीजा वधा लोको जाग्या पछी ज पाछलथी जागे छे, छता सतोषनी वात छे के मोडा मोडा पण तेनामा विद्यावृत्तिना सुचिह्नो नजरे पडवा लाग्या छे। एक तरफ थी, अग्रेजी भाषा अने पाश्चात्य वस्तुमात्रनो वहिष्कार करवा तत्पर एवो संकीर्ण वर्ग, जे मुवईमा रहे छे ते-ज मुवईमा, बीजो विद्यारुचि अने समय सूचक जैन विद्वान वर्ग-पण वसे छे। विदायगीरीना मित्रोए करेला छेल्ला नानकडा मेलावडा प्रसगे मे जे दृश्य अनुभव्यु ते जैन समाजनी क्रातिनु सूचक हतु। जे लोको आचार्य जिनविजयजी ने आज सुधी वलवाखोर मानी तेमना थी दूर भागता अगर तो पासे जवामा पापनो भय राखता तेवा लोको पण तेमनी विदायगिरीना मेलावडा प्रसगे उपस्थित थइ साक्षी पूरता हता के हवे जूनु काश्मीर अने जूनी काशी ए विदेशमा वसे छे। आचार्य हरिभद्रे बौद्ध मठमा शिष्योने भणवा मोकलेला। आचार्य हेमचन्द्रे काश्मीरनी शारदानी उपासना करेली। उपाध्याय यशोविजयजी ए काशीमा गंगा तटने सेवेलु। हवे परिस्थिति प्रमाणे जो जैन साहित्ये अने जैन सस्कृतिए मानपूर्वक स्थान मेलववु होय तो देशना प्रसिद्ध स्थलो उपरात विदेशमा पण ज्याथी मले त्याथी दरेक उपाये विद्या मेलववी अने हरिभद्र, हेमचन्द्र के यशोविजयजी नी पेठे नवीन परिस्थिति प्रमाणे नवी विद्याओ देशमा आणवी। आ वस्तु तद्दन रूढ गणाता जैन साधु वर्गमा पण केटलाकने समजाई गई होय एम लागे छे। तेथीज अभ्यासने अगे थता आ विदेशगमनने केटलाक प्रतिष्ठित जैन साधुओ ए पत्र थी अने तारथी अभिनदन मोकल्या हता।

अत्यारसुधी आत्माना कोई अदम्य साहसथीज तेमणे अभ्यास आगल चलाव्यो छे अने अत्यारे पण अग्रेजीना अधूरा अभ्यासे अने फ्रेंच के जर्मनना अभ्यास विना युरोपनी मुसाफरी स्वीकारी छे। एमनु आ साहस पण अत्यार सुधीना तेमना बधा साहसनी पेठे सफल नीवडशे।

परिपूर्ति

१६२८ सुधीना लगभग तेरवर्षना मारा सस्मरणो मुनिजी विषे लखेला प्रसिद्ध थयेला ज छे। आ मा ओमना आगेनी पाथानी वातो टूकमा पण आवी गई छे ओना अनुसधानमाज प्रस्तुत लखाण छे।

१६२८ थी आज सुधीनो लगभग ३८ वर्षनो गालो ओ पहेला गाला करता घणो मोटो छे, अने आ गाला दरम्यान मुनिजीनी अनेक विधि प्रवृत्तिओ अनेक दिशामां फटाई अने विकास पण पामी छे ओ बधी प्रवृत्तिओनु सागोपाग दर्शन तो तेओ पोते ज करावे ओ योग्य गणाय। हु तो ओ प्रवृत्तिना केटलाक सीमा चिन्ह जेवा मुद्दाओनो ज सक्षेपमा निर्देश करी आ परिपूर्ति लखवा धारू छु।

१६२८ ना उनालामा मुनिजी जर्मनी गया, अने त्याथी १६२६ ना छेल्ला भागमा पाछा फर्या। ते ओ अमदावाद पाछा आवी पोतानी उपार्जित विद्या-साहित्यनी प्रवृत्तिमा जाडाय ते पहेला तेमनी वीरवृत्तिने आह्वान करतु वातावरण आ देशमां रचायु हतु। पडित श्री नेहरुना प्रमुखपणा नीचे लाहोर कोंग्रेसमा पूर्णस्वातत्र्यना ठरावनी पूर्व भूमिका मक्कमपणे रचाती हती। लाहोर काग्रेस आवी ओमा मुनिजी गया हता। हु अने बीजा अमारा साथीओ साथे हताज। त्या कोंग्रेसे जे सम्पूर्ण-स्वातत्र्य प्राप्तिनो ठराव पास कर्यो तेवे लीधे देशना सजीव मानसमा ओक नवो चमकार प्रगट्यो। मुनिजी आमाना ओक हता हवे १६३० मा ओमनी सामे बे मार्ग हता. ओक विद्या-साहित्यना वर्तुलमा पुराई पलोठी वाली वेसी जवानो, अने बीजो स्वातत्र्यनी हाकलने सेवक तरीके बधावी लेवानो मुनिजीओ तत्काल निर्णय करी बीजो मार्ग स्वीकार्यो, अने पहेला मार्गने अमुक समय लगी मुलतवी राख्यो।

१६३०ना मार्चमा गाधीजीनी विश्वविख्यात दाडी कूच शरू थई। देशना खूणे खूणे मीठानो सत्याग्रह शरू थयो। मुनिजी ओ सत्याग्रहने परिणामे जेलमा गया। नासिकनी जेलमा ओमनो अने श्री के. ओम. मुनशीजीनो परिचय वधारे दृढ थयो। अने त्या बन्ने वच्चे अमुक अंशे विद्या विषयक विचारोनी आप-ले पण थई।

जेलमाथी छूट्या पछी हवे पहेना मुलतवी राखेल मार्गेज जवानु ओमने माटे निर्मायेलु। आ मार्गनी पूर्व भूमिका तो ओमेना जर्मनी थी पाछा आव्या पहेलाज तैयार थई चुकी हती। अजीमगज निवासी श्री बहादुरसिंहजी सिंघीओ जैन विद्या-साहित्यना व्यापक विकास माटे अमुक निश्चित विचार करी राखेलो, अने तेना केन्द्रमां मुनिजी हता। मुनिजी कलकत्तामा, शांतिनिकेतनमा के अन्यत्र ज्या वेसी आवी प्रवृत्ति करवा इच्छे त्या ओ प्रवृत्तिने लगती बधी आर्थिक जवाबदारी उठाववानो भार सिंघजी ओ स्वेच्छाथी ज स्वीकारेलो। मुनिजीओ शातिनिकेतन पसद कर्यूं। टागोर जेवी विभूतिना सन्निधानमा रहेवानु मले अने श्री विधुशेखर शास्त्री जी तथा श्री क्षिती मोहनसेन ओवा समर्थ परिचित विद्वानोनु साहचर्य मधाय ओ ओमने

माटे मुख्य आकर्षण हतु । तेथी तेओ १९३१ नी आसपास शांतिनिकेतन गया अने त्यां आसन बांधी पोतानी विद्या विषयक करवा धारेली प्रवृत्तिओनी तेमणे योजना घडी, जेमां जैन विद्यार्थीओ माटे संपूर्ण फ्री ओवा ओक विद्यार्थी गृहनुं अने सिंघी जैन ग्रंथमाला नामक सिरीजनुं स्थान हतुं, उपरांत यथासंभव जैन तत्व अने साहित्यना अध्ययन-अध्यापन माटेनी पण विचारणा हती । आ रीते शांतिनिकेतनमां, काम प्रारंभायु ।

मुनिजी अने अमारा बधानुं मकान अमदावादमां, ओमनु रहेवानुं शांतिनिकेतनमां अने ग्रंथोनुं मुद्रण कार्य कराववानुं मुंबइमां: आ दूर दूरनी अगवडमांथी छुटवा छेवटे १९३४ मां ओमणे नक्की कयुं अने अमदावाद आवी सिंघी जैन ग्रंथमालनुं काम चालु राख्यु ।

१९३८ सुधी आ क्रम चाल्यो । दरम्यान ओक नवो प्रसंग उपस्थित थयो । श्री के. ओम. मुनशी ते वखते मुंबई राज्यना गृह प्रधान हता । ओमने ओक विशिष्ट दान मलतां भारतीय विद्याभवन नामक संस्था स्थापवानो विचार आव्यो । ओमणे मुनिजी ने पोता तरफ खेंच्या, अने ओमने पोताने इष्ट अने फावतुं काम करवानी पूर्ण स्वतंत्रता आपी । ओटले मुनिजीने मुंबइमां रही सिंघी जैन ग्रंथमालनुं काम करवानी वधारे अनुकूलता थई आवी त्यार बाद १९४२ नो 'Do and Die' ना संग्रामनो देश मां घोष जाग्यो । मने लागे छे के आ वखते मुनिजी ओ घोषमां न तणाया ओनुं कारण, मोटे भागे ते ओ जेसलमेरना भंडारोना अवलोकन आदिमां गूंथायेला अने त्यांथी ओटली बधी नवी अने उपयोगी साहित्य-सामग्री लावेला के जेमां ओमनुं विद्यावृत्तिनुं पासुं वधारे प्रबल बनेलुं ओ होवुं जोइओ । भारतीय विद्याभवननी बीजी प्रवृत्तिओमां भाग लेवानुं पण ओमने शिर आवेलुं । ओटले तेओ भवन साथे ओकदर ओकरस जेवा थइ गयेला । मुनशी जी जेवा भार्गववंशी अने परशुराम भक्त अने मुनिजी जेवा क्षत्रिय वृत्तिना परमार—आ बन्नेनुं जोडाण विस्मय उपजावे ओवुं तो हतु ज, पण चाल्यु । आगलजतां मुनिजीनुं मन मुंबइ अने भारतीय विद्या भवन थी कांइक दूर ने दूर खसतुं गयुं, पण सिंघी जैन ग्रंथमालानी प्रवृत्ति तो तेओ पूरा उत्साहथी चलाव्ये ज ।

मुनिजीनुं मानस मुख्यपणे तार्किक छे । रूढिओमां उछर्या अने रह्या छतां मन ओमनुं ओथी संतोषातुं नथी । बीजीबाजु हिटलरना जर्मनीमां थोडो वखत रह्या पछी ओमनु मन ओवा कोई मार्गने झांखतुं मे बारबार जोयेलुं के मात्र अकेला पोथी-पाना अने ग्रंथोना ढगलाथी शुं ? लोको वच्चे, खास करी गरीबो वच्चे रहेवुं, ओना संस्कार घडतरमां अने गरीबी निवारणमां यथाशक्ति भागलेवो ओवा मनोरथो सेवतां मे ओमने जोया छे । तेमनु मन हवे पोताना जन्मस्थान अने प्रदेश भणी जवा लाग्युं । तेमने जोईतुं तद्दन ओकान्त ग्राम्य प्रदेश अने बीजी प्राथमिक सगवड चित्तोड पासे चंदेरिया नामना नानकडा स्टेशननी नजीक अणधारी रीते मली गई । त्यांना एक भला सखी ठाकोरे मुनिजीने जमीन आपी । त्यां मुनिजीओ पोतानो तबुवास शरू कर्यो अने त्यां ज ओ कांटाली अने पथरीली जमीननो थोडो भाग खेती लायक अने रहेवा लायक बनावी त्यां ज खेती शरू करी, पशु-पालन साथे हतु ज । अने आसपासना गामडाना साव गरीब लोकोना बालको माटे ओक नानीशी निशाल पण शरु करी । आ बधुं चालतुं त्यारे पण तेओ पोतानी प्रिय ग्रंथमालानुं काम तो चलाव्ये राखता ज । अलबत्त, ओमां ओकधारी जोइतो वेग आपी न शके, ओ पण देखीतु ज छे ।

क्रमे क्रमे ओ आश्रम विकसतो गयो अने मुंबइनो विद्या भवन साथेनो संबंध पण मात्र उपर उपरनो ज रह्यो । चंदेरियाना ओ सर्वोदय सेवाश्रमनो विकास पण चडती पडतीना क्रममांथी पसार थया वगर न रही शक्यो । पण अंते अनी स्थिति घणी सारी अने स्पृहणीय बनी । पण मुनिजी ओ कोइ ओक बधियार

स्थितिमा रहेवा सर्जायेलाज नथी, श्रेटले जे जे नवा स्वप्नो श्रावे तेने साकार करवा पूरो पुरुषार्थ पण करे। श्रेमने पोताना काम बदल जे वलतर मले ते तो श्रेमा खर्चीज नाखे, पण वधारामां श्रेमने जाणनार श्रेमना चाहक मित्रो जे कांई मदद करे ते पण श्रावा सेवाकर्यमा तेश्रो खर्चीने ज संतोष माने।

मुनिजीनी वृत्ति श्रने प्रवृत्तिमाथी श्रेक तत्त्व तारववु होय तो ते श्रेज छे के तेमना श्रेक हाथमा जे श्रावक पडे ते श्रेमना बीजा हाथने लीधे हमेशा श्रोछीज पडवानी। संग्रहमा श्रेमनी श्रद्धा नही, श्रने नवां नवां कामो उपाड्या विना श्रेमने जप नही। श्रा तत्त्वने लीधे तेमणे श्रे आश्रमनी श्रासपास बीजी पण केटलीक प्रवृत्तिश्रो शरू करी श्रने विकसावी छे।

मूले मेवाडना, विद्यापुरुष तरीके जाणीता, इतिसास, शिल्प, स्थापत्य श्रादिना रसिक श्रने निष्णात जेवा, श्रेटले राजस्थानमा श्रने त्यानी सरकारमा जे केटलाक विद्वानो श्रने प्राच्य विद्याना रसिको तथा पुरातन वस्तु सग्रहना उपासको हता श्रने छे श्रे बधानु ध्यान क्रमे क्रमे मुनिजीने राजस्थाननी श्रावी कोइ सर्वव्यापक प्रवृत्तिमा जोडवा तरफ खेंचायु। श्रने ते प्रमाणे समग्र राजस्थाननो समावेश थाय श्रेवी श्रेक योजना तैयार करी तेमां मुनिजीने निर्णायक स्थाने गोठव्या, जेने परिणामे राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान नामे सस्थानो जन्म थयो, श्रने तेनु मुख्य केन्द्र जोधपुरमा श्रने केटलीक साखाश्रो राजस्थनना जुदा जुदा भागोमा श्राजे काम करे छे। श्रा मुख्य केन्द्र श्रने तेनी जुदी जुदी शाखाश्रोमा प्राच्य तत्त्वना साहित्य, शिल्प श्रादि नमूनाश्रोना श्रने वस्तुश्रोना श्रेवो विपुल संग्रह थयो छे के जेने जोनार श्रे रीते श्राश्चर्य पामे छे के श्राटला टूका गला मा मुनिजीश्रे केवो भगीरथ पुरुषार्थ कर्यो छे। साथे साथे सिंघी जैन ग्रथमाला कामने संभालवा उपरात श्रा सस्था द्वारा प्रकाशित थनारा विविध विषयना सख्यावध ग्रथोनी जवाबदारी पण श्रेमने शिरे रहेली छे। श्रत्यार लगीमा श्रावी बधी ग्रंथमालाश्रो मारफत तेश्रोश्रे श्राशरे बधो जेटला ग्रंथो सपादित-प्रकाशित कर्या छे।

मुनिजी पोतानी काचली श्रेक पछी श्रेक छोडता ज रया छे, ते प्रमाणे पेला सर्वोदय साधनाश्रमनु बधु ज सर्वस्व भूदानना प्रवर्तक श्री विनोवाजी ने श्रर्पी दइ श्रेनी नजीकमा पोताने श्रने पोताना श्राश्रितोने रहेवा श्रादिनी सगवड माटे जोइता नवा मकान वगेरे पोतानी ज कल्पनाथी पोताना नकशाप्रमाणे ऊभा करी लीधा छे। श्रने राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठिाननु काम त्यांथी जोधपुर श्रने बीजा स्थलोमा जता रही सतत करता रहे छे।

श्रा बधु थतु हतु त्यारेज श्रेमना मनमा श्रेमनी वीर प्रकृति, इतिहास ज्ञान श्रने विद्योपासना श्रादिने लीधे नवा मनोरथ पुष्पो खीली रय्या हता। तेमा चित्तोडने मुख्य स्थान हतु। मुनिजी चित्तोडने वीरत्वनु तेमज विद्यानु पण तर्थ माने छे। तेमना मनमा श्रे सस्कार दृढ छे के राणा प्रताप श्रने तेमना पूर्वजो तेमज वशजोश्रे जे क्षात्रतेज मेवाडमा प्रगटाव्यु श्रने चित्तोडमा जे विशेषरूपे दीप्यु ते क्षात्रतेज श्रे मात्र मेवाडनी सपत्ति नथी, ते तो श्रेक भारतीय संपत्ति छे। बीजु श्रेमना मनमा श्रे पण छे के शस्त्र पकडनार श्रने प्राणोनी कुरबानी करनार वर्ग होय त्यारे पण कोइ श्रेवा कुवेरनी जरूर रहेज छे के जे वीरत्वनी पोषक बधा गोठवण करे। मुनिजी श्रे श्रावी कुवेरनी प्रतिक भामाशामा जोइ वली. मुनिजीनी मूल विद्योपसनानी वृत्ति तो समदर्शी श्राचार्य हरिभद्र उपरना तेमना श्रैतिहासिक निबंधथी लोकोनो ध्यानमां श्रावी हतो। श्रने मुनिजीनो श्राचार्य हरिभद्र प्रत्ये श्रेटलोबधो दृढ श्रादर छे के तेश्रो तेमने जैन परंपराना नव संस्कारक गणी हृदयमा उपासे छे। श्रावा बधा जुदा जुदा मनोरथो माथी तेमनु क्रियाशील मन श्रे मार्गे विचरतु हतु के कोइ पण रीते चित्तोड

अने त्याना ऐतिहासिक आचार्य हरिभद्र तेमज उदारमना भामाशानी स्मृति रूपे काइक स्थायी काम करवु। आ दृष्टि ए तेमणे हरिभद्र स्मृति मदिर अने भामशा भारती भवन ए बे स्मृति मदिरो चित्तोडमा ऊभां क्या छे, अने त्या काइक काम पणथइ रह्यु छे।

आ मुनिजीनी प्रवृत्तिनु साव टूकु साकलियु छे। विशेष जिज्ञासु तो एमना परिचयमा आवे एमना कामो जुए अने ए पाछल रहेली दृष्टिने समजे तोज एमना विशेनो स्पष्ट ख्याल मेलवी शके।

सरित्कुंज, अमदावाद. ९

२१–१–६७

———

आचार्य जिनविजयजी

विद्यामूर्ति प्रकट सुखमां श त गभीर जोइ ।
विद्याभेखी जिन पट विंटी क्षात्रसत्त्वाद्वितीया ।।

(स्मृति)

(१)

मानवजीवनमां प्रयत्नथी अलभ्य अेवा लाभो अर्थात् सद्भाग्यो अनेक मनाया छे । मारे मन सोथी मोटु सद्भाग्य सज्जन मनीषीओनो समागम थवो, सत्सग थवो, अगत परिचय थवो–मैत्री थवी, वडील-वत्सनो संबध थवो अे छे । आ बाबतमा हु मारी जातने भाग्यशाली मानु छु । जे सज्जन मनीषीओना वात्सल्य मने मल्या छे तेमा पंडित सुखलालजी अने आचार्य श्री जिनविजयजी छे । बन्नेने हु कोलेज कालना अतिम वर्षोमा अने अनुस्नातक अध्ययनना प्रसगे प्रथम मलेलो ईश्वरनी कृपा थी अे बन्ने मनीषीओनु वात्सल्य झरणु हजु पण मने स्नेहार्द्र करे छे ।

(२)

आचार्य जिनविजयजीने हु प्रथम मल्यो त्यारथीज तेमनो भक्त थई गयो पूनामा भारत जैन विद्यालयमां तेमनो वास हतो । सौ प्रथम आकर्षायो तेमना समृद्ध ग्रंथसग्रहथी । जराक वधारे परिचय थता तेमना उल्लास भर्या स्नेहथी तेमनी साथे स्निग्ध थई गयो । हेमचन्द्रनु प्राकृतव्याकरण तेमनी पासे भणतांभणता तेमनी साथे जे विविध वार्तालापो थता तेमाथी तेमनी सरलता, उदारता, तेजस्विता, विद्वत्ता अने सशोधन वृत्तिनो परिचय थतो गयो परन्तु अेमनी साथे प्रवाहमा खेंची जाय अेवोतो अेमनो प्राच्यविद्याओना अध्ययन–सशोधन माटे सस्थाओ स्थापवानो उत्साह हतो । आ १९१९ नी सालनु सस्मरण ।

आ उत्साहनो लाभ सौ प्रथम भाडारकर ओरिअेन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटने मल्यो । मुनिजीने ते समय पण मोटा मोटा विद्वानो-सशोधको मलवा आवता । पूनाना अे समयना प्रतिष्ठित विद्वानो डॉ गुणे, डॉ. बेल्वेलकर आदि पण अेमा हता । अे बधा विद्वानो अे साथे मली भाडारकर ओ रि. ई स्थापवानो उपक्रम कर्यो हतो । परन्तु मकान करवा पैसानी ताण हती । आचार्य जिनविजयजीअे अेमने सहायक थवानु योग्य धार्यु अने सद्गत श्री लालभाइ कल्याणभाइ जवेरीनी मदद थी मुंबइना जैन धार्मिको पासेथी सारी अेवी मदद करावी । अेना परिणामे मुंबइ सरकारनो हस्त लिखित प्रतिओनो भडार जे डेक्कन कोलेजमा हतो अने जे ते समये भा ओ. रि. ई. मा. सोपायेलो तेना हस्तलिखित पुस्तकोनु डीस्क्रीप्टीव केटलोग करवानु काम तेमने सोपायु । अे काम माटे अेमना सहायक तरीके तेमणे मने राख्यो हतो । १९१९ ना त्रणमास-मार्चथी जून-दरमियान अेमनी दोरवणी नीचे काम करता ह. लि. प्रतिओनो प्रथम परिचय थयो अने तेमनी पुष्पिकाओ

तथा प्रशस्तिओमा सास्कृतिक इतिहासनी केवी सामग्री भरी छे तेनो ख्याल आव्यो। अेमाथी मने इतिहास सशोधननो-खासकरीने गुजरातना इतिहासनो रस थयो।

सस्थाओ स्थापवाना अेमना उत्साहनो बीजो लाभ भारतीय जैन विद्यालय (पूना) ने मल्यो। सशोधन वृत्तिअे 'जैन साहित्य सशोधक' त्रैमासिक सपादित कराव्यु। आज अरसामा महात्मा गाधी अे गुजरात विद्यापीठनी स्थापना करी हती। तेमा सस्कृत-पाली-,प्राकृतना साहित्यना तेमज आर्य सस्कृतिना अभ्यास ने महत्त्वनु स्थान मल्यु हतु। ते अगे अेक अलग विभाग गुजरात विद्यापीठ मा करवानो अने भा गी इ जेवी सस्था बनाववानो श्री काका साहेब कालेलकर, श्री इन्दुलाल याज्ञिक, श्री रामनारायण पाठक आदि न विचार थयो हतो। तेनु सचालन करवा गाधीजीअे आचार्य जिनविजयजी ने पूनाथी अही बोलाव्या। अही आवी तेमने गुजरात पुरातत्त्व मदिरनु नाम करण करी ते सस्थानु वर्षो सुघी सचालन कर्यु अने अेमा श्रीमद् राजचन्द्र ज्ञान भंडार ने सगृहीत कर्यो, जेमा ते समये प्राप्य सस्कृत प्राकृत, पाली आदि साहित्यना ग्रंथो तेमज संशोधन विषयक अग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, हिन्दी, बगाली, गुजराती, पुस्तको जर्नलो आदि अमूल्य संशोधन सामग्री अेकत्रित थई हती। अेमा प. सुखलालजी. प. धर्मानन्द कोसबी, प. बेचरदास, मौलाना अबुझफर नदवी, श्री रामनारायण पाठक आदि समर्थ विद्वानो अध्यापन-सशोधननु कार्य करता हता। आ सस्था द्वारा तेमणे पुरातत्त्वमदिर ग्रंथावलीनु सम्पादन प्रारंभ्यु अने 'पुरातत्त्व' त्रैमासिक पण चलावराव्यु।

(३)

आचार्य जिनविजयजी जन्मे रजपूत छे। तेमनो क्षात्र स्वभाव तेमना परिचयना आवेला बधा जाणे छे। अेक प्रसगे पूनाथी मु बइ जवा पूनाना स्टेशने तेओ अ दर जवाना दरवाजा आगलना टोलानी पाछल ऊभा हता तेमनी पाछल हुँ ऊभो हतो। दरवाजा आगलनो टिकिट चेकर अेनी मरजी मुजब मुसाफरोने दाखल करतो हतो; अने बीजाओने धक्का मारी पाछल राखतो हतो। अेमा अेणे अेक बाइने छाती उपर धक्को मारी पाछी काढी। मुनिजीअे आ जोयु अने तरतज आगल धसी अे टिकिटचेकर ने पकड्यो अने धमधमाव्यो, अने अेने नरम बनावी दीधो।

आ ज प्रकृतिना बले ज्यारे गाधीजीअे मीठानी लडत उपाडी अने विरम गाममा स्त्रीओ उपर ते समयना हिंदी अमलदारोअे घोडा दोडाव्या त्यारे तेमनो जीव ऊकली उठ्यो अने लडतमा जोडाइ जेलवास स्वीकार्यो।

आ ज साहसिक प्रकृतिअे तेमने जर्मनी मोकल्या अने त्या जर्मन विद्वानोनु मान पाम्या। पण ते वखते हिंदीओने त्या रहेवा–जमवानी अगवड जोइ तेमणे 'हिन्दुस्तान हाउस' नामनी सस्था स्थापी।

जर्मनी थी पाछा आवी तेओ शाति निकेतनमा जोडाया। अेज अरसा मा तेमणे कलकत्ताना श्रीमन शेठ बह दुर्सिह जी सिंघीना उदारदान थी सुप्रसिद्ध 'सिघी जैन ग्रन्थमालाना संपादननु कार्य आरभ्यु। आ ग्रथमाला भारतनी प्राच्य ग्रंथमालाओ मा अेनु विशिष्ट स्थान धरावे छे। तेमा ५० उपरात विविध विषयना दुर्लभ अेवा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श भाषाओमा लखायेला ग्रंथो प्रसिद्ध थया छे।

श्री कनैयालाल मुनशीए भारतीय विद्या भवननी मुंबइमा स्थापना करी त्यारे तेनुं संचालन करवा तेमणे आचार्य श्री जिनविजयजी ने निमंत्री तेमने संस्थाना डिरेक्टर पदे स्थाप्या। आचार्यश्रीए पोतानो अमूल्य ग्रंथभंडार आ संस्थाने समृद्ध बनाववा समर्पित कर्यो। सिंघी जैन ग्रंथमालानुं सम्पादन-प्रकाशन पण ए संस्था द्वाराज कर्युं उपरान्त "भारतीय विद्या" नामनु त्रैमासिक पण संपादित करवा माड्यं ।

(४)

स्वराज्य प्राप्त थया पछी एमना वतन राजस्थाने एमने अपनाव्या। एमनी प्रौढ विद्वान-संशोधक-संपादक तरीके रूढ थयेली प्रतिष्ठाथी आकर्षाइ राजस्थान सरकारे एमना अध्यक्षपद नीचे राजस्थान पुरातत्त्व मंदिरनी स्थापना करी। एमा एमणे लगभग लाख जेटली संख्या मा हस्तलिखित प्रतिओनो भंडार कर्यो छे। एनी ग्रंथावली मा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश राजस्थानी आदि भाषाओ मा लखायेलु विविध विषयोनु साहित्य लगभग ६० ग्रंथोमा प्रकाशित थयुं छे। हजु पण तेओए संस्थानु सुकान संभाले छे। हुं आशा राखुं छुं के राजस्थान सरकार एमने जोइए तेवी अनुकूलता करी आपी राजस्थान पुरातत्त्व मंदिरनु संचालन तेमना हस्तक ज राखशे।

आचार्य हरिभद्रनुं चित्तौडगढ मा उचित स्मारक करवानो तेमनो उत्साह हजु ऊभोज छे। राजस्थान सरकार एमने ए महान कार्यमा सहकार आपशे एवी आशा राखवी वधारे पडती न गणाय।

भारत सरकारे एमने 'पद्मश्री' बनावी कइक कदर करी छे। असंतोष एटलोज छे के प्राच्यविद्याना संशोधन मा आटलुं विपुल अने समर्थ काम करनारनी आटलीज कदर !

(५)

आचार्य जिनविजयजीनु व्यक्तित्व एमना परिचयमा आवेला सौ कोइना चित्त ऊपर मुद्रित थाय एवु छे। एमनी ऊंची, पातली पण भव्य आकृति, मोटा पगलां भरती एमनी चाल, काला चश्मा थी अंकित एमनी प्रभावशाली मुख मुद्रा, एमनी अस्खलित वाणी—सौम्यभावे सस्मित अने रोषाविष्ट होय त्यारे उग्र-आ बधुं एमना व्यक्तित्वने अंकित करे छे।

गुजरात-राजस्थानना आ विद्यामूर्ति युवान विद्वान संशोधकोने चिरकाल मार्गदर्शन करावे एवी अभिलाषा एमनो आ कृपापात्र अंतेवासी जे वो आ प्रसंगे सेवे छे। एमनी जे छबि मारा मनमा रही छे ते—

"विद्याभेखी जिन प्रर्टविटी क्षात्रसत्त्वा विद्यामूर्ति" नी छे। एवानो प्रेम प्राप्त थवा थी हुं मारी जातने धन्य गणु छुं।

———

मुनिजीनां बे एक स्मरणो

परम ग्रादर पात्र मुनिजीनी साथे मागे प्रथम परिचय घणे भागे सद्गत कल्याणशकरना सानिध्यमा थयो हशे एम स्मरण छे। कल्याणशकर तेमने महाराज कहीने उल्लेखता तेग्रोश्रीना पूर्वजीवननी तेमज तेमना स्वाध्याय वगेरेनी वातो कोई कोई वार मारो ते साभलवानो ग्रधिकार नहि होवा छता पर तेग्रो करता ग्रा रीते परोक्षभावे तेमनी प्रतिमाना दर्शन थयेला।

पछी तो-शान्ति निकेतनमा प्रत्यक्ष रीते मुनिजीने मलवानु थतु, कोई कोई वार वातो पण थती, ग्रलबत ग्रभ्यास विषयक ज्यारे ज्यारे तेग्रो मलता त्यारे त्यारे ऐक माताना जेवा हुंफाला स्नेहथी मारा जेवा बालकने बोलावता, कोई कोई वार तेग्रोश्रीनी ग्राखामाथी प्रभाव पण झरतो। कदाच ग्रा मारी ग्रगत समज के लागणी होई शके छे।

ते समये (इ०स० १९३१-३४) जैन दर्शनने माटे रवीन्द्रनाथे विद्याभवन (ग्रनुस्नातक सस्था) मा स्थान ग्रायेलु परिणामे विद्यार्थीग्रो ग्रभ्यासीग्रो त्या रहेता। मारी पडखे तेवा वे ग्रभ्यासी ग्रो रहेना। दलसुखभाई मालवणिया ग्रने शातिलाल वनमालीदास शेठ मुनिजी ज्या रहेता त्याँ एक नानकडुं रसोडु पण चालतुं, तेनी व्यवस्था एक वहेन करता। सोनुवहेन पू० नदलाल वसुना कला भवनमा कलानो ग्रभ्यास करता, जयतीलाल झवेरी पण फोटोग्राफी तेमज चित्रो करता। मुनिजी नी साथे वीजा वे एक छोकराग्रो पण रहेता। ग्रा तेग्रो-श्रीनो एक नानकडो परिवार हतो।

मुनिजी तो पोताना सशोधनना कार्यमाज प्रवृत्त रहेता; एटले कोई कोई वार सवारे के साजे ग्रथवा गुरुदेव काई वाचवाना होय त्यारे तेमना क्षणिक दर्शन थता। गुरुदेव तेमना प्रत्ये ग्रादरथी जोता ग्रने वर्त्तता, एवु स्मरण छे।

तेग्रो एक जैन सुधारक साधु छे, एटले शुष्कताना साधक हशे, कायक्लेश भावनानु पालन करता हशे एवी एक भ्राति हती ग्रे भ्राति तूटी गई एक प्रसगे। दूर दूर गामथी ग्रावेला एक वृद्ध दाढीवाला सतारना बजवैयाने बजावता तेमने त्या जोया। मुनिजीने सगीतविद्यामा तल्लीन दीठा। ते ग्रो सगीतना ग्रनुरागी छे, ते त्यारे सम-जायुं। ए वृद्ध वजवैया सतार पर विशिष्ट कावु धरावता जाणे वीणा न वागी रही होय एवो ख्याल ग्रावतो। कदाच गुरुदेव पण तेमने साभलता। हजु पण तेमनी ग्राकृति मारा मनमा स्पष्ट छे। मारा मित्र भाई कृष्णलाले एक वृद्ध सगीतकारनु केटलु चित्र जीयु त्यारे हु ग्राश्चर्य पामी गयो के तेमणे एक वृद्धनु ज जाणे ग्रालेखन न कर्यु होय। मुनिजीना जीवनना ग्रा एक पासानी मारे माटे उपलब्धि हती।

पछी तो वर्षो वीती गया। अमदावाद आवीने एक शालानी स्थापना करवाना विचारो आववा लाग्या। तेनुं नामकरण पण कर्युं 'भारती विद्यालय' ए नाम नक्की थयुं। शालानी स्थापनानो एक दिवस एक महुरत, पण निर्मया। ते प्रसंगे दीप पण मुनिजीने हाथेज प्रगटावेलो। तेओश्रीना आशीर्वाद शालाने मलेला। ते अनुष्ठाननुं एक नानकडुं आप्तमंडल साक्षी हतुं।

त्यार पछी पण कोई वार मलवानुं थाय छे त्यारे एक पिताना वात्सल्यथी बधुं पूछे छे।

तेओश्रीने अंतरना भाववंदन।

ता० ३१-१-१९६७

प्रेरणामूर्ति आचार्य जिनविजयजी

आचार्य श्री जिनविजयी नी इतिहास पटुताथी आकर्षाईने शान्तिनिकेतन जइ तेमनो शिष्य बन्यो अने विशुद्ध इतिहास अने पौराणिक इतिहास वच्चेनु अंतर जाणवा भाग्यशाली थयो तेओ ते काले एटले के इ० स० १९३१ मा अमने आवश्यकचूर्णि भणावता, ए पहेला पण तेमनो परिचय जैन साहित्य संशोधक द्वारा परोक्षरीते हतो ज। अने ज्यारे श्री पू० प० बेचरदासजीना घरे रही अमदावाद मा भणवानु शरु कर्यु, त्यारे अमदावाद मा सौ प्रथम वार १९३० मा ज तेमनो साक्षात् परिचय थयेलो। एनेज परिणामे ज्यारे पू० प० बेचरदासजी जेलमा गया त्यारे अन्य गुरुनी शोधमा शान्तिनिकेतन जवानु बन्यु आ रीते आधुनिक जैन समाजना त्रण विख्यात पडितोमाथी बीजा श्री जिनविजयजीने पण गुरु बनाववानु सद्भाग्य सापड्यु।

श्री प० बेचरदासजीनी प्रतिष्ठा ते काले अने आज पण जैन आगमो अने तेनी प्राकृत भाषाना अद्वितीय विद्वान तरीके छे। त्यारे आचार्य श्री जिनविजयजीनी प्रतिष्ठा जैन इतिहासना अद्वितीय पडित तरीके छे। तेमनी समग्र कारकीर्दीनो ज्यारे विचार करू छु त्यारे तेमनी इतिहास दृष्टि ज तेमना जीवनमा समग्र रीते व्याप्त थई गई जणाय छे। तेओ साहित्यमा सस्कृत अपभ्रंश के जूनी हिन्दी राजस्थानी के गुजरातीमा कार्य करे छे पण तेमनु प्रथम ध्येय ए बधी भाषानु साहित्य इतिहासना अकोडा मेलववामा केवी रीते उपयोगी थई पडे ए होय छे। आथी ज आपणे जोई शकीये छीए के तेमणे ज्यारे पत्रकार तरीकेनी कारकीर्दी शरूकरी त्यारे पण तेमणे सर्व प्रथम विदेशी विद्वानोए जैनधर्म अने साहित्य विषे जे काई इतिहास दृष्टिए लख्यु होय तेनो परिचय अनुवाद या सार द्वारा वाचको समक्ष मूकवानु उचित मान्यु अने तेमणे जैन साहित्य सशोधक द्वारा पीरसेलु ते वाङ्मय आजे पण महामूलु छे।

आचार्य जिनविजयजी ए एकले हाथे करेल सम्पादकोनी यादी एटली विस्तृत छे अने एटली वैविध्य पूर्ण छे के तेमाना घणा पुस्तकोए तो इतिहास सर्ज्यो छे एम कहेवु जोइये। तेमाना घणा एवा छे के ते ते विषयमा अपूर्व गणाय अने घणीवार ते एकमात्र होय। प्राचीन पुस्तकोना विद्वान सपादकोनी गणतरी करवामा आवे तो अने तेमा सौथी श्रेष्ठ अने आधुनिक सम्पादक शैली अपनावीने कार्य करनारा सम्पादकोने गणवामां आवे तो तेमा आचार्य जिनविजयजीनो क्रमाक प्रथम अने तेम ज्यारे हु कहु छु त्यारे ए अतिशयोक्ति नथी। एकेक ग्रंथना अनेक उत्तम कोटिना सम्पादको छे एकेक विषयना ग्रथोना पण अनेक सम्पादको छे पण विविध विषयना अने विविध भाषना अनेक पुस्तकोना उत्तम सम्पादकोमा तो आचार्य जिनविजयजी ज सर्वोत्तम छे ए निःसशय छे। एमनी ए कोटिये पहोचनार हजु सुधी जोयो नथी, अने आगल तेवु कोई करी बतावे एमा पण सदेहज छे। सम्पादकनी तेमनी धगश आजे पचोतरे वर्षनी उम्र वटावी गया पछी अने बन्ने आखोना तेज लगभग हणाय गया पछी पण एवीने एवी तीव्रज छे। आजे पण कोई पुस्तक तेमनी दृष्टिये सम्पादन योग्य जणाय तो ते माटे तेमनो प्रयत्न एटलाज तीव्र वेगे चालु थई जाय छे। जेटलो वेग पहेला जोवामा आवतो हतो। तेमणे पोतेज सम्पादित करेला सदेशरासक जेवा इतिहास सर्जक पुस्तकनु नवी सामग्री उप-

स्थित थये पुन सम्पादन करवानी तेमनी धगश आजे ज्यारे जोउ छु त्यारे खरेखर तेओ प्रेरणामूर्तिरूपे वदनीय ज नहि अनुकरणीय पण बनी जाय छे। आवो छे तेमनो सम्पादननो रस ।

तेमणे आ सम्पादननो रस कहो के चेप कहो घणाने लगाड्यो छे। अने परिणामे आपणे जोइये छीये के तेमना द्वारा सम्पादित ग्रंथमालाओमा अनेकनो सहकार तेओ लई शक्या छे ।

सम्पादनोनी संख्याना प्रमाणमां तेमनु स्वतन्त्र लखाण ओछु गणाय । पण तेमणे जे काई लख्यु छे ते आजे पण अकाट्य ज छे। इतिहासनी बाबतमा एवी तेमनी चीवट प्रारभथी ज हती । आचार्य हरिभद्रना समय विषे तेमणे प्रथम निबध लख्यो हतो ते पूनामा इ० स० १९१९ मा भरायेल ओरियेन्टल कोन्फरंसना प्रथम अधिवेशन मां वाच्यो । आजे लगभग पचास वर्ष पछी पण ते निबधनु मूल्य घट्यु नथी, पण डॉ० जेकेबी जेवा विद्वानो पण पोताना मतव्यो ए निबंध ने आधारे बदल्या छे, आवु एनु मूल्य छे। तेमना जैन विषेना ऐतिहासिक लखाणो नो सक्षेप करीने हमणा ज 'जैन इतिहासनी झलक' नामे एक पुस्तक प्रकाशित थयु छे, ते जोवाथी ख्याल आवे छे के जैन इतिहास क्षेत्रे आचार्य श्री जिनविजयजी ए केवु वैविध्यपूर्ण लख्यु छे ।

आचार्य जिनविजयजी केवल विद्वान नथी पण साथे भारतीय जीवनना जे विविध पासा छे तेमा सक्रिय रस पण ले छे। जर्मनीमा विद्या अर्थे गया त्यारे पण त्या आ सदीना प्रथम वीशीमा तेमणे बर्लीनमा इन्डिया हाउसनी स्थापना करेली । पाछा आवी भारतनी राष्ट्रव्यापी स्वातत्र्य लडतमा जोडाया अने धरासणामा मीठु पकवनार टूकडीना नेता पण बन्या हता । आजे पण तेमणे चितोड पासे चदेरिया नामना नाना गामडामा सर्वोदय आश्रम स्थाप्यो छे अने त्या बाल मदिरनी अने रोगीओने दवा-दारुनी सगवड पण करी छे। खेतीनो अने बगीचानो शोख तेमणे जे प्रकारे केलव्यो छे, तेथी तो तेओ छोडनी मावजत करनार माली थी जरा पण ओछा उतरे एवा नथी । विद्या साथे आम रचनात्मक सक्रिय कार्योनो रस भाग्येज अन्यत्र जोवा मले छे ।

आचार्य जिनविजयजीनु जीवन अने तेमनी विचारणाओनो ज्यारे विचार करीये छीए त्यारे तेमनु एक लक्षण जडी आवे छे ते ए छे के तेओ एकज वस्तु के विचारने चोटी रहता नथी, पण नित्य नूतन जणाय छे। जीवनमा तेमणे अनेक वेशो बदल्या, तेम अनेक विचारसरणीओ पण खुल्ले मने स्वीकारी अने छोडी। अने आज सर्वोदयनी साधनामा आवीने ऊभा छे। तेमणे पोताने हाथे अनेक मकानोनु ज निर्माण कर्यु छे एम नथी, अनेक विद्यासंस्थाओनु निर्माण पण कर्यु छे। पण स्वभाव प्रमाणे तेओ क्याई मूढ थई चोटी शकता नथी । स्व माननी जाणवणी ए मुख्य वस्तु छे, एमा काई बाधा आवे तो गमे तेवी प्रतिष्ठानु स्थान होय पण ते छोडता जरा पण आचको अनुभवता नथी ।

परिभाषामा विचार करीये तो तेमने फकीर कहेवा के ससारी ए नक्की करी शकाय तेम नथी। जैन साधुनो वेष नानपणमा स्वीकार्यो हतो, पण ते वेशमा पण अनेक वेश थया पण मन क्याई रम्यु नहि, वेश परिवर्त्तन कर्यु एटले कहेवाय तो ससारी अने श्रमण नही छता तेमना जीवनमा ससार अने श्रामण्यनो जे सुमेल छे ते कोई पण परिभाषामा बांधी शकाय तेवो नथी। पैसा कमाय छे, घर बाधे छे, पण पैसा पैमा के घरनो मोह नथी। गृहस्थ जेम रहे छे पण ब्रह्मचारी छे, परण्या नथी । जया जयतनो लग्ननो आदर्श

चोपडीमा वांचीये छीए पण तेथी ऊंचो आदर्श जीवनमां तेमणे गिद्ध करी बताव्यो छे। लग्ननी भावना विना पण पुरुष अने स्त्री साथे रहे अने अन्यना छोकराओने ससारी जेम उछेरे आवो अद्भूत समार तेमना जीवनमा जोवा मले छे। अनासक्त आश्रम जीवन गृहस्थना घरमा रहु करवु ए आश्चर्यजनक बीना छे। एमनु घर ए चालु अर्थमा गृहस्थनु घर नथी तेम आश्रम पण नथी। अने छता बन्ने छे। संसारीओना वसवाटथी दूर जई तेमणे कोई आश्रम बनाव्यो नथी। पण बाह्य देखावे एक ससारीना घर जेवु ज घर होय अने ते पण सौ ससारी घरोनी वच्चे, छता वातावरण आश्रमनु होय आवु विरल दर्शन तो आचार्य जिनविजयजीना घरमा ज थाय। मुनिजीनी आ साधनामा श्री मोती बेननो फालो नजीवो नथी। मुनिजीए नानपणमा वगर समजणे जे संसार त्याग करेलो ते समज्या त्यारे नवे रूपे त्याग्यो एम कही शकाय। अने ते रूप तेमनु पोतीकु ज छे। ससार त्यागी साधु बननार अने पाछा साधुमाथी ससारी थनार अनेक श्रमणो ने जोया छे, पण आ श्रमण कोई जुदी ज माटीनो घडायो होय एम जणायु छे। श्रमणमा जे त्याग भावनानु प्राबल्य जोइये ते तेमना जीवनमा एवु ते चणाई गयु छे के गमे ते वेशमा तेओ होय त्यागनी भावना तो उभरो तट स्फटिक जेम विशुद्ध रूपे विकसती ज गई छे। आथी तेमणे पोतानी कमाणीनो उपयोग पोताना जीवन वैभवमा नहि पण लोकहित अने समाज हितना काममा कर्यो छे। आजे तेओ आचार्य हरिभद्रनु, भामाशाहनु अने सर्वधर्म समन्वनु स्मारक रची रह्या छे। तेमा तेमनी ज कमाणीनो मोटो भाग खरचाई गयो छे। छता पण तेओ तो धार्युं कार्य करवाना ज। तेमनी कमाणीना प्रमाणमा तेमनी जीवन जरूरियातो घणी ज ओछी कहो के न जीवी। एटले जे काई बचे ते पोतानी धून प्रमाणे खर्च करता तेमने जरा पण संकोच नथी। आवी छे तेमनी त्याग भावना आवा पुरुषोना सम्पर्कमा आववु अने तेमना जीवनमाथी काईक यथाशक्ति शीखवु ए जीवननो लहावो छे। ए मने मल्यो छे, ते बदल तेमनु ऋण स्वीकारता आनंद ज थाय छे। आपणे सौ ईच्छीये के आवा महापुरुष ने दीर्घायु मले, अने आदर्यां पूरा करे।

मुनि श्री जिनविजयजी की कहानी उनके स्वलिखित पत्रों की जबानी

किसी भी व्यक्ति के पत्र उसके सही मूल्याकन के बहुत बडे और महत्त्वपूर्ण साधन होते हैं। समय समय पर मनुष्य की प्रकृत्ति, रुचि, विचार, प्रगति एव प्रवृत्ति मे जो परिवर्तन होता रहता है उसका यथार्थ परिचय इन पत्रो के माध्यम से भलीभाति मिल जाता है। इतना ही नही पत्र लेखक की भावी योजनाओ, कल्पनाओ, उसकी कार्य-पद्धति और सूक्ष्मभावो का पता भी इन पत्रो से ही सर्वाधिक मिलता है। पत्र लिखते समय व्यक्ति सहज और सरल बनकर अपने सारे सुख-दुख, हर्ष शोकादि की अनुभूति को व्यक्त कर देता है। अत: व्यक्ति के स्वय के लिखे हुये पत्र-साहित्य का बडा महत्व है।

सस्ता-साहित्य मडल से प्रकाशित कुछ पुरानी चिट्ठिया (श्री जवाहरलाल नेहरू के सग्रह की) नामक पुस्तक के प्रारम्भ-प्रकाशकीय मे लिखा है—"ससार की सभी विकसित भाषाओ मे पत्र साहित्य को बडा महत्व दिया जाता है और उसके भडार मे वृद्धि करने के लिये बराबर गम्भीर प्रयत्न होते रहते हैं। अनेक भाषाओ मे ऐसे पत्र सग्रह निकले हैं और निकल रहे हैं। जो पाठको का मनोरंजन तो करते ही हैं, उनको प्रेरणा भी देते हैं"।

सच बात यह है कि पत्रों की अपनी विशेषता होती है। वे दिल खोलकर लिखे जाते हैं। उनमे लिखनेवालो का हृदय और व्यक्तित्व बडी सच्चाई के साथ बोलते है। बनावट अथवा सजावट की उनमे गुंजाइश नही होती यही कारण है कि पाठको के मन पर उनका सीधा और गहरा असर पड़ता है। पत्र साहित्य की लोकप्रियता भी इसी वजह से है।

सस्ता साहित्य मंडल, हिन्दुस्तानी अकादमी, आदि कई स्थानो से गांधी, विनोबा, जमनालाल बजाज, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गालिब, आदि के पत्र सग्रह निकल चुके हैं। पर वे मण मे कण की तरह और समुद्र मे बिन्दु की तरह हैं।

पत्र लेखन पद्धति के रूप मे कई संस्कृत ग्रन्थ मिलते है उनमे से कुछ प्रकाशित भी हो चुके है। उन ग्रन्थो मे किन किन व्यक्तियो को किस-किस तरह से पत्र लिखे जाने चाहिये उसके मजमून हैं। विशिष्ट व्यक्तियो के लम्बे लम्बे विशेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पुरातत्वाचार्य मुनि जिनविजयजी ने समय-समय पर अनेको व्यक्तियो को हजारो पत्र लिखे होगे। पर उनको सुरक्षित रखने वाले विरले ही व्यक्ति होगे। आदरणीय श्री अगरचन्द जी भवरलाल नाहटा का मुनिजी से गत ३० वर्षों से विशिष्ट साहित्यिक संबध रहा है। मुनिजी के अधिक पत्रो को उन्होने प्रयत्न-पूर्वक सम्हाल कर रखा है। इन पत्रो द्वारा मुनिजी के जीवन एव कार्य पर काफी अच्छा प्रकाश पडता है।

किस समय वे कहां थे ? कब-कब उनका स्वास्थ्य कैसा रहा ! कब कहा गये, कौनसे विशिष्ट कार्य किये, उनकी क्या इच्छा व योजना रही, उनकी रुचि एव प्रकृति कार्य पद्धति आदि अनेक बातो पर इन पत्रो द्वारा प्रकाश मिलता है । अत. प्राप्त पत्रो के कुछ आवश्यक अश यहा उद्दृत किये जा रहे हैं । वास्तव मे इन समस्त पत्रो तथा ऐसे ही मुनिजी के लिखे अन्य पत्रो का सग्रह ग्रन्थ प्रकाशित होना आवश्यक है ।

अहमदाबाद
२३-११-३७

आप जानते न हो तो जान रक्खें कि मेरा किसी गच्छ या सप्रदाय के साथ न राग है न द्वेष है। मैं तो गुणानुरागी हू और सब गच्छो को और सब सप्रदायो को समान भाव से देखता हू । हाँ ऐतिहासिक दृष्टि से और प्रमाणो से जो मुझे ठीक मालूम दे उसका विधान करना चाहता हू । सच्ची ऐतिहासिक दृष्टि हमे सम्यग्ज्ञान प्रदान करती है । साप्रदायिक मोह हमे मिथ्या ज्ञान की ओर और भी लेजा सकता है। सुज्ञेषु किमधिकम् ।

हमारा ध्येय तो गच्छ सप्रदाय आदि के परे रहकर जैन धर्म के गौरवशाली पुरुषो का जगत् मे यश फैलाने का है । वह किसी भी गच्छ का हो या सप्रदाय का हो ।

बम्बई
१४-९-३८

'राजस्थान' मे आपका लेख पढा । प्रसन्न हुआ । राजस्थान के योग्य आपके पास बहुत सामग्री है उसे निकलवाइये । मैं तो यहा पर ग्रन्थो के सम्पादन मे फसा हुआ हू । खरतरगच्छ के आचार्य और विद्वानो की वे कृतियां जो इतिहासोपयोगी हो तथा सार्वजनिक दृष्टि से साहित्यिक विशेषता रखती हो, उन्हे हम प्रगट करना लाभदायक समझते है । यहां ओनरेबुल मिस्टर मुन्शी के प्रयत्न से एक रिसर्च इन्स्टिट्यूट खोलने का प्रयत्न हो रहा है । इसका सचालन करने मे हमारा विशेष योग रहेगा और इसलिये हमको अभी यहां पर ही ज्यादा ठहरना पडेगा ।

साबरमती,
अहमदाबाद
१७-११-३८

यहां पर कल परसो दो दिन हेमचन्द्र जयन्ति निमित्त उत्सव है उसी प्रसग के लिये आना पड़ा है आप जानते ही हैं कि ऐसे ग्रन्थो का सशोधन कोई आठ पन्द्रह दिन का थोडा ही काम है । उसके पूर्ण होने में थोड़े तीन चार महिने चाहिये । सिवाय हमारे हाथ मे तो बीसियो काम है वह प्रति मोहन भाई के पास थोड़ी

छ: महिना पडी रही। अगर हमारे पास होती तो उद्धार हो जाता। हमारी इच्छा तो यही रहती है कि ऐसी दुर्लभ अलभ्य कृतिया हैं उनका उद्धार हो जाये तो अच्छा है। हमारी दृष्टि मे इन मणियो की जो कीमत है वह औरो के लिये काँच भी नही है और हम जिस ढग से इसका उद्धार कर सकेंगे वैसा औरो के लिये अशक्य है।

बम्बई
२७-९-३९

"राजस्थानी" मे मेरे परिचय के विचार को सुनकर मैं आपके सौजन्य का बहुत ही कृतज्ञ हू - लेकिन मुझे अपने विषय मे कहने लिखने का खूब सकोच होता है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के लिए पाच वर्ष तक उनका तकाजा रहा तो भी मैं एक अक्षर भी उन्हे न दे सका। स्वय ही इधर उधर से उन्होने इकट्ठा किया था। बडौदे सरकार की ओर से जो व्याख्यान माला निकली और जिसकी नकल आप अहमदाबाद से ले गये है उसमे पण्डित श्री लालचन्द जी गाधी ने और डा० हीरानन्द जी शास्त्री ने कुछ लिखा है—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अग्रेजी मे सिघी जैन ग्रन्थमाला के बुलेटिन मे कुछ लिखा है—और भी बहुत से मित्रो ने इधर उधर लिखा है—लेकिन मेरे पास नही है। लेखो वगैरह की सूची भी मेरे पास नही है और सब कुछ याद भी नही है—'सरस्वती' मे सबसे पहले लेख लिखने शुरू किये थे स्वय आचार्य द्विवेदी जी ने उनकी बडी प्रशसा की थी और मेरे दो एक गुजराती लेखो का खुद उन्होने हिन्दी करके अपने नाम से प्रकाशित कर मुझे आत्मीय कह कर लिखा है। यह तो ठीक तब हो सकता है कि आपके जैसा सन्मित्र पास मे बैठकर कुछ नोट करले और फिर लिख लें। मेरे से यह होना कठिन है।

बम्बई
३-१०-३९

पहले के प्रारम्भ के लेख जैन हितैषी, आत्मानन्द प्रकाश, बम्बई समाचार, गुजराती कान्फ्रेंस हैराल्ड आदि मे निकलते थे, उनकी तो मुझे पूरी स्मृति भी नही रही है, मेरे पास उनके कटिंग वगैरह भी नही है। सम्पादित ग्रन्थो के नाम प्राय मिल जायेंगे।

बम्बई यूनिवर्सिटी मे दिये व्याख्यान अभी छपे नही—मेरी तरफ से ही विलम्ब है लेकिन क्या किया जाये। आप जानते ही हैं कि अपना काम कितना श्रमदाय और सामग्री की अपेक्षा रखता है। इस वर्ष उनको भी तैयार करने का प्रोग्राम है।

बम्बई
७–१०–३९

हमारी इच्छा तो केवल साहित्य के उद्धार की है और यह सब कृतिया प्राय आपके ही गच्छ की हैं सो उद्धार करें यश आपको भी होगा ही।

एक और बोझ मेरे ही सिर पर आ पडा है वह है यहा नवीन स्थापित भारतीय विद्या भवन की ओर से 'भारतीय विद्या' नामक त्रैमासिक का प्रगट करना ।

इसमे कोई शक नही कि यह (युगप्रधानाचार्य खरतर) 'गुर्वावली' एक अद्वितीय प्रसिद्ध कृति है और इसे अच्छी तरह सम्पादित कर सुन्दररूप मे प्रगट करने से अपने इतिहास की अच्छी महत्ता होगी ।

बम्बई
ता० २२-१२-३६

काम बहुत है और सब अकेले हाथ करना पडता है मेरी प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि दूसरों का किया हुआ पसन्द ठीक नही आता । सब प्रूफ मुझे ही देखने चाहिए, सब प्रकार का गैटअप मुझे ही ठीक करना चाहिए । इस प्रकार सब बातें मुझे ही करनी पडती है ।

बम्बई
२०—७—४०

कोई २।।—३ महिने से मेरा स्वास्थ्य कुछ गडबडा रहा है । खास बीमारी तो कोई नही है लेकिन कार्याधिक्य के कारण अशक्ति और मदता बहुत आ गई है । मस्तिष्क शून्य सा हो गया है और कार्य करने का उत्साह बहुत मद हो गया है । इस सबब से दो एक महिने से लिखना पढना प्राय बन्द कर रखा है ।

बीकानेर से श्रीमान् स्वामी नरोत्तमदासजी ने मेरे पास कुछ रिप्रिंट भेजे हैं जिनमे उन्होने मेरी जीवनी छापी है । आप लोगो ने मुझ पर इतना अत्यधिक ममत्वभाव बतलाकर मेरे लिये जो यह 'राजस्थानी' मे लेख दे दिया है—मैं उसके बारे मे आप लोगो का किन शब्दो से मेरा हार्दिक भाव प्रकट करू, सो समझ में नहीं आता । मैं तो आपही मे से एक हू ऐसा अपने को समझ रहा हू इसलिये मेरे लिये कुछ लिखना अपने मु ह अपना ही बखान करने जैसा है । खैर—यह तो आप सज्जनो का है—मैं उसे कैसे नागवार कर सकू ।

बम्बई
४—८—४०

मेरा कुछ स्वभाव ठेठ ही से अकेले आप ही काम करने का आदी हो गया है सो बिना स्वय किये किसी काम मे सतोष नही होता । दर असल मैंने अपने शरीर से बहुत अधिक काम लिया है इससे अब इस बेचारे के कमजोर होनें में कोई दोष भी नही है ।

बम्बई

२७-११-४०

आजकल काम की बडी भरमार है। और आप जानते ही हैं देश मे राजकारी विषय की बडी गड-बड़ी मच गई है। हमारी इस सस्था के सस्थापक मुंशीजी भी जेल मे जाने की तैयारी मे है—सो भवन की पीछे की व्यवस्था कैसे की जाय इस विषय मे दिन-रात परामर्श करने मे लगे रहना पडता है। मुझे आपका खजाना देखना है और वहा के विद्वान मित्रो से मिलने की भी बड़ी उत्कठा है। देखे यह इच्छा कब पूरी होती है।

शायद मेरे जैसे से जो एक दफह चित्त उचट गया और इन पोथी पन्नो को फेंक दिया तो फिर जिन्दगी तक हाथ मे लेने का जी नही होगा। आजकल भी मन को मैं बडे जोर से दाबे बैठा हू—सब साथी और नेतागण जेल मे जा रहे हैं और मेरे से यो कैसा बैठा जाय पर मुशीजी आदि बडा दबाव डालकर कह रहे हैं कि तुम जेल मे गये तो फिर यह सारा साहित्य का काम बिगड जायगा और लाखो रुपयो का नुकसान होगा। अभी भा० वि० भ० मे ८-१० स्कॉलर काम कर रहे है, वे सब निकम्मे हो जायेंगे इत्यादि—सो मैं मन को मारकर इस काम मे मर रहा हू। इधर शरीर भी अब बडी परेशानी कर रहा है लेकिन सोच रहा हू कि यदि काम बन्द हो गया तो फिर सदा के लिए हुआ समझिये। और सामग्री जो इतनी इकट्ठी हुई पड़ी है वह सब निरर्थक हो जायगी—खैर।

हमारे पुराने यतिलोग साहित्य के क्षेत्र मे कितना महान और अनेक विध कार्य कर गये हैं इस दृष्टि से ऐसे साहित्य का बडा उपयोग है और हमे अपने पूर्व पुरुषो की कृतियो को प्रकाश मे रख कर अपना ऋण चुकाने का लाभ उठाना चाहिए।

साबरमती, अहमदाबाद

२०-४-४१

मैं कुछ बीकानेर आने की इच्छा से यहा पर रुक रहा—पर यहा पर पिछले ४ दिन से हिन्दु-मुसलमानो का बडा भयानक झगडा शुरू हो गया है जिससे सारा शहर आतक से घिरा हुआ है। सब प्रकार का व्यवहार बन्द है और लूट-मार, आग आदि के भयकर काम चल रहे हैं। जो जहा बैठा वह वही बैठा हुआ है। मकान मे से बाहर निकलने की किसी की हिम्मत नही है। सो इस तरह मेरा मनसूबा जहा था वही रह रहा है। आप हैं इसलिए आने की बडी उत्कठा बनी हुई है--पर कौन जाने विधि का क्या संकेत है? मामला शान्त हो गया तो मगल या बुध के दिन निकल आने का इरादा है—नही तो फिर आना संभव नही। आने के विषय मे जो निर्णय होगा वह आपको सूचित कर दूगा।

वम्बई
२०-५-४१

आपकी सामग्री बडी सुरक्षितता के साथ रखी हुई है। आपने ऐसी अनमोल चीजे जिस विश्वास के साथ मुझे दी है उसका स्वपन मे भी कोई दुरुपयोग नही होगा।

प० सुखलाल जी यही हैं और यशोविजयजी के वारे मे कुछ विस्तृत निवन्ध सामग्री इकट्ठी कर रहे हैं।

भाई हजारीलाल को सप्रेम शुभाशीर्वाद—उनका मेरा उस व्याख्यान का सार वाला लेख आज ही मैंने 'अनेकान्त' मे पढा। वडी जल्दी से लेख तैयार कर डाला और छपवा भी दिया सो जानकर हैरान सा हो गया कि यह कहा से और कैसे आ गया। सार यो तो वहुत ही ठीक और व्यवस्थित है पर बीच में जहा गड़वड होगई है और उससे कुछ भ्रमसा हो जाता है। अच्छा होता यदि यह मुझे जरा दिखला दिया जाता तो जरा सुधार देता, क्योकि सार्वजनिक सस्थाओ और अन्य व्यक्तियो का उल्लेख करते समय जरा पूर्वापर का विचार रखना पडता है। कई विघ्न सतोषी होते है जो अर्थ का अनर्थ करने ही मे तत्पर रहते हैं। खासकर मूगालाल सेठ के विषय मे जो एक वचन का प्रयोग आदि किया गया है वह ठीक नही। दिवालिये आदि वाली भाषा भी जरा ओछी लगती है। सो इस विषय मे भविष्य मे पूरा ख्याल रखना और ऐसी भाषा और शब्दो का व्यवहार करना चाहिए जिससे किसी को कुछ खटके नही। भाई हजारीलाल होनहार हैं और इसे खूव तैयार होना चाहिए यही हमारी शुभकामना है। मूलचन्द्र अहमदावाद मे है और मजे मे है।

विशेष श्रीमान् प्रो० स्वामी नरोत्तमदासजी से मेरा स्नेह प्रणाम कह दीजियेगा। और राव जयतसीरा छद की तारीफ करते 'रहिये'। श्रीमान् ठाकुर रामसिहजी से भी मेरा सादर प्रणाम कह दीजियेगा और जल्दी होने के कारण मैं उनसे फिर नही मिल सका और उनके साथ वार्तालाप आदि का लाभ नही उठा सका इसका मुझे खेद ही रहा पर देखू कभी फिर इसका निवारण हो जायगा। आप उनसे मेरी ओर से बहुत आदर के साथ यह बात कहदें और राजस्थानी साहित्य का स्रोत जैसा कि स्व० पारीकजी के जाने से वहता वन्द हो गया है उसे फिर से चालू करियेगा। उस साहित्य के प्रकट करने का भार मैं अपने सर पर उठा लूगा।

वम्बई
३०-८-४१

अगर आप मेरे हाथ से कुछ उपयुक्त साहित्य सेवा के होने की आशा रखते हैं तो आपको तो ज्यो वने त्यो मुझे उत्साह देना दिलाना चाहिए और सहायता करनी चाहिये। आप ही जैसो के उत्साह से तो मैं अपने शरीर का सर्व तरह से क्षय करता हुआ इस व्यसन में डूवा रहता हू—नहीं तो यह पुस्तक प्रकाशन और गरीवो के गूमूत धोना दोनो एक से प्रिय और आत्मोन्नति साधक प्रतीत होते हैं इसलिए मेरे वास्ते इसका कुछ अधिक महत्व नही है। आपतो गृहस्थ हैं, कुटुम्व वाले हैं, व्यापारी स्वभाव के वणिक है इसलिये आपके लिये

कोई यह कार्य प्रधान कार्य नही है—केवल अवकाश मे करने जैसा शौक का काम है—पर मेरे लिये तो यह जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया है और इसीलिये शरीर की सर्वथा उपेक्षा करके, मृत्यु को निकट निकटतर बुलाता हुआ इसके व्यामोह मे फसा हुआ हू। इस परिस्थिति को देखकर आपको धैर्य और औदार्य रखना चाहिए। बाकी मेरे पास तो इतना साहित्य पडा है और सुलभ है कि इस एक जन्म मे तो क्या २–३ जन्म तक भी पूरा नही हो सकता।

अहमदावाद

३–४–४२

आत्मानन्द शताब्दी स्मारक फण्ड की तरफ से आगमो के प्रकाशन की कोई योजना सोची जा रही है। उसमे मेरी सलाह वगैरह की आवश्यकता है।

यहा पर आणदजी कल्याणजी ने मेरी प्रेरणा से जैन आर्कियोलॉजीकल डिपार्टमेट खोलना लगभग निश्चय किया है और उसकी व्यवस्था मेरे ही निरीक्षण नीचे रखने का तय किया है।

आप मेरे काम के साहित्य को तो यथावकाश भेजते ही रहियेगा। आप ज्यो ज्यो लिखते हैं त्यो त्यो मेरा उत्साह बढता जाता है और मैं पडा हुआ, बैठ कर खडा हो जाता हू।

बम्बई

६–७–२२

भारतीय विद्या भवन का वह भव्य मकान जो अधेरी मे २॥ लाख रुपये के खर्च से बना है, सरकार ने मिलीटरी के रहने के लिये माग लिया है। इसलिये हमको अपना यह विद्या भवन दूसरी जगह किराये के मकान मे ले आना पडा है।

पो० साबरमती

१५–६–४२

जैसलमेर जाने की मेरी इच्छा तो बहुत उत्कट है पर देखू यह इच्छा कब पूर्ण होती है। अभी तो देश का मामला बडा गड़बडी मे पडा हुआ है। ऐसे समय मे कुछ काम करने मे दिल नही लगता। एक महिने से यहा पर बैठा हू। नित नये उलट पुलट समाचार और वारदात होते रहते हैं। लोगो के दिल बडे क्षुब्ध हैं। यहा पर सवा महिने से बिलकुल सब काम धन्धे बन्द से हैं। मिलें सर्वथा बन्द है। बाजार भी बन्द हैं—स्कूल कालेज भी बन्द है। अभी इस गोलमाल मे कुछ भी करने की सूझ नही हो रही है। मामला कुछ शान्त पडे बाद ही सब व्यवस्था हो सकेगी।

जैसलमेर

२६–१२–४२

हमारा यहा का काम खूब अच्छी तरह चल रहा है। साथ मे ५ आदमी भी हैं जो नकलें वगैरह का काम कर रहे है। आपके अक्षर जरा बहुत गडबडी वाले होते है। कल परसों लोद्रवा जाने का विचार है—श्री आचार्य महाराज भी आज जा रहे हैं।

बम्बई

५–७–४३

जैसलमेर के भडार के ताडपत्रीय पुस्तको की रक्षा के लिए पेटिया बनानी बहुत ही आवश्यक हैं नही तो वे ग्रन्थ बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जायेंगे उसके लिए हमारे दिल मे उत्कंठा तो बहुत ही है पर उसमे जरूरत है कुछ उदार दिल के धनिको की।

जैसलमेर के भाइयो के तथा अन्य ग्रामजन और श्री महारावलजी के साथ हमारा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। उस विषय मे कोई कहने की बात नही है। वे तो सब हम कहे वैसे खडे पैरों करने के लिए तैयार है, पर जरूरत है बाहर से रुपयो के आने की।

बम्बई

६–११–४३

मेरे पास ऐसे तो सैंकडो काम पडे हैं। कितना काम का ढेर है यह तो आप कभी आखों से देखें तब कुछ पता लग सके। कितने ग्रन्थ छप रहे है—कितनो के प्रूफ आ रहे हैं—कितनो की कापिया आ रही हैं, कितनो की प्रतिया मगाई और देखी जा रही है और उसके उपरान्त वहा भवन का कितना विशाल कार्य चल रहा है। आपकी कल्पना के बाहर की ये सब बातें हैं। १० प्रोफेसर मेरे नीचे काम कर रहे है, १२ एम. ए. पास स्कॉलर पी एच डी की तैयारी मेरे गाइडेंस नीचे कर रहे हैं। बम्बई यूनिवर्सिटी ने तीन विषयो का एक साथ P. H D का रिकगनेशन मुझे दे रखा है जो आज तक किसी प्रोफेसर को नही दिया गया।

इसके साथ अहमदाबाद की गु० व० सोसायटी के उच्च अभ्यास विभाग मे मैं मुख्य परामर्शदाता हू। ऐसी प्रवृत्ति मे मुझे पत्र लिखना भी बडा कठिन हो जाता है। कई बड़े बडे विद्वानो के दूर दूर से पत्र आते है जिनका उत्तर महिनो तक नही दे सकता।

सामग्री तो बहुत है, पर काम मे सहायक हो ऐसे विद्वान व्यक्तियो का बडा अभाव है। अकेले हाथ से कितना काम हो सकता है।

भारतीय विद्या भवन ने दो बहुत बडे काम और अपने हाथ मे लिये है जिनमे एक तो ८ लाख रुपये के खर्चे से आर्टस कॉलेज स्थापित किया जायगा और दूसरा भारतवर्ष का वृहदितिहास जो बडे बडे १०-१२ भागो मे सकलित होगा, प्रकाशित किया जायगा। श्री बिडला ने उसके लिए डेढ लाख रुपया देने का वचन दिया है। और शीघ्र ही इसका कार्यालय स्थापित होगा। बडा भारी कार्य होगा।

बम्बई
२२-११-४३

विक्रम के विषय मे मैं कोई खास विचार स्थिर नही कर सका हू क्योकि इस विषय का जितना भी साहित्य है उसको मैंने अभी तक सकलित रूप से नही देखा। विक्रम के विषय में मुझे भी दो तीन जगह से खास करके डा० राधाकुमुद मुकर्जी का विशेषाग्रह है कि मैं कुछ न कुछ लिखू । इस मौके पर विक्रम विषयक जितने महत्व के जैन कथा ग्रन्थ हैं उन सबको ३-४ भागो मे विक्रमोत्सव के उपलक्ष मे प्रकट कर दिए जाय। इससे अच्छी विक्रम श्रद्धाजलि और क्या हो सकती है? पर इस समय सबसे बडी समस्या कागज की हो रही है।

बम्बई
३०-११-४३

मैं यहा से आगामी ता० ७ को कानपुर के लिए जाऊंगा। वहा हिन्दुसघ की ओर से विक्रमोत्सव है जिसमे देश के मुख्य मुख्य विद्वानो को बुलाया है। मुझे भी जाना जरूरी है। वही पर, भारतवर्ष के वृहदितिहास की योजना निश्चित की जाएगी शायद वहा से मुझे कलकत्ता जाना पडे और फिर ता० ३१ डी. को बनारस मे ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स मे यहा की यूनिवर्सिटी की ओर से जाना होगा।

बम्बई
१०-२-४४

गत ७ दिसम्बर को मैं यहा से विक्रमोत्सव के निमित्त कानपुर गया था। वहा से वापस आकर फिर बनारस ओरिएन्टल कान्फरेन्स में वहा से डालमिया नगर और फिर वहा से कलकत्ता, वहा से फिर इधर ता० १४ जनवरी को पहुँचा। प्रवास के परिश्रम के कारण शरीर बडा शिथिल हो गया—१०-१२ दिन अस्वस्थता मे चले गये और साथ मे यहा पर भवन का कार्य भार भी बहुत वढ गया। भारतवर्ष के यह इतिहास की जो योजना की जा रही है उसका काम कई दिन तक लगा रहा।

डालमियानगर से श्री शांतिप्रसादजी जो बनारस लेने के लिये आये थे इसलिये उनके आग्रह से एक दिन वहा जाना हुआ उन्होने भारतीय विद्या भवन मे रहकर अध्ययन करने पोस्ट ग्रेज्यूएट स्टुडेंटो के—एम० ए० और पी० एच० डी० का अभ्यास करने वालो के लिए माहवार ३००) रुपया फेलोशिप देने का वचन दिया है। इससे अब भवन मे ६–७ विद्यार्थी जैन साहित्य का अध्ययन करने वाले रह सकेगे।

प० सुखलालजी बनारस से मेरे साथ ही यहा पर आये हैं। वे वहा से अब मुक्त हो गये हैं। उनकी जगह प० दलसुख मालवणिया की नियुक्ति हो गई है। पंडितजी प्राय' अब यही पर मेरे साथ ही रहेगे। श्री राहुल सास्कृत्यायन भी आजकल यही मेरे पास हैं। वे एक बहुत गम्भीर और बृहत् बौद्ध ग्रन्थ का सपादन कर रहे हैं जो भवन की ओर से प्रकाशित होगा।

बम्बई
७-३-४४

श्रीमान प० दशरथजी शर्मा ने कर्मचन्द प्रबन्ध के विषय मे जो लिखवाया है इसलिए उन्हे धन्यवाद दीजिये। और इसका इन्ट्रोडक्शन विस्तृत रूप मे श्री दशरथजी लिखने का कष्ट करेंगे तो बहुत ही उत्तम होगा। उनसे बढकर इस काम के लिए कौन अधिक अधिकारी हो सकता है ? मेरा विचार अप्रेल के अन्त मे उधर आप लोगो से मिलने को आने का है।

बम्बई
५-७-४४

कार्य की व्यग्रता इतनी अधिक बढ गई है कि जिससे मैं अपना इच्छित काम समय पर नही कर पाता। भवन की प्रवृत्ति इतनी विस्तृत और विविध कार्यवाली हो रही है कि जिसके काम से मुझे एक मिनट भी छुटकारा नही मिलता और उसमे मुझे मेरी सिंघी ग्रन्थ माला का व्यवहार तो नियमित रखना ही पडता है। रोज कई ग्रन्थो के प्रूफ आते ही रहते हैं उनको देखते देखते दिन खतम हो जाता है।

युद्ध के कारण बहुत कुछ कठिनाई उपस्थित हो रही है, नही तो अभी तक बहुत काम हो जाता।

बम्बई
२३-७-४४

कलकत्ते मे श्री सिंघीजी का स्वर्गवास हो गया। सब छोडकर चले गये। क्या उनकी उदारता, क्या साहित्य प्रेम, क्या सज्जनता और कैसा उनका खजाना—जिसके सामने सब जैन भिखारी मालूम देते हैं—ऐसे पुरुष भी सब छोडकर चले गये। हमे इससे बडा दु ख और खेद हो रहा है। शुभम्।

सिंघी पार्क
कलकत्ता
१-२-४५

मैं ता० १८ से रवाना होकर यहां २० को आया था फिर ता० २३ को अजीमगज जाता हुआ जो कल वापस लौटा हूं। अजीमगज मे ता० २५, २६, २८ के दिन श्री बहादुरसिंह बाबू और उनकी माताजी के पुण्य स्मरणार्थ बरसी और पूजा आदि का समारम्भ था इसलिये जाना हुआ। प्राय इन लोगो ने एक लाख रुपया खर्च किया। मैं यहां पर अब नाहर लाइब्रेरी को लेने ही के लिये आया हू।

बम्बई
९-१२-४५

ता० २६ नवम्बर को यहा से उदयपुर (मेवाड) जाना पडा सो कल वापस आया हू । उदयपुर मे महाराणा से मिलना था । आपको मालूम होगा कि कुछ राजपूत स्टेटस् एक राजपूत यूनिवर्सिटी बनाना चाहते है । उसी के सिलसिले मे मुझे और श्री कन्हैयालालजी मुंशी को वहा जाना पडा, वहां पर उदयपुर डूंगरपुर, पन्ना के महाराजा से मिलना हुआ और यूनिवर्सिटी की स्कीम की चर्चा की गई इसलिए मैं और श्री मुंशीजी दोनो वहा पर गये थे कल ही वापस आये है । इसी सबब से मेरा बीकानेर जाना, जो मैंने स्वामी जी को ता० १५ दिसम्बर निश्चित लिखा था बन्द रखना पडा ।

शरीर भी निकम्मा हो रहा है पर उसकी उपेक्षा करके चल रहा हूँ, यदि प्रताप यूनिवर्सिटी की स्कीम कुछ अमल मे लाने का अवसर आया तो उसके सगठन और सयोजन का बहुत वडा भार मुझे उठाना पडेगा । उसके प्रेसीडेट पन्ना महाराजा वगैरह मुझे ही उस काम का संयोजक बनाना चाहते हैं और ऐसा हुआ तो मुझे कुछ समय मेवाड़ उदयपुर-चित्तौड जाकर आसन जमाना पड़ेगा ।

मेरे दिल मे ओसवाल महाविद्यालय की कायम करने के कई कारणो से बडी आवश्यकता प्रतीत हो रही है वे कारण प्रत्यक्ष ही मे विशेष बताये जा सक्ते है । मैं अभी चित्तौड दो दिन ठहरा था, वहा ऊपर नीचे खूब घूमा । यूनिवर्सिटी के लिए उपयुक्त स्थान कौन सा हो सकता है । इस दृष्टि से सब देखा-भाला ।

मेरे दिल मे तो यह भी आया कि खरतरगच्छ की मूल जन्मभूमि चित्तौड है । चित्तौड़ का महत्त्व जैन इतिहास मे वडा भारी है । यदि खरतरगच्छ मे कोई जानदार व्यक्ति हो और गच्छ के गौरव की जिसको किंचित भी श्रद्धा हो तो उसके लिए तो चित्तौड सबसे पवित्र और पूजनीय तीर्थ स्थान है । मैं चाहता हू कि श्री जिनदत्तसूरि और जिनवल्लभसूरि के नाम का वहा वडा भारी स्मारक बनाया जाय[1] और बडा भारी कोई साहित्यिक और शिक्षा विषयक केन्द्र स्थापित किया जाय आप जैसे ५-१० उत्साही भाई जो मेरा जी खोलकर साथ करें तो मैं इसमे अपनी पूरी शक्ति देना पसन्द करूं । क्या आप लोगो के दिल मे कुछ भावना पैदा हो सकती है ?

पूना
२२-८-४६

एक तो इच्छा होती है—अब इस प्रपंच को छोडकर एकान्त निवास करूं—दूसरी साथ मे कुछ सामाजिक प्रवृत्ति का भी कार्य करने की ऊर्मि उठती रहती है । देश की और समाज की जो वर्तमान दशा है उसमे कुछ करने जैसा मेरे लिए विशिष्ट कार्य पडा है । और मैं मानता हू कि मुझे यह करना चाहिए,

---

१ हरिभद्रसूरि स्मृति मदिर मुनिजी ने स्थापित कर जिनदत्तसूरि सेवा सघ को सौंप दिया है उसमे इन आचार्यों की मूर्तिया भी स्थापित होगी ।

उससे अधिक मैं अपनी शक्ति का लोगों का लाभ दे सकता हूं। यह साहित्यिक कार्य तो और भी करते रहेंगे। आगामी १-४ महिने मे इसी मनोमन्थन मे व्यथित रहूगा ऐसा मालूम दे रहा है। सो क्या है यह तो आप कभी मिलेंगे जब समझेंगे।

मेरे मन मे बहुत समय से यह बात घुल रही है कि चित्तौड में जिनदत्तसूरिजी की स्मृति मे कोई छोटा-बडा स्मारक स्थापित करना चाहिए। खरतरगच्छ के गौरव की निदर्शक कोई वस्तु हमे करना चाहिये जैन इतिहास की अमरता के लिए ऐसा कोई प्रयत्न करना बहुत आवश्यक है। वरना सब काल के प्रवाह में विलुप्त हो जायगा और अब बहुत ही शीघ्र वैसा विनाश होगा।

अब यह शरीर कहा तक काम करेगा कह नही सकता। मन तो वैसे ही दौडता रहता है और ज्यों-ज्यो नये ग्रन्थ हाथ मे आते रहते हैं त्यो-त्यो उनका उद्धार करने का मनोरथ भी बढता ही रहता है परन्तु आयुष्य तो अब अपने अन्त के समीप पहूच रहा है। न मालूम वह किस दिन समाप्त हो जायगा—सो इसका विचार आते ही मन को दूसरी तरफ भी सोचना पडता है। करीब ५८ वर्ष हो चुके। कार्यकाल प्राय पूरा होने का समय समझा जा सकता है। जितना भी आयुष्य अब हो वह विशेष ही समझना चाहिए। और इस लेखन, सशोधन के सतत परिश्रम से शरीर को जो क्षति पहुँच रही है वह तो विचार के बाहर की बात है। इस कार्य ने मेरे आयुष्य के कम से कम २ वर्ष तो यो ही खा लिए है। डाक्टर लोग वर्षों से मुझे कह रहे हैं कि तुम्हे ९-१० वर्ष और जीना हो तो इस परिश्रम को सर्वथा छोड दो परन्तु मैं इसका व्यसनी जो रहा—छोडा कैसे जाय सो ही कल्पना मे नही आता।

बम्बई
१४-१०-४६

इसी वर्ष ता० २० २१-२२ को नागपुर मे ऑल इण्डिया ओरिएन्टल कोन्फरेन्स है। मुझे प्राकृत विभाग का उन्होने अध्यक्ष भी नियुक्त कर रखा था—परन्तु मेरा जाना कठिन हो गया।

कलकत्ता
३०-३-४७

यहां पर कल भी सुनीति बाबू मिले थे। वे भी उदयपुर होकर आये है और उनके अध्यक्षत्व मे उन लोगो ने निर्णय किया और मुझे दबाव कर रहे हैं। मुझे यह सर्वथा पसन्द नही है। मैं तो काम चाहता हू। राजस्थान की कुछ उपयुक्त सेवा कर सकू तो सार्थक हो—नही तो खाली आडम्बर का क्या अर्थ है ?

बम्बई
३-६-४७

आपने अखबारो मे पढा ही होगा उदयपुर मे प्रताप विश्वविद्यालय की स्थापना की गई है। श्री कन्हैयालाल मु शी और मैंने इसका प्रयत्न किया है और उसमे असाधारण सफलता मिली है। मेरा अब रहना प्रायः उदयपुर मे अधिक होगा। उदयपुर का आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेंट वगैरह बहुत बडे पैमाने पर

व्यवस्थित करना है। मैंने उसका डायरेक्टर होना स्वीकार किया है। प्रताप विश्वविद्यालय का प्रधान महामात्र होना भी मैंने स्वीकार कर लिया है। उदयपुर महाराणा ने बडी भारी उदारता दिखलाई है और आशा है कि भारत भर मे एक नई चीज होगी। महाराजा ने कोई ६७ लाख की स्थावर जंगल सम्पत्ति विश्वविद्यालय को देना उद्घोषित किया। मेरी स्थिति बहुत ही व्याकुल रहेगी। ग्रन्थमाला के ग्रन्थ भी इसी तरह बीच मे लटक रहे हैं। सम्भव है उदयपुर मे उनका निपटारा होगा। वहा मुझे कुछ नये सहायक भी मिल सकेंगे। मेवाड़ के इतिहास और ऐतिहासिक सामग्री का उद्धार करना मेरा प्रधान लक्ष्य रहा है। उसे हाथ मे लेने का ईश्वर ने सुयोग उपस्थित किया है। जिनेश्वरसूरि के बारे मे कुछ लिखते हुए चित्तौड का मुझे अत्यन्त आकर्षण हुआ।

अहमदाबाद
२९-९-४७

मन मे तो बहुत कुछ करने की उमंगे दौडती रहती हैं परन्तु होता वही है जो निर्मित है—इससे होने न होने का हर्ष-शोक करना निरर्थक है—मैंने सोचा था उदयपुर मे रहने का प्रसंग आया तो चित्तौड मे जिनेश्वर सूरि का कोई बडा भारी स्मारक स्थापित करने कराने का प्रयत्न करूंगा लेकिन यह स्वरूप अभी तो यों ही सुप्त ही सा रह गया है—देखें भावि क्या करता है।

बम्बई
४–१०–४८

मेरे पास जो बहुमूल्य सामग्री थी वह भी मैंने तो इस भवन को दे दी है—जिसका मूल्य एक्सपर्ट विद्वानो ने ५० हजार के ऊपर ही कोती है। मेरा कुछ लोभ इस साहित्य को प्रकाशन मे लाने का रहा है इसलिये मैंने आपकी इस सामग्री को सभाल के रख छोडा। आपको तो ज्ञात है ही कि ऐसी सामग्री जो मेरे लिये इतनी उपलब्ध है कि जिससे मेरे जैसे सौ भूखो का पेट भर सकता है। जो पडी है—जिसका मैंने छपवाने की दृष्टि से सग्रह कर रखा है वह भी अपरिमेय है। तब भी मेरा लोभ जो कि हेय है–जिसने मेरा जीवन एक प्रकार से यो ही नष्ट कर दिया–स्वास्थ्य भी विगाड दिया–आयुष्य भी अल्प कर दिया–मन मे से हटना नही है–एकाधा फटा पन्ना देखकर उसमे लिखा भ्रष्ट दूहा भी ज्ञात कर मुझे उसके उद्धार की लालसा हो आती है। और इस लालसा के वश होकर जिसके आज कोई ४० वर्ष पूरे होने आये········। अब तो यह जीवन अपने निर्वाण के समीप पहुँच रहा है। न जाने किस दिन विलीन हो जायगा। इसलिये इस लालसा को भी हटाना है। जो कुछ काम हाथ मे लिया हुआ है उसे समाप्त करना है।

मैं सुबह ७ बजे से काम पर बैठना हू और रात को ९ बजे वन्द करता हूं। इसमे ३-४ दिन मे कभी घटा-दो घटा बाहर जाता हू और कही नही जाता। तब भी काम पूरा नही होता। कुछ विचार लिखने हुए तो उसके लिये पचासो ग्रन्थ उथलाने पडते हैं। महिनो के परिश्रम के बाद ५-१० पत्र लिखने की सामग्री दिमाग मे जमती है। उसे व्यवस्थित लिखना भी एक काम है। आपके जैसा मनुष्य कोई साथ मे दो-चार महिने रहे तो बहुत-सा काम जल्दी निपट सकता है। खैर ! ज्ञानी ने जो देखा है वही होना है और

वही होगा। मैं तो सिर्फ उदयाधीन कर्म का फल भोगने वाला हूं। इतना तो निश्चित है कि जो कुछ समय इसमे जा रहा है वह लाभदायक न हो तो भी आत्मा को हानिकर तो नही है।

बम्बई
११-७-४६

मेरा ऐसा स्वभाव है कि जिस समय जिस कृति को लेकर बैठता हूं तब ही उसकी सब सामग्री का सकलन या तारण आदि करने की सूझ पडती है। पहले से ही अनेक ग्रन्थो की सामग्री तैयार करना असंभव है। जब जिस काम को शुरू किया जाता है तब ही उसकी विचारधाराएं आखो के सामने आकर उपस्थित होती हैं। यदि उसके बीच मे कुछ व्यवधान आ गया तो फिर वह सब बिखर जाती है और स्मृति से भी निकल जाती है।

हमारे इस भवन के नये मकान का काम पूरा होने पर है। आगामी ८ अगस्त को श्रीमान् राज-गोपालाचार्य जी के हाथो इसका बडे समारोह के साथ उद्घाटन होना निश्चित हुआ है। उसकी तैयारिया चल रही हैं। मकान बहुत भव्य और दर्शनीय बना है। बम्बई भर मे एक प्रेक्षणीय स्थान बना है रुपया तो करीब २० लाख के खर्च हो जायेंगे।

आपके वहा भी आपका ज्ञान मदिर बन गया है सो जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। आपके सग्रह मे भारी सामग्री है उसे खूब रक्षा के साथ रखने की व्यवस्था आवश्यक थी ही। क्या भवन के उद्घाटन के समय यहा आने का विचार करेंगे।

बीकानेर आने का आपका आमंत्रण तो बहुत प्रिय लगता है लेकिन जब निकल पडूं तब तो। इच्छा तो जरूर रहती ही है कि आपकी सब सामग्री को ठीक से देखूं। फिर मन मे यह आता है कि अब देखकर भी क्या करना है—कार्यकाल अब प्राय बीत चुका है।

नवरगपुर २८-१-५०

मैंने प्राय राजस्थान मे कही डेरा डालने का निश्चय किया है और अभी तो कही चित्तौड के पास ही कही आसन जमाने का विचार है। गत वसन्त पचमी के शुभ दिन में यह सकल्प उदयपुर मे किया है। कही १५-२० बीघा जमीन का टुकडा लेकर उसी पर अपनी झोपडी बनाकर रहना अपनी आवश्यकता के लिये स्वय अन्न उत्पन्न करना तथा एकान्त जीवन व्यतीत करना यही मुख्य लक्ष्य रहेगा। "सर्वोदय साधना आश्रम" के रूप मे इसका नाम करण किया जायगा। वहा बैठे-बैठे जो भी सामाजिक सेवा निराकुल भाव से हो सकेगी उसके करने की थोडी बहुत प्रवृत्ति बनी रहेगी। साहित्यिक प्रवृत्ति से प्राय मन उपरत हो रहा है। ४-५ अनाथ बालको को लेकर मैं वहा झोपडी बनाऊंगा और अपना आसन जमाऊंगा। यही मेरा प्रधान लक्ष्य अभी है।

सर्वोदय साधना आश्रम, मु. चन्देरिया जि. चित्तोडगढ
वर्तमान मुकाम राजस्थान पुरातत्व मन्दिर, जयपुर ७-८-५०

मैं पिछले मई मे ता. १३ को यहा आकर यहा के पुरातत्व मन्दिर का काम चालू किया है। धीरे-धीरे काम जम रहा है। सरकारी काम है। किसी को फिक्र तो है नही। ओफिसियल ढग से सब काम होता रहता है। राजस्थान मे कुछ ऐसी सस्था बने तो अच्छा है इस प्रलोभन से मैंने यहा का कुछ भार लेना स्वीकार किया है बाकी मेरा लक्ष्य तो अब चन्देरिया के आश्रम की ओर है। मैं यहा बीच-बीच मे आता जाता रहता हू। स्थाई रूप से नही। चन्देरिया मे भी बैठकर तो वही मुख्य करता रहता हू। अभी तो वहा कुछ भी साधन नही जमा। स्टेशन पर एक झोपडी किराये पर रखकर उसके आश्रय मे काम चालू किया गया है। वहा मुख्य उद्देश्य तो खेती का है। स्वय परिश्रम भी करने का ध्येय है। अभी कुआ खुद रहा है और एक छोटासा मकान वन रहा है। ××× राजस्थान पुरातत्व मन्दिर का कार्य क्षेत्र बहुत ही सकुचित रखा गया है। राजस्थान मे सस्कृत साहित्य की खोज और कुछ ग्रन्थो का प्रकाशन बस इतना ही—इसकी कार्य सीमा निर्धारित की गई है। यहा के पुराणे ब्राह्मणो की वृत्ति को इस निमित्त से कुछ रुपया मिल जाय तो ले लेना—इस दृष्टि से काम कर रही है। इनको साहित्य, सस्कृति या इतिहास के उद्धार की कोई चिंता नही है—कल्पना भी नही है।

भारतीय विद्याभवन
बम्बई—७
ता १५-७-५३

मैं भोजन के लिये उठने वाला ही था और भवन के ४ मजिल उतर कर अपने रहने के मकान मे पहुचने को उठा ही था कि आपका पो. का. हाथ मे आया उसी क्षण वापस टेबिल पर बैठकर आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हू और यह पत्र लिख रहा हू। भोजन और चाय अब तीन वजे एक साथ ही लूगा कल सायंकाल से सिर मे दर्द हो रहा है इसलिये सुबह भी कुछ नही लिया था—टेबिल पर प्रूफो का ढेर पडा है इसलिये निपटाने की दृष्टि से सुबह के ७ बजे से एकासन पर बैठा हू—××× आप लिखते है—मैं कुछ रुष्ट हुआ हू। सो कैसे जाना? हाँ कभी कभी रोष आने जैसा आपका तकाजा होता है पर वह तो काम की दृष्टि से आप मुझे चाबुक दिखाते रहते है ऐसा मानकर रोष को छुटकार देता हू—पर इतनी वात जरूर मन मे आजाती है कि आप नितान्त लोभी प्रकृति के और एक मार्गी है—जो आया उसे उठाया और कोठार मे रखा—वाली कहावत के आप उदाहरण दिखाई देते हैं और जो कुछ थोडा वहुत जैसा वैसा भी काम कर रहा हू उसकी कोई खास कद्र आपको है नही और आप सदैव—यह नही हुआ—वह नही हुआ के चाबुक मुझे लगाते रहते हैं सो जरा मेरे जैसे अल्पज्ञ और अल्प प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति के लिये आकर लगना स्वाभाविक है। पर मैं यह जरूर समझता हू कि आपका आशय तो ठीक है—उसमे विवेक की कमी है। मेरे लिये तो आशय ही ग्रहणीय है और उसी को नजर सामने रखकर मैं आपके मान ममत्व भाव रखता हू और रखता रहूगा।

× × × × ×

केवल अपनी मूर्खता भरी धुन के कारण उनके (प्रतियो) पीछे पड गया और न शरीर, न समान, न खानपान, और आरोग्य-आनन्द आदि का ध्यान रखा और न किसी के प्रोत्साहन या प्रशंसा की आकाक्षा

की—केवल स्वान्त सतोष की दृष्टि से— ज्ञानोपासना की दृष्टि से यह मजूरी करता रहा हू ।

यहां पर कई ग्रन्थो का काम एक साथ चल रहा है उन सबके प्रूफादि देखने पडते हैं—रोज ३-३,४-४, फर्मों के प्रूफ आते हैं उनका मूल से मिलान करना, ठीक करना आदि बड़ी झझट है आपको इस काम के करने की तो कोई कल्पना है नहीं—यदि मेरे साथ दो महिने बैठकर इस काम का कुछ अनुभव कर लें तो फिर आपको ज्ञान होगा कि किस तरह काम किया जाता है । आप हर दफह लिखते रहते हैं कि वह छप गया होगा-वह छप गया होगा परन्तु इस छपने मे किस तरह घिसना पडता है आकर देखिये और फिर कुछ ख्याल करिये—शरीर की इस क्षीण अवस्था मे भी मैं १४-१४ घटे यहा पर काम कर रहा हू साथ मे अमृतलाल, लक्षमण, रसिकलाल, प्रो० गायाणी वगैरह भी हैं—परन्तु ये सब थक जाते है और मैं रात को १२-१२ बजे तक काम करता रहता हू ।

लिखते लिखते थकसा गया हू और इसी बीच कई जनें आगये ३-४ बज रहे हैं मैं अपनी जगह से हिला तक नही हू—चाय भी यही बैठकर पी ली है—अब उठकर प्रेस में जाना है—सो अब यही खतम करता हू मैंने सहजभाव से जो मन मे आगया सो लिख डाला आप उस पर कोई गौर नही करें—हम समव्यसनी जो रहे ।

जयपुर

२१-४-५५

मेरी आखें अब दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है इसलिये पत्रादि का लिखना कष्ट सा प्रतीत होता रहता है । जो कुछ थोडा बहुत काम हो सकता है वह कुछ व्यवस्थात्मक और सपादनात्मक रहता है ।

राजस्थान सरकार ने इस कार्यालय को जोधपुर ले जाना सोचा है—वहा पर इसके लिये नया भवन बनाने की योजना भी बनाई गई है और गत ता. १ अप्रेल को राष्ट्रपति के हाथो से उसका शिलान्यास भी किया गया है । × × मैंने तो गत फरवरी मे सरकार को सूचित कर दिया था कि मैं अब इस कार्यालय के काम मे अपना विशिष्ट योग देने मे असमर्थ हो रहा हू अत मै निवृत्त होना चाहता हू पर मुख्यमत्रीजी ने विशेष अनुरोध किया कि अभी इस कार्यालय को ठीक जम जाने दीजिये और इसे जमाइये—हम इस विषय मे आप चाहेगे वैसा करने को तैयार हैं—इत्यादि ।

जोधपुर

३०-१२-६४

विल्हण चरित के विषय मे आपने जो सूचना दी, उसके लिये आभार । × × मैं कल चित्तौड जा रहा हू ।

मनीषी-कर्मयोगी

किसी साधनाशील-जीवन, कर्मयोग मय पुरुषार्थ और प्रकाण्ड पाडित्य की त्रिपुटी के तपोमय व्यक्तित्व का ख्याल आता है तो राजस्थान मे मेरे सामने मुनि जिन विजय जी महाराज की मूर्त्ति खडी हो हो जाती है। जब मैंने सर्व प्रथम साबरमती आश्रम मे लगभग आज से कोई ४५ वर्ष पूर्व उनके दर्शन किये थे तो मेरे मन पर उनके व्यक्तित्व की एक अमिट छाप बन गई थी। उसके बाद मेरे राजस्थान चले आने पर और मुनि महाराज के भी विदेश यात्रा काल तथा अधिकतर भारतीय विद्या भवन बम्बई, शान्ति निकेतन एवम् अहमदाबाद मे अपने शोध कार्यों मे सलग्न रहने से प्रत्यक्ष सम्पर्क नही बना रह सका।

इसके बाद मेरा उनका निकटवर्त्ती सम्पर्क उदयपुर मे होने वाले राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर १९४० मे हुआ। तव तक वे सभवत. चित्तौड के पास चन्देरिया आश्रम मे आ गये थे या आने वाले थे। बाद मे तो कई बार उनके सत्सग का लाभ मिलता रहता है। पिछले वर्षों बम्बई, अजमेर, जयपुर, जोधपुर मे सम्पर्क के कई अवसर मुझे मिले। पिछले वर्ष ही जनवरी मास मे उनके अनुरोध पर मै उनकी जन्मभूमि के ग्राम रूपाहेली मे उनके नव निर्मित गाधी ग्राम भवन को खोलने गया, तब उनके दर्शनो का लाभ मिला था।

रूपाहेली (मेवाड) ग्राम के एक राजपूत परिवार मे जन्म लेने वाले आठवर्षीय बालक के मन मे साधना की ऊची तडप और जिज्ञासा होना तथा इसके लिए उचित सयोग जुडकर अहिंसा मार्ग को अपनाते हुए उस पर चल पडना किसी पूर्व संस्कार का ही सुयोग माना जा सकता है। अपने साधना शील जीवन मे मुनि जी ने विविध स्थानो पर रह कर अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए अथक परिश्रम द्वारा कई भाषाओं का अध्ययन किया। हिन्दुस्तान के कई हिस्सो मे पुरातत्व की खोज और प्राचीन ग्रन्थो के अध्ययन की दृष्टि से तो वे घूमे ही, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशो मे भी इनका इसी काम के लिए जाना हुआ था। आज हम देख रहे है कि पुरातत्व के बारे मे उनका ज्ञान कितना व्यापक और ऊचा है।

अपने मन मे निरन्तर बने रहने वाले कर्म योगी भावो और वीर पूजा के सस्कारो ने आखिर उन्हे अपनी मातृभूमि की वीर स्थली चित्तौड की ओर आकर्षित किया। पुरातत्व और इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन ने उनकी अन्त प्रेरणा को जागृत करके जीवन के उत्तरकाल मे उनको प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी चित्तौड के प्राङ्गण मे ला बिठाया। यो राजस्थान और मुख्यत. मेवाड़ भूमि से उनका आकर्षण बना रहना स्वाभाविक ही था परन्तु १९४० मे तो बम्बई, अहमदाबाद के अपने संग्रहालयो, पुस्तकालयो और विद्वत् गोष्ठी की स्वजन मंडली के मनमोहक साथ को छोडकर चित्ताड़ के पास के छोटे से ग्राम चदेरिया के जगल मे आ बसे। चदेरिया स्टेशन के समीप एक वियावान सा जगल जहा ढाक, खेजडे और बंबूल के पेड खडे थे, झडबेरियो से

आच्छादित कटकाकीर्ण भूमि के भाग्य उदय होने को थे कि मुनिजी के पाव वहा पडे । इस स्थान पर आते ही जब उन्होने देखा कि यह एक ऐसा स्थान है जहा से प्राची-दिशा मे प्रात कालीन सूर्योदय के साथ ही हमारे पूर्वजो की कीर्ति को उजागर करने वाला बेडच-गभीरी के सगम तट पर आसीन यह विशाल किला और कीर्त्तिस्तभ विजय स्तंभ तथा मीरा मदिर मुझे निरतर उल्लसित सतुष्ट करता रह सकेगा एवम् हरिभद्र सूरि सरीखे विद्वान् मनीषी पुरुष की साधना, मुझे अनुप्राणित करती रह सकेगी जिसने १४०० ग्रन्थ लिख कर राजस्थान के पुरातत्त्व साहित्य के अखूट भडार को भरपूर किया था तो उन्होने यही डेरा डाल दिया ।

बस फिर क्या था मुनिजी की झोपडी बनी, स्वय परिश्रम पुरुषार्थ मे पीछे नही रहे और कुछ ही वर्षो मे चदेरिया स्टेशन के पास की भूमि ने एक सुन्दर सुहावने आश्रम का रूप धारण कर लिया जो प्राच्य-कालीन ऋषियो के आश्रम की भाति ही मन को लुभावना लगता है । इस आश्रम की स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र की गरीबी, भुखमरी और बेकारी की पीडा मुनिजी के दयार्द्र हृदय को बेधने लगी । आस पास के बेकार भूखे लोगों को काम देने और अन्नोत्पादन के काम मे वृद्धि करने के इरादे से उन्होने बीसियो बीघा वीरान भूमि को अपने अध्यवसाय से कृषि योग्य बनाकर तीन गहरे कुए खुदवा बंधवा कर जमीन की सिंचाई की व्यवस्था की ।

चित्तौड जिले के प्रवेश द्वार पर हरिभद्र सूरि के नाम पर एक सुन्दर मदिर, तथा भामाशाह भारती भवन की इमारत एवम् सर्वोदय साधना आश्रम चदेरिया मे सर्वदेवायतन नाम से सभी मतावलम्बियो के देवताओ वाला आकर्षक मनोहर मदिर तथा इमारतें खडी करने मे जहाँ मुनिजी को हरिभद्र सूरि, भामाशाह आदि की स्मृति मे अपने श्रद्धा पुष्प अर्पण करने की कल्पना रही है, वहा गरीबो को काम देने और अपनी शक्ति के अनुसार उनकी मदद करने की कारुणिक प्रेरणा भी रही है । हाल ही उन्होने अपनी जन्मभूमि रूपाहेली ग्राम मे बत्तीस हजार रु० की लागत से जो गाधीग्राम भवन निर्माण करवाया है, उसका उल्लेख मैं ऊपर कर ही चुका हू । इस भवन मे प्रादेशिक कस्तूरबा स्मारक निधि की ओर से एक बाल मदिर चल रहा है । इन भवनो की स्थाई व्यवस्था के लिए मुनिजी अपने विश्वस्त लोगो का एक ट्रस्टी मडल बनाने की सोच रहे हैं ।

अब रही उनकी विद्वत्ता वाली बात । यो तो मुनिजी महाराज कहा करते हैं कि मैंने जीवन मे जो कुछ उपयोगी काम किया है, वह है, "इस आश्रम तथा पास की जमीन मे अन्न के दाने पैदा करने वाला थोडे से समय का काम ।" पुरातत्व के काम, अध्ययन मनन चिन्तन भ्रमण आदि जीवन के सम्पूर्ण अन्य कार्यो को वे आज फालतू ही मानते हैं । यह उनकी महानता है कि इस प्रकार कह कर वे लोगो के पुरुषार्थ और कर्म-शक्ति को जगाना चाहते है, परन्तु उन्होने विविध भाषाओ के अध्ययन से जीवन मे अपनी बौद्धिक प्रतिभा को बढाया । सस्कृत प्राकृत आदि प्राचीन भाषायें, हमारे देश की प्रचलित विभिन्न प्रादेशिक भाषायें, अग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि कुल मिलाकर एक दर्जन से भी अधिक भाषाओ का ज्ञानार्जन करना उनके ग्रन्थो का निचोड लेकर उनके प्रसादो से मातृभाषा के भडार को मडित करना क्या कम महत्व की बात है ? यह खुशी की बात है कि उनकी मूल्यवान् सेवाओ से लाभान्वित होने का सुयोग राजस्थान सरकार को भी मिला और उसने मुनिजी की विद्वात्ता और प्रतिभा का लाभ लेने के ख्याल से उन्हे प्राच्य-शोध सस्थान के डाइरेक्टर के

रूप मे ऊंचे पद पर आसीन किया । आज इस विभाग मे मुनिजी महाराज से ही प्रेरणा पाये हुए उनके साथी काम कर रहे है । उनकी विद्वत्ता और पुरातत्व के महान्ज्ञाता होने के कारण ही तो वे अहमदाबाद के गुजरात विद्यापीठ के प्राच्य प्रतिष्ठान के आचार्य रहे, भारतीय विद्या भवन बम्बई के डाईरेक्टर पद को सुशोभित किया तथा शान्ति निकेतन मे मुख्याधिष्ठाता रूप मे वहा के जैन आसन को सुशोभित किया ।

८५ वर्ष से अधिक उम्र होने पर भी आज उनमे जो कार्यशीलता, उत्साह और प्रेरक शक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह अद्भुत है । परमेश्वर इस मनीषी पुरुष को राष्ट्र और जनसेवा के लिए चिरकाल तक स्वस्थ-सुखी रखे, यही मनोकामना है ।

मुनि श्री जिनविजयजी

मुनिश्री जिनविजयजी एक सांस्कृतिक साधक—

राजस्थान मे जब प्राच्य विद्या की चर्चा करते हैं, तब मुनि श्री जिनविजयजी का नाम बरबस हमारे सामने उभर आता है। यो तो हमारे देश के इस सपूत ने राष्ट्रीय ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी प्राप्त की है, किन्तु राजस्थान के सांस्कृतिक और बौद्धिक जगत मे प्राच्य विद्या की सामग्री का सकलन कर एक महत्व के प्राच्य विद्या संस्थान की स्थापना उन्होने की है, वह उनकी राष्ट्र को विशिष्ट देन है।

वे एक बौद्धिक आन्दोलन हैं—

कहने को तो जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अब एक सरकारी संस्थान है, किन्तु उसकी कल्पना करने और उस कल्पना को मूर्त रूप देने मे हमारे मुनिजी का कितना महान योगदान रहा है, उसके प्रति आभार-प्रकट करना भी सम्भव नही है, शब्दावलि मे उस योगदान को अभिव्यक्त नही किया जा सकता। इस सस्थान को सरकारी दृष्टि से भी अवलोकन कर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मनीषी ने सास्कृतिक दृष्टि से समृद्ध राजस्थान की विपुल सास्कृतिक और कलात्मक थाती की किस प्रकार रक्षा की है। उन्होने एकाकी होते हुए भी वह कार्य कर दिखाया है, जो अनेको के लिए भी सहज सम्भव नही है। यह कार्य भी इस कारण से सम्भव हुआ कि श्रीमुनि जिनविजयजी एक व्यक्ति नही, एक संस्थान है, एक विद्वान् मात्र नही, बल्कि एक बौद्धिक आन्दोलन हैं, एक साहित्यिक साधक नही, बल्कि देश की समग्र भावधारा के प्रतीक है। उनका समस्त जीवन इस बात की पुष्टि करता है कि मुनि जिनविजयजी का व्यक्तित्व देश की सामुदायिक और सामाजिक भावधारा को आगे बढाने मे क्रियाशील रहा है।

राष्ट्रीयता के पालने में पले थे—

श्रीमुनि जिनविजयजी का जन्म राजस्थान के एक ग्राम रूपाहेली मे हुआ था। वे जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु साधना और सेवा से जैनावलल्बी बन गये। वे पैदा तो राजस्थान मे हुए थे, किन्तु उनका कर्मक्षेत्र राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि क्षेत्रो की सीमाओ को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विस्तीर्ण हो गया। इसका कारण था कि मुनि जिनविजयजी मा भारती और सरस्वती की सेवा निरन्तर करते रहे। आज भी उनकी साधना का दीपक जाज्वल्यमान है। साधक का क्रम रुका नही है।

सरस्वती और राष्ट्रीयता के सेवक—

श्री मुनि जिनविजयजी जितने सफल सरस्वती की साधना मे हुए, उतने ही प्रबल पुजारी राष्ट्रीय देवता के रहे हैं। देश-भक्ति उन्हे स्वभाव और पैतृक दोनो स्त्रोतो से प्राप्त हुई है। भारतीय स्वाधीनता के

सग्राम मे श्री मुनि जी के पूर्वजो का विशिष्ठ योगदान रहा है। तत्कालीन विदेशी शासन के विरुद्ध आक्रमणात्मक आचरण के कारण सन् १८५७ मे इनके पूर्वजो की जमीन, जायजाद और जागीर आदि सरकार ने छीन ली थी। उनके अनेक सबन्धियो को अपने प्राणो का उत्सर्ग भी करना पडा था। अपने पूर्वजो की इसी राष्ट्र भक्ति की परम्परा मे पलने के कारण मुनिजी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य, आन्दोलन की ओर स्वभाव और सस्कारो से आकर्षित हुए। सन् १९१९ मे वे स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के और सन् १९२० में वे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के सम्पर्क मे आये। इसके परिणामस्वरूप श्री मुनि जिनविजयजी हमारे उस राष्ट्रीय आन्दोलन के अग बन गये, जो न केवल भारत की राजनीतिक आजादी के लिए चलाया गया था, बल्कि जिसने एक नई राष्ट्र धारा को भी जन्म दिया था। भारतीय जागरण के इस महायज्ञ मे श्री मुनि जी निरन्तर सक्रिय रहे। राजनीतिक आन्दोलन के मध्य रहते हुए भी श्री मुनि जिनविजयजी की साधना का केन्द्र मुख्य रूप से एक ही दिशा की ओर रहा। और यह दिशा थी, प्राच्य विद्या के कार्य को सगठित और विकसित करना।

बहुमुखी प्रतिभा—

श्री मुनिजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी है किन्तु प्राच्यविद्या के क्षेत्र मे उन्होने जो साधना की है, उससे उन्होने न केवल स्वय का प्रत्युत देश के नाम को गौरवान्वित किया है। इस क्षेत्र में श्री मुनिजी द्वारा की गयी सेवाओ के लिए जहाँ भारत सरकार ने उन्हे "पदम श्री" की उपाधि से अलकृत किया था, वहाँ दूसरी ओर जर्मनी की विश्व विख्यात "ओरीएन्टल सोसाइटी" का "ओनेरेरी सदस्य" बनने का भी सम्मान प्राप्त किया है, यह सम्मान प्राप्त करने वाले केवल श्री मुनि जी दूसरे भारतीय हैं।

श्री मुनिजी धर्मों और प्राच्य विद्याओ के ख्यातिनामा विद्वान् हैं। उनकी उपलब्धि के पीछे एक युगान्तकारी सेवा और साधना निहित है। उनका भाडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट से भी बडे निकट का सबध रहा है। सन् १९१९ मे वे उसके कार्यो से सम्बद्ध हुए थे और इसके पश्चात् सन् १९२० मे महात्माजी के आमन्त्रण पर उनका सम्बध अहमदाबाद के गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ से हुआ। वे "गुजरात पुरातत्व मन्दिर" के आचार्य बनाये गये। तब फिर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हे जर्मनी जाने का अवसर भी प्राप्त हुआ, जहा बर्लिन नगर मे उन्होने "हिन्दुस्तान हाउस" नामक कार्यालय की स्थापना की। इसी प्रकार से गुरु रवीन्द्र ठाकुर के विशेप आमन्त्रण पर श्री मुनिजी शान्ति निकेतन गये, जहाँ उन्होने प्राकृत एव जैन साहित्य के अध्ययन, शोध और प्रकाशन कार्य को चलाने के लिए एक जैन अध्ययन पीठ की स्थापना की। यही नही, कलकत्ते मे "सिघी जैन ग्र थमाला" और बम्बई मे भारतीय विद्याभवन की स्थापना और सचालन के कार्यो के सम्पादन मे भी श्री मुनिजी का अपना विशेष योगदान रहा है। चाहे तो कोई भाषा सम्मेलन हो और चाहे साहित्य अनुसधान का कार्य, श्री मुनिजी उसमे सदैव सक्रिय रहे हैं। इन सभी कार्यों की शृ खला मे राजस्थान मे मुनिजी ने जो बहुत बडा कार्य किया, वह है राजस्थान प्राच्य सस्थान की स्थापना का।

एक महान देन—

राजस्थान का पुरातत्व की दृष्टि से देश मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। समस्त देश मे जितने भी

प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान हैं, उनमे राजस्थान प्राच्य विद्या-सग्रहालय देखने योग्य हैं। इस सस्थान की स्थापना श्री मुनि जिनविजयजी के अथक और अकथ प्रयासो का ही परिणाम है। सन् १९५० मे इस सस्थान का आरम्भ श्री मुनिजी की प्रेरणा से हुआ था। तब इसका नाम "राजस्थान पुरातत्व मन्दिर" था। इस सस्थान की कल्पना को साकार रूप प्रदान करने के लिए श्री मुनिजी इसके प्रथम ऑनरेरी डाइरेक्टर बने। सस्थान की ओर से "राजस्थान पुरातन ग्रन्थ माला" नामक जो महत्वपूर्ण कार्य हाथ मे लिया गया उसका भी सुसचालन मुनि जी द्वारा किया गया। इसके परिणामस्वरूप उनकी देखरेख मे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, प्राचीन हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, आदि विभिन्न भाषाओ मे अनेक ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है। अब श्री मुनिजी सस्थान के निदेशक नही है। किन्तु उन्होने जो प्रकाशन क्रम आरम्भ किया था, वह आज भी प्रगति पर है। श्री मुनि जी ने जब इस प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान को आरम्भ किया था, तब इसके पास अपना कोई सग्रह नही था। किन्तु उन्होने राज्य भर से प्राच्य विद्या सबधी अत्यन्त दुर्लभ सामग्री का बहुत वृहद् भण्डार बना डाला जिसे देखने के लिए देश विदेश के विद्वान्, अनुसधानकर्ता और कला मर्मज्ञ जोधपुर आने लगे है। इस अलभ्य सग्रह और सस्थान के कार्यो की सभी विद्वानो ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। नि सदेह, श्री मुनि जिन विजय जी के द्वारा लगाया गया यह ज्ञान का वृक्ष आज राजस्थान की बौद्धिक वसु धरा पर राज्य का गौरव बढा रहा है।

किन्तु जोधपुर स्थित प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना कर ही श्री मुनि जिनविजयजी शान्त नही बैठ गये। साधक की साधना अब भी चल रही है। आज भी एक पतला-दुबला, लम्बे शरीर वाला वयोवृद्ध व्यक्तित्व एक महान साधक के रूप मे अब भी प्राच्य विद्या की सामग्री के अध्ययन-मनन करने के लिए पोथियो और पत्रिकाओ मे भारत की सास्कृतिक आत्मा को टटोलने मे लीन है। उसका यह क्रम युगो तक चलता रहा है और वर्षो तक जन-मानस पर इस महान साधक की तस्वीर, थिरकती रहेगी। ईश्वर उन्हे और अधिक आयु प्रदान करें ताकि उनके परिपक्व ज्ञान का लाभ आने वाली पीढियो को प्राप्त होता रहे....

— ०० —
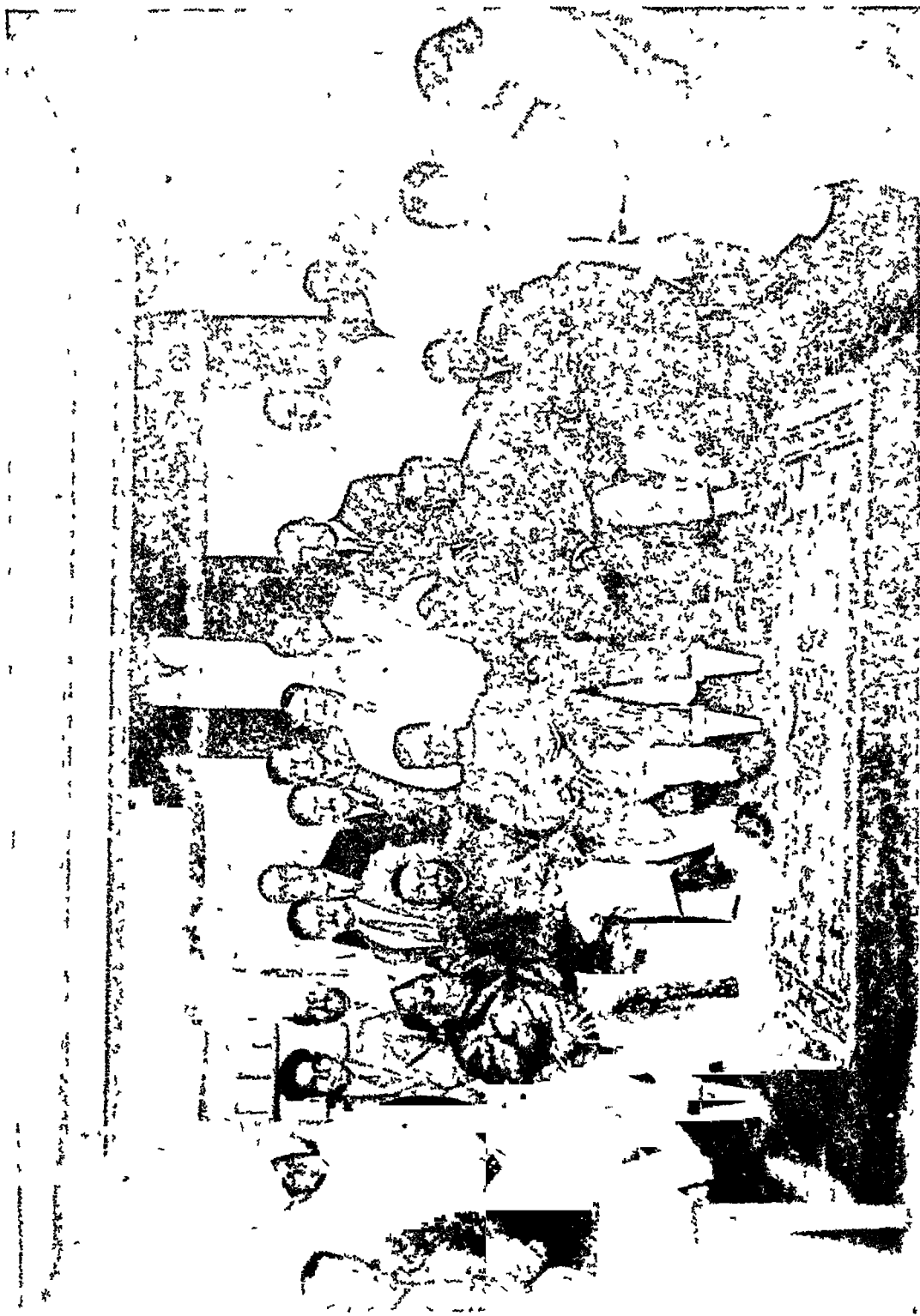
बर्लिन के हिन्दुस्तान हाउस में लिया गया दुर्लभ चित्र

बाईं ओर से बैठे हुए :—श्री शिवप्रसाद गुप्त, राजा महेन्द्रप्रताप, पं० गौरीशंकर मिश्र, प्रो० कर्वे, मुनि जिनविजय और श्री चुडगर ।
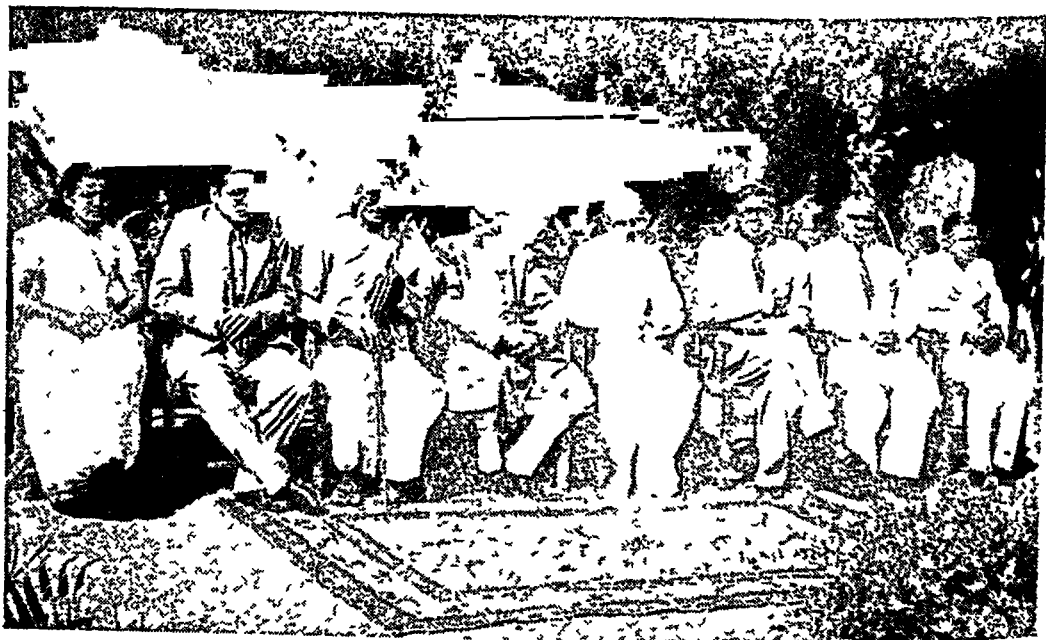
भारतीय विद्या भवन बम्बई मे मुनिजी मौलाना अबुलकलाम आजाद
और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के साथ

भारतीय विद्या भवन में श्री राजगोपालाचारी तथा मुनिजी

राजाजी का चित्रांकित प्रश्न—Who is me and who is Muniji ?

मुनि जिनविजय और सन्त विनोबा
(सन्त विनोबा को सर्वोदय साधना आश्रम समर्पित करते समय)

पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत होते समय

राष्ट्रपति श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् को राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थो का परिचय देते हुए
पास मे राजस्थान के मुख्य मत्री श्री मोहन लाल सुखाडिया

तृतीय खण्ड:
लेख संग्रह

Religious Back-ground of the Kuvalayamālā

The importance of the great Prākrit Campū, namely, the Kuvalayamālā of Uddyotanasūri (A. D. 779), caught the attention of Orientalists primarily through the researches of Muni Shri Jinavijayaji Further, as the General Editor of the famous Singhi Jaina Series, he made all arrangements, almost with personal interest, for its inclusion and publication in that Series It was critically edited by the present writer, and was published by the Bhāratīya Vidyā Bhawana, Bombay, in 1959, as No 45 of the above Series The Sanskrit Digest of the Prākrit Campū by Ratnaprabhasūri was also issued as a Supplement. The Introductions etc. are ready and on way to the press. I could work on this great Campū only through the encouraging help of Muniji. and I contribute this paper on the religious aspects of that work as an humble tribute to the scholarly achievements of Muni Shri Jinavijayaji.

Jainism is called Ethical Realism, and this brings out its salient traits to the fore. The theory of rebirth, the Karma theory which automatically operates, moral responsibility of the individual and allied doctrines were the characteristics of Śramanic culture; and they are all inherited in Jainism. The Jaina Karma doctrine is most uncompromising and undiluted . every one is responsible for, and can never escape without reaping the consequences of, his Karman . a sort of vibration operating through mind, speech and body as a result of which the soul incurs material Karmic bondage. Thus the Jaina teachers, therefore, have evolved philosophy of conduct and pattern of behaviour uninfluenced by any reliance on Supernatural intervention or guidance. First, the individual is made highly self-reliant, and the Teacher leaves no opportunity to put him on the right track of religion The erring soul is shown the correct path through religious instruction Secondly, the Kuvalayamālā is primarily a Dharmakathā, if it is called, and has become, Samkīrnakathā, it is because the author has incidentally added contexts and topics of Artha and Kāma ; and even these, in the long run, are conducive to the practice of Dharma In this pattern of narration, the various facets of Dharmakathā are as well included Thirdly, the very objective of the tale is to illustrate the effects of morbid temper, i e , of Krodha, Māna, Māyā, Lobha and Moha under the sway of which are acting the chief characters in this story. If they are to be brought on the right track, religious instruction is the most effective remedy. Lastly, moral instruction is the chief aim of the author, and the entire tale is narrated in such a manner that the erring man and woman should learn the pattern of good behaviour by seeing and hearing what is happening to the characters under various circumstances. The

Śramanic teacher is an adept in this art. The result is that the Kuvalayamālā has become a huge repository of religious discourses put in the mouth of religious Dignitaries, and the elements of story will not suffer much, even if these are excluded from the narration All such discourses may be put together here to see what a vast range of Jaina dogmatics is covered by Uddyotana. First the pages and lines are noted, and against them are enumerated the topics under broad heads

35 30 f The major types of Himsā and the reasons or pretexts with which they are committed

36 14 f Hells, the tortures etc therein

39 1 f · The sub-human births (according to the number of Indriyas) and the miseries etc, therein.

40 13 f Human birth, its causes, grades, miseries etc

42 29 f Gods, their anxieties etc

44 15 f A discourse on Krodha, Māna, Māyā, Lobha and Moha, and their fourfold gradation (Anantānubandhi etc) with illustrations

90 8 f An explanation of Abhavya, Kāla-bhavya and Bhavya

92 12 f A conventional description of (Saudharma-) Kālpa and (Padma-) Vimāna, the birth of a Jīva there, the local environments etc

95 12 f Some details of Pūjā, see also 132 27 f

95 24 f Five Paramesthins and the duties of laymen and monks.

96 28 f Details of the Samavasarana, See also 217 21 f

97 27 f A discourse on Jīva, its nature, its relation with Karman, its migration through various births and its liberation

142 21 f · A discussion about Dharma, its practice and its objective.

177 28 f A graphic glorification of Samyaktva.

185 22 f. A detailed picture of hellish, human and divine beings their acts and consequences

192 27 f Symbolically spiritual interpretation of various vocations etc

201 33 f A succinct exposition of the fundamentals of Dharma

209 18 f: Rarity of religious enlightenment in human birth, explained by Yuga-śamilā-drstānta

217 27 f Discourse on twofold Dharma

219 9 f · A discourse on five Mahāvratas and the attendant Bhāvanās

227 19 f · An exposition of twelve Anupreksās

230 5 f A Samyag-drsti and his traits

20 f Elaboration of the types of Karmas and their consequences

242 1 f. An exposition of Udaya, Ksaya, Ksayopaśama of the Jñānāvaranīya and other Karmas with reference to Dravya, Ksetra, Kāla, Bhāva and Bhava.

243 13 f A contrasted picture of the conditions in the Aparavideha and Bharata-ksetra.

245 6 f.: An exposition of the Leśyā doctrine, typically illustrated by the *lesyavrksa* how the same act can incur different quantity of sin according to the temperamental state.

253.18 f: Through the medium of a divine voice, a few religious discourses on the following topics are presented.

(i) One's benefit in the next world has to be ever remembered. (ii) Virati or detachment is necessary even in the midst of pleasures (iii) The practice of Dharma leads to Punya which brings pleasures ; so Dharma is important. (iv) Dharma alone, and not the lures of Indriyas, can save one from the pangs in hell. (v) One thirst quenched leads to another , and there is nothing like satisfaction in this Samsāra. (vi) One should get rid of the infatuation for pleasures recollecting the manifold tortures, ailments, humiliations and sufferings of the past. (vii) The pleasures of sense-organs are fatal in their consequences ; so one should be circumspect with restraint on mind, speech and body.

261. 8 f. , A discourse on the causes which lead to life in hell.

269 23 f. : A doctrinal exposition of the fourfold Ārādhanā, namely, Jñāna, Darśana, Carana and Vīrya.

271. 1 f . A discourse on Sāmāyika.

272. 7 f. : An exposition of what may be called in general Pratikramana

273.25 f : Explanation of the two types of Death, namely, Pandita-and Bāla-marana.

277. 7 f : Here is an elaborate salutation to Arhat, Siddha, Ācārya, Upādhyāya and Sarvasādhu, a good many details about whom are recorded.

279.26 f. : Details about a soul's ascent on the Ksapaka-srenī.

All this shows that the author has snatched every opportunity to introduce Jaina dogmatical details to make his tale worthy of the name of Dharmakathā. The structure of the narrative would remain in-tact, in most of the cases, even if these contexts are skipped over. There are, besides, casual references to Jaina ideas here and there. A Jaina monk, who has pulled out his hair on the head, wears white garments and has a bunch of feathers (*piccha*), is distinguished from Tāpasa and Tridandin and considered to be honoured in view of his ascetic emblem. He blesses dharmalabhā (185) , and some details about his entry into the order and equipments are available (194.19) The Pañcanamaskāra is a shelter and has great miraculous potency in adversity (137) ; and the karna-jāpa (uttering of the Pañca-namaskāra in the ear) given even to an animal leads it to a better future birth (11.32). The way in which one takes to asceticism and becomes a Pratyeka-buddha is interesting (141. 1-5, 142. 17 f.) The idea of Sādharmika Vātsalyatva (116. 23, 137 20) clearly indicates that Jaina religion was not a theoretical philosophy, but a way of living tending to community life. A Cārana-śramana is gifted with certain miraculous powers : he has no gaccha-

parigraha ; and he does not initiate others into the order. (80. 17 f.). The Jaina Tīrthakaras and saints are introduced here and there more than once The saints staying in the forest have an atmosphere of peace and amity around them; and their routine of living is also interesting (28 22, 34).

Besides the insertion of Jaina dogmatical details, there are contexts in the Kuvalayamālā in which the author either criticises the views of other creeds or casually refers to them whereby we get a good glimpse of the contemporary religious ideas

According to the Lokaśāstra, or Scriptures current among the people, a son is necessary for the parents to reach better worlds and to satisfy the ancestors; so, for securing an issue (13 5f), various cults were current . flesh from one's body, dripping with blood, was offered as oblation in from of Iśvara, one's head was offered to Kātyāyanī who was stepping on a buffallo felled with Triśūla, human flesh was sold on the burial ground, *guggula* resin was burnt on the head as an act of devotion, Bhūtas, gods Mātrs were appeased with blood: and prayers were offered to Indra These are all risky practices (§32) Advised by wise ministers, king Drdhavarman offers prayers, after due rituals (§34), to Rājalaksmī (addressed by various names 14 16) and urges her to grant him audience within three days, otherwise he would offer his head. This Rājalaksmī is the spouse of ancient kings like Bharata, Sagara, Mādhava, Nala, Nahuṣa, Māṃdhātr, Dilipa and others, and after a little joke with her, the king gets the promise of a son from the Kuladevatā Once prince Chandragupta passes through a fatal test and satisfies a Vetāla (§379) from whom he gets the required details about a robber who could not be spotted by the city guards The deities, the author tells us, are twofold, Sarāga and Virāgin (§395), and for worldly ends, the credulous people worship the latter of different names Govinda, Skandha, Rudra, Vyantara, Ganādhipa, Durgā, Yaksa, Rākṣasa, Bhūta, Piśāca, Kinnara, Kiṃpurusa, Gandharva, Mahoraga, Nāga, astral bodies, natural phenomena etc. Sailors in difficulty offer prayers and make propitiative promises to different deities (68 17f) A lady about to commit suicide appeals for grace to Lokapālas (53 6) Yaksa worship is referred to, and there were Yaksa statues with Janas on their heads.

There is a substantial section (§322) in which the author reviews various tenets and practices of different religious schools rather than religious systems as a whole, and those too as contradistinguished from the Jaina ones It is quite likely that these views are picked up and stated with the object of showing them to be contradictory and not acceptable to Jainism. Taking them seriatim, some of the systems reviewed are Buddhism, Tridandin, Sāmkhya, Upanisadic, Vedic sacrifice, Vānaprastha creed, gifts to Brāhmana, the alleged Advaita creed, extreme Bhakti cult, self-immolation or torture for divine propitiation. Digging of wells, etc , washing sins in the holy Ganges etc , Cāturvarnya-dharma, erecting earthen deity etc extravagant Dhyāna, Vainayika creed, Cārvāka view, gift of cows etc to Brāhmana, Karunā-dharma, killing of harmful beings,

the Pandarabhiksu's view, Fatalism, Īśvara as the guiding spirit, extreme Jñānamārga etc. As against these the Dharma consisting of Five vows is said to be acceptable

A servere attack is levelled against the Brahmanic prescription of Prāyaścitta which is backed by great saints like Manu, Vyāsa, Vālmīka, Mārkandeya, which has the sanction of Bhārata, Purāna and Gītā and which consists in giving one's all possessions to Brahmins, in wandering a begging, cleanly shaven and in bathing and offering oblations at holy places like Gāngā (–dvāra ?), Bhadreśvara, Vīrabhadra, Someśvara, Prabhāsa, Puskara etc (§§ 94, 107). As against this, the Śramanic prescription is different and consists of repentance, mental purification and penance in a proper perspective of religious virtues (49 14 f, 55. 24f., 90. 21f)

Some interesting sidelight is available on the temples and holy places (p 82), the ormer dedicated to Rudra, Jina,Buddha, Kottajjā (Durgā?) Sanmukha etc. and the latter, such as the sacrificial enclosures, Brahmanic schools, residences of Kāpālikas and lodges in which the Bhagavadgītā was recited In the evening, Brahmanic houses resounded with Gāyatri–japa. Elsewhere there is a nice glimpse of the Mathas or colleges for higher learning where students from different parts of India (150 20) flocked and were trained in handling weapons and in various fine arts, crafts and miracles (151.6f) There were held classes (Vakkhāna–mamdali) as well in advanced branches of learning such as grammar, Buddhism, Sāmkhya, Vaiśesika, Mīmāṃsā, Naiyāyika, Jainism and Lokāyata the characteristic topics of which are enumerated (§244). The description of the students is quite typical, and some of them mastered Vedic recitation (151.12f)

The author makes a distinction between 72 Kalās and 64 Vijñānas (15.11f). Among the miraculous loies Prajñapti and Mahāśabarī-vidyās are mentioned (236.22, 132.2, 133.5). The prince Kuvalayacandra knows Dhātuvāda or alchemy, turning baser metal into gold, and he comes across a group of people who are attempting that experiment, but without success Their activities are described and we get at good sketch of what is done in this process (§311f). The text Jonipāhuda is said to be the source of this Vidyā (196. 32,197 6 & 19). The Lakśanasāstra is elaborated more than once (116 9f. 129 3f), a branch of it is called Samudra (129 3). There is mentioned a lore of detecting treasure-trove (Khanyavāda) from the plant above, some characteristics of the latter are described as if some source is being quoted (187; 104.23f.). There is a prince highly skilled in the art of painting, and he has painted an elaborate scroll of the Saṃsaracakra. (185.18f.). There are repeated references to belief in astrology, and an astrologer is consulted on various occasions (§47, 273). There is a good discourse on Rāsi-phala (§§ 48–9), giving the traits and longivity of a child born on a particular Rāsi, on the authority of Vamgāla-risi : may be that the name of his treatise was Vaṃgāla-jāyaga (20.2,3,24). The prince explains why one should not eat food or drink water or even bathe immediately after one is over exerted and is hungry and thirsty;

and he refers to Āusattha in this context, (114 23f.). The author has his own ideas about the digestive process inside (228.11f.); and in one context, he describes graphically the predelivery signs (76.1f) Horse-riding was quite necessary for princes Possibly using some manual on Aśvaśāstra, the author enumerates eighteen breeds of horses (23.20--1), and he gives details about some of them with reference to their Varna and Lāñchana (§56). Here and there we have dreams and their symbolic interpretations (41, 269 7f) The Nimitta--jñāna, which is a branch of Śrutajñān, is potent enough to indicate Śubha and Aśubha of the past, present and future; and it is illustrated in details (§412). Besides the reference to Bhūrjapatra which was used for writing (the script being Avara-livi) a love-letter (160 13f.) there is a graphic and detailed description (a bit dignified) of a palm-leaf MS. written in Brāhmi-lipi (201 28f).

What were the contents of the Dṛṣṭivāda?

Jaina tradition is unanimous as to the complete and irretrievable loss of the twelfth Anga, the Dṛṣṭivada, at an early date-yet it is able to furnish surprisingly exact and detailed particulars about its divisions, subdivisions, and contents A good deal of these statements are obviously fictitious · nobody is likely to believe that e. g. the Nānap-pavāya-puvva consisted of 9999999, or the Saccappavāya-puvva of 10000006 (or 10000060) words [1] But even apart from such monstrosities, it is quite generally speaking the very exactness and detailedness of the statements concerning an avowedly long lost text that renders those statements suspicious; as A. Weber aptly put it as early as in 1883[2], "one can indeed give very rich details if one consults only one's imagination" Actually Western scholars have come to regard the tradition about the contents of the Drstivāda as spurious in that sense that, though the (partly unintelligible) titles of some sections and sub-sections may be genuine, the lost Anga did not contain what is ascribed to it by the canonical table of contents and by the claims of a great number of most diverse texts and subjects to be derived from or based on the Dṛṣṭivada, in the words of Schubring [3] : 'The 12th Anga, under the title of a 'discourse on (heterodox) views'. . . . . , was an instruction to apology and quite naturally fitted closely in the doctrine laid down in Angas 1-11 In the course of time it was lost Jacobi (SBE 22, XLV) explains this fact by saying that later generations thought the discourses of their early predecessors not to be important any longer. It is more likely that their preservation appeared to be undesirable since the study of such disputes was apt to arouse heretical thoughts and activities."

The traditional claims to descent from the Dṛṣṭivada include those of the (post canonical) Svetāmbar Karmagranthas and of their Digambar counterparts, the famous "Siddhānta" texts of Mudbidri, the Sakthandāgama and the Kaṣāyaprabhita When

1) No less fantastic, completely unreal figures are given in Samavāyanga and Nandī for the existing Angas 1-11.
2) Indische Studien vol. 16, p 358
3) The Doctrine of the Jainas, p 75.

these texts were at last made accessible through the indefatigable endeavours of Hiralal Jain, they were hailed by him on the title-page of his first edition as "throwing light for the first time upon the only surviving pieces of the lost Drṣtivāda, the 12th Anga of the Jain canon." His opinion is shared by another leading Jain scholar of India, A N Upadhye In a paper read at the XXVI International Congress of Orientalists in Delhi and entitled "The problem of the Purvas : their relics traced", he accepts the claim of the Mudbidri texts to be based on portions of the 2nd and 5th Purvas and ascribed the loss of these Purvas to the intricacy of their subjects . "The details contained in these works are highly elaborate and difficult and deal with the intricacies of the Karma doctrine . Even from these relics, of which only one or two (allied) Mss are preserved only in one locality, it can be justly surmised that such Purva texts were not studied on a very large scale, because they dealt with dry details of the Karma doctrine which were not of general interest and the study of which was even denied to many In course of time the number of monks studying such texts gradually dwindled down, and when the Sangha pooled together the entire canonical literature, this minority of monks perhaps did not cooperate in this work with the result that even these relics of Purvas remained in isolation and were studied in a very small circle "

I must confess that I am not convinced by these arguments The very intricacy of the Mudbidri texts speaks against, not for their high antiquity. In contents and style, they are typical products of later scholasticism far removed from the much simpler language and spirit of old canonical texts [1] Further, though these Digambar Karman texts actually ceased to be studied in modern times and were kept secret, the same is by no means true of their counter-parts and very close relations, the Śvetāmbar Karma granthas (which have actually a number of stanzas in common with them), they were always known and accessible and never ceased to be read and studied though they are certainly no less intricate and technical than the Mudbidri texts. The intricacy and technicality of these late scholastic works can have nothing to do with the early loss of the ancient Drstivāda

That any real knowledge of the contents of the 12th Anga had vanished at a relatively early time is shown with particular clearness by a hitherto unnoticed passage of the Āvasyaka Cūrni, that extremely rich but as yet hardly tapped source of early medieval Jain scholarship It seems interesting enough to be quoted in full and is offered here as a modest contribution to the Drṣtivāda problem. On p. 35 of the printed edition[2] we read

1) For the contrast in style and spirit between old canonical and later scholastic texts of my 'Āryā stanzas of the Uttarajjhāy" (Academy of Mainz, 1966), p 179 f, 184 ff

2) Published by the sri Ṛsabhdevji Keśrimalji Śvetāmbar Samsthā Ratlām, Indore 1928.

iyānim angapavittham bāhiramm co donn. vi bhannanti angapavttham Āyāro jāva Ditthivāo, anangapavittham Avassagam tav-vairittam ca. Ā vasagam Sāmāiya-m-ādi Paccakkhāna-pajjavasānam, vairittam kāliyam ukkaliyām ca. tattha ukkāliyam anegaviham, tam jahā : Dasa-veyāliyamm Kappiyākappiyam evem-ādi. kaliyam pi anegaviham tam jahā : Uttarajjhaynani evam-ādi,

ettha siso āha jahā : Ditthivāe savvam ceva vaomayam[1] atthi, tao tassa ceva egassa psruvanam jujjai." āyario āha : ' jai vi evam, tahàvi dummeha-appàuya-itthiyà-dini ya kāranāi pappa sesassa parāvanā kirai" tti tattha bahave dummedhā asattā Ditthivāyam ahijjium, appāuyana ya āuyam ne pahuppai; itthiyāo puna pāena tucchāo gārava-bahulāo cal 'indiyāo dubbala-dhilo. ao eyāsimje aises' ajjhayanā Arunovavāya-Nisiha-m-āino Ditthivāo ya te na dijjanti[1] tattha "tucchā nāma puvvāvarao vakkhāne asamattā, 'gārava-bahulā' nāma gavvamantio tti, cal'indiyāo nāma indiya-vaisaya-niggahe Bhūyāvādam pappa asamatthāo, "dubbala-dhilo" nāma calacittāo iti mā tam suyanāna laddhim uvajivissanti, tao tesim aises' ajjhaynaāni vārijjanti tti

"Now will be taught Angapravista and (Anga) bahira. Angapravista is(the Angas from) Ācāra to Drstivada, non-Angapravista is Āvaśyaka and non-Āvaśyaka. The Āvaśyaka begins with the Sāmāyika and ends with the Prātyākhyāna, non-Āvaśyaka is kālika (to be studied during regular study hours) and utkalika (to be studied outside regular study hours) Of these utkālika is a plurality (of texts) viz Dasavaikālika, Kalpikākalpika and so on, kālika, too, is a plurality (of texts), viz. Uttaradhyāyana etc

Here the disciple raises the following objection : 'The Drtsivāde contains the totality of speech (i e. all that has ever been, or can ever be, expressed in words), therefore it would have been appropriate (for the Jina)to teach that alone[2] The Ācārya answers 'That is quite right, yet the rest (of the sacred texts, the srutajnāna) is taught for the sake of the dull-headed, the short-lived, the women, etc. In this (enumeration), there are many dull-headed people who are unable to study the Drstivada; of the short-lived, the life time would not suffice, and women are as a rule empty, given to haughtiness, sensual and inconstant, therefore the Pre-eminent Texts[1]) such as Arunovavāya, Nisiha etc. and Drstivāda are withheld from them Here 'empty' means· unable to interpret coherently; 'given to haughtiness' means : arrogant; 'sensual' means; unable to restrain sensual passions in connection with the Bhutavāda[3] ; 'inconstant means : fickle-minded, therefore they shall not

(1) Edition wrong vaogatam (being the "takara", ga misread for ma), cf below the quotation from Visesavsasyakabhsaya

(2) Cf, Hemacandra's rendering as atisayanty adhyayanani in his commentry on Visesavasya-kabnasya 552 quoted below.

(3) Bhuvavaya is one of ten names of the Ditthivaya enumerated, Thananga sutra 742, Abhaya-deva explains very briefly bhutah, sadbhutah, padarthas, tesam vado Bhutava dah If this explanation is correct, the title Bhutavada stresses the refutation of the heretical drstis exclusively named in the ordinary title Drstivada Cf. also the two longer explanation of Hemachandra ad Visesavasyakabhasya 551 quoted below.

profit from obtaining that (part of) śrutajñana, For this reason the Pre-eminent Texts are forbidden to them "

The above passage is versified by Jinabhadra in the two stanzas Viśesavasyaka bhāsya 551 f and expatiated upon by Maladhari Hemacandra as follows .

.. . Pūrvāny abhidhīyante tesu ca nihśesam api vāṇmayam avatarati, ātaś caturdaśa-pūrvatmakam dvādaśām evangam astu, kim śesanga-viracanena angabāhya-sruta-racanena vā ? ity áśankyaha :

jai - vi ya Bhūyāvâe savvassa vaomayassa oyāro
nijjūhaṇà, tahavi hu dummehe pappa itthì ya 551

aśesa-viśesanvitasya samagra-vastu-stomasya bhūtasya, sadbhūtasya, vādo, bhananaṃ, yatrasau Bhūtavādah, athavā anugata vyāvṛttapriśesa-dharma-Kalāpanvitānāṃ sabheda-prabhedānāṃ bhūtānāṃ prāṇināṃ vādo yatrasau Bhūtāvado, Drstivadāh, dîrghatvam ca tākarasyarsātvāt tatra yady api Drstivāde sarvasyapi vānmayasyavatāro 'sti, tathapi durmedhasāṃ, tad-avādharañady-ayogyānām mandamatìnāṃ, tathā śravakadināṃ striñam canugrahartham niryūhañā, viracana śesa śrutasyeti-

nanu striñaṃ Dṛstivādah kim iti na diyate ? ity āha :
tucchā gārava-bahulā cal indiyā dubbalā dhiiè ya
iya aises' ajjhayañā Bhūyāvdo ya no 'tthìñaṃ 552

yadi hi Dristivadāh striyāh katham api dìyeta, tadā tucchadi-svabhāvatayā 'aho aham, yā Drstivadàm api pathàmi !' ity evam garvadhmāta-màṇasasau purusaparidhava disv api pravritim vidhàya durgatim abhigachet ato nìravadhi-krpa-niranìradhibhih paranugraha-pravrttair bhagvadbhis tìrthakrair Utthàna-Samutthà nà srutadiny atisayavanty adhyayanani Drstivadas ca strinam nanu-janatah anugrahartham punas tàsàm api kincic chrutam deyam ity ekàdasangadi-viracanam saphalam

The passages quoted here might at first sight suggest that at the time of their composition the Drstivada still was a regular object of study for able-minded males, a more attentive reading will soon make it clear that on the contrary they merely testify to a firmly established if somewhat naive belief that "the Drstivada contains everything" a belief obviously betraying complete ignorance of the real contents of the long-lost text and, on the other hand, conveniently permitting to derive from "the Drstivada" or "the Purvas" any text or subject which it was desired to invest with canonical dignity I know of no other paasage where the universality of contents of the Drstivada is claimed so openly and so bluntly, And this bluntness and naivety is no doubt the reason why, significantly, the great Haribhadra in his Āvasyaka Tìkà omits our passage altogether as in many other cases, he eliminates what he feels to be obsolete or what does not come up to his more exacting standard of refined scholarship, he may also have been reluctant to reproduce the somewhat scathing remarks about women, For the modern scholar, just what led him to reject the passage is apt to enhance its interest

Religious Conditions in S. E. Rajasthan from Early Inscriptions (C. 400 B. C. to 300 A.D.)

The real religion of man originated out of two needs A desire to live a moral, ethical and a disciplined life The second was fear Fear and admiration of the violent or peaceful forces of nature . its destructive or the preserving factors A desire to ally himself with some supernatural power which caused all the unexplained phenomena and would overcome his enemies. Science had not come to his aid to explain the causes of day and night, eclipses and storms. No *philosophy* had informed the primitive man that therewas no interrelation between female fertility and that of the earth. They wanted a tangible form for the intangible, a form for the formless Therefore, there has always been a feature in archaeological discipline to trace the evolution of society, religious beliefs and customs from the evidence of material culture left by early man As far as man's primitive beliefs have survivedwith tangible trace, they are amenable to archaeological studies, Most helpful in this respect are the graphic arts

Religion is an important trait of human culture, irrespective of caste, race and region and hence the need of study Our knowledge about the different aspects of religion of S. E. Rajasthan from the very dawn of history is indeed very vague and scanty, Only few pioneers have taken active interest in the reconstruction of the social, economic and religious lives of ancient Mewar, since time immemorial But their object was to interpret the data on an all India basis ; and not the light they throw on the religious life of Rajasthàn But, epigraphy, one of the sources of Indology furnishes interesting data. The earliest of these is the Ghosundi Inscription Ghosundi is a village, 4 miles from Nagarì which itself is 10 miles from Chittorgarh, the head quarters of the district of the same name Nàgari, it would be recalled was ancient Màdhyamika, mentioned by Patanjali It records the erection of a stone railing (Pujà-Sila pràkàra) in the enclosed compound (Vāta) or Nàrayana, dedicated to gods Samkarshana and Vāsudeva In the Nànaghat inscription, the twin gods are ascribed to the lunar family. K. P. Jayaswal,[1] therefore, thought that they were deified heroes, whom the *Jàtakas*, *Puranas* and *Panini knew* as historical personages and as belonging to the Vrishni clan.

---

1. *Ep. Indica, Vol. XVI(pp 26-27)*

The next inscription, which on palaeographic grounds is ascribed to C, 4th Century A D,, by D R. Bhandarkar, records the performance of sacrifice called Vàjapeya [2] Since Bhandarakar, wrote his *memoir* on Nàgarì, as a subaltern of the Archaeological Survey, the secretive bosom of Rajasthan has yielded many other records of the instances of *Srauta* sacrifices.

YUPAS

The eareiest record is the Nandsà yupa dated in (Krita) Màlava-Vikrma year 282 (C. 225-26 A. D). Nandsa is now 36 miles to the east of Bhilwàrà and 4 miles to the south of Gangàpur railway station, in the Western railway, next to Sàwai Madhopur. The pillar containing the inscriptions, because there are actually two, is approximately 12' in height and 5½' in circumference and is located within a tank. It was set up by (Śrì) Soma, leader of the Sogi clan, son of Jayasoma and grandson of Prabbhàgra (?) Varddhana, born in Malava Stock, as famous as the royal race of the Ikshvàkus.[3] Next comes the first Barnala *yupa* inscription, dedicated in (Krita) *Malava -Vikrama* year 284 (C 227-228 A.D.). That is, two years later than that of Nandsà. Barnàlà is in Jaipur district, a part of ancient *Matsya* country. The name of the person who put up the pillar and performed the sàcrifice is lost, But he has the epithet Rajno and his surname ends with *Varddhana* His father was also a king. It recors the erection of seven *yūpas*, indicating that seven sacrifices were performed. The late Dr. A. S Altekar was inclined to take them as Saptà-*some-samsth*à mentioned in *Katyàyana Srauta Sutra* (X, 9. 27). But Dr. B Ch. Chhabra differs from this view.[4] It is 21' 5 " in height

Bàdvà is a small village, 5 miles S. W. of Antah railway station on the Kotà-Bìnà section of the Western Railway, in the present Kotà district In 1936, only three of these yupas were found. The characters belong to C. 3rd Century A. D., not much different, naturally, from those of the Nandsà record. Each record commemorates the performance of Tri-ràtra sacrifice; description of which is to be found in the Taittiriya Saṃhità (VII.15) and *Purva-mimà*ṁsà[5]. The performers of the sacrifices were three brothers named Balavardhana, Somadeva and Balasimha, sons of Maukhari *Mahàsenàpati* Bala[6] They are dated in 295th year of (Krita) Malava-Vikrama era (ç. 238-39 A D), Another *yupa* was found by Dr Màthuràlàl Sharma in another part of the same village, later on[7] It is undated but palaeographically belongs to 3rd Century A.D. Its

2 *Memoirs of Archaeological Survey of India*, No 4, p. 120, G S. Gai Madhayamika in *Journal of Oriental Institute*, Baroda Vol. X p 180

3 *Indi, Ant* , Vol LVIII, p 53, *EI*, Vol XXVII, pp. 252. ff

4 *EI*. Vol XXVI, p 120 ff They are now in Sarasvati Bhandara and museum at Garh Palace, Tipta Kota city.

5 I am indebted for this information to Mm P V. Kane thorough L. G Parab

6 *EI* Vol XXIII, p 46

7. *Ibid*, Vol. XXVI p, 118 ff.

purpose was to record the erection of *yûpa* for *Aptoryàma* sacrifice, performed by Dhanatràta, son of Hastin-the Maukhari. It is a variety of one day *soma* sacrifice, but occupied like the *Atiràtrà*, a whole day, extending through next day. It is one of the *sapta-soma-samsthà*.

The second Barnalà *yúpa* was dedicated on the 15th day of bright fortnight of Jyeshtha of 325 V. S. (=298-99 A. D.), in connection with the performance of Gàrgàtriràtra sacrifice, performed by Bhatta in Trita forest. 90 Cows, accompanied by their calves were given as *dakhshinà*. Sacrificial *yúpàs* have also been found in the peripheral regions of Ràjasthàn and even in Antervedì and Vatsa countries. There is an ancient fort called Bijayagarh in the neighbourhood of Bàyàna. in Bharatpur district. There is a red sandstone pillar standing near the south wall of the fortress. It is inscribed and records that in the (Krita *Mālava Vikrama* year 428 (=371-372 A.D.) expired, Vārlika Rājā Vishnuvardahaṇa, son of Yasovarddhanā, grandson of Vyāghrāràtas erected the *yûpa* in commemoration of *Pundarika* sacrifice in *Purvami-mamsa Sutra* (Chap. X *Pada 6, Sutras 62* etc.) The next two *yúpas*, were found at Isapur in the bed of river *Yamuna*, each of them measures 19' 19". They were dedicated in the 24th regnal year of Emperor Vasheshka. Allahbad Museum has a *yúpa* collected from the neighbourhood of Kosām, commemorating the performance of *sapta-soma-samsthā*, by one Sivadatta.

An evaluation of the various find spots enable us to appreciate, that it was a very close knit area, in which those sacrifices were being performed, at an age, when northern India had suffered repeatedly from alien invasions. Bijayagarh, in Bharatpur district, is about 5 miles south east of Isapur, in Mathura district, Bādvā is 146 miles south-south-east of Bijayagarh, in Kota district. Nāgarī, in Chittorgarh district, is 90 miles east of Bādvā. Nandsā, in Sawai Madhopur district, is 40 miles north-east of Nāgarì, ancient Madhyamikā.

Yûpà is a sacrificial post, a principal element in any sacrifice. They were invariably made of wood. The following classes of trees were permitted to be utilised *Palàsa, Khadira, Bilva, Rauhitakì*. Only in some sacrifices *yúpa* must be of *Khadira* wood. The trees to be cut must not be half dried but full of foliage, must be straight and growing on a level spot, branches turned upwards and if bent. not in the southern direction. They must be cut in such a way that they did not fall on the south side. The *yupa* could be of any length from one *àratni* to 33 *àratnis*. The portion which remained embedded and was not chiselled was called *upara* It would be recalled that portions of Mauryan pillars, which remained underground were also

8. *Corpus Incriptionum Indicarum*, Vol. III, p. 252.

9. *AR., ASI*, 1910-11, pp. 40ff. plate XXIII.

left undressed or roughly dressed The upper portion was octagonal, with the remaining portion of the tree, after the *yūpa* was made, a top piece was carved with a mortice hole to fill as a finial, and was known as *chàshalà* The tenon of the *yūpa* on which *chàshalà* was fixed, was expected to protrude 2 or 3 *angulas* beyond the *chàshalà*.

After the *yupa* was made along with the finial, a hole was dug east of the *āhayaniya*, proportionate to the unchiselled portion of the *yūpa* and excavated earth was thrown to the east. The ritual of setting up the *yūpas* is elaborately described in the *Srauta Sutras* [10] The final noteworthy feature is a girdle which was hung around it called *aṅga* It is clear, therefore, that sacrificial posts were made of wood only. Paradoxically, all the existing specimens are lithic. What is the explanation of this contradiction in theory and practice ? My personal opinion is that they were commemorative and were erected after the sacrifices were over. *Yūpas* being wooden they were perishable. But the persons who performed them possibly wanted to leave tangible evidences of their piety for posterity, and set up stone *yupas*, after the rituals were over. It is a pity, that none of the sites have been excavated, otherwise, like Jagatgràm, they might have yielded valuable data

Were these sacrifices Vedic, *Grihya* or *Srauta* sacrifices ? The available evidence goes to show that they were *srauta* sacrifices ·Keith was of opinion that the conception of a *Yajna* goes back to Indo-European antiquity But the *Srutis* contain very detailed and vivid accounts of these sacrifices In fact they were the mannuals on which the officiating priests depended. Therefore, any sacrifice that was performed according to them was a *sraut* sacrifice It is a common error to suppose, that no sacrifices were held in historical times except Asvamedha A Pallava grant, refers to the performance of Agnishtoma, [12] Vajapeya and Ràjasuya This is as it should be, since, it was enjoined that those who performed Vàjapeya should also perform Rajasuya. In the Chammak Plates of Pravarasena II, the Vakataka emperor is credited with having performed many sacrifices [13] The srauta sacrifices are generally divisible in two classes (1) *havirjanas* and (2) seven *somasamsthas Pasubandha* or *Nirudha-pasubandhas*, that is animal sacrifices were also practised The *sapta soma samasthas* are *Agnishtoma, Ukthya, Shodasin, Vajapeya, Atiratra* and *Aptyoryama* [14] The *yupa records of* Ràjàsthàn mention some of these The first of these is *Vàjapeya* mentioned in the second inscription found by D R Bhandarkar at Nagari [15] For this particular sacrifice one may refer to *Taittiriya Bràhmana* (1 342) and *Sànkhajana Srauta Sutra*, (XV I 4-6) It is a form of *Yotishtoma* According to Keith, it preserves

10 A B Keith—*Religion and Philosophy of the Veds and Upanishads* Vols I & II , P V. Kank-*History of the Dharmasastra* Vol, II pt II.

11 *Ibid*, Vol I pp 257 ff , Vol. II. pp 625 ff

12 *E I* Vol I pp 2 and 5

13 *CII* Vol III p 236

14 For details of P V Canc—*History of the Dharma Sastra*., Vol II Pt. II 1941.

15 *MASI*, No 4, p 120.

many traces of very popular origin, possibly an autumnal festival The numeral 17 is very significant. There are 17 *stotras*, 17 *Sastras*, 17 animal sacrifices for Prajapati, 17 objects were distributed, there were 17 *yupas* of 17 *aratnis* in height At the time of enveloping the *yupa* with a girdle 17 pieces of cloth were employed (Apastambha XVIII 1-12) It lasted for 17 days and has 17 dikshas There were 17 horses which were yoked to chariots and ran, 17 drums placed on the northern *sroni* were beaten. 17 cups of *Sura* and 17 cups of *soma*. It was performed by those who were desirous of temporal power (*adhipatya*) or prosperity or *Svarajya* Only bramhins and *kshattriyas* could perform it and not a *Vaisya* Besides the three animals for Agni and Indra (Rams), a barren cow for Maruts, an ewe for Sarasvati, 17 hornless young goats of one colour for Prajapati, were offered in this sacrifice. Asvalayana (IX 9. 19) says, that after performing Vajapeya, a king should perform Rajasuya and a bramhin should perform *Brihaspatisya*.

In a previous para, we had occassion to refer to the differences of opinion between late Dr A S. Altekar and Dr. B. Dh. Chhabra over the interpretation of the word *sattako* in the first *yupa* pillar found at Barnala, dated 384 V.S. (=227-28 A D.)[16] Dr. Altekar wanted to read the word as saptakam qualifying *yupa* and thus inferring the performance of seven soma sacrifices Dr Chhabbra wanted to read *sattrako* correcting the reading as *yapa sattrikah*, meaning the pillar connected with the sacrifice. Since the language of these epigraphs is not always pure classical Sanskrit, I am in agreement with Dr Chhabra in thinking that sattako stands for *sattrako*. In *Jaiminiya* (X 6., 6-61) word *sattrako* has been explained along with *ahina* (i. e. sacrifices which last for more than 17 days). The *sattras* differ from other forms *soma* sacrifices During *sattra* the presiding priests can not take part in any other rite. The ideal *sattra* was *dvadasaha*, which is both *ahinra* and *sattra*.[17] The word also occurs in the Isapur *yupa* Inscription now in the Mathura Museum.

Isapur *yupas* commemotate a *dvadasaha* sacrifice.[18] All rites of more than 12 days are *sattras*, while *ahina* sacrifices are those which last from 2 to 12 days and which always ended with *atiratra*. Generally they commenced on a *Purnima* day. There are groups of rites amongst them eg. *Garg-Triratra*, which lasted for three days; there are others which lasted for four or five days or more, like *pancha-ratras Saradiya*, *Shadahas* etc, *Dvadasaha* itself has sub-varieties; such as Bharata-dvadasaha. According to Mm. P. V. Kane, the differences between ahina and sattra types of *dvadasaha* are that (1) the latter can only be performed by *bramhanas:* while an *ahina* can be performed by any one of the first three varnas (2) A *sattra* may extend over a long period, but an *ahina* could not, (3) In an *ahina* only the last day is *atiratra*, but in a *sattra* both the first and last days are atiratra.

16. *EP. Ind*, Vol. XXVI, p 120 fn 10.
17. A. B. Keith *op cit.*, pp. 349 ff., P. V Kane—*Hist. of Dharmasastras* vol. II Pt. II. pp. 1213 ff.
18. *AR., Asi*, 1910-11, p. 11 ff.

Dhanufrafa, son of Hasti, belonging to the Maukhari tribe set up the fourth *yupa* at Badva for *Aptroyama* sacrifice.[19] According to Kane this rite is similar to *Atiratta*, of which it appears to have been an amplification.[20] It was performed for long life to cattle and for selecting cattle of good breed. Kosam (Now Allahabad Museum) *yupa* was made to commemorate the performance of the *sapta soma-samstha* The details of *Pundarika* sacrifices, one of the *ahina* sacrifices, to commemorate which, Bijayagarh *yupa*, in Bharatpur district was erected, required more than one day, but less than 12 days, are to be found in *Purva-mimamsa*, The amount of *dakshina* was 10,000 cows or 100 horses (*Purva-mimamsa*) (Chap. X Pada 6. sutras 62 etc.) [21]

The *yupa* inscriptions, commemorative in character, supply us with invaluable data about religious practices in S. E. Rajasthan or old Mewar. That is srauta sacrifices were actually performed when the whole of northern India had been over-run by Greeks, Sakas, *Pahlavas* and Turki-Kusnanas. Indeed, many of them were either Buddhists or patrons of Bramhinical faith like Saka Usahavadate or Mahokshatrapa Rudradaman or Menander the Greek Nevertheless, the cultured and the more responsible elements felt, that society and spiritual life was deteriorating, It is mentioned in the Puranas The later Indian religion which the western scholars have designated Bramhinism was broad based upon Vedic thought and speculations; but, possibly underwent gradual changes, not due to lack of any immutable factors, but due to geographical, historical and evolutionary laws Vedic thought was a system by which a nomadic people, with an admittedly rural culture sought to obtain not the goods of the material world, but salvation of the soul. A numerically inferior people, seeking patronage of superantural powers by efficacy of words, increase in progeny, protection against natural cataclysms, decease and a powerful enemy. The mythology inherited from a Pre-Indian past was an accummulation dealing with cosmic forces.

In India, these ideas apart from gradual changes that natural laws brought about, came into contact with, ideas and ideal, philosophies and beliefs, political and social organizations, which they tried to avoid but incourse of time many aspects of which they assimilated, absorbed and adopted The new spirit made meditation [22] more efficacious than the rite itself The logical result was, that divorced from it's background, but claiming its sanction, it became a veritable mannual of dogmas, cults, rituals and magic. By 5th Century A D., this transformation had taken place. The *Bramhanas* (the manual for sacrifices) *Aranyakas* (or Forest books-for hermits living in the forests) leading to the philosophy of the *Upanishads* were compiled. They were followed

19. *EI*, vol XXIU p, 253.
20. *Kane-op cit*, p. 206,
21 I am indebted for this reference to Mr. P V Kane through L G Perb,
22 Origins of Jaina Practice—*Journal of Oriental Institutes, Baroda* Vol. I , No 4

by *Vedangas*, *Srutis* etc , containing rules for sacrifices and *Grihya sutra* governing the sacraments had also received final redaction. With these two, we are concerned in this paper. The *Dharmas Sastras* were the corpus of conduct, morals, religious and social manners. A syneretic type was developed by incorporation of alien dogmas, cults and philosophies The best proof of this syncreticism are the great encyclopidae the *Mahabharata* and the new message of the *Upanishads*. The contradiction to the theory that sacrifice became less and less important in the *Upanishads* is furnished by the *yupa* inscriptions of Rājasthān. The asceticism of *Yoga* known to *Patanjali* and his predecessorsand traces of which are found on Harappa and Mohenjodaro seals and sealings, claimed that the knowledge of the absolute could be obtained by following its discipline, and it was this dogma that created ultimately the gods. Siva, Bramhā and Vishṇu, and finally the ten *avataras* of the latter and and triune aspects: *sattva*, *tamas* and *rajas* of the first named, in the conception of Mahesamurti.

The Ghosundi stone inscription with its revised reading[23] the text of the Hathivada inscription (being three inscriptions but copies of one and the same text) testify to a different type of religious practices in ancient Rājasthān Ghosundi text now informs us that it commemorates the erection of a *puja-sila-prakara* for the (temple of) Samkarshana-Vasadeva at Narayanavata (in Madhyamika) by King Sarvatrata, a performer of Asvamedha who belonged to Gajayāna *gotra*, and a son of Parāśara According to the *Matsya Purana* the Gajāyana *gotra* belonged to the Kānva *sakha* The cult of Vasudeva-Samkarshana is of great antiquity, not merely that, but heralds the dawn of later Vaishnavism. It is called *Bhagavatism* Many scholars feel rightly or wrongly, that Bhāgavata cult was then natural reaction of Vedic practices But the evidence of yūpa inscriptions are not in favour of this hypothesis, Secondly, the Ghosundi inscription clearly shows that in C. 3rd Century B.C.,[24] Vāsudevaism had not then merged with Bhāgavatism or to be more correct Samkarshana worship, under the influence of *vyuha* doctrine. Panini, who lived about C. 5th Century B C., states that along with *bhakti* (IV 3. 95), the affix *vun* is used in the sense of "this is the object of *bhakti*" after the words Vāsudeva and Arjuna (XIX. 3. 98). Therefore, cults of Vāsudeva and Arjuna originated somewhere before C. 5th Century B. C., whose deeds were to be celebrated in the *Mahabharata*.

Dr. H. C. Ray Chandhury, concluded that in Ç 4th Century B. C., Mathurā was a stronghold of Vāsudeva worship. The conclusion is based upon the evidence of Megasthenes[25] But the Ghosundi and Besnagar pillar inscriptions prove that this cult had gained a firm foothold in Mewar and Central India (i. e Malwa).

---

23. EI , Vol. XXII, pp 204-.05

24 *Ibid*

25 *Materials for the Study of Early History of Vaishnava Sect* 1920 pp 55-56

What is more, the Besnagar Pillar inscription supplies objective evidence, that the cult had influenced the imagination of Greeks to such an extent, that Heliodrus, a member of the diplomatic corps, had embraced it at the expense of Hellenic paganism This is but one instance, which has survived Whether there were other instances like the evidence about Buddhism, furnished by the western Indian caves cannot be proved now The present writer feels that the Ghosundi and Besnagar inscriptions do not merely prove the existence of the Bhāgavata cult in 3rd or 2nd centuries B C, but their possible existence in the preceeding centuries too

That the Bhāgavata religion was very old, is proved by reference to it by Pāṇini Pāṇini does not treat the name Vāsudeva as that of a divinity but as a proper name. But the attachment of the term *bhakti* to his name shows that by his times he was already about to attain divine ranks The founder's name was Krishna-Vāsudeva-it was monotheistic Possibly he was a pupil of Ghora-Angirasa, mentioned in *Chhandogya Upanishad* (III. 17 6). Grierson was of opinion that long afterwards, his proper name Krishna received the same honour Other names given to the Supreme in later times were "Purusha," or the Male (probably borrowed from *Sāṁkhva Yoga* Narayana and so forth, but, the oldest and original name was, as has been said, "Bhagavat," In Pāṇini's time they were also called Vasudevakas and Arjunakas [26] The supreme deity was infinite, eternal, *prasada* (full of grace). At a later date, we find that Kautalya was acquainted with the cult of Samkarshaṇa In course of time, they absorbed the message of the 'Upanishads' loosely, never weaving it securely in their doctrine This later form of Bhāgavata cult is best illustrated by the *Narayaniya* section of the *Santis Parvan* of the *Mahabharata* It alludes to the doctrine as Bhāgavata or *Pancharatras* The creed being *bhakti*, as illustrated by the story of Ambarisha and Vishnu *Mahabharata* (Ś Parva) states that Samkarshaṇa is Jiva, while Vasudeva is *paramatman* The creed defined the one God, *Bhagavat*, Nārāyana *Purusha* or Vāsudeva, who was *Ananta achvuta* and *avinasin* according to Sāmkhya, *prakriti, pradhana* and *avaykta* He created Bramhā, Śiva etc. They believed in the immortality of the soul

The principles of creation resemble that of *Samkhya* but the spiritual supreme is not brought in connexion with matter. The *Santi Parvan* of the *Mahabharata* is divided into several sections the later half of which is called *Mokshadharma Parvan* and portion of this is called Nārāyaniyā, which gives, a graphic account of the development of Pancharatra and Vyuha doctrines while purporting to discuss *Samkhya-Yoga* The joint mention of Vāsudeva and Saṃkarshana in Ghosundi inscription proves that in C 3rd Century B C, during the formative period of the Bhāgavata cult and Vyuha doctrine S. E, Rajasthan or Mewar played an important part The late Sir George Grierson defined *Vyuha* doctrine as follows, Vāsudeva in the act of creation not only produced *prakriti* the indiscrete *(avayakta)* prlmal matter of *Samkhya*, but also a *vyuha* or phase of conditioned

26 Grierson-The Narayaniya and the Bhagauitas—*Ind Antiq* vol, XXVIII (0908) p 253

spirit, called Samkarshana. From the combination of Samkarshana with prakriti was born a second phase of conditioned spirit, called *manas*, or Prādyumna From the association of Pradyumna with *manas* sprang, *Samkhya ahamkara* or consciousness, a phase of third conditioned spirit, known as Aniruddha, From the association of Aniruddha with ahamkara sprang Samkhya mahamanas or elements and also Bramha.[27]

That *vyuha* doctrine influenced the religious life of Rajasthan even in Rajput period, is proved by the finds of images ot Vaikuntha-Narayana at Bijholya, Jhalarpatan, Ahar, Nagdā (Sas-Bohu Temples) and Eklingaji [28]

These inscriptions throw, therefore, valuable sidelights on religious conditions of S. E. Rājasthān in the centuries before the birth of Christ, demonstrating that many streams met to create modern Bramhinism in its formative period The particular point to be borne in mind is that Rajasthan worshipped two *Kshattriya* heroes Vāsudeva and Saṁkarshana, who by C. 150 B C., when Patanjali compiled his *Mahadhashya*, were no longer human beings but divinitties. This ultimately merged with Vishṇu-Narayan and Krishna cults.

---

27. *Ind Anti*, Vol XXVIII, p 261.

28 Cf my forthcoming paper 'Insteresting Images from S E. Rajasthan in *Lalit Kala* Nos. 11-12

Pārasaka the fifth varna

P, V Bapat,

In the *Assalayana sutta* No 93 of the *Majjhimanikaya*, there is a discussion between Gotama Buddha and a young Brahmana, Assalāyana by name, about the superiority of the Brahmanas, claimed by the latter, over the other three social groups, Ksatriyas, Vaiśyas and Sūdras He maintained that only the Brahmanas can be considered to be pure as against the view held by Gotama Buddha, that purity can be attained by all the three groups of Ksatrivas, Vaisyas and Sudras as much as by the Brahmanas

In this connection Buddhaghosa tells us that, apparently, in his time there were not merely four social groups (varnas), but actually there were five varnas–Brāhmanas, Kssatriyas, Vaiśyas, Sudras and a group, which he calls Pārasaka

The Commentator, Buddhaghosa, tells us that the fifth group was the result of a mixed marriage between persons belonging to different varṇas. One who is born of a Ksatriya man and a Brāhmana woman is called Ksatriya Pārasaka and one who is born of a Brāhmana man and a Ksatriya woman is called a Brahman Pārasaka Both the kinds of progeny are considered to be of low birth (*hīna-jati*) They are considered to be an independent group, the fifth group (*pancamassa vannassa atthitaya.*) Here he definitely asserts that there was a fifth varna Thus in his time, the theory of four varnas only was definitely exploded and a fifth varna had already come to be recognised (*Ettha catuvanno ti niyamo natthi, Pancomo hi Parasika—vanno pi atthi*) *Manusmrti* (X 4) denies the existence of a fifth group (*nasti tu pancamah*)

Now about the name Pārasaka, There is no certainty about the correctness of this reading The variants found are (*Parisaka Padasaka.*) I am inclined to believe that the reading here is corrupted, and the original may be Pārasava, corresponding to the Sanskrit word Pārasava This word is found in *Manusmrti* and other Dharmasastra[1] texts which all confirm that this is a name given to the progeny of a mixed marriage *Manusmrti*, however, restricts this word to the progeny of a Brahmana father and a Sudra mother This progeny is also described in *Manu* (X, 8) as Nisāda Even in the *Mahabharata* (BORI ed 13 48 5) Parasava is described as follows—

Param savad Brahmanasy esa putrah
Sudraputram Parasavam tam ahuh

Vidura is also spoken of as Parasava (Sorensen's Index to the Mbh. I. 4361)

The identification of Parasava with Nisada has perhaps led to the use of this term (*pancama varna*) in south India for the out-caste people. And it is evident from the evidence of Buddhaghosa that this term had already come into existence by the time of Buddhaghosa

1. See p 140 in the *Glossarial Index* to *Pracina Smrti* by Suresh chandra Bannerji (*Annals*) of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, XL 1960

जहांगीर नो विधर्मी पवित्र पुरुषो प्रत्येनो आदर

विद्वानो जोडे धर्म अगेनी चर्चा मा रस अने अनेक सम्प्रदायोना आचार्यो साथ नो सपर्क अने व्यवहार, शेख मुबारक अने तेना पुत्र अबुल फजल ना धर्म सहिष्णुता अगे ना विचारो नो प्रभाव अने सौ करता विशेष ते समये चालता धार्मिक सुधारा माटे ना आदोलनोए कुटुम्ब मा चाली आवती मजहबी भावनाओ बाबत मा अकबर माँ परिवर्तन आण्यु हतु । तेना दरबारीयो उपर ए कार्यनी भारे असर हती बादशाहे सर्व धर्मनो अभ्यास करी अत करण ने योग्य लागता सिध्धात मुज्जब बर्तन राखवानु मन साथ विचारी लीधु । तेनो पुत्र सलीम तख्तनशीनी पछी जहागीरना टूका खिताब थी ओलखायो ते पण तेना बाप अकबरनी की पेठे धर्म चुस्त मुसलमान रह्यो न हये, शबे–बरात (१) अये ईदना तहेवारो तो ते पालतो हतो, परतु ते साथे पारसीओना नवरोज (२) अने हिन्दुओना दिवाली, दशेरा, रक्षाबधन अने शिवरात्रि ना मोटा हिन्दु तहेवारो पण हिन्दु राजवीओनीजेम उत्साहपूर्वक अने दबदबाथी ते उजवतो हतो (३)

सलीमना जन्म (ई० स० १५६९) अगे कहेवाय छे के अकबर ओगणत्रीस के त्रीस बरसनी उमरे पहोचे ते अगाउ तेने अनेक बालको थयाँ हता, परन्तु तेमानु एक पण हयात रह्यु न हतु. आथी तख्त माटे ना तेना उत्तराधिकारी अगेनी चिंता तेना दिलने सतावबा लागी हती, अधीरो बनी अल्लाहनी रेहमत ने पहोचेला (अेटले के मृत) तेमज तसव्वुफना राह उपर चालनारा (हयात) सूफीओनी दरमियानगीरी ते अे सिद्धि माटे शोधता फरतो हतो—दर बरसे अजमेर मा आवेली

---

१. मुसलमानो नी मान्यता मुजब अे रात्रि दरमियान खुदाना हुक्म मुजब फरिश्ता मनुष्यो ना जीवन ना कार्यो नो हिसाब करे छे अने तेमने जोविका वहेंचे छे, मुसल्मानो नमाज पढे छे, जागरण करे छे, अने ते पछीना दिवसे रोजो राखे छे

२ ईरान मा उत्सव नो दिवस छे. ए पछी वसत नी शरुआत थाय छे. ए मार्च नी २२ मी तारीखे पडे छे

३. जहागीर नी आत्मकथा, तुजुके जहागीरी मा अगेना आधारो अनेक ठेकाणे मले छे

शेख मुईनुद्दीन चिश्ती (मृ० ई० स० १२३६) नी दरगाहे जातो (१) अने साहिश वर आवशे तो पगपाला तेनी जियारत करवानी मानता पहा तेणे मानी, ए सयोगे दरमियान ग्रे साथे शेख सलीम चिश्ती (मृ० ई० स० १५७२) नामना नेवु वरसना वृद्ध सूफीनो महारो मेलववाते तेने मलयो ।

जहागीरे पोतेज तेनी आत्मकथा तुजुके जहागीरीमा (२) ग्रे अगेग्रेवी विगत आपी छे के "हजरत अर्श-आशियानी (स्वर्गस्थ अकबर) सलतनत नी सस्थाजारी राखवाने अल्लाह पासे थी तख्त माटे योग्य पुत्रनी मागणी कर्या करता हता, त्यारे तेना मानीता दरबारीयो मा थी कोईक जणाव्यु के शेख सलीम नामनो एक दरवेश आ तरफना सूफीयो मा पवित्रता माटे मशहूर छे अने अकबराबाद (आग्रा) थी बारकोस उपर आवेला सीक्री कस्बा मा रहे छे आपजो आपनीआ आरजू तेमनी आगल प्रदर्शित करो तो मुरादनु झाड तेमनी दुवाना सिंचण थी फलाऊ बनशे ते पछीते हजरत (अकबर) शेखनी मजिल ऊपर गया अने नम्रता अने निष्ठा साथे दिलनी आ वात तेनी आगल जाहेर करी तेनी मुराद फलशे ग्रेवा शुभ समाचार तेमने शेखे आप्या त्यारे तेमणे कह्यु के "हवे हुं धाधाराखु छु के ते फरजदने आपना दामन मा उछेर माटे मूकीश. जेम ने आपनी बाह्य तेमज आतरिक बरकत थी महान थाय शेख ग्रे प्रस्ताव मान्य राख्यो अने ते बोल्या कि मुबारक रहे अने तेनु नाम ग्रमे अमारा पोताना नाम उपरज राखी दीधुं" थोडाज समय मा निष्ठाने परिणामे उमेद बर आवी जन्नत मकानी(४) (स्वर्गस्थ वालिदा) ने प्रसव नो समय नजीक आव्यो त्यारे तेने शेखने त्या मोकलवा मा आवी अने मारो जन्म फतेहपुर मा शेख सलीम नी मजिल मा थयो. त्यारे करार कर्या मुजब नाम सलीम राखवा मा आव्यु"

जहागीर नो चारित्र्य बाबत मा सामान्य रीते जे कोई इतिहासो मा नोधायु होय ते लक्षमा लेवा मा आये तो तेना जन्म समय ना मजकूर रुथेला अने तेना पिता अकबर ना दरबार ना धार्मिक सहिष्णुता भरेला वातावरण ना प्रभाव ने लई ने मुसल्माने तेमज हिंदु अने अन्य धर्मोना पवित्र पुरुषो मा तेणेत्यारे श्रद्धा दाखली हती

ए बीजी दृष्टिए विचार करता ते समये हिंदुओ अने मुसलमानो मा जाहेर मा आवता नया सुधरेला सम्प्रदायो अगेनु तेनु ज्ञान नहिवत हतु. एकज अल्लाह नी मान्यता थी अने मजहब नी चालु आवती रुढिना

---

१ अकबर नामा तबकाते अकबरी, मुन्तखबुत्तवारीख, जहागीर नामा

२. पृष्ठ ३ (दीबाचो)

३ अल्लाह तालानु सोऊ ऊचा आसमान उपर तख्तहोवानु मनाय छे अने त्या जेनो मालो छे ते मोगल सल्तनत दरमियान गुजरेला शहेनशाहोने आवा खिताबो आपवा मा आवता ।

४ कोई इतिहास मातेनु नाम मलतु न थी सुजनराये (खुलास तुत् तवारीख पृष्ठ ३७४ दिल्ली) मा मरियमुज्जमानी (जमाना नी मरियम एटले जीसस्का इस्तनी माता अग्रेजी मे मेरी) ससद त्यारे ते हयातने होवाथी जहागीर तेने माटे जन्नत मकानी (एटले के जन्नत मा हवे जेनु स्थान छे ते) शब्द वापर्यो छे मरियमुज्जमानी तेनु अधिकार युक्तनाम हतु, अकबर नी ए बेगम मूल रजपूत राजकुवरी हथी.

पालन थी ते सतोप मानतो हतो. अने, सतो, सूफीयो, सन्यासीओ अने धर्माचार्यो ने मलवा मा अने तेमनी साथे वात अने चर्चा करवा मा तेनो रस पडतो हतो. परन्तु ते साथे खटपटी लोकप्रिय धर्माचार्यो अने धर्मांध लोको ने सामाजिक अने राजकीय व्यवस्थानी स्थिरता मलववामा ते खतरनाक लेखतो हतो.

शीख गुरु अर्जुन ऊपर तेना शासन दरमियान थयेलो जुलम चर्चास्पद छे ए गुरु (जन्म ई. स १५६३) गोविद वाल मा रहेतौ हतो ते चोथा शीख गुरु रामदास नो पुत्र हतो. बालवय थीज आध्यात्मिक स्वभाव अने ध्यानी चित्त ते धरावतो होवानी वात प्रचलित हती. ई. स १५८१ मा शीख गुरु तरीके तेणा पिता नो ते उत्तराधिकारी बन्यो तेना पूर्वगामीओ ना हिंदु अने मुसलमान सुधारको ना अने तेमना पोताना भजनो अने कथनो नो सग्रह आदिनाथ ग्र थ मा तेणे कर्यो हतो तेनु निरीक्षण करता अकबर ने अर्जुन नी आदर्श प्रतिमा नी भाकी थई हती. ते शहनशाह ना अवसान पछी अर्जुन गुरु ए परेशान हालत मा रहेता बडखोर शाहजादा खुसरो ने सहारो आपवानी भूल करी पाडी[1] जेने लईने तेने माथे आफत उतरी. गुरु ना विरोधीओ एवो पूरो लाभ उठाव्यो अने जहागीर आगल राज्यद्रोह अने दुराचार ना रंग थी रगी ने ए बाबत रुजु करी. परिणाम शहेनशाहे शत्रुओ नी जाल मे फसाई पड्यो तेणे तेने सजा करी अने तेनी माल-मिल्कत जप्त करावी (ई० स० १६०६)

जहागीरे पोतानी तुजुक मा आ बनाव नी विगत आपी छे तेणे बताव्युं छे[1] के "बियाह नदी ने किनारे आवेला गोविंदवाल मा एक हिंदु रहतो हतो तेनु नाम अर्जुन हतु ते सत रूपे रहेतो हतो. अनेक भोला भला हिदुओ बल्के अज्ञान अने मुर्ख मुसलमानो ने पण तेणे पोतानी रीति-नीति मा बाध्याजहता. तेओ तेना सत-जीवन अने तेनी पवित्रता नी बुलद आवाजे जाहेरात करता हता. तेओ तेने गुरु कहेता हता. आजु बाजुथी बेवकूफ लोको अने मुर्ख भक्तो तेने आवी मलता रहता. अने तेनामा तेओनी अध श्रद्धानी ऐ रीते प्रतीति करावता हता. गुरुनी त्रण चार पीढी थी आ दुकान चालु आवती हती. लाबा समय थी मने विचार आव्या करतो हतो के आ दुकान काढी नाखवी जोइए अथवा तो तेने मुसलमानो नी जमात मा लाववु जोइए. अते एवुं बन्यु के आ रस्ते खुसरो प्रसार थयो अने आ नालायके तेनी सेवा मेलव वानो इरादो कर्यो जे स्थले ते रहेतो हतो त्या तेणे मुकाम कर्यो ते तेने मल्यो अने तेने केटलीक बावतो जणावी ते पछी तेणे तेनो कपाल उपर तिलक कर्यु. एने हिंदुओ शुकनियाल माने छे. आ वात मारा साभलवामा आवी. मे तेने सम्पूर्ण रीते पोकल गणीने तेने मारी आगल हाजर करवाना हुक्म कर्यो. तेना आश्रम तथा तेना बालको ने मे मुर्तजा खान(नामना अमलदार) ने सोप्या अने तेनां माल मिल्कत जप्त कराव्या तेने मे सजा फरमावी"

---

१. शीख अनुश्रुति परा मुजब अकबरे तख्त माटे खुसरोनी नीमपु कह करी हती. ते वखते ते काबुल रह्यो हतो. तेणे अर्जुन गुरु ने नाणानी मदद आपवा आजीजी करी हती. गुरु ए जवाब मा कह्यु के 'मारु' नाणु' गरीबो माटे छे अने शाहजदाओ माटे नथी. खुसरो बोल्यो के हु अत्यारे गरीब, तग अने निराधार हालत मा छुं अने मारी पासे मुसाफरी करवामाटे खर्चना पैसा न थी" गुरु अर्जुन ते पछी तेने पांच हजार रुपिया आप्या (Macauliff-Sikh Religion Vol III pp 84-5; Cunningham—History of the Sikhs & Garrett pp 53)

१. तुजुके जहांगीरी पृ० ३५

शीखोनी अनुश्रुतिमा आ बनाव नीचे प्रमाणे नोंधवामा आवेलो छे.—

जहागीरे गुरु ने तेनी सामे बोलाव्या अने कह्यु के 'तु एक महान् सत छे, एक महान् उपदेशक छे अने पवित्र पुरुष छे, तु गरीब अने तवगर ने समान गणे छे, ते थी मारा दुश्मन खुसरोने तें पैसा आप्या ए योग्य न कर्यु' अर्जु ने जवाब आप्यो के हुं हिन्दु के मुसलमान, तवगर के गरीब, दोस्त के दुश्मन एम तमादन मोहबत के नफरतनी (पक्षपात) दृष्टि थी जोतो न थी, अने आज कारण थी तारा पुत्र ने मे थोडा पैसा तेनी मुसाफरीना खर्च माटे आप्या अने नहि के ते तारो विरोधी हतो ते थी, जो मे तेने तेनी जलती परि-स्थितिमा सहाय न करी होत अने तारा पिता शहेन शाह अकबरनो मारा तरफ नी माया ध्यान मे गनी होत तो आम जनता ए मारा हृदयनी कठोरता माटे मने धिक्कार्यो होत, अने तेओ पहेत के हु डरतो हतो, दुनियाना गुरु, गुरुनानक ना अनुयायी ने माटे ए विना अण पटती बनत" ते पछी जहागीरे तेने बे लाख रुपियानो दड कर्यो अने हिंदु अने मुसलमान धर्मो विरुद्धना भजनो तेना ग्र थमाथी काढी नाखवानो तेने हुकम कर्यो । त्यारे अर्जु न गुरु बोल्या के 'जे कई धन मारी पासे छे ते रक निराधार अने अजाण्या लोकोने माटे छे जो तारे धन जोइतु होय तोतु मारी पासे जे छे ते लई ले, परतु जोतु दड तरीके ते मागतो होय तो हु एक कोडी पण तने आपीश नहि, कारण के दड दुष्ट दुन्यवी लोको उपर लादवामा आवे छे अने नहि के धर्माचार्यो अने सन्यासीओ उपर । ग्र थसाहेबमाना भजनो काढी नाखवा बाबत मा जे कई तें कह्यु ते अगे जणाववानु के हु सहेज पण ते माथी काढी नाखीश नहि, के बदलीस नहि, हु शास्वत ईश्वर अने परमात्मा नो भक्त छु, तेना सिवाय कोई शासक न थी, अने तेणे जे कई गुरु नानक थी मांडी गुरु रामदास सुधीना गुरुओना अने ते पछी मारा हृदय मा प्रगट कर्यु छे ते पवित्र ग्रन्थ साहेब मा नोंधवामा आवेलु छे, जे भजनो तेमां स्थान लीधे लु छे ते कोई हिंदु अवतार के कोई मुसलमान पैगम्बर ने माटे अपमान युक्त न थी, पेगम्बरो धर्माचार्यो अने अवतारो असीम साश्वत् ईश्वर तरफ थी कार्यो करे छे एम तेमा श्रद्धापूर्वक लखेलु छे, मारु ध्येय सत्नो प्रचार अने जूठ नो विनाश करवानु छे अने ए कार्यनी सिद्धि मा आ क्षणभगूर देहनो लय थाय तो हुं मारु अहो भाग्यलेखीश.

कई जवाब आप्या विना मुलाकातनो ओरडो छोडी जहागीर चाल्यो गयो, काजी ते पछी गुरुने जणाव्यु के 'तमारे दड भरवो जोइए अने नहि तो केद भोगववी जोइए, अर्जु न दड भरवा माटे फालो उघ-राववानी मनाई तेमना अनुयायीनो तुरतज करी, काजीओने अने पडितो तेमना ग्र थ माथी वाघा भरेला भजनो काढी नाखे तो तेमने मुक्ति आपवानी दरखास्त पेशकरी, त्यारे अर्जु न जवाब आप्यो के 'मनुष्यो ने आ अने बीजी दुनिया मा सुख अने नहि के आपत्ति आपवा ग्रंथ साहेबनी रचना करवामा आवेली छे, तेने नये सरथी लखुवु अने तमो मागो छो ते प्रमाणे तेमाथी काढी नाखवु अने तेना फेरफार करवो असभवितछे, ते पछी शत्रुओए जे त्रास तेमना उपर गुजार्यो ते सर्व गुरुए शात चित्ते अने खामोशी पूर्वक सहनकर्यो अने न तो निसासो नाख्यो अने न तो दु खनो अवाज काढयो, बदले सु वचन उच्चारवा तेमने बीजी तक आपवामा आवी त्यारे निडरपणे तेणे जवाब आप्यो, 'मूर्खाओ ! हु तमारा आवर्तन थी कदी डरवानो

1. Gokul Chand Narang—Transformation of Sikhism, pp 31–41

नथी.- आ सर्व ईश्वरेच्छा थीज वने छे. जे कारणने लईने आ जुलम तमो मारा उपर करो छे, तेमां मने आनदज आवे छे, शहेनशाह नी जाण अने मजूरी बिना वधारे ने वधारे त्रास तेने आपवामा आव्यो. अते एक दिवसे गुरू ए नदी मा नहावानी परवानगी मेलवी अने किनारे जई देह त्याग कर्यो !"

दबिस्ताने मजाहिब[1] मा जणाववामा आव्यु छे के गुरु अर्जुन ने जे दड करवा मां आव्यो हतो ते ते भरी शक्यो नहि, ते थी तेने लाहोर मा केदखाना माँ राखवामा आव्यो. गरमी ने कारणे अने तेओने दड तेनी पासे थी वसूल करवानु काम सोपवामा आव्युं हतु तेमणे तेना उपर करेला जुलम ने लईने तेवुं मृत्यु थयु.

जहागीरे अर्जुनगुरु ने करेली सजा बाबत मा 'सियामत' अने 'यासा' शब्दो वापरेला छे[2]. 'सियासत नो अर्थ सजा थाय छे. अने यासा नो अर्थ मोगोलिया नी भाषा मा 'फासी' थाय छे. परतु ते समय बपराती प्रशिष्ट फारसी भाषा मा समानार्थ शब्दो एक साथे वापरवानी चालु आवती रूढि मुजब ओ बने नो उपयोग 'सजा' नाज अर्थ मा थयो होवानी सभावना छे अने न के देहांत दड अर्थ मा. जेम के केटलाक पुस्तको माँ नोधवा माँ आव्युं छे; मजकूर अनुश्रुतिमां पण देहात दड कर्यो होवानो उल्लेख नथी.

अहि जहागीर अने खुस्रो ना संबध बाबतमा थोडी स्पष्टत करवुं आवश्यक छे, जे उपर थी अर्जुन गुरु ने करेली सजाना कारण नो ख्याल आवशे. बन्यु हतु एवुं के जहागीर नो मोटो पुत्र खुस्रो तेनी रजपूत बेगम मानबाई ने पेटे अवतरेलो हतो रजपूतो नो तेनी तरफ पक्षपात हतो. अने अकबर पछी तेने तख्तनशीन करवानी पेरवी तेमणे करवा मांडी हती. खुसरो ए छडे चोक बापनी निदा करवा माडी. ए मान बाई सहन करी शकी नहि अने दिवानी बनी. ई०स० १६०४ मा तेणे अपघात कर्यो. अकबर बादशाह पण गभराई गयो हतो-तेथी तेणे तमाम सरदारो अने विशेष करीने मानसिह पासे जहागीर ने वफादार रहेवानां सोगद लेवडाव्या. अकबर मादो पडता कावत्रा शरू थया अने जहागीर तख्तनशीन थतां खुस्रोए बड कयुं. अर्जुन गुरु ए तेने सहकार आप्यो. जहागीर ना अति विपरीत सजोगो मा ए बन्यु अने तेने सजा थई. अर्जुन गुरु ए बडखोर खुस्रो ने मदद करी ने पक्षपाती वलण न प्रदर्शित कर्युं होत तो तेने छेडवानुं कोई कारण जहागीर माटे उपस्थित थातज नहि. पोतानु जीवन पोतानी रीतेज ते जीवी शक्यो होत.

जहाँगीर ने पवित्र पुरुषो माटे अति आदर हतो. आध्यात्मिक ज्ञानविशे माहिती मेलवबा बाबत मा तेने त्यारे आकर्षण हतु अने ए अगेना अनेक दृष्टातो तेनी तुजुक मा मले छे. हि०स० १०१६ (ई०स० १६०७) मा ते काबुल मा हतो[3] त्या तेने थयेला अनुभव नी विगत आपतां ते जणावे छे के—'बुधनो दिवस हतो. सरदार खान नो बाग परशावर (पेशावर ?) नजीक आवेलो छे. त्या मे मुकाम कर्यो. ते पछी तेनी नजीक आवेला गोरखरी तीर्थ स्थान तरफ हु गयो, मने आशा हती के एकाद सत नजरे पडशे अने तेना सपर्क थी कईक फायदो

---

१. हस्तप्रत, गुजरात विद्यासभा संग्रह न० ३१४

२. तुजुके जहांगीरी, पृ० ३५

३. तुजुके जहागीरी पृ० ५०

थशे. परतु एवो सत तो उन्का [1] अने कीमिया समान छे ते तो एकातवास सेवनारी होय छे, ते आ मरेली ठठ मा क्या थी होय ? एक मडली मे थई ते मा ना साधुओ ने मलतां दिलमा अधकार सिवाय कईज प्राप्त थयु नहिं" आगल उपर जहागीरे लख्यु छे के त्या अन्य घणा सतो हता, परतु ए सन्यासी थी उत्तम ते मडली माँ कोई जोवा मा आव्यो नहि.

हि० स० १०२५ (ई० स० १६१६) नो एक बनाव छे ते वखते जहागीर उज्जैन माँ हतो, त्या ते गोसाई जदरूप ने मल्यो. तेनी पाछल तो ते घेलो थई गयोहतो तेनी साथेनी मुलाकात अगे तेणे जणाव्यु छे के[1] "होडी मा बेसीने हु आगल चाल्यो मे अनेक वार साभल्यु हतु के जदरुप नाम नो एक योगी केटलाक वरसो थी उज्जैन नजीकना जगल मा एक खूणामा वस्ती थी दूर परमात्मानी भक्ति मा लीन रहे छे. तेने मलवानी मारी घणी आतुरता हती हु आग्रा पायतख्त मा हतो, त्यारे तेने बोलावी तेने मलवानी मारी इच्छा थई हती, परतु तेम करवा माँ तेमने तकलीफ पडे एवो ऊडो विचार करी मे तेमने बोल्यावो नहि हु मजकूर शहेर नी नजीक मा पहोच्यो. होडी माथी उतरी पगपाला तेने मलवा गयो। जे जगाए ते रहे छे ते एक गुफा छे ते तेणे एक टेकरी माथी खोदीने बनावेली छे तेनो प्रवेश मेहरावना आकारे देखाय छे तेनी लवाई एक गज अने पहोलाई दस गिरेह छे[2] गुफा ना ए प्रवेश आगल थी तेना रहेवानु स्थल सुधीनो भाग लबाई मा बेगज अने पाच गिरेह अने पहोलाई मा सवा अगियार गिरेह छे. अने जे गुफा मा ते रहे छे तेनी लबाई साडा पाच गिरेह अने पहोलाई साडा त्रण गिरेह छे तेनु शरीर पातलु छे.ते गुफामा ते मुश्केली थी समाई सके छे ते मा न तो चटाई अने न तो घासी नी पथारी ते साकडी अने अधारी गुफामा ते एकलोज रहे छे. शियालानी ठडी हवाता कई ओढतो नथी, टाटनो टुकडो आजु बाजु विटाली राखे छे, ते सिवाय बीजु कई कापड तेनी पासे न थी ते आग सलगावतो नथी. मौलाना रूमीए एक दरवेश ना मोमा नीचेनी शेर मू की छे, ते एनी हालत ने अनुरूप छे

'पोशिशे मा रोज, ताब आफताब

शब निहालीए, लिहाफ अज माहताब।

[दिवस अमारू वस्त्र छे, सूर्य अमारी गरमी छे, रात्रि (अमारी) सादडी छे अने चादनी (अमारी) रजाई छे]

तेना स्थाने पासे एक तलाव छे त्या जई ने ते दर रोज बे बार नहाय छे. दिवस मा एक वखत ते उज्जैन नगरी मा आवे छे, त्या सात ब्राह्मणो माथी त्रण बाल बच्चा वाला छे अने तेओ गरीब अने सतोषी हालत

---

१. फारसी साहित्य मा एक कल्पित पक्षी नु नाम उपमा माटे वपराय छे. ते अगे एकी मान्यता छे के तेनु नाम जाणमा छे अने तेना शरीर विशे माहिती न थी. एक समय तेनी सख्या एकनीज होय छे. ते हवामा कायम उडतु रहे छे, तेना जीवन नो अत नजीक आवे छे त्यारे ते बली मरे छे अने तेनी राख माथी बीजु उत्पन्न थाय छे कोई दुर्लभ, असाधारण विरल अने अप्राप्त वस्तु नी उपमा ए नामथी आपवा मा आवे छे,

१ तुजुके जहाँगीरो पृ० १७६–७७२. एक गिरेह बराबर त्रण आँगल पहोलाई नु मापथाय के. ए गजनो सोलमो भाग छे

मा आनद मले छे तेमना घर पसद करीने तेमने त्या ते जाय तेओ जे भोजन पोताने माटे तैयार करे छे तेमांथी पाच कोलिया भीख तरीके तेओ पासे थी तेनी हथेली मा ले छे अने खाव्या विना ते ओगाली जाय छे. तेम करी तेनी स्वादेन्द्रिय ने तेनी लहेजत प्राप्तथया देतो नथी ? ते भीख माटे जाय ते मा शरतो छे के आपनारने मुसीवत न पडे अने तेना घर मा कोई स्त्री प्रसव वाली तेमज मासिक धर्म मा न होय.— एनु नियमो आ त्रण घरो मा पलाय छे. मैं जे आलख्यु ते मुजब तेनु जीवन चाले छे ते कोई ने मलवानी इच्छा राखतो न की, परतु तेनी घणी ख्याति थई गई ते थी लोको तेना दर्शन करवा तेनी पासे जाय छे. ते ज्ञान सम्पन्न छे. वेदात नु ज्ञान जे तसव्वुफ (सूफीवाद) नु ज्ञान छे ते मा ते निष्णात छे, छ घडी तेनी पासे हु रह्यो अने घणी वातो तेनी साथे करी, तेनो मारा उपर भारे प्रभाव पड्यो. मारी चर्चानी तेना उपर पण असर थई. मारा वालिदे (अकबर) असीरगढ अने खानदेश (ई० स० १५९९–१६००) जीत्या अने आग्रा गया ते वखते एजस्थले तेमणे तेने जोया हता अने तेने घणी सारी रीते याद करता हता".

जहागीर हि० स० १०२७ (ई० स० १६१८) मां अहमदाबाद थी पाछी उज्जैन गयो त्यारे फरीथी तेनी मुलाकाते गयो. हजी[1] तेअगे तेणे लख्यु छे के "जदरुप ने मलवाने मारु दिल तलपापड थयु. बपोरनी नमाज पछी होडी मा बेसने तेनी मुलाकात करवा उतावलो हुँगयो. अने साजना तेने एकातवास ना खू णा मा हु दोडी पहुँच्यो तेनी साथे मे वात करी.

इलाही ज्ञानना चार भेद विषे तेनी पासे थी अनेक बाबतो मे साभली–ने तसव्वुफ अगेनी वातो निर्मल दिल थी स्वाभाविक पद्धति ए करे छे. तेनी साथ चर्चा करवा मा आनद आवे छे. तेनी वय साठ साल जेटली छे. बावीस वरस थी तेणे दुन्यवी सबध तोडी नाखेला छे. अने ब्रह्मचर्य ना धोरी रस्ता उपर कदम मोकेलो छे. आठ साल थी ते नग्नजेवी अवस्था मा रहे छे. मे विदाय लीधी त्यारे तेणे कह्य के 'हुँ अल्लाह ना आ उपकार कई भाषा मा मानु के आवा इन्साफमन्द बादशाह ना जमाना मा हुँ शातिमय दिल थी परमात्मानी भक्ति मा लीन रहु छुं: अने कोई पणरीते तकलीफ नी धूल मारा मक्सदना दामन उपर चोटती न थी".

हि० स० १०२८ (ई० स० १६१९) मा जहागीर मथुरा मा पहोच्यो त्यारे जदरूप त्याहतो ए समाचार मलता तेना आनन्द नो पार रह्यो नहि. ए अगेनी नोध करता ते जणावे छे[2] के, "उज्जैन थी गोंसाई जदरूपे हिंदुओना तिर्थ स्थान मथुरा मा स्थलातर करेलु छे अने ते परमात्मा ना ध्यान मा लीन रहे छे. ए खबर मने मली त्यारे तेमना दर्शन करवा मारु दिल अधीरु बन्यु. शुक्रवार ने दिवसे हुँ उतावले पगे गयो. अने लाबो समय एकात मा निराते कोई पण प्रकारनी वातचीत कर्या विना त्यां रह्यो. खरे खर तेनी हस्ती गनीमत छे. तेनी साथे बेसवा मां आनन्द आवे छे. अने लाभ थाय छे।

---

१. तुजुके जहागीरी पृ० २५४–२५५

२. वही पृ० २८२

सोमवार[1] ने दिवसे फरीथी गोसाई जदरुप ने मलवा दिल आकर्षायु. नि सकोच हुँ तेनी कुटीर तरफ उतावलो उतावलो गयो अपने तेने मलयो तेनी साथे उच्च कक्षानी घणी वात थई, अल्लाह ताला तेने ताजुवी उत्पन्न करे एवी शक्ति अर्पेली छे तेनी समज उमदा प्रकारनी, तेनो स्वभाव उन्नत कोटिनो अपने तेनी परख शक्ति प्रचड छे ते साथे तेना मा इलाही ज्ञान सग्रहित छे दुनिया नी माया मा थी तेणे तेनु दिल मुक्त करी दीधेलु छे. ससार तथा तेमा जे कई छे ते तरफ तेतो पूठ फेर वेली छे. ते एकात खूणामा नि स्पृह जीवन गाले छे. सृष्टि नी चीजो मा थी अर्वांगज पुराणु टाट तेनी पासे छे. जेवडे ते तेनु गुप्त अग ढाके छे. पाणी पीवा माटे तेनी पासे माटीनु वासण छे. शियाला उनाला अने चोमासा मा ते उघाडो नग्न सिरे अने नग्न पगे रहे छे, अति मुश्किली थी धाअतु वालक दाखल थई शके एवी (साकडी) गुफा मा ते रहे छे.

बुधवार ने दिवसे फरीथी हुं गोसाई ने मलवा गयो. अने पछी तेवाथी छूटो पडयो नि सकोच तेनी संगतमा रही ने तेनाथी थयेली जुदाई मारा निष्ठावान दिल उपर वोज समान रही.

जहागीर हि० स० १०२७ (ई० स० १६१८) माँ अमदावाद मा हतो ते दरमियान पण तेदे एक सन्यासी काकरियानी पाल ऊपर मली गयो हतो तेणे नोध्यु छे के "कांकरिया तलाब नी पाल उपर एक सन्यासी तूटी फूटी कुटिर मा रहेतो हतो. ते हिंदु हतो. मारु दिल सतोनी सगत तरफ आकर्षातु रहे तु होवाथी कोई पण प्रकारना सकोच बिना शाही तवु माथी नीकलीने फकीरना जेवा तेना वसवाट तरफ हुं गयो लावो समय तेनी पासे हुं वेसी रह्यो तपास करता जाणवानु मलयु के ते सन्यासी ज्ञान, सज्जनता अने त्याग वृति धरावे छे अन परमात्मा अगेना मर्म अने अध्यातम ना भेद थी वाकेफ छे. बाहय रीते ते फकीरी अने दरवेशो जेवो रहे छे अने आतरिक रीते तेणे ससारी माया नो त्याग करे लो छे". आगल उपर जहागीर तेने विशे लख्यु छे के 'त्या अन्य अनेक सतो हता, परतु ते सन्यासी थी चढे एवो ते मडली मा कोई वीजो नजरे पडयो नहिं".

जैन मुनिओना प्रत्ये पण जहागीर आदरनी लागणी धरावतो हतो. जैनाचार्यो मा हीर विजय सूरि,[2] विजयसेन सूरि[3] अने विजय देवसूरि जैन समाज ना गोरव-रत्नो छे. जहागीर ना समय मा एक एवो बनाव बन्यो के हीर विजय सूरि ना पट्ट धर विजयसेन सूरि ए विजयदेव सूरि ने पोताना पट्ट धर बनाव्या हता. तेना केटलाक शिष्यो ए ते नीमणूक सामे वाधो उठाव्यो अने विरोध कर्यो, ए समये जहागीर ने एवा ए विजय देवसूरि ने मलवानु मनथयु अने तेथी तेणे तेमने पोताना दरवार मा पधारवानु आमत्रण एक फरमान द्वारा पाठव्यु । जहागीर मालवा माँ माडू (माडवगढ) माहतो अने सूरि खमात मा चोमासु पालता हता. फरमान मलता तेमणे माडू तरफ विहार कर्यो अनेत्या पहोची शहेनशाह

१. तुजुके जहागीरो पृ० २८२-८३

२ अकबर आ मुनि ने रमेशाँ पोतानी पासे राखतो रतो अनेदर विवारे सवारे एमना मुखे थी बोलाता सूर्य सर स्त्रनाम मालानु एकाग्रता पूर्वक श्रवण करतो रतो. (पद्मश्री मुनिजिन विजयजी—जैन इतिहासनी झलक पृ० १८१)

३. पद्मश्री जिनविजय जी—जैन इतिहास नी झलक-१८७

ने मल्या. जहागीर तेमनी विद्वत्ता, तेजस्विता अने क्रिया-निष्ठा जोई खुश थयो. अने तेओ हीरविजय सूरिना साचा उत्तराधिकारी होवानी खातरी थता तेणे तेमने 'जहागीरी महातपा' नी पदवी अर्पण करी अने गच्छना साचा अधिनायक तरीके तेने जाहेर कर्या

सिद्धिचद्र जहागीर ना समय मा एक विद्वान जैन साधु हता. जहागीर ना दरबार मा सिद्धिचद्र नी हाजर जवाबी खीली नीकली हती. ते थी एक बार तेणे तेने साधु जीवन नो त्याग करीने पोताना दरबार माँ सारो दरज्जो स्वीकारवा दबाण कर्यु. अने नूरजहा ने पण तेना तरफ थी तेने भलामण करी. सिद्धिचद्रे ए प्रलोभन नी दरखास्त पूर्वक टाली अने तो पोताना साधु जीवन ने दृढता पूर्वक वलगी रह्या. सिद्धिचद्र नु आ वलण जहागीर ने पसद पड्यु नहि. अने तेणे अने पोतानी इच्छा नो अनादर कर्यो ते थी रोषे भराईने तेने जगल मा चाल्या जवानो तेणे हुक्म कर्यो. सिद्धिचद्रे सहर्ष ते प्रमाणे कर्यु

परतु सिद्धिचद्र ना गुरु भानुचन्द्रे [1] दरबार मा जवानु चालुज राख्यु, जहागीरे पण तेना प्रत्येना आदर मां कई कमी करी नहि. परतु तेमना शिष्य ने थयेला गेर-इन्साफ ने लई ने तेमनो चहेरो उदास रहेतो हतो. तेनु साचु कारण जहागीर ने समजमा आवता तेने घणो पस्तावो थयो. अने ते विद्वान जैन साधु ने फरीथी दरबार मा पधारवा तेणे आमत्रण मोकल्यु ते पछीते 'जहागीर-पसद' कहवाया.

शीख गुरु अर्जुन एक पवित्र पुरुष हतो अने जहागीर तरफ थी तेने हेरानगति थई हती ए बनाव तेना चारित्र्य ना प्रस्तुत पासा उपर डाघ तरीके गणवो न गणवो ए एक चर्चास्पद विषय छे. परतु ए तो निर्विवाद छे के मुसलममान फकीरो अने दरवेशो अने हिंदु सन्यासीओ अने योगीओ ने मलवानी तेनी धुन हती, एवी व्यक्ति कोई ठेकाणे रहेती होवानी खबर पडता ते तेने मलवा बेकरार थतो अने त्या दोडी पहोची तेने मलीने जपतो. पवित्र पुरुषोना निर्मल अने तेजस्वी व्यक्तित्व अने विद्वत्ता मा ते रहे तो अने तेमनो पूरो आदर करतो.

---

१. एमनी प्रतिभाना अद्भुत प्रयोग जोईने बादशाहे एमने 'खुश-फेहम' नो खिताब आप्यो हतो (आईने अकबरी)

समाधि-पूर्वक मरण

देह के स्वतः छूटने, छुडाने तथा त्यागने को 'मरण' कहते है, जिसका आयु क्षय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1] जो जन्मा है, उसका एक-न-एक दिन मरण अवश्य होता है, चाहे वह किसी भी विधि से क्यो न हो। ऐसा कोई भी प्राणी ससार के इतिहास मे नही, जो जन्म लेकर मरण को प्राप्त न हुआ हो। वडे-वडे साधन-सम्पन्न राजा-महाराजा, चक्रवर्ती, देव-दानव, इन्द्र-धरणेन्द्र, वैद्य-हकीम, डाक्टर और ऋषि-मुनि तक सब को अपना-अपना वर्तमान शरीर छोड कर काल के गाल मे जाने के लिए विवश होना पड़ा है। कोई भी दिव्य-शक्ति-विद्या-मणि-मन्त्र-तन्त्र-औपधादिक किसी को भी काल-प्राप्त मरण से बचाने मे कभी समर्थ नही हो सके हैं। इसी से 'मरण प्रकृति शरीरिणाम्'—मरना देहधारियो की प्रकृति मे दाखिल है, वह उनका स्वभाव है, उसे कोई टाल नही सकता—यह एक अटल नियम बना हुआ है।

ऐसी स्थिति मे जो विवेकी है—जिन्होने देह और आत्मा के अन्तर को भली प्रकार से समझ लिया है—उनके लिए मरने से डरना क्या ? वे तो समझते है कि जीवात्मा अलग और देह अलग है—दोनो स्वभावत एक दूसरे से भिन्न हैं—जीवात्मा कभी मरता नही, मरण देह का होता है। जीव एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार कि मैले कुचैले तथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण किया जाता है। इसमे हानि की कोई वात नही, वह तो एक प्रकार से आनन्द का विषय है और इसलिए वे भय, शोक तथा सक्लेशादि से रहित होकर सावधानी के साथ देह का त्याग करते हैं। इस सावधानी के साथ देह के त्याग को ही 'समाधि-मरण' कहते हैं। मरण का 'समाधि' विशेषण इस मरण को उस मरण मे भिन्न कर देता है जो साधारण तौर पर आयु का अन्त आने पर प्राय सासारिक जीवो के साथ घटित होता है अथवा आयु का स्वत अन्त न आने पर भी क्रोधादिक के आवेश मे या मोह से पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी Suicide) के रूप मे उसे प्रस्तुत किया जाता है और जिसमे आत्मा की कोई सावधानी एव स्वरूप-स्थिति नही रहती। समाधि-पूर्वक मरण मे आत्मा की प्राय पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि कषायो के आवेग मे कुछ नही किया जाता, प्रत्युत उन्हे जीता जाता है तथा चित्त की शुद्धि को स्थिर किया जाता है और इसी से कष य तथा काय के सलेखन—कृषोकरण—रूप मे इस समाधि मरण का दूसरा नाम

---

१. आउक्खएण मरण जीवाण जिण वरेहि पण्णत्त। (समयसार)

आउकवएण मरण आउ दाउ ण सक्कदे को वि। (कार्तिके०)

'सल्लेखना-मरण' भी है, जिसे आम तौर पर 'सल्लेखना' कहते हैं। यह सल्लेखना चूँकि 'मारणान्तिकी होती है'[1]—मरण का अवश्यम्भावी होना जब प्राय· निश्चित हो जाता है, तब की जाती है—इसलिए इसे 'अन्तक्रिया' भी कहते है, जो कि जीवन के अन्त मे की जाने वाली आत्म-विकास-साधना-क्रिया के रूप मे एक धार्मिक अनुष्ठान है और इसलिए अपघात, खुदकुशी (Suicide) जैसे अपराधो की सीमा से बाहर की वस्तु है। इस क्रिया-द्वारा देह का जो त्याग होता है वह आत्म-विकास मे सहायक अर्हंदादि-पचपरमेष्ठी अथवा परमात्मा का ध्यान करते हुए बडे यत्न एव सावधानी के साथ होता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के' **पंच-नमस्कार-मनास्तुनंत्यजेत्सर्वयत्नेन,** इस वाक्य से जाना जाता है—यो ही विष खाकर, कूपादिक मे डब कर, पर्वतादिक से गिरकर, अग्नि मे जलकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादि से आघात पहुँचाकर सम्पन्न नही किया जाता।

इस सल्लेखना अथवा समाधि-मरण की योग्यता-पात्रता कब प्राप्त होती है और उसे किस उद्देश्य को लेकर किया जाता है इन दोनो का बडा ही सुन्दर निर्देश स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना के अपने निम्न-लक्षण मे अन्तनिहित किया है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतिकारे।
धर्माय तनु-विमोचनमाहु सल्लेखनामार्या· ॥ १२२ ॥

—समीचीन धर्मशास्त्र

इसमे बतलाया है कि 'जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढापा) तथा रोग प्रतीकार (उपाय-उपचार) रहित असाध्य दशा को प्राप्त हो जाय अथवा (चकार से) ऐसा ही कोई दूसरा प्राणघातक अनिवार्य[2] कारण उपस्थित हो जाय तब धर्म की रक्षा-पालन के लिए जो देह का विधिपूर्वक त्याग है उसको सल्ले-खना-समाधिमरण कहते है।'

इस लक्षण-निर्देश मे **निःप्रतीकारे** और **'धर्माय'** ये दो पद खास-तौर से ध्यान देने योग्य है। उपसर्गादिकका 'नि प्रतीकार' विशेषण इस बात को सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा रोगादिक को दूर करने का जब कोई उपाय नही बन सकता तो उसके निमित्त को पाकर एक मनुष्य सल्लेखना का अधिकारी तथा पात्र होता है, अन्यथा उपाय के संभव और सशक्य होने पर वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं होता।

दूसरा **'धर्माय'** पद दो दृष्टियो को लिए हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्म की रक्षा-पालना की, और दूसरी आत्मीय धर्म की यथा शक्य साधना-आराधना की। धर्म की रक्षादि के अर्थ शरीर के त्याग की बात

---

१. मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता।—त०सू० ७-२२.

२. भगवती आराधना मे भी ऐसे दूसरे सदृश कारण की कल्पना एवं सूचना की गई है; जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

'अण्ण पिचापि एदारिसम्मि अगाढ कारणे जा दे।'

सामान्य रूप से कुछ अटपटी-सी जान पडती है, क्योंकि आम तौर पर 'धर्मार्थकाममोक्षाणा शरीर साधन मतम' इस वाक्य के अनुसार शरीर धर्म का साधन माना जाता है, और यह बात एक प्रकार से ठीक ही है, परन्तु शरीर धर्म का सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नही है, वह साधन होने के स्थान पर कभी-कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीर को कायम (स्थिर) रखने अथवा उसके अस्तित्व से धर्म के पालने मे बाधा का पडना अनिवार्य हो जाता है तब धर्म की रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानता से उल्लेख है। विदेशियो तथा विधर्मियो के आक्रमणादि-द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्म को छोडने के लिए मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अत धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिक का समय रहते विचार कर धर्म-भ्रष्टता से पहले ही बडी खुशी एव सावधानी से उस धर्म को साथ लिए हुए देह का त्याग करता है जो देह से अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टि के अनुसार जब मानव रोगादि की असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकार से मरण का होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रता के साथ धर्म की विशेष साधना-आराधना के लिए प्रयत्नशील होता है, किए हुए पापो की आलोचना करता हुआ महाव्रतो तक को धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मीजनो की योजना करता है जो उसे सदा धर्म मे सावधान रक्खें, धर्मोपदेश सुनावें और दु ख तथा कष्ट के अवसरो पर कायर न होने देवें। वह मृत्यु की प्रतीक्षा मे बैठता है, उसे बुलाने की शीघ्रता नही करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ जाय। ये दोनो बातें उसके लिए दोष रूप होती हैं, जैसा कि इस सल्लेखना व्रत के अतिचारो की कारिका (१२९) के **'जीवितमरणाशं से'** वाक्य मे जाना जाता है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने उक्त धर्म-शास्त्र मे **'अन्तक्रियाधिकरणंतप. फलं सर्वदर्शिन स्तुयते'** इत्यादि कारिका (१२३) के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि 'तप का फल अन्त क्रिया के—सल्लेखना, सन्यास अथवा समाधिपूर्वक मरण के—आधार पर अवलम्बित है। अर्थात् अन्त.क्रिया यदि सुघटित होती है—ठीक समाधि-पूर्वक मरण बनता है—तो किये हुए तप का फल भी सुघटित होता है; अन्यथा उसका फल नही भी मिलता। अन्त क्रिया से पूर्व वह तप कौन-सा है जिसके फल की बात को यहाँ उठाया गया है ? वह तप श्रावको का अणुव्रत-और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र है और मुनियो का महाव्रत-गुप्ति-समित्यादि रूप चारित्र है। सम्यक चारित्र के अनुष्ठान मे जो कुछ उद्योग किया जाता है और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है।[1] इस तप का परलोक-सम्बन्धी यथेष्ट फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जब समाधि-पूर्वक मरण होता है, क्योकि मरण के समय यदि धर्मानुष्ठान रूप परिणाम न होकर धर्म की विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गति मे जाना पडता है और वहा पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के फल को भोगने का कोई अवसर ही नही मिलता-निमित्त के अभाव में वे शुभ कर्म बिना रस दिये ही बिखर जाते हैं। एक बार दुर्गति मे पडकर बहुधा दुर्गति की परम्परा बन जाती है और पुन. धर्म को प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसी से श्री शिवार्य जी अपनी भगवती आराधना मे लिखते हैं कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म मे चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला

---

१ जैसा कि भगवती आराधना की निम्न गाथा से प्रकट है .—

चरणम्मि तीम्म जो उज्जमो य आउ जणो य जो होई।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असद चरतस्स ॥ १० ॥

मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह अनन्त ससारी तक—अनन्त कालपर्यन्त ससार भ्रमण करने वाला हो जाता है—

सुचिरमपिनिरदिचारं विहिरित्ता णाण-दंसण-चरित्ते ।
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिश्रो दिट्ठो ।। १५ ।।

इन सब बातो से स्पष्ट है कि अन्त समय मे धर्म-परिणामो की सावधानी न रखने से यदि मरण बिगड जाता है तो प्राय सारे ही किये कराये पर पानी फिर जाता है। इसी से अन्त समय मे परिणामो को सभालने के लिए बहुत बडी सावधानी रखने की जरूरत है और इसी से उक्त कारिका के उत्तरार्द्ध 'तस्माद्योवद्विभव समाधि मरणे प्रयतितव्यम्' मे इस बात पर जोर दिया गया है कि जितनी भी अपनी शक्ति हो, उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरण का पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

इन्ही सब बातो को लेकर जैन-समाज मे समाधिपूर्वक मरण को विशेष महत्व प्राप्त है। उसका नित्य की पूजा-प्रार्थनाओ आदि मे 'दुक्खखओ कम्म-खओ समाहि मरण च बोहिलाहो वि' जैसे वाक्यो-द्वारा समाधि मरण की बराबर भावना की जाती है, और भगवती-आराधना जैसे कितने ही ग्रन्थ उस विषय की महती चर्चाओ एव मरण-सम्बन्धी सावधानता की प्रक्रियाओ से भरे पडे हैं। लोक मे भी 'अन्तसमा सो ममा' अन्तमता सो मता, और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्यों के द्वारा इसी अन्त-क्रिया के महत्व को ख्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनो के लिए विहित एव निर्दिष्ट है।

ऐसी स्थिति मे जो मरणासन्न हे, जिसने सल्लेखनात्मक सन्यास लिया है अथवा समाधिपूर्वक मरण का सकल्प किया है उसके परिणामो को ऊँचा उठाने की—गिरने न देने की—बडी जरूरत होती है, क्योकि अनादि, अविद्या तथा मोहममतादिक के सस्कार-वश और रोगादि—जन्य वेदना के असह्य होने पर बहुधा परिणामो मे गिरावट आ जाती है, परिणामो की आर्त्त—रौद्रादिरूप परिणति होकर सक्लेशता बढ जाती है और उससे मरण बिगड़ जाता है। अत सुन्दर, सुमधुर तात्त्विक वचनो के द्वारा उसके आत्मा मे भेद-विज्ञान को जगाने की जरूरत है, जिससे वह अपने को देह से भिन्न अनुभव करता हुआ देह के छूटने को अपना मरण न समझे, रोगादिक को देहाश्रित समझे और देह के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन सब स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिको 'पर' एव अवश्य ही वियोग को प्राप्त होने वाले तथा साथ न जाने वाले समझकर उनसे मोह-ममता का त्याग कर चित्त मे शान्ति धारण करे ; उसके सामने दूसरो के ऐसे भारी दु:ख-कष्टो के और उनके अडोल रहकर समताभाव धारण करने तथा फलत सद्गति प्राप्त करने के उदाहरण भी रखने चाहिए, जिससे वह अपने दु ख कष्टो को अपेक्षाकृत बहुत कम समझे और व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल न होकर हृदय मे बल तथा उत्साह की उदीरणा करने मे समर्थ होवे। साथ ही इस देह के छूटने मे मेरी कोई हानि नही, यह तो चोला बदलना मात्र है, पुराने जीर्ण अथवा रोगादि से पीडित शरीर के स्थान पर धर्म के प्रताप से नया सुन्दर शरीर प्राप्त होगा, जिससे विशेष धर्म-साधना भी बन सकेगी, ऐसी भावना भाता हुआ मरण को उत्सव के रूप मे परिणत कर देवे। इसी उद्देश्य को लेकर 'मृत्यु-महोत्सव और 'समाधिमरणोत्साह दीपक' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों की रचना हुई है। अस्तु।

जो सज्जन किसी के भी समाधि मरण में सहायक होकर—अपनी आवश्यक सेवाएँ प्रदान कर उसे विधिपूर्वक सम्पन्न कराते है उनके समान उसका दूसरा कोई उपकारी या मित्र नही है। और जो इष्ट-मित्रादिक उस मरणासन्न के हित की—कोई चिन्ता तथा विधि—व्यवस्था न करके अपने स्वार्थ में बाधा पडती देखकर रोते—पीटते-चिल्लाते है तथा ऐसे वचन मुह मे निकालते है जिससे म्रियमाण—आतुर का चित्त विचलित हो जाए, मोह तथा वियोग-जन्य दुख से भर जाय और वह आत्मा तथा अपने भविष्य की बात को भुलाकर सक्लेश—परिणामो के साथ मरण को प्राप्त होवे, तो वे इष्ट मित्रादिक वस्तुत उसके सगे सम्वन्धी नही, किन्तु अपने कर्तव्य से गिरे हुए अपकारी एवं शत्रु होते हैं। ऐसे ही लोगो को स्वार्थ के सगे अथवा मतलब के साथी कहा जाता है। अतः मरणासन्न के सच्चे सगे सम्बन्धियो को चाहिए कि वे अपने कर्तव्य का पूर्णतत्परता के साथ पालन करते हुए उसके भविष्य एव परलोक सुधारने का पूरा प्रयत्न करे। अपने रोने-रडाने के लिए तो वहुत समय अवशिष्ट रहता है, मरणासन्न के सामने रो-रडाकर तथा विलाप करके उसकी उस अमूल्य मरण-घडी को नही विगाडना चाहिए, जिसे समता भाव तथा शुभ परिणामो के अस्तित्व मे कल्प वृक्ष के समान मन की मुराद पूरी करने वाली कहा गया है और इसलिए इसे उत्सव, पर्व तथा त्यौहार के रूप मे मनाने की जरूरत है।

कबीर और मरण-तत्व

"जीवन मृतक को अग" में कबीर ने कहा है कि यदि कोई मरना जानता हो तो जीवन से मरण श्रेष्ठ है। जो मृत्यु से पहले मर जाते है, वे कलियुग मे अजर-अमर हो जाते हैं।

जीवन थें मरिबों भलो, जो मरि जानें कोइ।
मरने पहले जे मरें तो कलि अजरावर होइ ॥ ८ ॥

इसी प्रकार विरोधाभास का आश्रय लेते हुए उन्होने मुर्दे द्वारा काल के खाये जाने की बात कही है —

एक अचंभा देखिया, मडा काल कों खाइ ॥४॥

निश्चय ही कबीर का तात्पर्य यहा जीवनमुक्त से है जिसे अपने जीवन-काल मे ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

कबीर ने गुरु द्वारा "सवद-बाण" चलाये जाने के प्रसंग मे भी शिष्य के धराशायी होने और उसके कलेजे मे छिद्र हो जाने की बात कही है —

सतगुर साचा सूरिवा, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भै मिलि गया, पड्या कलेजे छेक ॥४॥
(सवद को अग)

आगे चल कर "सूरातन को अग" मे यह निर्गुण संत उस मरण की अभिलाषा करता है जिसके द्वारा वह "पूरन परमानन्द" के दर्शन कर सकेगा—

जिस मरनें थें जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहू कब देखिहू, पूरन परमानन्द ॥१३॥

कबीर की दृष्टि में प्रेम के घर में प्रवेश तभी हो सकता है जब साधक अपना सिर उतार कर हाथ मे ले लेता है अथवा उसे पैरो के नीचे रख देता है :—

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहि ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि ।।१६।।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ।।२०।।

इसी प्रकार निम्नलिखित साखियो मे भी प्रकारान्तर से शीश उतार कर देने की बात कही गई है—

सीस काटि पासग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावे सो आइ ल्यौ, प्रेम आट हम कीन्ह ।।२२।।

सूरे सीस उतारिया, छाडी तन की आस ।
आगें थैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ।।२३।।

कबीर की मान्यता है कि प्रेम न तो किसी खेत मे उत्पन्न होता है और न किसी बाजार मे बिकता है। राजा-प्रजा कोई हो, इसे तो शीशदान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है —

प्रेम न खैतो नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाई ।।२१।।

जायसी ने भी अपने "पद्मावत" मे सिर काट कर रख देने की बात कही है —

साधन सिद्धी न पाइअ, जौ लहि साध न तप्प ।
सोई जानहि बापुरे जो सिर करहि कलप्प ।।
(प्रेम खण्ड)

पेम पहार कठिन विधि गढा । सो पै चढै सीस सो चढ़ा ।

जहा तक मेरी जानकारी है, सस्कृत-साहित्य मे ऐसा कोई प्रसग उपलब्ध नही होता जहा मरण को इस प्रकार काम्य और स्पृहणीय माना गया हो । श्री दिनकर के शब्दो मे "मृत्यु को काम्य मानने का भाव भारतीय साहित्य मे कबीर के पहले नही मिलता है । वह देश निवृत्तिवादी था । यहा के दर्शनाचार्य लोक को असत्य और परलोक को सत्य बताते थे । लेकिन, इस दर्शन का सहारा लेकर कबीर से पहले के किसी भी भारतीय कवि ने यह नही कहा था कि चू कि परलोक सत्य और लोक असत्य है, इसलिए साधक को चाहिए कि वह, शीघ्र से शीघ्र, मृत्यु को प्राप्त हो जाय ।"

बहुत सम्भव है, जैसा श्री दिनकर कहते है, मृत्यु भय की वस्तु नही, वह स्पृहणीय है, काम्य है, इस भाव का प्रचलन भारतीय साहित्य मे सूफी परम्परा के प्रभाव से बढा है । सूफियो का दर्शन यह था कि जीव ब्रह्म से बिछुड कर जीव हुआ है । जब से जीव ब्रह्म से अलग हुआ, तभी से वह वियोग मे है। इस वियोग की समाप्ति तब होगी, जब जीव शरीर से निकल कर स्वतन्त्र हो जायगा । जीव की स्थिति

विरह की स्थिति है, यह दार्शनिक सिद्धान्त था। जब इस विरह की वेदनाओ का वर्णन कल्पना की भाषा मे किया जाने लगा, साधक इस विरह की समाप्ति के लिए बेचैन हो उठे और उसके अनेक मार्गो मे से एक मार्ग उन्हे मृत्यु मे भी दिखाई देने लगा। ×

आगे चलकर मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य मे अवश्य ही मरण का महोत्सव के रूप मे चित्रण किया गया जिससे "मरण–त्योहार" राजस्थानी का एक कहावती पदाश ही बन गया। जो मध्ययुगीन योद्धा देश तथा धर्म की रक्षा के लिए युद्ध-भूमि मे अपने प्राणो को न्योछावर कर देते थे, उनका विश्वास था कि इसके परिणाम-स्वरूप वे अप्सराओ के साथ स्वर्ग-सुख का उपभोग करेंगे। महाभारत मे भी इस प्रकार के योद्धा को "सूर्य मडल भेदी" की सज्ञा दी गई है —

द्वाविमौ पुरुषो लोके सूर्यमण्डल भेदिनो।
परिव्राड योगयुक्तश्च रणे यश्चामुखे हतः॥

प्रसाद के "चन्द्रगुप्त" नाटक की अलका के निम्नलिखित उद्‌बोधन मे भी उक्त विश्वास की ही अभिव्यक्ति हुई है .—

"भाई ! तक्षशिला मेरी नही और तुम्हारी भी नही ; तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है ; वह आर्यावर्त्त की होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो। फिर उसके कणो मे तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग मे इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहा की अप्सराए विजयमाला लेकर खड़ी होंगी, सूर्यमण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गाधार का राजकुल अमर हो जायगा।"

गीता मे भी इस प्रकार के युद्ध को "स्वर्गद्वारमपावृतम्"–खुला हुआ स्वर्गद्वार कहा गया है। किन्तु कबीर आदि सन्तो ने अनेक उल्लासोक्तियो द्वारा जिस मरण को काम्य ठहराया है, वह अवश्य ही उपरोक्त युद्धजन्यमरण से भिन्न है। इस सम्बन्ध मे गोरखनाथ की एक उक्ति लीजिए :—

"मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।
तिस मरणीं मरौ, जिस मरणीं गौरख मरि दीठा॥

अर्थात् हे जोगी ! मरो, मरना मीठा होता है। किन्तु वह मौत मरो जिस मौत से मरकर गोरखनाथ ने परमतत्व के दर्शन किये। प्रश्न यह है कि वह मरण कौनसा है जिसके द्वारा परमतत्व के दर्शन होने से मरण का ही मरण हो जाता है ?

ऊपर "सबद–बाण" के चलाने से शिष्य की मरण–दशा का उल्लेख किया गया है। गोरखनाथ ने भी मुसलमान काजी को समझाते हुए कहा था कि मुहम्मद के हाथ मे जो तलवार थी, वह लोहे या फौलाद की बनी हुई नही थी, वह प्रेम अथवा "सबद" की तलवार थी :—

महमद महमद न कर काजी, महमद का विषम विचार।
महमद हाथि करद जे होती, लोहे गढी न सारं॥

× साहित्य और भाषा पर इस्लाम का प्रभाव (श्री रामधारीसिंह दिनकर) परिषद्-पत्रिका वर्ष-२, अक-२, पृ० ३३–३५।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने मरण–दशा के प्रत्यक्षीकरण का निम्नलिखित शब्दों मे वर्णन किया है —

आपुले मरण पाहिले म्या डोला, तो झाला साहेला अनुपम ।
आनन्दे दाटली तिन्हीं त्रिभुवने, सर्वात्मउपणे भोग झाला ।
एकदेशी हो तो अहकारे आथिला त्याचत्रा त्यागे झाला सुकाल हा ।
फिटले सुतक जन्मा मरणाचे, भी मापया सकोचे दूर झालो ।
नारायणे दिला वसतीस ठाव, ठेवोनिया भाव ठेलो पायी ।
तुका म्हणे दिले उमटूनी जगी, घेतले ते अगी लाबूनिया ।।

अर्थात्– आज अपने दिव्य नेत्र से हमने अपनी मरण-दशा का प्रत्यक्षीकरण किया । यह एक अनुपम आनन्द महोत्सव हुआ । तीनो भुवन आनन्द मे भरे हैं, आज हमे सर्वात्मभाव से उनका भोग हुआ । आज तक देहाभिमान मे हम एकदेशी बन बैठे थे, उस अह भाव का त्याग होते ही सर्वात्मभाव का उदय हुआ । आनन्दमय रूप चारो ओर खुल गया । जन्म-मरण परम्परा का अशुचि–सम्बन्ध टूट गया । अब हमारे लिए परिच्छिन्न भाव कही रहा ही नही । भगवान् ने हमको अपने यथार्थ रूप में रहने के लिए विशाल जगह दी । अब हमे भगवान के चरणो के सिवाय और कोई नही देख पडता। तुकाराम कहते हैं कि यह तो हमारा अपरिच्छिन्न आनन्दमय नित्य रूप प्रकट हुआ, वही हम हैं–यह निश्चय अब त्रिकाल मे भी मलिन नही हो सकता ।

तुकाराम की उक्त वाणी से सिद्ध है कि सन्त लोगो ने जिस मरण का वर्णन किया है, वह शरीर-त्याग नही है, शरीराभिमान का त्याग है । यह वस्तुत सकुचित अह का मरण है जिसके द्वारा साधक उच्च भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित होकर स्वरूपानन्द का लाभ प्राप्त करता है । यहा यह भली भाति स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह मरण सामान्य मरण नही है, इस मरण के द्वारा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति नहीं हो जाती । यह मरण एक प्रकार से "जीवन्मरण अथवा जीवन्मुक्ति" है ।

जैसा ऊपर कहा गया है, सस्कृत साहित्य में मरण का जय जयकार न होकर अमरता का ही जय जयकार हुआ है । मैत्रेयी ने भी याज्ञवल्क्य से कहा था, "किं तेनाऽह कुर्याम् येनाऽ ह नाऽ मृता स्याम् । अर्थात् उसको लेकर मै क्या करू जिससे मुझे अमरत्व न मिले । किन्तु कबीर ने अपनी साखियो मे मरण का जिस उल्लासपूर्वक वर्णन किया है और गोरख ने 'मरण है मीठा' कह कर जिसके माधुर्य का बखान किया है, उसकी छटा निराली है । अह भाव का मरण अथवा नाश होने से ही साधक अपने रूप मे स्थित हो पाता है, उसे अपने स्वरूप की उपलब्धि हो पाती है और अपने स्वरूप की उपलब्धि किसे मधुर न लगेगी ? सन्तो का यह मरण वास्तव मे आत्मसाक्षात्कार का साधन है और आत्मसाक्षात्कार की स्थिति मे पहुचने पर तो मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है । इसीलिए कबीर ने तो यहा तक कह दिया था—

"हम न मरिहैं, मरिहै संसारा । हमको मिला जिलावनहारा ।।"

रवि बाबू ने मृत्यु के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उससे मृत्यु गौरवान्वित हुई है । मृत्यु की विभीषिकाओ से वे कभी विचलित नही हुए । उनका कहना था कि मृत्यु जिस दिन मेरे द्वार पर आएगी, मै उसे खाली नही जाने दूगा । अपने जीवन का अमोल रत्न (प्राण) मैं उसे उपहार मे दे दूगा ।

जन्म-मरण के सम्बन्ध मे कही हुई कबीर की निम्नलिखित उक्ति को रवि बाबू ने बडी चमत्कार-पूर्ण कहा था—

"जनम औ मरण बीच देख अन्तर नही दच्छ औ बाम यू एक आही।
कहे कबीर या सैन गूंगा तई वेद औ कातेब की गम्य नाहीं ।।

हिन्दी–साहित्य मे भी कामायनी के मनु ने "मृत्यु अरी चिर–निद्रे ! तेरा अक हिमानी–सा शीतल" कह कर मृत्यु के सम्बन्ध मे अपने उद्गार प्रकट किये थे। श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी "अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास" द्वारा मृत्यु का जय जयकार ही किया है। यदि पतजी के शब्दो मे "जीवन–नौका का विहार चिर जन्म-मरण के आरपार" है तो मृत्यु पूर्ण विराम भले ही न हो, वह नवीन प्रस्थान के लिए आवश्यक विराम तो है ही।

एक बार किसी ने काका कालेलकर से पूछा कि भगवान ने अगर मृत्यु छीन ली और आपको अजर–अमर बना दिया तो आप क्या करेगे ? यह सुन कर उन्होने उत्तर दिया, "इस जीवन का अन्त होने वाला नही है, ऐसा डर अगर मेरे मन मे छा गया तो मै इतना घबरा जाऊगा कि उस सकट से बचने के लिए मैं आत्म-हत्या ही करूगा। मैं तो मानता हूँ कि खुदा की अगणित न्यामतो मे सबसे श्रेष्ठ है मौत। मैं नही मानता कि परम दयालु परमात्मा मरने के हमारे अधिकार से हमे वचित करेगा।"×

ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट है कि आधुनिक युग मे ऐसे कवि और विचारक तो हुए है जिन्होने मृत्यु को वरदान के रूप मे ग्रहण किया है किन्तु जिस मरण को उन्होने वरदान के रूप मे देखा है, वह मरण कबीर आदि निर्गुण सन्तो द्वारा निरूपित मरण नही है। कबीर तथा अन्य सन्तो द्वारा विवेचित मरण-तत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक है और अपने ढग का अनूठा मरण है जिसमे शरीर का मरण नही होता, मरण होता है भौतिक वासनाओ का और व्यक्ति के क्षुद्र सकुचित अहम् का। *

×मौत सचमुच है मीत (मगल प्रभात, १ अप्रैल, १९६५)

* हिन्दी के यशस्वी कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अवश्य अपनी 'छाया' शीर्षक कविता मे प्रकारा–न्तर से कबीर तथा अन्य सतो द्वारा निरूपित मरण से मिलते–जुलते विचार प्रकट किये है। छाया के प्रति निम्नलिखित कथन मे —

हा सखि ! आओ बाह खोल हम लग कर गले जुड़ालें प्राण
फिर तुम तम मे मैं प्रियतम मे, हो जावे द्रुत अंतर्धान।

छाया रूप सखी से अभिप्राय छायारूप जगत् से ही है जिसे कवि (आध्यात्मिक जगत् मे प्रवेश से पहले) प्यार कर लेना चाहता है क्योकि आत्मा के प्रियतम मे मिल जाने के बाद फिर छाया मे मिलना कहा होगा ? यहा भी ऐसा नही लगता कि शारीरिक मरण होने पर ही प्रियतम से मिलने की बात कही जा रही है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि मरणतत्वविषयक सत–शैली और पत–शैली मे पर्याप्त अन्तर है। एक में जहा मरणोल्लास की अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी मे प्रियतम मे मिलन के पूर्व भौतिक जगत् के आकर्षणजन्य मोह को वाणी दी गई है। —लेखक

जैनधर्म और उसके सिद्धान्त

भारतवर्ष की प्राचीनतम सन्कृतियो मे श्रमण सम्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देश और कालो मे यह विशिष्ट नामो से व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते हैं किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम साहित्य तथा अन्य देशो के साहित्य एव परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्हत सस्कृति का प्रसार भली-भाति इस देश मे व्याप्त था। वेदो मे हमे जिस यज्ञपरायण सस्कृति के दर्शन होते है वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यजन-कर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वेद-काल मे और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले से ही ब्राह्मण सस्कृति तथा सृष्टिकर्तृत्व विरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणी के लोग आर्हत सस्कृति के प्रसारक थे। ये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नही मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्रकृति के नियमो से बनी है। प्रकृति के नियमो को भली भाति ज्ञात कर मनुष्य भी नये ससार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सबसे बडी शक्ति है। वह समस्त शक्तियो मे श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्यो ने सरस्वती और सिन्धु के सगम पर विज्ञान भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान भवन मे बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था [1]। आर्हत लोग कर्म मे विश्वास रखते थे। और यही उनके सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भाति वे धार्मिक प्रवृत्तियो मे विशेष रुचि रखते थे और समय पडने पर वे वाद-विवादो मे भी भाग लेते थे। आर्हत् "अर्हत्" के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि "श्रीमद्भागवत", पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो से होती है। इसमे जैनधर्म की उत्पत्ति के सबध मे भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते है [2]। यथार्थ मे आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदो, उपनिषदो, तथा पुराण-साहित्य मे यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए "आर्हत" शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थो मे तथा अशोक के शिलालेखो मे "निग्गठ" शब्द का प्रयोग मिलता है। निग्गठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनो

---

१ देखिए, देवदत्त शास्त्री द्वारा लिखित—चिन्तन के नये चरण, पृ० ९८।

२ श्री मद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण ३१७—१८ अ०, स्कन्दपुराण—३९-३७-३८ अ० और शिवपुराण ५।४-५।

का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—भीतरी (काम, क्रोध, मोह आदि) और बाहरी (कौपीन, वस्त्रादि) परिग्रह से रहित श्रमण साधु। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-सीथियन के समय मे यह धर्म "श्रमण-धर्म के नाम मे प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मुख्य रूप से ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिको का उल्लेख किया है।[3]

पिछले दो दर्शको मे जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध मे कई प्रमाण उपलब्ध हुए है जिनसे पता चलता है कि वेदो के युग मे और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश मे प्रचलित था। वैदिक काल मे यह 'आर्हत' धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। आर्हत लोग "अर्हत" के उपासक थे। वे वेद और ब्राह्मणो को नही मानते थे। वेद और ब्राह्मणो को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले "बार्हत" कहे जाते थे। बार्हत "बृहती" के भक्त थे। बृहती वेद को कहते थे। वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वेदो मे कई स्थानो पर आर्हत और बार्हत लोगो का उल्लेख हुआ है तथा "अर्हन्" को विश्व की रक्षा करने वाला एव श्रेष्ठ कहा गया है।[4] शतपथब्राह्मण मे अर्हन् का आह्वन किया गया है और कई स्थानो पर उन्हे श्रेष्ठ कहा गया है[5]। यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दो का वैदिक साहित्य मे कई स्थानो पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य मे वे भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुए है। कही उनका अर्थ बैल या साड है तो कही मेघ और अग्नि तथा कही विश्वामित्र के पुत्र और कही बलदायक एव कही श्विक्नो के राजा भी है। अधिकतर स्थलो मे "वृषभ" को कामनापूरक एव कामनाओ की वर्षा करने वाला कहा गया है। सायण के अनुसार "वृषभ" का अर्थ कामनाओ की वर्षा करने वाला तथा 'अर्हन्' का अर्थ योग्य है। किन्तु ऋग्वेद मे दो स्थलो पर स्पष्ट रूप से "वृषभ" परमात्मा के रूप मे वर्णित हैं। ऋग्वेद मे वृषभ को कही-कही रुद्र के तुल्य और कही-कही अग्नि के सन्दर्भ मे वर्णित किया गया है।[6] इसी प्रकार "अरिष्टनेमि" का अर्थ हानि रहित नेमि वाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और श्रौतो का पिता कहा गया है। किन्तु शतपथब्राह्मण मे अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और "अरिष्टनेमि" का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात् अहिंसा के प्रवर्तक है। अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य मे प्रशस्त कहा गया है। वृष को धर्मरूप ही माना गया है। जैनागमो मे ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये है। अन्य देश-विदेशो की मान्यताओ एव उनकी आचार विचार पद्धति से इस की पुष्टि होती है। कही यह वृषभ "धर्म-ध्वज" के रूप मे, कही कृषिदेवता के रूप मे और कही "वृषभध्वज" के रूप मे पूजे जाते है। कही यह आदिनाथ है तो कही आदि धर्मप्रवर्तक और कही परमपुरुष के रूप मे वर्णित है। बृहस्पति की भाति अरिष्टनेमि की भी सस्तुति की गई है[7]।

---

३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अर्रयन, पृ० ९७—९८।

४ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१,३, ७।१८।२२, १०।२।२,९९ ७।
तथा—१०।८५।४, ऐआ० ५।२।२, शा १५।४, १८।२,२३।१, ऐ० ४।१०

५ ३।४।१।२—६, तै० २।८।६।६, तैआ० ४।५।७, ५।४।१० आदि।

६ ऋग्वेद ४।५८।३, ४।५।१, १०।१६६।१

७ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा : स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

—ऋग्वेद १।८९।६

वैदिक युग में पणि और व्रात्य आर्हत धर्म को मानने वाले थे। पणि भारतवर्ष के आदि व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धन में ही नही ज्ञान में भी बढे-चढे थे। इसलिए यज्ञपरायण सस्कृति को नही मानते थे। वे ब्राह्मणो को हवि, दक्षिणा-दान नही देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथो मे था। वे कारवां वनाकर अरव और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे। बाद मे चीन तथा अन्य देशो से भी पणि लोगो ने व्यापारिक सवध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज वनिया रूप मे जाने जाते हैं।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हे अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नही मानते थे। किन्ही विद्वानो के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे-यह ठीक प्रतीत नही होता, क्योकि पचविशब्राह्मण मे (१७-१) मे व्रात्यो के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुत व्रात्य लोग व्रतो को मानते थे। अर्हन्तो (सन्तो) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[८] अथर्ववेद मे "व्रात्य" का अर्थ घूमने वाला साधु है। व्रात्यकाण्ड मे पूर्ण ब्रह्मचारी को "व्रात्य" कहा गया है।[९] इससे भी व्रतो की पूजा करने वालो की पुष्टि होती है। अथर्ववेद मे व्रात्य की भाति "महावृष" भी एक जाति कही गई है।[१०] महावृष लोग आर्य जाति के कहे गये है। जो भी हो, इससे यह पता लग जाता है कि वैदिक काल मे ब्राह्मणविरोधी जातिया भी थी जो प्राकृतिक नियमो से सृष्टि का वर्तन-प्रवर्तन मानती थी। वस्तुत यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग मे ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय साध्यो का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्यो को देवद्रोही कहा जाता था। ये ससार की रचना प्राकृतिक नियमो से मानते थे।[११] परन्तु प्रत्येक युग-युग मे समय-समय पर सघर्ष हुए और उस सघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना मे परिलक्षित हुआ।[१२] ज्यो-ज्यो युग पलटते गये, त्यो-त्यो यह अन्तर अधिक बढता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एव धार्मिक विचार-क्रान्तियो का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परम्परा विभिन्न केन्द्रो मे विकासशील रही है और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणो से इसके विविध रूप कहे जा सकते है। परन्तु आर्हत और बार्हत दोनो ही एक परम्परा के दो प्रारंभिक मुख्य केन्द्र-विन्दु हैं जिनके चिन्ह आज भी परिलक्षित होते है।

भारतीय धर्म और सस्कृति के इतिहास मे आर्हत धर्म एव श्रमण सस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियो से प्रचलित इस धर्म और सस्कृति ने देश-विदेशो के हार्द को प्रभावित किया है जिसके चिन्ह आज भी विविध रूपो मे लक्षित होते हैं। सहस्रो वर्षो से भारत और बेबीलोन, ईरान, एजटिक, अफ्रीका आदि देशो से व्यावसायिक और सास्कृतिक सवन्ध बने हुए है। इन देशो मे धर्म और

---

८ मैक्डानल और कीथ वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द, १९५८, पृ० ३४३।

९ सूर्यकान्त वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३

१० अथर्ववेद ५-२२, ४-५. ८।

११ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, पृ० ९७-९८।

१२ वही, पृ० ९९।

संस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मैगस्थनीज ने अपनी भारत-यात्रा के समय मे दो प्रकार के दार्शनिको का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण उस युग के प्रमुख दार्शनिक थे।[13] उस युग मे श्रमणों को बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तो की तुलना मे अन्धविश्वासी हिन्दू लोगो का धर्म और सस्थान आधुनिक है।[14] मैगस्थनीज ने श्रमणो के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया है उसमे कहा गया है कि वे वन मे रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनो से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाति उनकी स्तुति एव पूजा करते थे।[15] रामायण मे उल्लिखित श्रमणो से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषण ने श्रमणो को दिगम्बर कहा है।[16] सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो प्रकार के साधु रहते हो और वस्त्र के रूप मे वल्कल परिधानो को धारण करते हो, जैसा कि मैगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण साहित्य मे भी श्रमणो का उल्लेख मिलता है।[17] किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान मौन है।

रामायण की टीका मे जिन वातवसन मुनियो का उल्लेख किया गया है वे ऋग्वेद मे वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते है। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[18] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।[19] वातरशन मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप मे वे सबसे बडे माने जाते थे। श्री बाहुबलि ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह जाती थी। ब्राह्मण साहित्य मे—मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक मे इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलो पर इनकी स्तुति की गई है।[20] इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल मे प्रचलित रहा है। अर्हन् के उपासक आर्हत कहे गये है जो आगे चलकर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है और महावीर को श्रमण होते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को "महा-

---

१३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९२६, पृ० ९७-९८।

१४ वही, पृ० १०१-१०२।

१५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिका आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५।

१६ "नाथवन्त" दासा : शूद्रादय इति यावत् श्रमणा दिगम्बरा "श्रमणा वातावसना" इति निघण्टु.। यद्वा "चतुर्थमाश्रम प्राप्ता श्रमणा नाम ते स्मृता" इति स्मृति"।

—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।

१७ ऋ० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१

१८ "वातरशना. वातारशनस्य पुत्रा मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय पिशगा पिशगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासासि वसते आच्छादयन्ति।"

—सायण भाष्य,१०।१३६।२

१९ वही, १०।१३५।७

२० तैआ० १।२१।३, २३।२, २४।४, ३१।२७. १।

श्रमण" कहने लगे ।[२१] परन्तु जैन परम्परा मे "श्रमण" शब्द अपने मूल रूप में आज तक सुरक्षित है ।[२२] वस्तुत ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणो की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तव से अब तक अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित है। श्री मद्भागवत मे मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणो के धर्मप्रवर्तक कहे गये हैं।[२३] और उन्हे "योगेश्वर" कहा गया है ।[२४] इसी प्रकार अन्य पुराणो मे भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कहीं-कही जैनधर्म कहा गया है। पदमपुराण, विष्णु पुराण, स्कन्द और शिव पुराणो से आर्हत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणो मे जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सवध मे कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्य-पुराण मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदो को नही मानता[२५]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग मे वेदो की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेद विरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप मे उनका स्मरण एव उल्लेख किया जाता रहा, क्योकि किसी वैचारिक क्रान्ति के सन्दर्भ मे ही अपने आप को पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये है। किन्तु इससे जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पडता है। सक्षेप मे- तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थो तथा अशोक के शिलालेखो मे यह "निग्गठ" के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो-ग्रीक तथा इन्डो-सीथियन के युग मे "श्रमण" धर्म के नाम से देश–विदेशो मे प्रचारित रहा। पुराण–काल मे यह जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ और तव से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रो मे इस के जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते है। देश के विभिन्न प्रान्तो मे समय समय पर यह भिन्न नामो से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण मे भक्ति-आन्दोलन जोर पकड रहा था, उस समय वहा पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पजाब मे यह "भावादास" के नाम से प्रचलित रहा।[२६] तथा "सरावग-धर्म" के नाम से आज भी राजस्थान मे प्रचलित हैं। गुजरात मे और दक्षिण मे यह अलग अलग नामो से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तक की एक बृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती हैं।

---

२१ सम्बुद्ध करुणाकूर्च सर्वदर्शी महाबल ।
विश्वबोधो धर्मकाय सगुप्ता र्हन्सुनिश्चित ।।
व्यामामो द्वादशाख्यश्च वीतराग सुभावित ।
सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमण कलिशासन ।। त्रिकाण्डशेप, १,१०–११ ।

२२ मुमुक्षु श्रमणो यति । –अभिधानचिन्तामणि, १,७५ ।

२३ "नाभे. प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार ।"–श्री मद्भागवत, ५।३।२०

२४ "भगवान्ऋषभदेवो योगेश्वर प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाम नामाभ्यवर्षत् ।" वही, ५।४।३

२५ गत्वा थ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति ।
जिनधर्म समास्थाय वेदबाह्य सवेदवित् । मत्स्यपुराण, २४।४७

२६ डा० ज्योति प्रसाद जैन जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृ० ६२ ।

जैन पुरातत्व से भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते है जो धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते है। यद्यपि मोहन-जोदडो और हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त मूर्तियो के सबध मे अभी तक निश्चय रूप से नही कहा जा सका है कि वे जिन है या शिव, किन्तु कालीबगा के उत्खनन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे भी जैनधर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत मे रहा है। उपलब्ध जैन मूर्तिया ई० पू० ३०० तक प्राचीन कही जाती है। मौर्यकालीन कुछ-मूर्तिया पटना सग्रहालय मे सुरक्षित है।[२७] इसी प्रकार लगभग प्रथम ई० पू० से जैन चित्रकला के स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते हैं। पुरातन शिलालिपि मे वीर नि० ८४ का सर्वप्राचीन सवत् सूचक लेख मिलता है। मथुरा के जैनलेख तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिनके आधार पर डा० हर्मन जेकोबी ने जैनागमो की प्राचीनता सिद्ध की है।[२८] ससार की प्राचीन लिपि एव कला की भाति श्रमण सस्कृति एव कला मे सूक्ष्म भावो का अकन करने के लिए प्रतीक शैली की परम्परा प्रचलित रही हैं। मूर्ति निर्माण मे, चैत्य या मन्दिरो की रचना मे, सिद्ध-यत्रो तथा चित्रो की कला मे यह प्रतीक शैली अन्तय रहस्यमय रूप से अभिव्यक्त हुई है। यही नही, जैन-साहित्य मे भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभाति अध्ययन किया जाये तो इसकी प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूप से मिल सकते है। शिला-लेखो से प्राप्त प्रमाणो के आधार पर अब तीर्थङ्कर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योंकि प्रभास-पट्टन का एक प्राचीन ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालकार ने किया है। उससे बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दजर ने प्रथम का समय ११४० ई० पू० और द्वितीय का ६०४–५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है। उस राजा ने अपने देश की उस आय को जो उसे नाविको से कर द्वारा प्राप्त होती थी, वह जूनागड के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी।[२९] इसी प्रकार अन्य बौद्ध यात्रियो के उल्लेखो से भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पडता है। यूनान और मिश्र के दार्शनिको ने भी श्रमण सन्तो का उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

जैनधर्म के मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते है—अहिसा, आत्मा का अस्तित्व एव पुनर्जन्म, कर्म तथा स्याद्वाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्म का यह मूलभूत सिद्धान्त हैं—'अहिसा परमो धर्म:, यतो धर्मस्ततो जय:"। श्रमण सस्कृति का यह प्राण-तत्व है। इसमे व्यक्ति और समाज की सजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुत मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिसा व्यक्ति की भीरुता, शिथिलता या समाज के भय का परिणाम न होकर मोह की अनासक्ति और सच्चरित्र एव शील की राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्ति को जन्म देती है। जिससे करुणा तथा दया का सचार होता है। और जो समाज कल्याण के लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हमे कायर और डरपोक नही बनाती। वह हमे मोह और क्षुद्र स्वार्थो को जीतने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमे

---

२७ मुनि कान्तिसागर श्रमण सस्कृति और कला १९५२, पृ० २४।

२८ वही, पृ० ८०।

२९ देखिए, "अनेकान्त" वर्ष ११, किरण १ मे प्रकाशित बाबू जयभगवान, बी० ए० एडवोकेट का मोहनजोदडोकालीन और आधुनिक जैन सस्कृति शीर्षक लेख, पृ० ४८।

क्षात्रधर्म का दर्प एवं तेज है। जैनों ने व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण लेने का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन में उन्होंने कई युद्ध किए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवकोटि तथा कलचुरि, गंग और राष्ट्रकूट वंश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, बिन्दुसार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराएं अपना मतावलम्बी मानते हैं। जो भी हो, इसमें स्पष्ट है कि ज्ञात, अज्ञात न जाने कितने सम्राट और राजा हुए जिन्होंने युद्ध और अहिंसा का सफलता से संचालन किया था।

जैन शास्त्रों में हिंसा के संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी—ये चार भेद किए गए हैं। ये हिंसा के स्थूल भेद हैं। इनका मूल है—प्रमाद पूर्वक कार्य न करना, सावधानी रखना।[30] और यही आगे चल कर द्रव्य रूप और भावरूप भेदों से हिंसा मुख्य रूप में दो कोटियों में विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नहीं, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय में वह हिंसा है और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले में यदि कदाचित् प्राणों का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त का बन्ध नहीं होता।[31] वस्तुत अच्छे और बुरे भावों पर जीवन की नींव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृति जीवन में अन्न और जल की भांति पोषक तत्व हैं जिनसे धर्म की संरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों में महत्व वर्णित है। भारतीय संस्कृति तो मूलत: अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियों को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है।[32] वस्तुत अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-संस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एवं निर्वचन किया है और समस्त धर्म रूपों को अहिंसा की व्यापक व्याख्या में समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि किसी न किसी रूप में सभी हिंसा

---

३० प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा। —तत्वार्थसूत्र, ७।८

३१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

३२ धर्मे रता सत्पुरुषै समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनय प्रधाना ॥ वाल्मीकि रामायण, १०९।३

तथा—

अहिंसासत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
एतत् सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्ये ब्रवीन्मनु ॥
यन्नूनमश्या गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

लोक मे व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवाद मे ईश्वर का कोई स्थान नही है। कम ही ईश्वर क स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि ससार के कार्य किसी न किसी कारण से उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नही होता, जो विभिन्न विपयो के जनक है और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्ति से उत्पन्न न होकर कर्मों से उत्सृष्ट होते है। ससार की विभिन्न विपमताओं का कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विपमताओं के मूल मे है। कर्म जन्म-जन्मान्तरो के चक्र के रूप मे विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओ की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्म का कर्मवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्म मे कर्मो के विभिन्न भेदो तथा विविध अवस्थाओ का गणित के आधार पर विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मो से अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिस समय मे जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे हा पारिभाषिक शब्दावली मे "निर्जरा" कहते है।[33] और जहा न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग (मिलने वाला कष्ट) है, न मोह है, न आश्चर्य, न निद्रा, न प्यास और न भूख ही, वहा निर्वाण होता है।[34] वास्तव मे निर्वाण वही स्थिति है, जिसमे सुख–दुःख की अनुभूति नही होती, केवल अतीन्द्रिय निर्बाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनो का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमे विभिन्न दृष्टिकोणो से पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुत जड और चेतन सभी मे अनेक धर्म विद्यमान हैं। उन सब का एक साथ कथन नही किया जा सकता। विवक्षा के अनुसार एक समय मे किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावली मे "कथचि अपेक्षा" से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादो के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न रूपो मे हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओ के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्ही दृष्टिकोणो (नयो) की अपेक्षा रखता है। जैनागमो मे सात दृष्टिकोणा को सात भगिमाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणो को समझे बिना स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न करते हैं उन्हे यह सशयवाद जान पडता है। यथार्थ मे स्याद्वाद सशयवाद न हो कर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमे विभिन्न धर्मो की दृष्टियो को कथचित् रूप मे, किसी अपेक्षा से व्यवहार मे या निश्चय मे सत्य स्वीकार किया गया है। स्वय तीर्थङ्कर महावीर स्वामी वैर-विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को सत्य के रूप मे ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रो का त्याग किया। मनुष्य की वास्तविक अवस्था को प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की और सब मे समताभाव का प्रचार किया। यह वैर-विरोधमूलक समन्वयवादिनी वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्र बिन्दुओ पर एक वस्तु का विचार कर उसकी वास्तविकता को परखती थी। क्योकि सत्य अखण्ड होता है। शब्दो के सीमित घेरे मे उसके अनन्त गुणो की व्याख्या सभव नही है। किन्तु उसके केन्द्र मे व्याप्त मुख्य बिन्दुओ

---

33 जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गल जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडण चेदि णिज्जरा दुविहा॥ द्रव्यसग्रह, ३६

34 णवि इ दियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाण॥ नियमसार, १८०

को अलग-अलग तथा समाहार रूप मे समझ कर उसकी अखण्डता का बोध किया जा सकता है । जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवो का एव उसके रूपो का ज्ञान नही होता, तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुँचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारो से जोडती है और जिसमे बाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियो को एक केन्द्र मे स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है। सच यह है कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है। और इस एकान्त का परिहार अनेकान्त के बिना सम्भव नही जान पडता। विभिन्न नयो एव दृष्टिकोणो से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सचाई समझ मे आती है। आचार्य समन्तभद्र ने "आत्म-मीमासा" मे तो यहा तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते है और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं। जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्त-वाद से प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है।

तीर्थङ्कर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नही था। यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था। वैदिक युग मे विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे। ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यो का मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदासद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और सशयवाद इन दस सिद्धान्तो पर आधारित था।[३५] सदासद्वाद का सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् मे किसी ने सत् को स्वीकार किया और किसी ने असत् को। ऋग्वेद के ऋषि "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" का उद्घोष करते है। वस्तुत. विश्व की व्याख्या करने के लिए विविध मतवादो की दार्शनिक भूमिका पर सृष्टि हुई जिनका समाहार स्याद्वाद की सप्त भगियो मे लक्षित होता है जिसे 'सप्तभगी स्याद्वाद" कहा जाता है।

इस प्रकार वैदिक काल से और उसके भी पहले से जैनधर्म अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित चला आ रहा है। यह आर्यो की यज्ञपरायण सस्कृति से पृथक, पर आर्य सस्कृति की परम्परा को ही प्रदर्शित करती है जिसमे भारतीय आचार–विचार तथा गरिमा के उत्कृष्ट रूपो का समाहार मिलता है। वास्तव मे यह धर्म और सस्कृति तप पूत अहिंसा मूलक है जो अपनी विशिष्टिताओ के कारण देश-विदेशो मे समादृत रहा है और जिसमे जीवन की निश्छल एवं शान्त प्रकृति के दर्शन उपलब्ध होते है।

---

३५ देवदत्त शास्त्री · चिन्तन के नये चरण, १९६० पृ० ९८।

KAUTILYA ON WAR

The *Kautilya Arthaśāstra* deals with war as one of the instruments of foreign policy. The ideal set before the ruler in this text is that of conquest and of establishment of suzerainty over the *cakravarti-Ksetra,* that is the whole of the Indian sub-continent. For achieving this objective, the adoption of a policy of war may often be necessary. Kautilya therefore, describes at length how an offensive war should be successfully conducted At the same time he also explains in detail how the victim of aggression should endeavour to save himself.

Normally the policy of war is the culmination of a policy of hostility (*vigraha*) towards another state It is, however, regarded as conceivable that in certain circumstances war may be undertaken even against a state with which one is at peace (*samdhi*) at the time. The adoption of a policy of aggressive war results in *yāna,* a military expedition against an enemy (7 4. 14. 18)[1].

The *Arthaśastra* recommends that a number of factors must be taken into careful consideration before deciding to undertake a military campaign against some enemy. These are principally (1) the relative strength of the two parties between whom the fighting is to take place, (2) the nature of the terrain where it is likely to take place and (3) the season when it is planned to take place. The strength of a state lies in three things—(i) resources in the form of the armed forces and finances needed to keep them going (*prabhavasakti*); (ii) the personal energy and drive of the rulers of the state (*utsāhaśakti*); and (iii) capacity to arrive at right decisions after careful deliberation together with skill in the use of diplomacy (*mantrasakti*). A state contemplating a military campaign against another state, must satisfy itself about its own superiority in these respects, especially in the matter of *mantraśakti* (9.1.14–15).

Besides, the state must calculate beforehand the gains likely to be obtained and the losses likely to be suffered in the course of the campaign as well as the expenses that would be necessary for its successful conclusion. It is only when the gains expected far outweigh the likely losses and expenses that a military campaign is recommended (9 4,3).

---

1. The references in brackets are to the new edition of the Kautilya Arthasastra published by the Bombay University.

Moreover, it is essential to take certain precautions before the start of the campaign. It is necessary to see that no troubles arise in the rear while the bulk of the armed forces, with the ruler at their head, are campaigning away from home. The troubles may be caused by some state dignitaries rising in revolt against the ruler when the latter is absent from the state. They might also join hands with some other enemy of the state to seize the kingdom. The text describes at great length–in four chapters, (9 3, 9 5-7)—how the possibility of such revolts and troubles in the rear should be foreseen and steps taken to prevent them from arising, before one leaves the home state on a military expedition. It is recommended that generally one-third or one-fourth of the armed forces raised for the campaign should be left behind in the kingdom for this purpose (9.1.34). A regent, *sūnyapāla* should be appointed in over-all charge of the state, who is to see to it that no troubles arise during the ruler's absence (9.3 10).

Preparations for the campaign are to start with the mobilisation of the necessary troops and their proper equipment. As is well-known, the army in ancient India consisted of four kinds of fighting forces : elephants, chariots, cavalry and infantry. Again from another point of view, the state may have at its disposal six kinds of such forces: hereditary troops, hired troops, banded troops, the troops of an ally, the troops of an enemy (conquered from him) and forest troops. The general principle regarding the raising of troops for a campaign is that they must be such as would be able to overcome easily the forces which the enemy in question may have at his disposal at the time (9-2-25).

As to the equipment of the troops, the *Arthasastra* enumerates a large number of weapons and armours It mentions spears and lances of various types and sizes, bows and arrows, swords, etc. as well as a large number of machines, *yantras*. These latter seem to have been mainly useful for assault on a fortified place or for defending such a place. Shields, coats of mail and armours of various types are also mentioned (Ch. 2.18). Besides, accoutrements and ornaments for elephants, horses and chariots are also referred to (2.32.12-15; 2 30.42; 2.33.6).

The text naturally lays emphasis on the training of the armed forces. Different *adhyaksas* or superintendents are to be in charge of the four types of troops, responsible for their care, training and equipment. The duties of the *adhyksas* in charge of horses and elephants are particularly described at great length (Chs. 2.30-33). It is laid down that every day at sunrise except on holidays all the four types of fighting forces should carry out exercises in their respective modes of fighting, and that the ruler himself should inspect the various units and observe their fighting qualities at frequent intervals (5.3.35-36). In fact, in the king's daily routine a part of every day is reserved for the inspection of troops (1 19.15). It is clear that such training and inspection is meant to be carried out even during peace time.

A very important consideration is the loyalty of the troops to the ruler. It is recommended that spies, prostitutes, actors, singers and so on in secret service should be on the look-out for any signs of disaffection among the troops Trusted army commanders are also expected to keep a watch over men in their charge (5.3 47). It may be presumed that any one suspected of disloyalty would be severely dealt with. Deserters from the army when it is mobilised and assembiled in the camp are to be imprisoned (10 1 16).

There is some confusion regarding the position of the *senāpati* Ordinarily, he is the highest officer in the army. He is expected to be an expert in all kinds of warfare and able to use appropriate tactics on the battle-field and he is apparently to be in command of all the troops on the battle-field (2 33 9-11) However, in the war chapters in one place the *senāpati* appears subordinate to the *nāyaka*, who has ten *senāpatis* under him (10 6 45) This *senāpati* is a junior officer and therefore different from the usual dignitary of that name The confusion may be due to a difference in the sources utilised in this text.

When full precautions have been taken and preparations completed for a military expedition, the ruler is advised to set up a base camp This is to be a strongly fortified encampment with a rampart and a moat all round (10. 1. 1) It is obvious that such a camp can be set up in one's own territory, not in that of the enemy against whom the war-like preparations are made The setting up of such a camp would clearly take a long time and that would certainly alert the enemy against whom the expedition is contemplated Presumably, however, steps for defending his territory likely to be taken by him would not be such as to deter the would-be-conqueror. It is noteworthy that the encampment, where the troops would be staying for quite some time, is to provide not only for traders, but also for prostitutes (10 1. 10)

A very unethical practice is suggested at one place for cheating the soldiers of their due wages It is stated that at the time of the start of the expedition secret agents disguised as traders should offer to the soldiers goods at double the regular price, to be paid, however, only at the end of the campaign. The soldiers are apparently expected to agree to the double price (to be paid only later) hoping that they would in the mean-while acquire booty during the campaign The purpose of this procedure is said to be the disposal of state goods lying in the stores as well as the recovery of the wages paid to the soldiers (5 3 42–44) It is clear that the proceeding recommended is extremely unfair to those who are ready to risk their lives for the ruler and the state

For starting on an expedition there are certain appropriate seasons, depending on the likely duration of the campaign in view. For a campaign of long duration the month of Mārgasirsa is recommended for starting when the yet unharvested monoosn

crops on the enemy's lands can be utilised The month to start on a short campaign is Jyestha, while that for one of middling duration is Chaitra In these cases, too, the enemy's spring and winter crops can be used to provision the army (9 1.34–36). The months are determined also by the consideration of avoiding the rainy season for fighting. However, it is recommended that if conditions are favourable to the operations of one's own troops and unfavourable to those of the enemy, a campaign may be undertaken even during the rains (9 1 39) It is also conceived as possible that a long campaign may not be successfully concluded before the onset of the rains. Camping on the territory of the enemy during the monsoon is recommended in that case (9 1 52)

The army is to start on its expedition from the base camp referred to above. It is necessary that a calculation should be made before hand of the number of halts likely on the way and of the supplies of fodder, fuel and water available at those stops, and in accordance with that the sites for temporary camps should be determined (10 2 1). A sort of camp-superintendent, called *praśāstr.* is to march ahead of the army with labourers and set up these temporary camps and make provision for the supply of water there (10 1.17) As to provisions and equipment for the army, these are to be carried along with the troops, though living on the land through which the army is to march is also contemplated(10 2 2–3). When the army is on the march, the commandant, *nāyaka*, is to march at the head, the king is to be in the middle and the commander-in-chief, *senāpati*, is to bring up the rear (10.2 4).

It is clear that the king, the *vijigīsu*, is expected to be with the army in person. But neither at the encampment nor during the march nor in the disposition of the troops before the start of the fighting is he to be right in front. In the fortified encampment his quarters are in the centre, while on the march he is in the middle and at the start of the fighting he himself is to be in a well-guarded part of the battle-array In the last case the king's double is to be positioned at the head of the array with a view to misleading the enemy troops (10 3 39–42) Elsewhere it is specified that the king's position should be with the reserves which are stationed in the rear of the battle-array at a distance of two hundred *dhanuses* (roughly four hundred yards) (10 5 58).

War, *yuddha* says Kautilya, is of three kinds, open (*prakāsa*), covert (*kuta*) and silent (*tūsnīm*) (7 6.17, 40–41). There is besides *mantrayuddha*, fighting with diplomacy (Ch. 12 2).

Open war is fighting at the place and the time indicated (7 6 40) Such an open fight, of which due notice has been given, is called *dharmistha*, righteous (10.3.26) Obviously, the site selected for the battle would be favourable to the would-be-conqueror. It is recommended that the site selected should be such that there is some kind of fortification in the rear on which one can fall back in case of need and in which

reserves are to be stationed (10 2.20). For the fight the army is to be arranged in what is called a *vyūha* or battle-array. The text describes a number of different types of battle-arrays (Ch 10 6) A *vyūha* normally has a centre, two flanks and two wings. Each of these five sections is ordinarily to have an equal number of fighting units. anywhere from nine to twenty-one It seems that a fighting unit is based either on an elephant or a chariot,[1] with five horsemen and fifteen foot-soldiers in front and fifteen foot-soldiers behind. Thus in an army with nine units in each section, there would be forty-five elephants or chariots, two hundred and twentyfive horsemen, six hundred and seventy-five foot-soldiers in front and an equal number of foot-soldiers behind (10 5 9–13) However, in accordance with different circumstances. the employment of only one of the four types of troops or of a combination of one or more of them is also recommended. In the rear of the *vyūha*, at a distance of two hundred *dhanuses* from it are to be stationed the reserves, which is where there the king also stays while the fight is going on (10 5 58).

Behind the troops arranged for a fight physicians and surgeons are to take their stand with medicines, instruments, ointments and bandages for treating the wounded. By their side are to be women with food and drink for the soldiers. The women are also expected to encourage the soldiers to fight (10.3.47). These women are not nurses in the modern sense

On the eve of the battle the king is advised to fast and offer a sacrifice with *mantras* from the Atharvaveda and to spend the night beside his weapons and vehicles (10 3 34-35) Before the start of the fight he should get together the troops and exhort them, saying that he himself is only a servant of the state like them (10 3 27). Moreover, the excellencies of the battle-array should be pointed out to them; prophecies of victory should be made to them by astrologers, bards should praise the heroism of the troops, speaking of attainment of heaven by the brave (10 3 32-33,44). At the same time the *senāpati* is to announce rewards for outstanding acts of bravery during the fight; 100,000 *papas* for killing the enemy king, 50,000 for killing the *senapati* or a prince and so on down to 20 *papas* for killing an ordinary soldier. It should also be announced that everyone would be allowed to keep what he is able to seize and would at the end of the fight receive a double wage as gratuity Officers are expected to make a note of exploits by soldiers in their respective units (10 3 45-46).

It is laid down that during a fight safety should be given to the following; those who have fallen down (*patita*),those who have turned their back on the fight *(parāṅmukha)* those who surrender *(abhipanna)*, those whose hair are loose apparently as a mark of submission *(muktakesa)*, those who have abandoned their weapons *(muktasastra)* those whose appearance is changed through fear (bhayavirupa) and non-combatants *(ayudhymāna)* (13.4.52). These are rules of what is usually called dharmayuddha.

navy or naval warfare in the usual sense in this text. Possibly fighting carried on by elephants, cavalry and even infantry, taking their position in some river is to be understood, though fighting from boats is quite conceivable

One of the modes of fighting mentioned in connection with the infantry is *upāṁsudanda* 'silent punishment', which is apparently the same as the *tūsnimyuddha* referred to as the third kind of war This is not part of either open fighting or covert fighting It is killing or assassination, particularly of high military officers of the enemy when the two armies are not actually engaged in fighting. This type of 'fighting' is recommended to the weak king when he is attacked by a powerful enemy who refuses to entertain any offers for preserving peace and persists in marching against him In the section called *senamukhyavadha* (Chs. 12 2-3) a number of ways are described for bringing about the death of high military and civil officers of the enemy by the use of weapons or poison through secret agents. The enemy king, too, may be trapped and assassinated (12.5 1-8). When it is borne in mind that this sort of 'fighting' called *tusnimyuddha* is meant for the weak king, who is the victim of aggression by a powerful neighbour who has spurned all offers of peace and negotiations, no serious objections can be raised against its recommendation

Before resorting to 'silent war' the weak king is advised to try *mantrayuddha* war with the help of diplomacy. Through an ambassador, *dūta*,, he should offer terms of peace to the aggressor by the surrender of troops or treasury or land, if need be by the surrender of the whole kingdom with the exception of the capital city (12 1 24-34). If the aggressor were to refuse to accept any of these terms and to persist in his march, an appeal may be made to his regard for *dharma* and *artha*, his spiritual and material well-being He may also be threatened, with likely action by other members of the circle of kings going to the help of the weak king in order to preserve the balance of power and to prevent any single member from growing too strong (12 2 1-7). This is called *mantrayuddha.*

The weak king, instead of giving a fight on the open plains may choose to entrench himself in a fort. It would then be necessary to conquer the fort by laying siege to it. The procedure for doing so and for storming the fort if necessary is described at length (Ch 13 4) Before actually laying siege, various stratagems may be tried to seduce the enemy's officers and subjects from their loyalty to him (Ch 13 1), for luring the enemy king out of the fort and assassinating him (13 2), for smuggling one's troops into the fort or luring the garrison out of the fort (13 3) When all such tactics fail, the fort may be stormed and captured In this connection the text refers to setting fire to objects or places inside the fort from the outside and gives recipes for incendiary preparations (13 4.14-21).

The conquest of a territory may mean its annexation or the submission of its ruler as a vassal. That will depend on the would-be-conqueror. Three types of conqe-rors are mentioned-the righteous conqueror, *dharmavijayin*, who is satisfied with submi-ssion and acceptance of his suzerainty, the greedy conqueror, *lobhavijayin*, who is out to acquire land and money, and the demoniac conqueror, *asuravijayin*, who is out to seize land and money as well as the sons and wives of the conquered kings and is bent on killing these kings (12 1 10-16). It is clear that the last type of conqueror would invariably annex the conquered territories, the second type can be induced to desist from annexation by the offer of money, while the first type is not interested in annexa-tion at all. He is content with mere acceptance of his suzerainty.

This in brief is an outline of Kautilya's teaching on war and its aims. He has concerned himself at length with offensive as well as defensive war, and thus presents a complete picture of war as it may be assumed to have been conducted in ancient India Because of the radical difference between the army units of those days and modern armies, and their modes of fighting, many details of the teaching of this text might appear to be without relevance to-day. Nevertheless, the basic principles underlying its teaching-that a careful consideration of all factors is necessary before engaging in offensive war, that full preparations must be made and all precautions taken before starting the war, that in actual fighting tactics for misleading the enemy and catching him off guard are necessary, that diplomacy has an important role to play, particularly when on the defensive, and so on-have as much relevance to-day as they had when this text was written At the time of the Chinese aggression against India in 1962 it was stated that Mao Tse Tung was strongly influenced by Sun Tzu's classic "The Art of war" which was written roughly at about the same time as the *Kautiliya Arthaśāstra*. The esse-nce of its teaching, which not at all as exhaustive as that in the *Arthaśāstra*, is that all warfare is based on deception and that what is of importance in war is to attack the enemy's strategy. Perhaps a study of Kautilya's teaching by military leaders would be more helpful.

(चौलुक्य) महाराजाधिराज श्रीदुर्लभराज के समय का
राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली का (वि०) सम्वत् १०६७ का

❋ दान-पत्र ❋

इस दानपत्र के सम्पादन का सौभाग्य मुझे इन्द्रप्रस्थीय राष्ट्रीय सग्रहालय के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। दानपत्र दो ताम्रपत्रो पर उत्कीर्ण है जो किसी समय तार से जुडे थे। इनके मिलने का स्थान अज्ञात है, परन्तु इनकी खरीद छापर (राजस्थान) के श्री बुधमल दुधोरिया से हुई थी, अतः बहुत सम्भव है कि ये राजस्थान या गुजरात से मिले हो। पत्र सुरक्षित हैं, और अक्षर प्राय सुवाच्य है।

दोनो ताम्रपत्रो मे दस-दस पक्तियाँ हैं, और प्रत्येक पक्ति मे लगभग चौबीस अक्षर है। दोनो ही ताम्रपत्रो के उत्तरभाग के अक्षर पूर्वभाग के अक्षरो से कुछ मोटे हैं। लिपि तत्कालीन देवनागरी है। उस समय के व्यवहारानुसार प्राय पृष्ठ मात्राओ का उपयोग किया गया है। ब के स्थान मे व का ही प्रयोग है। एकाध सामान्य अशुद्धि भी है। पक्ति ६ मे मत्त को मंत्त, पक्ति ७ मे तृण को त्रिण, और पक्ति १६ मे नुमतं सभवत नुयं के रूप मे उत्कीर्ण है। पक्ति १२ का लोडयग्न गोत्र शायद ठीक रूप मे लाट्यायन हो। क्षत्रियपद दो स्थानो मे क्षत्रियपद्र रूप मे उत्कीर्ण है। बहुत सम्भव है कि प्रचलित रूप मे इसका उच्चारण सानुस्वार रहा हो। पहला ताम्रपत्र जिसकी सग्रहालय सख्या ६१. १५२८ है २१.१ × १२.२ सेन्टीमीटर का और दूसरा जिसकी सग्रहालय सख्या ६१.१५२६ है २०.६ × १२ ५ सेन्टीमीटर का है।

लेख कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। यह दुर्लभराज चौलुक्य के समय का सर्वप्रथम प्राप्त अभिलेख है। 'प्रबन्धचिन्तामणि' के अनुसार मूलराज के उत्तराधिकारी चामुण्डराज ने सवत् १०५० से सवत् १०६५ तक राज्य किया। इसके बाद वल्लभराज ने पाच महीने और उन्तीस दिन तक राज्य किया। इसके छोटे भाई दुर्लभराज ने सवत् १०६५ से १०७७ तक राज्य किया। इसके विषय मे 'द्वयाश्रयकाव्य' से हमे ज्ञात है कि उसका विवाह नड्डूलीय चौहान महेन्द्र की बहिन दुर्लभादेवी से हुआ था।

इस दानपत्र मे निर्दिष्ट दान का दाता महाराजाधिराज श्री दुर्लभराज का तन्त्रपाल क्षेमराज था। उसने स्वभुक्त भिल्लमाल-मण्डल के अन्तर्गत क्षत्रियपद्ग्राम मे आये हुए राजपुरुषो और ब्राह्मणादि-जातियो को जताया है कि सोमग्रहण के दिन स्नान और महादेव के पूजन के बाद उसने गोविन्द के पुत्र, माध्यंदिन वाजसनेयी शाखानुयायी लाट्यायन (?)— गोत्रीय भिल्लमाल वासी ब्राह्मण नन्नुक को भाग-भोग-उपरिकरादि सहित क्षत्रियपद ग्राम प्रदान किया है। ग्राम की सीमा के अन्तर्गत काष्ठ, तृण, पूर्ति, गौचर और

दशापराध के लिये दण्ड आदि भी इस दान में सम्मिलित थे। किन्तु पूर्व प्रदत्त देवदायों और ब्रह्मदायो पर नन्नुक का अधिकार वर्जित था।

लेख की तिथि सवत् १०६७ माघ शुक्ला पूर्णिमा है। इस तिथि का चन्द्रग्रहण अभिलेख मे निर्दिष्ट ही है। अभिलेख के अन्त मे दुर्लभराज की सही है।

इतिहास की दृष्टि से इस अभिलेख मे कुछ बातें ध्यान देने योग्य है। मूलराज के अभिलेखों और उल्लेखो से यह प्राय निश्चित है कि उसके राज्य के अन्तर्गत सारस्वत-मण्डल (जिसके अन्तर्गत पश्चिमी सरस्वती नदी पर स्थित अणहिल्लपाटक और उसके निकटस्थ अन्य स्थान थे), सौराष्ट्र का बहुत सा भाग, साँचौर के आस पास का प्रदेश आदि भाग थे।[1] हथूंडी के राष्ट्रकूटो के बीजापुर अभिलेख से यह भी सिद्ध है कि मूलराज ने (आबू के परमार राजा) धरणीवराह का उन्मूलन किया था। किन्तु इसका यह मतलब लगाना ठीक न होगा कि मूलराज ने आबू के परमार राज्य को सर्वथा नष्ट कर दिया। भिल्लमाल साचोर से कुछ अधिक दूर नही है। किन्तु इसी धरणीवराह के पुत्र महाराजाधिराज देवराज परमार के सवत् १०५९ के रोपी अभिलेख से सिद्ध है कि उस समय तक भिल्लमाल चौलुक्य राज्य मे न हो कर परमार राज्य के अन्तर्गत था।[2] इसके बाद स्थिति बदली होगी। दुर्लभराज चौलुक्य के इस अभिलेख से (जिसे हम सब सम्पादित कर रहे हैं) यह निश्चित है कि सवत १०६७ में भिल्लमाल चौलुक्य राज्य मे आ चुका था। इस का श्रेय सभवत. स्वय दुर्लभराज को हो।

भिल्लमाल मण्डल का शासन दुर्लभराज ने तन्त्रपाल क्षेमराज को सौपा, जो इस अभिलेख में महाराजाधिराज दुर्लभराज के 'पादपद्मोपजीवी' के रूप मे वर्णित है। पक्ति २–३ के समस्त पद 'स्वभुज्यमान भिल्लमाल मडल' से यह भी स्पष्ट है कि दुर्लभराज ने भिल्लमाल प्रदेश को अपने राज्य मे सर्वथा अन्तर्गत न कर उसका शासन अपने तन्त्रपाल क्षेमराज को सौंप दिया था। क्षेमराज शायद परमार-वशी रहा हो।

तन्त्रपाल शब्द का अर्थ विचारणीय है। इसका प्रयोग हमे अन्यत्र भी मिलता है। चालुक्य वशी अवनिवर्मा द्वितीय (योग) के सवत् ९५६ के अभिलेख मे महेन्द्रपाल प्रथम के तन्त्रपाल धीइक का उल्लेख है। उसकी अनुमति से बलवर्मा और अवनिवर्मा ने दान दिए थे।[3] इसी तरह महेन्द्रपाल द्वितीय के उज्जयिनीस्थ तन्त्रपाल महासामन्त दण्डनायक माधव ने चाहमान इन्द्रराज की प्रार्थना पर मीन सक्राति के दिन धारापदक नाम का गाव इन्द्रादित्य देव की दैनिक पूजादि के लिए दिया था।[4] इस अभिलेख के अन्त मे श्री माधव और श्रीविदग्ध की सही है। श्रीविदग्ध को तत्कालीन प्रतिहार सम्राट महेन्द्रपाल द्वितीय का उपनाम मानना ही शायद ठीक होगा। शाकम्भरी के चाहमान राजा विग्रहराज द्वितीय के हर्ष अभिलेख मे तन्त्रपाल क्षमापाल का उल्लेख है। सम्राट की आज्ञा से विग्रहराज के पितामह वाक्पति द्वितीय को दण्ड देने के लिए वह

---

१. देखें मूलराज के बड़ोदा, कड़ी, बालेरा आदि अभिलेख, हेमचन्द्र सूरि का 'द्वयाश्रय–काव्य', 'पृथ्वीराज विजय', और 'प्रबन्ध चिन्तामणि'।

२. देखें एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २२, पृ० १९६ आदि।

३. देखें वही, जिल्द ९, पृ० १–१०

४. देखें वही, जिल्द १४, पृ० १७६–१८८

अपनी विशालवाहिनी सहित चाहमान राज्य की सीमा पर पहुँचा था [1] । 'उपमितिभवप्रपन्चाकथा' (रचना काल सवत् ६६२) मे सतोष राजा सम्यग्दर्शन का तन्त्रपाल है [2] । राजाज्ञाओ का पालन करवाना और राजहित की रक्षा तन्त्रपाल के मुख्य कार्य रहे होगे [3] । स्वामी की अनुमति से अपने अधिकृत भाग के ग्राम आदि देने का उन्हे अधिकार था ।

वर्तमान अभिलेख के अन्य प्रशासनिक शब्द भाग, भोग, उपरिकर और दशापराध-दण्ड हैं । कृषि मे से राजादेय छठे, आठवे, या दसवें भाग की पारिभाषिक सज्ञा "भाग" है । राजा शूकधान्य का छठा, शिम्बीधान्य का आठवा और कुछ वर्षों तक अकृष्ट पडी भूमि की उपज का दसवा भाग लेता । फल, मूल, शाक, दधि आदि जल्दी खराब होने वाली वस्तुओ से प्राप्य राजादेय "भोग" कहलाता है । छोटे-मोटे भोगातिरिक्त करो की सज्ञा "उपरिकर" रही होगी । इतिहास के विद्वान अधिकतर भोग और उपरिकर को एक ही मानते हैं । किन्तु यत्र-तत्र इनके पृथक् निदश से इनकी पृथकता का अनुमान किया जा सकता है । राजाज्ञा का लघन, स्त्रीवध, वर्णसकरता, परस्त्रीगमन, चोरी, विना अपने पति के गर्भ, वाक्पारुष्य, अवाच्य, दण्डपारुष्य, और गर्भपात—ये दस अपराध है । इन अपराधो के लिए किया हुआ जुर्माना भी ग्राम के प्रतिगृहीता को मिलता । देवपाल के नालन्दा और नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख मे दाशापराधिक एक राजपुरुष विशेष की उपाधि भी है । वह सम्भवत. ऐमे अपरावो को मालूम कर अपराधियो को सजा दिलवाता । प्रतिगृहीता का स्वामित्व गाव के अन्तर्गत काष्ठ, तृण करजादि के वृक्ष और गोचर पर भी था । अनन्यस्वामिक भूमि की अनेक प्रकार की आय पर प्रतिगृहीता का अधिकार रहता । अन्य व्यक्ति प्रतिगृहीता को कुछ धन राशि व उपज का कुछ भाग देकर ही इसके प्रयोग के अधिकारी बनते ।

इस टिप्पणी को समाप्त करने से पूर्व सम्भवत: यह बताना भी असगत न होगा कि भिल्लमाल के स्वामित्व मे कुछ समय बाद फिर परिवर्तन हुआ । दुर्लभराज के उत्तराधिकारी भीमदेव प्रथम ने आबू पर अधिकार कर लिया और आबू परमार धन्धुक को कुछ समय तक स्ववश्य परमार भोज प्रथम के यहा जाकर रहना पडा । भीमदेव ने अनेक अन्य विजय भी प्राप्त की । किंतु वि० स० १०६७ और ११११७ के बीच मे परमारो ने भिल्लमाल पर फिर अधिकार कर लिया । यहा धन्धुक के पुत्र महाराजाधिराज कृष्णराज द्वितीय के दो अभिलेख मिले है, एक सवत् १११७ का और दूसरा सवत् ११२३ का । कृष्णराज की मृत्यु के बाद उसका द्वितीय पुत्र सोच्छराज भीनमाल और किराडू प्रदेश का स्वामी हुआ । सवत् १२३५ के लगभग सोनिगरा चौहानो ने भिल्लमाल पर अपना अधिकार स्थापित किया और लगभग सवा सौ वर्ष तक वहा उनका राज्य बना रहा ।

भिल्लमाल समृद्ध व्यापारियो और विद्वान ब्राह्मणो की नगरी थी । यही से विनिर्गत अनेक जातियो से राजस्थान और गुजरात के अनेक नगरो की समृद्धि वढी थी । इन ताम्रपत्रो मे वर्णित दान का प्रतिगृहीता भी किसी समय भिल्लमाल का निवासी था । कान्हडदे प्रवन्ध मे यह नगर चौहानो की ब्रह्मपुरी

---

१. देखें अभिलेख का सोलहवां श्लोक

२. देखें Rajasthan through the Ages पृ० ३४७, 'उपमितिभवप्रवञ्चाकथा', पृ० ५८२

३. श्री डी० सी० सरकार ने तन्त्रपाल को दानाध्यक्ष और धार्मिक कृत्याध्यक्ष माना है (देखें उनकी 'इण्डियन एपिग्राफी', पृ० ३७३) जो ठीक प्रतीत नहीं होता ।

चौलुक्य महाराज दुर्लभराज के समय का दान पत्र (११ वी शताब्दी विक्रमी)
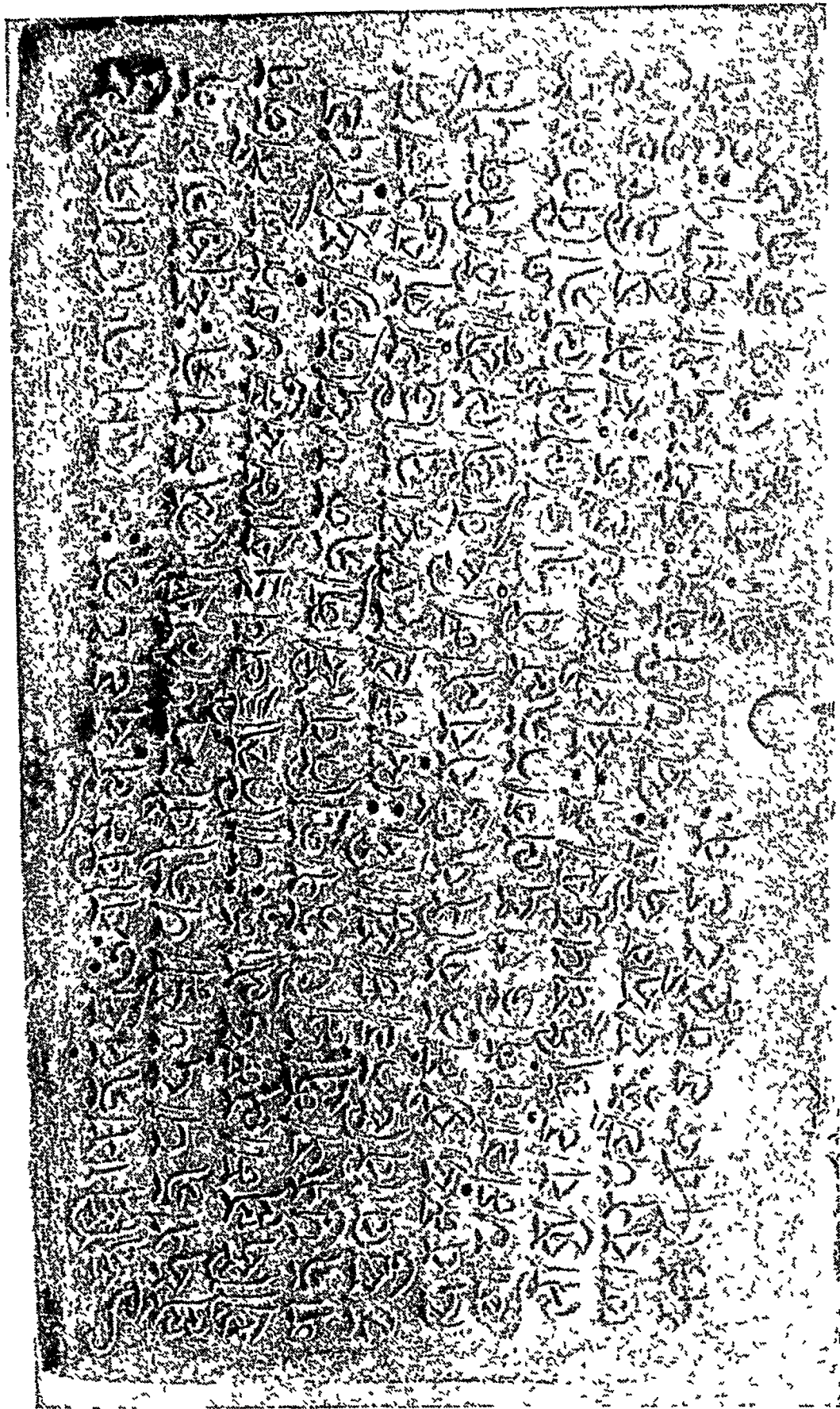
चित्र-१, पृष्ठ ६१
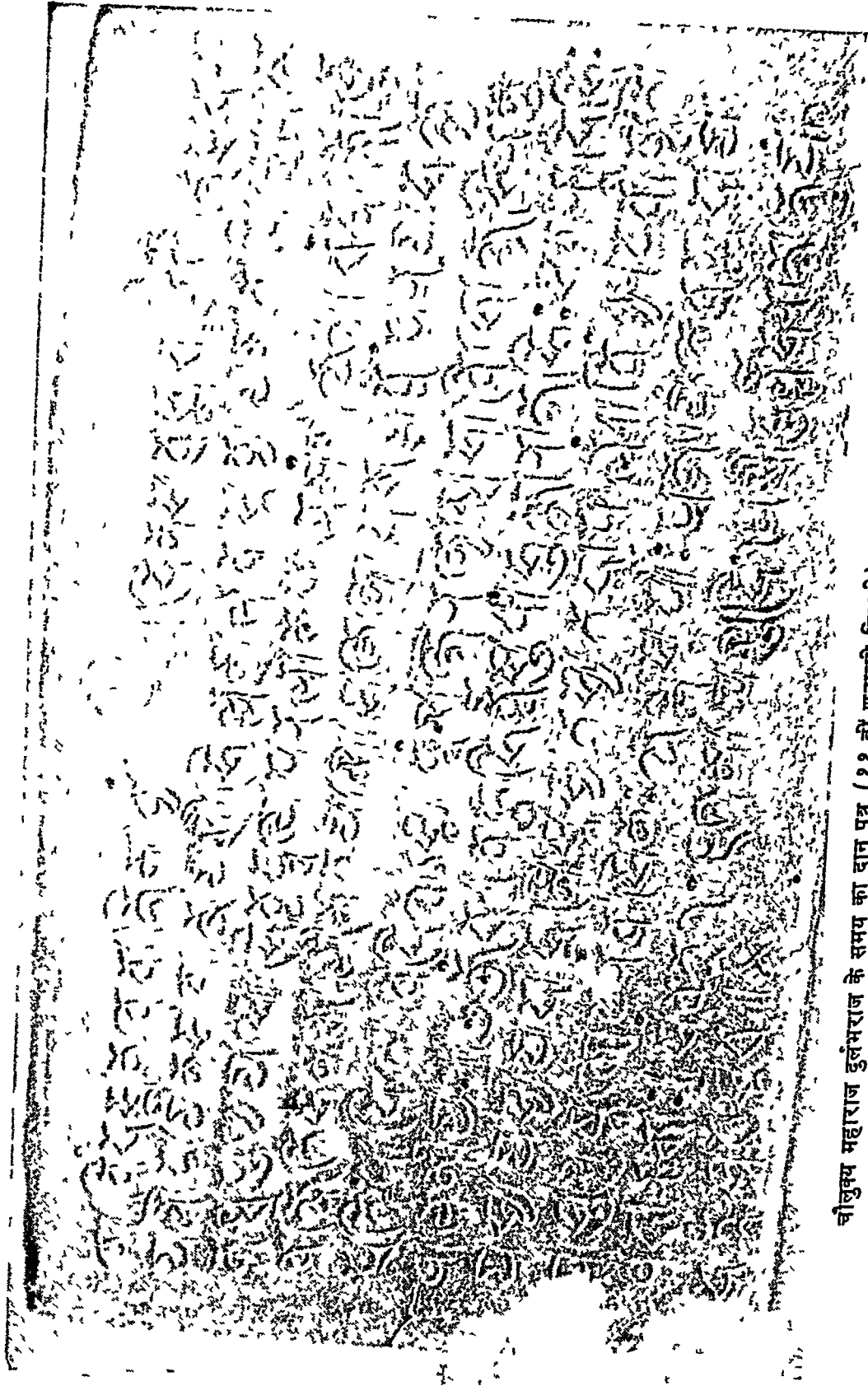
चौलुक्य महाराज दुर्लभराज के समय का दान पत्र (११ वीं शताब्दी विक्रमी)

चित्र–२, पृष्ठ ६१

के रूप मे वर्णित है । ब्रह्मगुप्त भिल्लमाल आचार्य के नाम से प्रसिद्ध है । यही नगर माघ और उसके वशजो का अधिष्ठान था । यही 'उपमितिभवप्रवञ्चाकथा' का प्रणयन था हुआ । इस नगर से विनिर्गत श्रीमाली ब्राह्मण अब भी अपनी कर्मनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध है । सवत् १०५४ मे इसी गोविन्द के पुत्र नन्नुक को सत्यपुरीय पथक मे एक ग्राम दान मे मिला था । इसका उल्लेख राष्ट्रीय संग्रहालय के एक दूसरे अभिलेख मे है जिसका सम्पादन भी इस टिप्पणी के लेखक ने किया है ।

दानपत्र का सम्पादन ताम्रपत्रो के फोटो के आधार पर किया गया है । फोटो इस ग्रन्थ मे इसी लेख के साथ प्रकाशित है ।

लेख का अक्षरान्तर

पहला ताम्रपत्र

१. ओ स्वस्ति राजहस इव विमलोभयपक्ष · महाराजाधिराज-श्री-
२ दुर्ल्लभराजपादपद्मोपजीवी तन्त्रपाल श्री क्षेमराजः स्वभुज्यमान-
३. श्री भिल्लमालमडलान्त. पाति क्षं (क्ष) त्रियपद्ग्रामे समुपगतान् सर्व्वानेव
४. राजपुरुषान् वा (ब्रा) ह्मणोत्तरान् प्रतिनिवासिनो जनपदानन्याश्च वो (बो) धय-
५. त्यस्तु वो सविदित यथास्मामि सौमग्रहणे स्नात्वा त्रिलोकीगुरुं महा-
६. देवमभ्यर्च्य मं (म) तकरिकर्ण्णचचलामभिवीक्ष्य लक्ष्मी गिरिनदीवे-
७. गोपम यौवन त्रि (तृ) णदलगतजल वि (बिं) द्वालोलभ जीवितमव-
८. लोवय चाय क्षं (क्ष) त्रियपद्ग्राम. स्वसीमापर्यन्त सकाष्ठ त्रि (तृ) णपूर्ति-
९. गोचरपर्यन्त. सभागभोग. सौपरिकर सदंडदशापराध. पूर्व्व-
१०. दत्तदेवदाय व्र (ब्र) ह्मदायव. (व) र्ज्जं. वा (ब्रा) ह्मणनन्नकाय

दूसरा ताम्रपत्र

११. गोविंदसूनवे वाजिमाध्यदिन सव् (ब्र) ह्मचारिणे त्रिप्रवरा-
१२. य लौड्य (लाट्या) यनसगोत्राय श्री भिल्लमालवास्तव्याय मातापित्रोरात्म-
१३. नश्च पुण्ययशोभिवृद्धयै परलोकफलमगीकृत्य चद्रार्कार्ण्ण-
१४. वक्षितिसमकालीनतया शासननौदकपूर्व्व परया भक्तया
१५. प्रतिपादितो विदित्वास्मद्व शजैरन्यैश्च माविमोक्तृभिरनु-
१६. पालनीय. ।। उक्त च । व (ब) हुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः
१७. यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल ।। विंध्याटवीष्वतो-
१८. यासु शुष्ककोटरवासिन कृष्णसर्पा. प्रजायते व् (व) ह्मदाया-
१९. पहारका. ।। सवत् १०६७ माघ शुदि १५ श्री दुर्ल्लभराजा नुय (नुमत)
२०. दत्त स्वहस्त च ।

एक राजस्थानी लोककथा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

राजस्थान लोक साहित्य का रत्नाकर है। यहाँ लोक-काव्य, लघु काव्य, लोकगीत, लोककथा, प्रवाद और कहावत आदि के रूपो मे अत्यधिक सामग्री जनमुख पर अवस्थित है। इस साहित्य-सामग्री का कई दृष्टियो से महत्व है। यह प्रकट करती है कि राजस्थान ऊपर से सूखा और फीका-सा दिखलाई देने पर भी भीतर से वडा सरस है। असल मे देखा जाय तो उसी साहित्य-सामग्री का विशेष महत्व होता है, जो जन-प्रचलित होकर लोकजीवन का अग बन जाती है। लोकजीवन को समझने के लिए इस सामग्री का अध्ययन परम आवश्यक होता है क्योंकि इस मे जनता का सुख-दुख, आशा-अभिलाषा, चाव-उमग आदि सभी स्वाभाविक रूप मे समाए रहते हैं।

हर्ष का विषय है पिछले कुछ समय से विद्वानो का ध्यान राजस्थानी लोक साहित्य की ओर गया है और इस सामग्री को लिपिवद्ध किए जाने की दिशा मे कुछ कार्य हुआ है। परन्तु इतना काम ही काफी नही है। लोक साहित्य के संग्रह के साथ ही उसका मार्मिक अध्ययन किए जाने की भी नितान्त आवश्यकता है। इस अध्ययन से अनेक महत्वपूर्ण तत्व सामने आते हैं और वे समाज को आगे बढाने मे विशेष सहायक सिद्ध होते है। पश्चिमी विद्वानो ने इस विषय मे वडा परिश्रम किया है और उनकी साधना से समाज लाभान्वित हुआ है। विषय अति-विस्तृत है, अत. यहाँ एक राजस्थानी लोक कथा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। सर्व प्रथम विवेच्य लोककथा का सक्षिप्त रूप अध्ययन द्रष्टव्य है :—

किसी गाँव के ठाकुर ने तीर्थयात्रा पर जाने का निश्चय किया और सेवा के लिए अपने खवास (नाई) को साथ चलने के लिए कहा। खवास ने शर्त रखी कि वह मार्ग मे जिस किसी वस्तु के सम्वन्ध मे शका उपस्थित करेगा, उसका समाधान ठाकुर को करना होगा और यदि वह ऐसा नही कर पाएगा तो खवास वीच से ही वापिस लौट आएगा। ठाकुर ने शर्त मान ली और वे तीर्थ-यात्रा के लिए चल पडे।

पहले दिन साँझ होते ही एक नगर के बाहरी भाग मे उन्होने विश्राम लिया। ठाकुर ठहर गया और खवास भोजन-सामग्री लाने के लिए नगर मे गया। जव खवास लौट कर आया तो उसने ठाकुर के सामने अपनी विचित्र शका प्रकट करते हुए कहा—"यहाँ नगर के वाजार मे परम सुन्दर स्त्री वस्त्राभूषणो से अलकृत मरी हुई पडी है परन्तु कोई उसकी ओर ध्यान तक नही देता। इस रहस्य का स्पष्टीकरण होने पर ही मैं आगे जा सकता हूँ अन्यथा नही।" ठाकुर ने भोजनादि करके उस मरी हुई स्त्री का रहस्य प्रकट किया, जो इस प्रकार है :—

किसी राजा ने एक वडा भारी तालाव वनवाया परन्तु वह वर्षा न होने के कारण पानी से भरा नही। इस पर राजा को वडी चिंता हुई और उसने पण्डितो से इसका कारण पूछा। पण्डितो ने प्रकट किया कि राज परिवार के किसी व्यक्ति की वलि-देने से ही वह तालाव भर सकता है। राजा ने सोचा कि

वलि किस की दी जाय ? स्वय की वलि से राजभग होता था, रानी की वलि से लक्ष्मीनाश होता था और राजकुमार की वलि से सतान-परम्परा छिन्न होती थी । अतः उसने निश्चय किया कि पुत्रवधू की वलि दे दी जाये और पुत्र का विवाह फिर कर लिया जाय ।

राजकुमार अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करता था । जव उसने सुना कि अगले दिन उसकी वलि दी जाएगी तो वह रात को ही चुपचाप उसे घोड़े पर साथ लेकर महल से निकल भागा । वे दिन भर आगे वढते गए और सध्या के समय जगल मे एक कुएँ पर विश्राम के लिए ठहरे । वहा फल आदि खाकर रात को सो गए । जव दिन निकला तो राजकुमार ने देखा कि उसकी पत्नी सर्पदश के कारण मरी हुई पडी है । इस पर उसने वडा विलाप किया और चिता तैयार करके उसके साथ ही वह जलने को उद्यत हुआ ।

सयोग से उधर शिव-पार्वती आ निकले । पार्वती को आश्चर्य हुआ कि पुरुष अपनी मृत पत्नी के साथ जल रहा है ! भेद मालूम करके उसने शिव से आग्रह किया कि किसी तरह उसकी पत्नी को पुनर्जीवित किया जाए । पार्वती के हठ को देखकर शिव ने प्रकट किया कि राजकुमार की पत्नी आयु समाप्त होने के कारण मरी है, अतः राजकुमार उसे अपनी आयु का भाग देकर ही जीवित कर सकता है । राजकुमार ने ऐसा ही किया । उसने 'सत्यक्रिया' के सहारे अपनी आयु का अर्द्ध भाग अपनी पत्नी को प्रदान किया और वह फिर से जीवित हो गई । शिव-पार्वती चले गए और राजकुमार ने कोई बात अपनी पत्नी के सामने प्रकट नही की । वे भी वहा से आगे वढ गए ।

सध्या के समय राजकुमार एक नगर के वाहरी भाग मे पहुँचा । वहाँ उसने एक कुएँ के पास अपनी पत्नी को छोडा और स्वय भोजनादि लाने के लिए नगर मे गया । जव वह लौट कर आया तो उसकी पत्नी वहाँ नही मिली । पास ही कुछ नट ठहरे हुए थे । वह कामातुर होकर एक नट के पास चली गई और उससे प्रेम-प्रस्ताव किया । नट ने उसे अपने यहाँ रख लिया । जव राजकुमार तलाश करता हुआ नट के पास पहुँचा तो उसने दूसरी ही दुनिया देखी । उसकी पत्नी ने अपने पति के रूप मे नट को वतलाया । कुछ झगडा हुआ और यह मामला राजा के पास पहुँचा । वाजार के वीच मे न्याय सभा वैठी । राजकुमार से प्रमाण माँगा गया तो उसने 'सत्यक्रिया' से अपनी दी हुई आधी आयु वापिस ले ली और वह स्त्री तत्काल मर कर गिर पड़ी । इस पर लोगो को भारी आश्चर्य हुआ । राजकुमार ने पीछे का सपूर्ण वृत्तान्त सव को कह सुनाया । राजा ने नट को दण्ड दिया और राजकुमार को सम्मान मिला । फिर वह अपने नगर को लौट गया और भारी वर्षा हुई जिस से राजा का तालाव पूरा भर गया ।

इतनी कहानी कह कर ठाकुर ने खवास को समझाया कि नगर के वाजार मे जिस स्त्री को उसने मृतक अवस्था मे देखा है, वही राजकुमार की पत्नी है । ऐसी स्त्री की ओर घृणा से कोई ध्यान नही दे रहा है । इस पर खवास की शका शात हो गई और वह यात्रा पर आगे वढने के लिए राजी हो गया ।

ऊपर राजस्थानी लोककथा का सारमात्र दिया गया है । इसका विश्लेपण करने से निम्न चीजें सामने आती हैं :— १. सर्व प्रथम कथा का 'उपोद्घात' ध्यान देने योग्य है । ठाकुर और खवास की तीर्थयात्रा के प्रसग मे अनेक कथाएँ कही जाती हैं क्योंकि खवास प्रत्येक विश्राम पर एक नई शंका सामने रखता है । इस विषय मे भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियां हैं । परन्तु उनमे से प्रत्येक के अन्त में रहस्यात्मक स्थिति उप-

स्थित की गई है। कहानी के प्रति कौतूहल पैदा करने की यह एक सुन्दर शैली है। एक प्रकार से इस तीर्थ-यात्रा से सम्वन्धित यह एक राजस्थानी कथाग्रन्थ है, जो विभिन्न रूपो मे जनमुख पर अवस्थित है। सस्कृत मे भी इस प्रकार अनेक कथाओ का सकलन हुआ है। इस उपोद्घात को देखते हुए सहज ही 'वेताल पच-विंशतिका' का स्मरण हो आता है, जिसकी प्रत्येक कथा के अन्त मे एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है। राजस्थानी लोककथा के प्रारम्भ किए जाने से पूर्व ही यह प्रश्नात्मक स्थिति सामने आ जाती है, जो रोच-कता पैदा करने के विचार से विशेष महत्वपूर्ण है।

२. ध्यान रखना चाहिए कि यही लोककथा विना उपोद्घात के स्वतन्त्र रूप मे भी कही जाती है। कही इसका कथानायक राजा का पुत्र न होकर सेठ का वेटा है। असल मे यह लोककथा 'त्रियाचरित्र' वर्ग की है। इस वर्ग की कथाओ मे नारी के चरित्र की दुर्वलता प्रकट की जाती है। यह परम्परा पुरानी है। 'शुकसप्तति' कथाग्रन्थ मे ऐसी कथाएँ ही सकलित की गई हैं। कई कथाओ मे नारी के साथ ही पुरुष-चरित्र की कमजोरी भी प्रकट की जाती है। राजस्थानी कथाग्रन्थ 'दम्पति-विनोद' मे दोनो प्रकार की कथाएँ दी गई हैं।

३. प्रस्तुत लोक कथा मे 'सत्यक्रिया' अभिप्राय (Motif) का दो वार प्रयोग हुआ है। भारतीय कथा साहित्य मे इस 'अभिप्राय' के उदाहरण भरे पडे हैं। कही इसे केवल 'किरिया' नाम दिया गया है। राज-स्थानी वार्तों मे इसके लिए 'धीज' शब्द अनेकश देखा जाता है। इसमे कथा-पात्र अपने सत्य के प्रभाव से आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाता है। वह अग्नि मे जलता नही, समुद्र या नदी मे डूवता नही और मरे हुए व्यक्ति को पुनर्जीवित तक कर देता है। इसके अन्य भी अनेक रूप हैं। प्रस्तुत कथा मे नायक पहिले अपनी पत्नी को अपनी आयु का अर्द्ध भाग प्रदान कर के जीवित कर देता है और फिर विपरीत स्थिति सामने आने पर अपनी आयु का अश ग्रहण कर लेता है।

४. प्रस्तुत कथा मे एक अन्य 'कथानक-रूढि' का भी प्रयोग हुआ है। वह है, 'शिव-पार्वती'। यह देव-दम्पति अनेक राजस्थानी लोककथाओ मे सकट के समय प्रकट होकर स्थिति को सुधार देते हैं और फिर कथा नया मोड लेकर आगे वढती है। 'मारू-ढोलो' की बात मे ऐसा ही हुआ है। दु खान्त कथा को सुखान्त बनाने के लिए भी इस 'रूढि' का प्रयोग होता है। 'जलाल-बूबना' की बात मे ऐसा ही हुआ है। इसमे शिव-पार्वती को विश्वनियामक के रूप मे दिखलाया जाता हैं, जो शिव-भक्ति की महिमा का प्रकाशमान उदा-हरण है।

५. राजस्थानी लोककथा का प्रारम्भिक भाग विचारणीय है। इस मे तालाब के जलपूर्ण होने का उपाय बलि देना बतलाया गया है। राजस्थान मे जल-सकट से बचने का साधन सरोवर का निर्माण करवाना सर्व विदित है। उसमे पानी का सचित न होना खेद जनक है। कथा मे स्थानीय वातावरण की रगत के अतिरिक्त एक अन्य तत्व भी छिपा हुआ है। असल मे यह बलि तालाव अथवा उस क्षेत्र के 'आरक्ष देव' की सतुष्टि निमित्त दी जाती है। यह विधि प्राचीन यक्षतत्व का कथाओ मे बचा हुआ अश है। इतना ही नही, राजस्थानी लोकविश्वास मे यह तत्व आज भी अनेक रूपो मे दृष्टिगोचर होता है। गावो मे प्रथा है कि जब वर्षा नही होती तो सीमा पर देवता की प्रसन्नता के लिए 'वलि-बाकला' का विधान किया जाता

है। 'बाकला' उबाले हुए मोठ का नाम है। 'बछवारस' (वत्सद्वादशी) व्रत की लौकिक कहानी में इसी प्रकार एक सेठ का बनवाया हुआ तालाब नही भरता है और वह अपने पोते की बलि देता है। फिर देवकृपा से तालाब भर जाता है और सेठ का पोता भी पुनर्जीवित हो जाता है। प्रस्तुत लोककथा मे इससे कुछ परिवर्तन जरूर है।

६ लोककथा की नायिका एक नट पर मुग्ध होकर उसके पीछे हो लेती है। राजस्थान मे नट लोगो का तमाशा देखने के लिए बडी जनरुचि है। वे नाना प्रकार के खेल दिखलाते हैं और शारीरिक प्रदर्शन करते है। कई नटो का शरीर बडा सुडोल होता है। प्रसिद्ध 'नटडो' लोकगीत की नायिका भी उसके रूप पर आसक्त होकर उसके पीछे हो लेती है। वह सरोवर पर अपनी ननद के साथ पानी लाने के लिए जाती है और नट को देख कर कहती है—"देखो बाईजी इण नटडै को रूप ओ, कोइ थारैजी वीरै सैं दोय तिल आगलो।" राजस्थानी लोकगीत मे रूपासक्ति को प्रधानता दी गई है। यही तत्व लोककथा मे समाविष्ट है, भले ही इसके रूपान्तरों मे ऐसा न हो।

लोककथा देश और समय के बधन को स्वीकार नही करती। आज जो लोककथा सुनी जाती है, वह काफी प्राचीन हो सकती है। वह पीढी दर पीढी चलकर अविनाशी रूप धारण करती है। समयानुसार देश विशेष मे वह साधारण रूप-परिवर्तन जरूर करती है। जो लोककथा एक देश मे प्रचलित है, वही अन्य सुदूर देशो मे भी स्थानीय वातावरण धारण किए हुए मिल सकती है। विमाता के कष्टो से पीडित भारतीय 'सोनलबाई' इङ्गलैड मे 'सिन्डरेला' (कोयलेवाली लडकी) के रूप मे सहज ही पहिचानी जा सकती है।

प्रस्तुत राजस्थानी लोककथा भी काफी पुरानी है। इसका मूल भारतीय लोककथा-कोश मे अनुसधेय है। इस विषय मे आगे प्रकाश डाला जाता है :—

१ 'चुल्ल पदुम' जातक की कथा का सार रूप इस प्रकार है—

राजकुमार पदुमकुमार के छ छोटे भाई थे। वे बडे हुए और उनका विवाह हुआ। राजा को उनसे यह भय पैदा हुआ कि कही वे उसकी जीवित अवस्था मे ही उससे राज्य न छीन लेवे। अत: उन सब को वन मे जाने की आज्ञा दे दी गई। सातो भाई अपनी स्त्रियो सहित भयकर कान्तार मे जा पहुँचे। वहा खाने-पीने का सर्वथा अभाव था। ऐसी स्थिति मे वे प्रतिदिन एक भाई की पत्नी को मार कर खाने लगे। पदुमकुमार अपना भाग बचाकर अलग छोड देता था। अत मे उसकी पत्नी की बारी आई तो उसने बचाया हुआ भाग सब भाइयो को सौंप दिया और जब वे सब सो गए तो उसे साथ लेकर भाग चला। मार्ग मे पत्नी को प्यास लगी। इस पर पदुमकुमार ने उसे अपनी जघा चीर कर खून पिलाया। फिर वे गगातट पर आश्रम बनाकर रहने लगे।

एक दिन नदी मे एक राज्यापराधी चोर बहता हुआ आया, जिसको हाथ, पैर और नाक आदि काट कर एक बोरे मे बद करके पानी मे डाल दिया गया था। पदुमकुमार ने उसकी चीख-पुकार सुनकर उसे निकाला और सेवा द्वारा स्वस्थ किया। परन्तु उसकी स्त्री उस चोर पर आसक्त होकर उसके साथ

अनाचार मे लिप्त हो गई। एक दिन वह मनौती के बहाने से पदुमकुमार को एक पर्वत की चोटी पर ले गई और उसे धोखे से धक्का देकर गिरा दिया। परन्तु एक पेड में उलझ कर वह बच गया।

पदुमकुमार पेड से किसी प्रकार निकल कर अपने राज्य मे आया और पिता की मृत्यु हो चुकने के कारण राजा बन गया। उसने दानशालाएँ प्रारम्भ की, जहा लोगो को भोजन मिलता था। एक दिन उसकी स्त्री भी उस लुज को सिर पर उठाए हुए आदर्श पतिव्रता के रूप मे दानशाला मे आई। वहा पदुमकुमार ने उसे पहिचान कर सारा भेद खोला और इस प्रकार कहा—

अयमेव सा अहमपि सो अनञ्ञो, अयमेव सो हत्थच्छिन्नो अनञ्ञो।
यमाह कोमारपती ममन्ति, वज्झित्थियो नत्थि इत्थीसु सच्चं॥
इमञ्च जम्म मुसलेन हन्त्वा, लुद्द छव परदारूपसेविं।
इमिस्सा च न पापपतिब्बताय, जीवन्तिया छिन्दथ कण्णनास॥

२ इसी क्रम मे पचतत्र के 'लब्धप्रणाश' नामक तत्र की एक कथा का साराश-द्रष्टव्य है—

एक ब्राह्मण कुटुम्बवालो के झगडे से तग आकर अपनी प्रिय पत्नी सहित जंगल मे चला गया। वहाँ ब्राह्मणी को प्यास लगी तो वह जल की खोज मे निकला। जब वह जल लेकर लौटा तो किसी कारण से उसकी पत्नी मर चुकी थी। ब्राह्मण ने आकाशवाणी सुनकर 'सत्यक्रिया' से उसे अपनी आधी आयु देकर जीवित कर लिया। फिर वे एक वाटिका में पहुँचे। पत्नी को वहा छोडकर ब्राह्मण भोजन लाने के लिए गया। पीछे से उसकी स्त्री ने कामातुर होकर एक पगु से सम्बन्ध कर लिया। ब्राह्मण के आने पर उन्होने भोजन किया और पंगु को दयावश एक गठरी मे बाध कर वे उठा ले चले।

आगे ब्राह्मणी ने अपने पति को बाधा समझ कर धोखे से एक कुँए में धकेल दिया और वह पगु वाली गठरी लेकर एक नगर मे गई। वहा गठरी को चोरी का माल समझ कर राज पुरुष उसे राजा के सम्मुख ले गए। जब गठरी खोली गई तो उसमे से पगु निकला। ब्राह्मणी ने अपने को पतिव्रता प्रकट किया। इससे राजा बडा प्रभावित हुआ और उसने उसे सुख से रहने के लिए दो गाँव प्रदान किए।

कुछ दिनो बाद ब्राह्मण किसी तरह कुएँ से निकल कर उसी नगर मे आया और उसने अपनी पत्नी की लीला देखी। ब्राह्मणी ने उसे अपने पगु पति का शत्रु बतला कर राजा से उसके वध की आज्ञा प्राप्त करली। परन्तु जब ब्राह्मण ने 'सत्यक्रिया' से अपनी दी हुई आयु वापिस ले ली तो राजा बडा चकित हुआ। उसे सम्पूर्ण पूर्व वृत्तान्त सुना कर ब्राह्मण ने कहा—

यदर्थे स्वकुल त्यक्त जीवितार्द्धञ्च हारितम्।
सा मा त्यजति निस्नेहा क स्त्रीणा विश्वसेन्नर॥

३. अब दशकुमार चरित की मित्रगुप्त-कथा मे दी गई एक अन्तर्कथा का सक्षिप्त रूप देखिए—

त्रिगर्त जनपद मे किसी समय धनक, धान्यक और धन्यक नाम वाले तीन सगे भाई रहते थे। वहाँ घोर दुर्भिक्ष पड़ा और लोग सब कुछ समाप्त होने पर अपने बच्चो तथा पत्नी तक को खाने लगे। इन

के परिवार का भी यही हाल हुआ। जब सब से छोटे भाई धन्यक की स्त्री घूमिनी के खाए जाने की बारी आई तो वह उसे कधे पर बिठा कर चुपचाप भाग गया। मार्ग मे उन्हे एक घायल और लँगड़ा आदमी मिला। उसे भी उन्होने साथ ले लिया और जगल मे एक कुटिया बना कर वे रहने लगे। धन्यक ने दया करके लँगडे की सेवा की और वह स्वस्थ हो गया।

एक दिन धन्यक शिकार के लिए गया हुआ था। पीछे से घूमिनी ने कामातुर होकर उस लँगडे से प्रेम-प्रस्ताव किया। उसे अनिच्छापूर्वक घूमिनी की बात माननी पडी। जब धन्यक लौट कर आया तो उसे पानी लाने के लिए कुएँ पर भेजा गया। वहा दगे से घूमिनी ने उसे कुएँ मे डाल दिया और वह लगड़े को अपने कधे पर बिठा कर एक नगर मे आ पहुँची। वहाँ वह आदर्श पतिव्रता के रूप मे प्रसिद्ध हो कर धनवाली बन बैठी।

पीछे से धन्यक किसी प्रकार कुएँ से निकला और हताश होकर भीख माँगता हुआ उसी नगर मेँ आ पहुँचा, जहाँ उसकी पतिव्रता पत्नी रहती थी। घूमिनी ने उसे पहिचान लिया और राजा से शिकायत करके उसके वध की आज्ञा दिलवा दी। वधस्थान पर धन्यक ने उस लँगडे को बुलवाया। उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त सच-सच कह सुनाया। फलस्वरूप घूमिनी के नाक-कान काटे गए और धन्यक पर राजा की कृपा हुई।

उपर्युक्त कथा-रूपो से प्रकट होता है कि आज जो कहानी राजस्थान के देहातो तक मे प्रचलित है, वह बौद्धकाल मे भी भारत मे इसी प्रकार जनप्रिय थी। यह स्पष्ट है कि तत्कालीन लोक-कथाओ को ही बुद्धदेव के पूर्वजन्मो के साथ जोड़ कर जातक कथाएँ उपस्थित की गई है। इसी प्रकार नीतितत्व हेतु यह लोककथा पंचतन्त्र मे ग्रहण की गई है। दशकुमारचरित मे यह कथा इस प्रश्न के उत्तर मे है कि क्रूर कौन है ? परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि पचतत्र की कथा मे और राजस्थानी लोककथा मे 'सत्यक्रिया' का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है, जबकि अन्य दोनो रूपो मे वह नही है। कथा मे इस तत्व के प्रवेश का सूत्र अन्यत्र अनुसधेय है। इस सम्बन्ध मे श्रीमद् देवी भागवत् मे वर्णित 'रुरु प्रमद्वरा' का उपाख्यान विचारणीय है, जिस का सक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

मेनका अप्सरा की पुत्री का स्थूलकेश मुनि ने अपने आश्रम मे पालन-पोषण किया और उसका नाम प्रमद्वरा रखा। जब प्रमद्वरा युवावस्था को प्राप्त हुई तो मुनिकुमार रुरु उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गया और स्थूलकेश ने यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। परन्तु विवाह के पूर्व ही निद्रित अवस्था मे प्रमद्वरा को एक साँप ने काट लिया और वह मृतक अवस्था को प्राप्त हुई। इस पर रुरु ने बडा विलाप किया और एक देवदूत के सुझाव के अनुसार 'सत्यक्रिया' द्वारा अपनी आयु का अर्द्ध भाग उसने प्रमद्वरा को प्रदान करके पुनर्जीवित कर लिया। फिर उन दोनो का विवाह हो गया।

यह प्रेमोपाख्यान भी भारत मे बडा जनप्रिय रहा है। कथासरित्सागर मे इसे उदयन और वासवदत्ता की कहानी मे विदूषक के मुख से कहलवाया गया है। स्पष्ट ही पचतन्त्र मे सकलित लोककथा का रूप इस उपाख्यान से किसी अश मे मेल खाता है। यही स्थिति राजस्थानी लोककथा की है। उपाख्यान मे पत्नी के प्रति पुरुष के प्रेम की पराकाष्ठा प्रकट की गई है, जो लोककथा मे भी ज्यो की त्यो वर्तमान है।

परन्तु उसका मूल उद्देश्य कुछ दूसरा ही है, अतः उसमे 'सत्यक्रिया' का प्रयोग दो बार हुआ है। वहां एक बार आयु का अर्द्ध भाग दिया गया है तो दूसरी बार परिस्थितिवश वापिस भी लिया गया है।

लोककथा मे नारी-जाति के प्रति घोर घृणा का वातावरण है। पौराणिक उपाख्यान मे ऐसा नही है। वहां नारी-सम्मान का प्रकाशन हुआ है। लोककथा मे वह पूर्ण रूप से कृतघ्न एव अविश्वसनीय है। यही कारण है कि कथा के अत मे उसकी दुर्गति करवा कर 'काव्यगत न्याय' (Poetic Justice) का पालन किया गया है। उसका बुरा हाल होता है परन्तु फिर भी वह श्रोताओ अथवा पाठको की सहानुभूति नही प्राप्त कर सकती। इस रूप मे यह एक नीति-कथा वन गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक लोककथा मे कितने विभिन्न तत्व छिपे हुए रहते हैं। साथ ही आज की लोककथा अति प्राचीन काल मे भी मिल सकती है। समयानुसार उस मे विभिन्न प्रभाव प्रवेश पाकर उसे नया रूप प्रदान करते हैं। राजस्थानी लोककथा मे ऐसा ही हुआ है। उसमे अनेक तत्वो का समन्वय है और यही भारतीय सस्कृति का प्रधान उपलक्षण है, जो यहां की ल ककथाओ तक मे द्रष्टव्य है। इसी प्रकार अन्य लोककथाओ के विश्लेषणात्मक विवेचन की भी आवश्यकता है। इससे साहित्य-जगत् को वडा लाभ मिलेगा।

बागड़ के लोक साहित्य की एक झांखी

हमारे देश मे तीन बागड प्रदेश सुने जाते है—पहला गुजरात प्रदेश मे कच्छ-गुजरात की सरहदो के बीचका, दूसरा राजस्थान मे नरमड़ (नरहड) आदि पिलानी से हासी-हिसार तक का, और तीसरा मेवाड-मालवा-गुजरात की सरहदो के बीच का प्रदेश। हमारा बागड यह तीसरा प्रदेश है जो दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के डूँगरपुर और बाँसवाडा के जिलो तथा उनके आसपास के विस्तार का क्षेत्र है। यह विभाग २३° १५' से २४° १' उत्तर अक्षास एवम् ७३° १५' से ७४° २४' पूर्व देशातर के बीच स्थित है। इसका क्षेत्रफल करीब ५,००० वर्गमील तथा इसकी आबादी लगभग १२ लाख की है। इस क्षेत्र की मूल प्रजा आदिवासी भील जाति है। पालो मे रहने वाले भीलो वा मेणो की बोली 'भीली' है, कटारा विभाग की बोली पलवाडी है और शेष समग्र बागड की भाषा बागडी बोली है। बागडी मुख्य बोली है। भीली, पलवाडी तथा कटारी बोलियाँ सिर्फ भील क्षेत्रो तक ही सीमित है।

महीसागर इस प्रदेश को डूँगरपुर और बाँसवाडा के दो मुख्य भागो मे विभाजित करती बहती हुई गुजरात मे खभात की खाडी मे जा गिरती है। समग्र प्रदेश पठारभूमि (Forested upland) है। भील, ब्राह्मण, पटेल (गुजराती तथा बागडिया), राजपूत, बनिये तथा अन्य लगभग सभी वर्णो की पचरंगी प्रजा का इसमे निवास है। मेवाड, मालवा तथा गुजरात, तीनो प्रदेशो से प्रजा का आवागमन तथा सबध होने से भाषा का स्वरूप तथा लोक साहित्य का रूप भी मिश्रित है।

बागड क्षेत्र मे लिखित साहित्य नहीवत् है। इस प्रकार मे कुछ शिलालेख, पट्टावलियाँ वशावलियाँ व प्रशस्तियाँ, ताम्रपत्र तथा नामा-बहियाँ ही गिनाये जा सकते हैं। परतु इस विशाल भूभाग का लोक साहित्य अति समृद्ध है। आज तक यह अप्रकाशित एवम् मौखिक रूप से ही प्रचलित है। इसमे (१) ऐतिहासिक वीर काव्य (Historical Ballads), (२) लोकगीत (३) भजन (४) पारसियाँ या पहेलियाँ (Riddles) (५) लोकोक्तिया एव मुहावरे, (६) लघुकथाएं (७) भविष्यवाणिया तथा (८) धार्मिक वार्ताएं आदि मुख्य हैं।

बागड का समग्र उपलब्ध लोक साहित्य आज बागडी बोली मे है। यह बोली शौरसेनी से उत्पन्न मानी जाती है। शौरसेनी उत्तर की तरफ से धीरे २ धीरे ब्रजभाषा मे परिणित हुई तथा दक्षिण मे बढकर वह पुरानी-पश्चिमी राजस्थानी और उसमे से मारवाड़ी एव गुजराती बनती हुई उसी की एक शाखा 'बागड़ी' बन गयी। इस बोली का स्वरूप मुख्यतः गुजराती से तथा मालवी, मेवाड़ी, भीली आदि के मिश्रण से बना है। इसमे ब्रज, अवधी, मारवाड़ी, खड़ी बोली आदि के शब्दो का भी समावेश है। इस खिचड़ी भाषा का

रूप योगीराज मावजी महाराज के चौपडो मे स्पष्ट दृष्टव्य है। वागडी मे साहित्य रचना काफी प्राचीन काल से ही हुई दिखाई देती है। महाकवि माघ ने शिशुपाल वध की रचना वागड मे की थी, ऐसी एक किवदन्ति मज़ाक के रूप मे गुजरात प्रातीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मत्री कुशलगढ निवासी श्री जेठालालजी जोशी ने मुझसे कही थी। चारण साहित्य पुरानी डिंगल-पिंगल की शैलियो मे प्राप्य है। जैन साहित्य की रचना भी वागड मे ठीक प्रमाण मे हुई मानी जाती है। भट्टारक ज्ञानभूषण की तत्वज्ञान तरगिणी (वि. १५६०), भट्टारक शुभचद्र के पाडवपुराण की (वि. १६०८), भट्टारक गुणचद्र द्वारा अनंतजिनव्रतपूजा (वि. १६३३) आदि की रचना सागवाडा मे हुई मानी जाती है। भट्टारक जयविजय कृत शकुन दीपिका चौपाई (वि.१६६०) तथा शुभचद्र कृत चंदनाचरित का निर्माण डूंगरपुर मे हुआ पाया जाता है। भट्टारक रामचद्र ने सुभौमचक्रिचरित्र की रचना (वि. १६८३) सागवाडा मे बैठकर की थी। इस प्रकार जैन साहित्य की रचना वागड में १५ वी शती विक्रमी से हुई मिलती है। संस्कृत भाषा मे प्रशस्तियाँ तथा शिलालेख तो वि. स. १०३० से ही मिलते हैं।

वि. स. १७८४ मे योगीराज मावजी का वागड के सावला गाव मे आविर्भाव महत्व की बात है। स. १८१४ मे अपनी देहलीला समाप्त करने तक इस महापुरुष ने ४ चौपडे (महाग्रंथ), तथा अन्य लघुग्रन्थ वाणी लिखित रूप मे वागड को प्रदान कर अनुग्रहीत किया है। आज वागड मे भजन तथा सतवाणी प्रचुर रूप मे प्रचलित है।

मावजी के बाद वागड मे डूंगरपुर मे गवरीबाई (वि. १८१५ से वि. १८६५) का उद्भव भी साहित्य दाता के रूप मे अविस्मरणीय है। इस भक्त कवियत्री ने अपने आराध्य की भक्ति के अनेक पद इसी मिश्र वागडी बोली मे दिये हैं। गुजरात की वर्नाक्युलर सोसायटी की ओर से कुछ पदो का प्रकाशन भी हुआ सुना जाता है। वागड की इस मीरा की प्रेमलक्षणा भक्ति के पदलालित्य का पठन आज भी वागड मे सुनाई देता है।

इन भक्तो की श्रेणी मे 'अबोभगत' (वि. १८७७-१८३८) भी वागड मे अमर हो गया है। यह वीर भक्त अभेसिह काफी संख्या मे पद दे गया है। इनका प्रकाशन नही हुआ है, परतु हस्तलिखित रूप में अवश्य प्राप्य हैं।

इस साहित्य परंपरा मे अति समृद्ध ऐसा लोक साहित्य ही आज वागड की सच्ची निधि है। वागड के वीर 'गलालेंग' (वि. स १७३०-१७५१) की वीरगाथा आज भी लोकमानस मे अमर है। लगभग पौने तीन सौ वर्षो से यह ऐतिहासिक वीर काव्य जोगियो द्वारा परम्परागत मौखिक रूप से गाया चला आता है। मेवाड, मालवा व वागड के गाँवो मे इसको सुनने का चाव किसी मे न हो ऐसा नही। वीर, शृंगार और करुण रस की त्रिवेणी में अवगाहन कर अपूर्व आनद की अनुभूति होती है। आज की भाषा मे कहूँ तो यह गाथा भी एक अमर शहीद की अपूर्व कहानी है जो इतिहास की कडी होने पर भी लुप्त है। वीर विनोद मे कुछ विवरण है, परतु वह पर्याप्त नही है।

'अर्जण सौअण' (अर्जुन चौहान) नामक वीर के पराक्रम की भी पद्यकथा लोकश्रुत है। इसी कोटि का एक और काव्य 'हामलदा' (सामतसिंह) भी मौखिक रूप मे वागड मे व्याप्त है। वीर रस से भरपूर यह गान भी 'अर्जण सौअण' और 'गलालेंग' की तरह ही श्रोता के रोंगटे खडे कर देने वाला शौर्य

और ओजस्वी वाणी का अनुपम उदाहरण है। बाँसवाडा के अन्तर्गत आज का तलवाडा गाँव प्राचीन काल मे 'तलकपुर पाटण' नाम से विख्यात नगर था। यह चौहान वंश की राजधानी वर्तमान अर्थूणा नगर, शेष गाँव आदि से सलग्न विराट बस्ती थी। यहाँ राजा 'हामलदा' उर्फ सामतसिंह का शासन था। हामलदा शूरवीर क्षत्रिय था। इसी से संबधित शौर्य गाथा आज भी मौखिक रूप से वागड मे गाई सुनी जाती है।

'गोविन्दगुरु' नामक एक सत तो पिछली शती मे ही हुए माने जाते हैं। इन्होंने वागड के आदिवासी भीलो को भक्त बनाया और उन्हे हर प्रकार से सुधारने का महान् सामाजिक कार्य किया। उनसे सबधित गीत व भजन भी आज वागड मे और खासकर आदिवासी भीलो मे काफी लोकप्रिय हैं।

'कलोजी' नामक एक वीर क्षत्रिय की वाणी भी गायी जाती है। लोक कथा भी व्यापक है। मैंनें इसको अकित भी किया है। 'बलतो वेलणियो' नामक एक वीर क्षत्रिय लडता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी भी वीर-करुण रस की काव्य-कथा सुश्रुत है।

रामदेवजी तथा भाटी हिरजी के भजन भी लोक साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

योगीराज मावजी के अतिरिक्त उनके शिष्य—भक्त जीवण, सुरानद, जनपुरुष, दासजेता, दासमकन उदयानंद तथा नित्यानद महाराज आदि के भजन व आरतियाँ भी माव सप्रदाय में व्यापक व लोकों मे प्रिय हैं।

गोरख, मीराँ, चद्रसखी, हरवण कावेडियो (श्रवणकुमार), गोपीचद-भरतरी आदि के भजन भी अति व्यापक हैं। तोल राणी का भजन स्त्रियों को बहुत प्रिय है।

मकोनी वात, विजु (विजली) नी वात एव अन्य लघु कथाएँ तथा चदन मलयागिरी की वार्ता, शीतला सप्तमी की वार्ता तथा अन्य धार्मिक एवं व्रतादि सबधी वार्ताएँ भी बहु प्रचलित है। इन्होने भडली-वाणी तथा भविष्यवाणियाँ भी हैं।

यह सब लोक-संबंधी हैं और लोक साहित्य का भागस्वरूप हैं। परंतु आज तक इस समग्र सामग्री का सग्रह, सपादन तथा प्रकाशन नही हुआ है। यह साहित्य निधि मौखिक होने से घट-बढ भी होती रहती है। मैंने अपना शोध कार्य करते हुए काफी सचय यथा सभव किया है। दैवयोग होगा तो कुछ प्रकाशन भी होगा परन्तु कुछ झाखी सादर प्रस्तुत करता हूँ।

(१) "गलालेंग"

वागड की यह ऐतिहासिक वीर-गाथा अप्रकाशित है। परन्तु लगभग २७५ वर्षो से यह प्रेम और शौर्य का अनुपम उदाहरण रूप लोक-जीवन मे व्याप्त है। मेवाड के वृहत् इतिहास वीर विनोद में इसका अल्प उल्लेख हुआ है परंतु प्राप्य मूल कथा के आधार पर अपने शोध कार्य मे मुझे इसकी कडिया प्राप्त हुई हैं। काव्यारम्भ यो होता है—

"लालसेग ना सवा गला लेंग तारु, धरति मोगु नामे जियँ।
पुरविया पुरवगड ना राजा तमे आसलगड ना राणाएं जियं."

गलालेंग पूर्विया राजपूत लालसिंह का ज्येष्ठ पुत्र था। वह पूर्वगढ या आसलगढ का राजा था। इतिहास मे उस समय मेवाड मे महाराणा जयसिंह का तथा डूगरपुर मे महारावल रामसिंह का शासन-काल था। इतिहासकार के अनुसार ढेबर की नीव वि० स० १७४४ मे तथा उसकी प्रतिष्ठा १७४८ में

हुई थी। ढेवर के कार्य मे गलालेंग का मुख्य हाथ रहा होने से और कडाणा के आक्रमण मे वीरगति को प्राप्त होने के दरमियान साजँ साँदरवाडँ की दो राजकुमारियो से शादी करने आदि अनेक प्रसगो के आधार पर गलालसिह की आयु (वि० १७३०–१७५१) निश्चित की है और डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिह जी ने इसका समर्थन भी किया है। २१ साल की भरी जवानी की आयु मे खेत रहने वाले इस गलालसिह की सक्षिप्त परतु शौर्यभरी कथा रोमाटिक तथा अति करुण है।

"भाइयँ—भाइयँ नो वकरो लागो ने सोड़्या पूरब देते जियँ"

आपसी बटवारे को लेकर कुटुम्ब मे कलह और परिणामस्वरूप कुहराम मचा। मातृभक्त गलालेंग ने माँ से पूछा—'मा जणेता ओकम करो मुँ भाइयँ नो गालु धाँणए जियँ। पिता लालसिह का स्वर्गवास हो चुका था। विधवा माँ की आज्ञा पर गलालसिह चलता था। माँ ने अन्यत्र जाकर आजीविका प्राप्त कर पुरुषार्थ और पराक्रम आजमाने की आज्ञा दी। फलत अनुज गुमानसिह तथा चचेरेभाई वखतसिह व कुछ सेवको सहित पूरब देश छोड कर गलालेंग चित्तौड आ पहुचा।

"ऊँटे उसाला गाड़े तबुड़ा कँथ राणियँ नि सकवाले जियँ
पुरवा थका खड़्या गलालेंग कँच बाँका सितोड़ माते जियँ।"

उस समय महाराणा का मुकाम उदयपुर था अत उछाला लिये हुए वह उदयपुर आया। उसके तेज व रौब को देखकर राणा ने उसे २५ हजार का पट्टा देकर रख लिया और खैराड मे मैडी बनाकर रहने की सलाह दी।

खैराड के इलाके मे पानी की कमी थी। एक बार सूअर की गोठ खाते वक्त गलालसिह ने राणा से इसका जिक्र किया और मेवल का नाका बाँधने की आज्ञा प्राप्त करली। तलवाडा के सलाट बुलाये गये, मालवा से औढ लाये गये और लोहारिया के लोहे व बरौडा खान के पत्थरो से ढेबर पक्का वधवाया गया। तीन दिन का काम बाकी था कि गलालेंग ने औडो से डेराडीट एक मेवाडी रुपया सरकारी तवु रफू कराने वसूल करना चाहा। इस पर झगडा हुआ—

'रि नु झालु कुँवोर गलालेंग औडँ नो गाल्यो धाणँ जियँ'

कुछ औड भाग निकले और महाराणा जयसिह को हकीकत कही। जयसमुद्र की यह घटना कलकरूप थी अत राणा ने गलालेग को मेवाड की सरहद छोडकर चले जाने का फर्मान किया। स्वाभिमानी गलालेंग ने पुन. उछाला भरा और सलुबर, जैताना होता हुआ वह सोम नदी पर आ गया। सलुम्बर मे उस समय रावजी भैरुसिह जी का शासन था—उन्होने गलाल को रोकना चाहा पर वह नही माना। सोमनदी का पानी जयसमुद्र के औंटे से आता है। इस काले पानी को देखकर वह कहता है—

'कालँ कालँ निर नदिनँ भाइ केयँ थकँ आवँ जियँ'
वक्ता उत्तर देता है— 'राज नं बंदाव्यँ ढेबरियँ दादा एयँ थकँ आवँ जियँ'

इस पानी को पीना हराम करके डूगरपुर की सरहद मे नये वीडे खोद कर मुह मे पानी डाला और आसपुर की धोली वाव पर आकर पडाव डाला। गलालेग को आत्म विश्वास था कि—

"आपड़ी तरवारे तेज ओवँ तो आपे अमरणा पटा करँ जियँ"

और फिर माँ की सलाह से डूंगरपुर की ओर प्रस्थान किया। महारावल रामसिंह गलालेंग की बहन जीवँ के पति होने से उसके सगे जीजाजी होते थे। रावल ने भी गलालेंग का स्वागत किया और ५० हजार की जागीर दे कर उपकृत किया और कहा—

मगवाड़े राज थाणँ राको ने गलिया कोट सौकि करो जियँ
पसलावे तमे मेडि माँडो ने अजुर नि रोटि जमो जियँ"

पचलासा मे जीवा पटेल की जमीन छीन कर गलालसिंह ने अपना महल बनाया अतः जीवा पटेल उछाला भर कर कुँवा के जागीरदार के पास जा बसा। कुँवा के हतुमहाराज ने लालजी पड़चोर का पट्टा लेकर जीवा पटेल को दिया अतः लालजी पडचोर उछाला भर कर डूंगरपुर राज्य की सीमा छोडकर कड़ाणा के ठाकुर कालु कडँणिया की शरण गया परतु कालु से शर्त ली कि वह कुँवा पर आक्रमण करके उसके प्रति किये गये अन्याय का बदला लेगा। कडाणिया कालु ने यह मजूर किया और जब दशहरे की सवारी मे कुँवा के ठाकुर हतुमहाराज डूगरपुर राणा की नौकरी मे गये हुए थे तो कडाणिया ने कुँवा पर आक्रमण किया और मनिया डामोर तथा खेमजी खाँट आदि चौकीदारो को मारकर सारा ग्राम लूट लिया तथा वस्ती उजाड दी। यह समाचार डूगरपुर के दरबार मे पहुँचाया गया तो गलालेंग यह सुनकर आगबबूला हो उठा और आक्रमण के लिए बेसब्र बन गया परतु एक माह बाद सब सरदार सेना एकत्रित कर युद्ध को प्रस्थान करें, ऐसा निश्चय हुआ। गलालसेंग पछलासा आया तो उसे—

"साजँ ने साँदरवाडँ गामनँ बे जोड मे नारेल माल्यँ जियँ'
राणि झालि ने राणि सेणतणि परणवानँ नारेल आव्यं जियँ,"

माँ पियोली के मना करने पर भी गलालसिह ने श्रीफल स्वीकार किये। माँ ने कहा—

'गाम कडँणँ जिति आवो ने बलता साजे परणो जियँ'

गलालेंग कहता है—

'गाम कडँणे काम आवं तो कोंण हतिये बले जियँ'।

नारियल स्वीकार कर वह वनदेवी रावल रामेग की मजूरी लेने डूँगरपुर गया। रावल रामसिंह ने कहा—

"नोव दाउ नि सुदि हालात मे दसमें मेले आवो जियँ
दसमो सुकि इयारमो थावे तमे देसवटे जाजु जियँ"

अरमान भरा गलालेंग शूरवीर और पराक्रमी था, क्रोधी था, स्वाभिमानी था परंतु दिल से सरल, उदार, कर्त्तव्य परायण और प्रेमी तबियत का आदमी था। उसकी पहली पत्नी का स्वर्गवास हो चुका था—

"पेला फेरा ना परण्या गलालेंग ने देवदे सोड्या मोडे जिय,
देवदा वालँ देवलोक मे अवे साजे परणवा जावें जियँ"

अतः यह दूसरी बार बरात सजाई थी। लीलाधर घोडे पर सवार होकर वह शादी को चला। माँ ने उसे अनेकानेक श्राप और गालियाँ दी !

साज सादरवाडँ ग्राम मे जब बरात आई तो गलालेग के रूप पर लोग आफिन हो गये। दोनों कुमारियाँ तो धन्य धन्य अनुभव करने लगी। कामदेवता के समान स्वरूपवान गलालेंग की शादी और

उसके फौरन वाद कडाणा युद्ध की कल्पना से लोक भय और आशका अनुभव करने लगे। लग्न विधि चल रही थी कि गलालेंग को कडाणा याद आया। अवधि मे सिर्फ एक दिन वाकी था। उसने राज-पुरोहित को जल्दी करने को कहा तो उसकी सासू पर्दे मे से वोली—

"घिरे—घिरे परणो मेवाड़ा नानि ना बालया आते जियें
कुंवारी कन्या ने वीर घणा परणी ने लगाइयो दागे जियें
लगन लगन तो मरद कुंवारो असतरि तो आगलो भोवे जियें
घिरे-घिरे परणो मेवाडा के घणी परण्या नी आंसे जियें
एवि उतेवेल ओत तो वाला तमे वलता परणी जाता जियें"

गोर वजेराम ने ज्यो त्यो लग्न विधि पूर्ण की तो दान दक्षिणा देकर गलालसिह सीधा युद्ध मे जाने को तैयार हुआ। गोर ने कहा कि कालयोग है अतः घर जाकर वरपडवें (दोरा ककन छोडकर) करके जाओ। रातोरात वारात पचलास रवाना हुई। सवलसेंग काका की मेडी मे रात वास किया परन्तु पत्नीयो से मिलना नही हुआ क्योकि मोडमीढल छोडे विना सुहागरात वर्जित थी। दूसरे दिन गोर से मुहूर्त मागा गया परन्तु साठ साल की माँ पियोली गलालेंग को रानियो से मिलने देना नही चाहती थी क्योंकि रसिक गलाल रानी के रूप पर मोहित हो जाय तो युद्ध मे ही नही जाय। अतः माँ ने ब्राह्मण को धमकाकर दस दिन बाद मुहूर्त है, ऐसा खोटा कहलवाया। परिणामस्वरूप गलालेंग विना मोड—मीढल छोडे ही युद्ध को रवाना हुआ। यहा से करुण-रस का उभार आता है। पहली रानी असमय मे स्वर्ग सिधारी और अव दो दो नारियाँ हैं, परन्तु प्रणय सुख पाये विना ही गलालेंग को युद्ध मे जाना पडता है! पादरडी बडी मे मावा पटेल की पत्नी ने दूर से गलाल को आते देखा तो गाँव सहित स्वागत को वढी और उसे चावलो से पौंखकर स्वागत कर चौराहे पर ठहराया। मावा पटेल की षोडशी पुत्री रूपा ने गलालेंग को कहा—

"आडॅ लोक नि होलि दिवली खतरिने पुनेम वालि जियें
बार कोनो खडयो खतरि पुनेमियो घेरे आवे जियें
आजे है वैसाकि पुनेम मामियें ने मलि आवो जियें
अस्तरियें ना नेंया पड़े तो मामा धणें परासन लागें जियें"

हे मामा, आज पूनम है। मामियो को मिलकर जाओ, नही तो मेरी कसम है। भाणेज पटलाणी की बात मान, सेना सागवाडा पडाव की ओर भेजकर गलालेंग भाई वखतसिंह के साथ वापस पछलासा लौटा। रात हो चुकी थी। राणी झालि तो सो गई थी परन्तु मेणतणि ने घोडो की टापें सुनी। उसने झालि को जगाकर कहा—

'उट ने मारी बोन रे झालि ठकरालो घेरे आव्या जियें
मेला खेला तो खेरु वया ने माणिघर पासा आव्या जियें।'

माणिगर की बात सुनकर झालि उठ बैठी और पिया मिलन की उमग मे शृङ्गार सजा कर तैयार हुई :—

"पात फूल नि सेज वसावि ने ओशि के नागर वेले जियें
तेर दिवा तेलना पुर्या ने दस घियें ना पुर्या जियें।"

परतु शृङ्गार रस के गीत सुनकर माता पियोली जाग उठी और द्वार पर आकर गलाल को खरी खोटी सुनाई—

'तारे बाप नु बिरण लजव्यु माँ जेरणनारी नु थाने जियँ"

माँ के व्यग्यबाणो से आहत गलालेंग अधूरे अरमान लेकर रण-भूमि मे जाने की तैयारी करने लगा। दोनो रानियो ने अपने देवर वखतसिंह को कहा—

'पियोर मे तो माँ नो जायो ने हारि में हाउ नो जायो जियँ
जालि मेल नं तालँ खोलो, परण्यानु दरसरण करँ जियँ'

वक्ता ने दोनो रानियो को बाहर निकाला। दोनो नवोढाए लाज शर्म छोडकर गलालेंग के आगे आकर खडी हुई और बोली—

"घड़ि पलक भेगा ने रम्या परणि ने लगाव्यो दागे जियँ
मनमे दगा भता परण्या तमे वलता परणि लेता जियँ"

तब गलालेंग कहता है—

होल वरनि होलेंगणिरे तु कँय ललसावे जिवे जियँ
गाम कडंणे काम आवता तो कोरण हतिये बलतु जियँ'

तब रानियाँ कहती हैं—

"जो बावसि भले पदारो तमे जिव नं जतन करो जियँ
पाकँ काम कडँणे करजू गमेलिये हती बल जियँ"

रानियो को विलाप करते छोडकर गलालसिंह लीलाधर पर सवार होकर युद्ध को रवाना हो गया! सागवाडा के नगर सेठ की पत्नी ने मोड-मीढल युक्त गलालेग को रण-चढने जाते देखकर उसे रोका और स्वागत करके भाई कहकर उसे सागवाडा रहने और रावल रामसेग को दड भर देने की इच्छा व्यक्त की—

"मां ना जण्या भाइ गलालेंग सगवाडे बेटा रेवो जियँ
अजुर धणि जे डण्ड करें मो घोरता मरु डण्डे जियँ"

पादरडी की पटलाणी और सागवाडा की सेठानी की सहानुभूति और स्नेह का कायल गलालसिंह कहता है—

नके बोनबा वसन खरसो मों ने ठेयी ने जोगे जियँ
खतरियँ ना दावड़ा अमें उसिनँ लाव्या मोते जियँ"

वह कहता है कि रावलजी सुनेंगे तो कहेगे—

मरवा भागो बिनो गलालेंग वाँणियरण ने हण्णे पेटो जियँ

वह आगे बढता है परतु पगपग पर अपशुकन होते हैं। सामने विधवा स्त्री मिलती है तब भावी की आशका मन मे उभरती है। फिर भी धीर, वीर, गभीर और दिलेर जवाँमर्द शौर्य की खुमारी से कहता है—

'खतरियँ ना दावड़ा भाइ आपे औंदा हकन वाँदें जियँ'
खतरियँ राँगडँना दावड़ा भाइ भाले भरव पेटे जियँ"

और करगसिया तालाब की पाल पर राजा की फौज मे शामिल हो गया। इस वक्त गलालग का तोहफा देखकर सेना के सब क्षत्रिय काँप उठे और राजा के कान भरने लगे। फलत. राजा ने गलाल का मुजरा नही झेला और व्यंग्य कहा—

मो जाणु ते पणवा ग्योतो के तु घोरजमाइ रये जियें'

गलाल को बुरा लगा, उसने कहा एक दिन मैं पीछे रहा, तुम्हारे कितने आदमी काम आये? और उसने सवा कोस आगे जाकर अपना डेरा डाला। इधर महारावल की फौज मे षडयत्र हुआ और आधी रात को कूच का डका वजा दिया। गलालेंग ने यह नगारा सुना तो वह उठ बैठा और वक्ता को कहा कि फौज आवे उसके पहले ही हम कडाणा पर टूट पडे और अपना जौहर जीजाजी को बता देवें। फलतः आधी रात को गलालसिंह अपने मरणिया साथियो सहित चल पडा और महीसागर पर पहुच गया। बाद मे पता लगा कि कुछ धोखा हुआ है परतु गलालेंग कहता है—

'सड़यो खतरि पासो फरे तो जणनारनु लाजे थानए जियें'

नदी मे रात्रि के अधकार मे पानी भरने की आवाज आई, देखा तो सात कन्याए थी। घेरा डाल कर उन्हे पकड लिया। पूछा तो पता लगा कि, गलालेंग के भय से कडाणा वाले रात को पानी भर लेते थे। उन कुमारियो से पता लगा कि वागड का लूटा हुआ सारा धन बावो के मठ मे छिपा रक्खा है। गलालेंग के इशारे से वखतसिंह ने सातो को मौत के घाट उतार कर कालिया दर्रे मे फैंक दिया। उन्हे जीता छोडते तो हाक मच जाती। नदी में अतिम बार अफीम के कसुबे पीकर बावो के मठ पर धावा बोल दिया तथा आमगर तथा धामगर बावो को मारकर धन निकलवाया। सात ऊट भर कर एक बहन जित्रॅ को डूँगरपुर, दूसरा ऊँट सागवाडा बहन सेठानी को, तीसरा ऊँट पादरडी बहन पटलानी को, चौथा ऊँट जीजाजी रावल रामसिंह को तथा शेष तीन ऊँट पछलासा दोनो पत्नियों, भाई गुमना तथा माँ पियोली के लिये भिजवाये और कहलवाया—

"माजि साप ने मजरो के जु तारो बेटों कडॅणे सडया जियें
राणिझालि ने एटलं केजु गमेले सतिये थाजु जियें
भाइ घुमना ने मजरो केजु माडिनी कडॅणे सड़या जियें"

बावो का मठ तोड कर और वागड का लूटा हुआ धन वागड भेज कर गलालसिंह मौत के उन्माद मे आवेश मे आगया और पूरे जोर शोर से कडाणा पर हमला बोल दिया। घमासान युद्ध हुआ—

"जडा जिड़ बन्दुके सुटें भालें रा घमोडा उडें जियें
कटारियें ना कटका थावें तरुवार ना टसका लागें जियें
सामा सामि खतरि लडें कॅय गुजर झगडा लागा जियें
रि नु झालु कुवोरे गलालेंग वैरि ना गाले घारगए जियें
दारु गोलें ना मे वरें ने खतरि ना मसालो लागें जियें"

कालू कडॅणिया और उसका पुत्र, अनूपसिंह डर कर महल में जा छिपे। परतु अब गलाल रुकने वाला नही था। वह मौत का प्रच्छन्न स्वरूप बना हुआ यमराज की तरह टूट पडा और सारा कडाणा भस्मीभूत कर डाला। चौराहे पर नगारा बजाने वाला जोदिया तथा ड्योढी पर वखतसिंह भी २१ घाव

खाकर वीरगति को प्राप्त हुआ। अब गलाल और उसका घोडा लीलाधर पूरी खुमारी से झूम रहे थे! कडाणा के महल के चारो ओर भारी कोट था। प्रवेश का कोई मार्ग न देखकर गलाल घोडे को पूरे जोश से दौडा कर कूदा महल के अदर चौक मे कच्चे मोती बिखेरे हुए थे अत लीलाधर घोडे का पाँव चटक गया और वह लँगडा हो गया। दुश्मन घोडे को बादमे पीड़ा पहुँचाएगा यह सोचकर घोडे का सिर धड से अलग करके गलाल कडाणा की रा–आगन मे खड़ा घूमने लगा। उस पर मौत मँडरा रही थी। वह वीरता के नशे मे चूर था। वहाँ केले थी उन्हे काटने लगा। उसका जनून देखकर कडाणिया की रानी ने कालू को व्यग्य मारा कि वैरी बाहर आ गया है और तुम घर मे छिपे बैठे हो। व्यगोक्ति से चोट खाकर कालू ने गोली दाग दी और गलालेग घायल हो गया। वह मौत की प्रतीक्षा करता हुआ राम का नाम जपने लगा। इतने मे कालू की कुमारी सुन्दरी फुलँ बाहर आई। वह गलालेंग के रूप पर मोहित हो गई। पानी के दो लोटे रखकर वह गलालेंग का हाथ पकडकर मगल फेरे फिरने लगी तब गलाल कहता है–

"घड़ि पलक ना पामणा रे तारु खोलिय अबड़ा व्यु जियँ
कुवारिं कन्या ने वोरं गणा पण्णि ने लगाड़्यो दागे जियँ"

तब फूलँ कहती है–

'नति दिक्यँ घोर ने बारँ मो रूप ने फेरा फरिजियँ'

इतने मे कालू और अनूप बाहर आये और गलालेंग के शरीर पर के अलकार-गहने लूटने लगे, तब गलाल को चेतन आया और उसने कहा—

'आव्यो कडणिया तारे पागे परण मरदँ ने पोगे जावे जियँ'

कडाणिया तलवार उठाता है परतु उसका वार होते ही गलाल जोर का झटका मार कर पिता पुत्र दोनो को एक साथ मौत के घाट उतार देता है। गलाल की अनुपम वीरता शक्ति से फुलँ संतोष और सुख अनुभव करती हुई कहती है—

"भोवोभोव मने भरतार-मलो तो बाप लालेंग नो जायो जियँ
जिव तमारो गेते जाजु मो आँय सतिये बलुँ जियँ"

गलालेंग के प्राणपखेरू उड गये और सती की तैयारी होने लगी इतने मे महारावल रामसिंह सदलबल आ पहुँचे परतु अब खेल खत्म हो गया था। सारी बात फुलँ के मुँह से सुन लेने पर राजा रोने लगा। फुलँ ने कहा कि पहले गलाल की पाघ पछलासा पहुँचा दो क्योकि वहा दो नव परिणिताएँ साथ मे पीछे छूट जायगी—और फिर आप ठाकरडा पहुँचो वहाँ अमरिया जोगी है वह मेरे पति का कवित्त वना देगा, उसे लोक मे चलाना। यह कहकर फुलँ सती हो गई। उधर रानी झाली और रानी मेणतणि भी पछलासा के गमेला तालाब पर सतियाँ हो गई! साढे तीन दिन मे जोगी अमरिया ने गलालेंग की काव्य-गाथा केन्द्रे (एकतारा) पर गाकर गूँथ दी। राजा ने जोगी को जमीन आदि देकर पुरस्कृत किया और स्वय डूँगरपुर लौट गये। इस प्रकार वीर गलालेग की गाथा पूर्ण हुई"

कटे धाव्या थान मेवाड़ा ने कटे लड़ाड़्यूँ लांडे जिय
कटे मेवाड़ा मोटा थया ने कटे पड़्यूँ धड़े जियँ
लालसेंग ना सवा गलालेंग तारं जगमे अमर नामे जियँ!!

(२) "हामलदा"

वागड के बासवाडा के अतर्गत आज के तलवाडा का प्राचीन नगर तलकपुर पाटण नाम से विख्यात था। वह चौहान वश की राजधानी था। हामलदा या सामतसिह वीर राजा का शासनकाल था। उस समय एक क्षत्रिय दूसरे से लडने पर आमादा रहता था। मेवाड और डूगरपुर के बीच की सोम नदी को लेकर दोनो राज्यो मे झगडा चल रहा था। महाराणा भारी फौज लेकर जेताणा होते हुए सोम नदी पर आ गये और डूगरपुर की सरहद मे आसपुर गाँव की धोलीवाव पर पडाव डाला। गोल और रामा गाँवो की वापिकाओ के रहँट जलाकर रसोई बनाई और अत्याचार शुरू किये। यह स्थिति देखकर रामँ-गोल गाँव का एक श्रीगौड ब्राह्मण जिसकी हाल ही मे शादी हुई थी वह मौड-मीढल छोड़े बिना ही भागा-भागा तलकपुर पाटण पहुँचा। उस समय समग्र वागड सहित मेवाड़ के छप्पन के इलाके पर सामतसिह का आधिपत्य था, मेवाड मे (राणा) श्री दिवान के रूप मे शासन चलाते थे। ब्राह्मण ने जाकर 'हामलदा' को हकीकत कह सुनाई। इस पर सामतसिह मुकाबले को आया और दोनो पक्षो मे भीषण सग्राम हुआ। हजारो वीर खेत रहे और खून की नदिया बह चली। इतना खून बहा कि सवा सेर का पत्थर भी लहू की धारा मे बह चला। इस ऐतिहासिक गाथा का शौर्य गीत वागडी बोली मे व्यापक है—

"एसि ने अजारे दल दिवँण नु हो राजे जो–२
धोलि ने वावे रे झंडा जिकिया हो राजे जो–२
रेंटडा भागि ने रसोइ करि जेंणे ठामे जो–२
रामें ने गोलँ नो आमण सिगेडो हो राजे जो–२
तरत नो परण्यो ने आते मेडोलँ हो राजे जो–२
गले ने गोपेँण ने खाँदे डेंगडि हो राजे जो–२
ओणि ने तरे नो आमण सालियो हो राजे जो–२
ने दौडतो ने धामतो आवियो तलवाडे हो राजे जो–२
परवाले पणियारिये पाणि भरें जेंणे ठामे जो–२
धिरो ने रँ ने सिगडो ओसर्यो हो राजे जो–२
ने हाँवल ने साँबल ने वेनि वाते मारि हो राजे जो–२
मने ने भालो ने धणि नँ दरिखानँ जेंणे ठामे जो–२
धिरि ने रँ ने पणिआरि बोलि जेंणे ठामे जो–२
जमणो ने मेलजे माजन-वाडो जेंणे ठामे जो–२
ने डावो ने मेलजे सुलाट-वाडो जेंणे ठामे जो–२
सोरा नि लेंबड़िये मकनो झुले जेंणे राजे जो–२
सन्मुक बेटु रे धणि नु दरिखानु हो राजे जो–२
भुरियँ हैं मोंडें ने मोसे वांकड़ि हो राजे जो–२
ओणि ने तरे ना सौम्रण बेंटा जेंणे ठामे जो–२
ढालँ नि ओंटेंणे जाजेम टूटे जेंणे ठामे जो–२"

जब ब्राह्मण ने ऊपर वर्णित दरबार मे जाकर आक्रमण की बात कही तो यह सवाद सुनकर 'हामलदा' की नवयौवना रूपमती राणी 'रेवारण' कहने लगी—

"घिरे ने रैंने राणि ओसरि जेंणे ठामे हो राजे जो–२
सोम ने सोम परण्याजि सों जको जेंणे हो राजे जो–२
होम मे नति रे लापि–लाडुवा हो राजे जो–२
सोम मे नति रे घरवालां नाग जेंणे ठामे हो राजे जो–२
केसर वरणि है राजनि दै जेणे राजे जो–२
मालँना मसरका केम खमो जेणे ठामे हो राजे जो–२

हे माणिगर, प्रियतम ! युद्ध में मत जाओ। आपकी केशर जैसी काया हैं। शत्रु का सैन्य अस्सी हजार का अपार है। असख्य शत्रुओ के बीच आप अपने अल्प सख्यक साथियो के साथ कैसे झूझोगे ! मेरा मन मना करता है, आप युद्ध मे मत जाओ। तब राजा कहता है—

हे प्रिये, तुम मुझे अपशुकन मत दो। अमगल की बात मत कहो। तुम स्त्री जाति डरपोक होती हो। तुम्हे एक बार गर्म दूध की छाँट लगी थी तो आठ दिन तक तुम शय्या से नीचे नही उतरी थी। परन्तु मैं क्षत्रिय बच्चा हूँ। मेरा धर्म आये हुए दुश्मन के दाँत खट्टे करना या लडते हुए वीरगति को प्राप्त होना है। यो कहकर राजा ने ब्रामण को पत्र देकर राणा को कहलवाया है कि—

"सोमे ने सियारि पाँणि आँगेंणँ हो राजे जो,
होमे ने हियारि पाँणि आँगेंणँ हो राजे जो।
सोम जो जुवे तो आवजे तलवाड़े हो राजे जो—२"

अर्थात् सोम नदी दोनो राज्यो के बीच की विभाजक रेखा है। अतः समान मालिकी भले रहे परन्तु पानी पर तो सिर्फ हमारा ही अधिकार रहेगा। यदि पानी पाने का आग्रह हो तो तलवाड़ा राजधानी तक युद्ध लडते हुए आना पडेगा। यो समाचार भेजकर हामलदा ने-युद्ध की तैयारी की और अपने सूरमा साथियो के साथ यह चौहान राजपूत अपने भम्मर-घोडे पर बैठकर राणा से युद्ध के मैदान मे जा भिडा और अपनी शान बान और आन को वीरता से कायम रक्खी !!

(३) "लोक गीत"

(लग्न गीत)

(i) घडचो ने घडाव्यो बाजरोट जावद जाइ जड़ाव्यो
मेल्यो ओड़ानि पडसाले वौओरे वदाव्यो
कोण माइ न राँणि राजल बोलें
सामि मारे सुडिलो सिरावो
कोण माइ घेरे वर घोडि
घडचो ने घड़ाव्यो वाजरोट जावद जाइ जड़ाव्यो
मेल्यो ओड़ानि पड़साले वौओरे वदाव्यो

कोण भाइ न राँणि राजन वोलें
सामि मारे सुडिलो सिरावो
कोण भाइ घेरे वरघोडि

× × ×

यह लग्न गीत है । इसमे भाषा का स्वरूप और गुजराती की छांट द्रष्टव्य है ।
बालक लाडि तो लक्यँ कागद मोकले ओजि अलदि ना भेंज्या वेला आवोरे !
—मालेण गजरो सिवदो⋯

(ii) ओजि ओ केम आवु बालक लाडलि राज ने विरेजिये मारग रोक्योरे !
—मालेंण गजरो सिवदो

इ तो अरज करो रे अे णँना विरोजि ओजि गडि दोय मारग सोडो रे !
—मालेंण गजरो सिवदो

× × ×

यह गीत भी ऊपर की कोटि का ही है ।

(iii) समदरिया ने अे णे पेले पारे भनोजि तम्बु ताणिया
लाडि तारा वापा ने जगाड नावे नकाव सें
नति मारा बापाजि घर पोसे आपे पदारजु
समदरिया ने अेणे पेले पारे भनोजि तम्बु ताणिया
लाडि तारा विरा ने जगाड नावे नकाव सें
नति मारा विराजि घर पोसे आपे पदारजु⋯

× × ×

iv) आवि रे सावला नि जान रे जरमरिया जालु⋯
घेयुं रे वेवाइ तारु घोर रे „ „
घोर घेरि ने नासेण हाइ रे „ „
आवि ने कोण भाइ ने पोगे पड्यो रे „ „
सोडो रे बावसि मारँ बाँण रे „ „
रुपिआ आलुं भारोभार रे „ „
मारे नति रुपियँ नँ काम रे „ „
मारे सें बैरियँ नँ काम रे „ „

× ×

(v) राइवोर तो गोयरे पदार्या रे गजगा वाणि लो
राइवोर ने गोंवालिये वकेण्या रे ,, ,, ,,
राइवोर तो रेसम केरो रेजो रे ,, ,, ,,
राइवोर तो पाटण केरु फोंदु रे ,, ,, ,,
राइवोर तो समोदर नो इरो रे ,, ,, ,,

× × ×

(vi) जमाइ सा प्राग भेजुं रे सवा लाकनि । २
,, मादयानि सतुराइ रे ओंसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे
,, सोंगला भेजुं रे सवा लाकना । २
,, मेल्यानि सतुराइ रे ओंसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे
,, टोपिथो भेजुं रे सवा लाकनो । २
,, पेर्यानि सतुराइ रे ओंसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे
,, मनडि भेजुं रे सवा लाकनि । २
,, परण्यानि सतुराइ रे ओंसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे

× × ×

(vii) लाडि लाडो माँडवे बेटँ घुजें रे पोपट पानु । २
लाडकडा ने विरोजि कुँवारा रे ,, ,, ,,
लाडकडि ने भावि बाइ कुँवारि रे ,, ,,
ओणाँ ने दोयँ ने परणावो रे ,, ,,
दोयँ ने जोडि बण से रे ,, ,,

× × ×

इस गीत मे 'दोयँ' मेवाडी' तथा 'बण से' गुजराती शब्द दृष्टव्य हैं ।

(viii) सोनानु ए रेकड्‌ ने वायरे उडयु जाय रे ...
वेवाइ तमारु नाक वाड्यु जान मूकि जाय रे ...
सोनानु ए रेकड्‌ ने वायरे उडयु जाय रे ....
वेवँण तमारु नाक वाड्यु जान तरि जाय रे ... ...

× × ×

(बड्वानु गीत)।

(ix) बड्वा काने कड़ि माते घड़ि सुोने जड़ि
जाइ बेटा दादाजि ने खोले सड़ि

बापे एण ने वाणे सलाव्यँ जाइ ने सोट्यँ कासि–गड ने सोवटे
कासि–गड नो ब्रामण ब्रेम बोल्यो
भडसि सें सें कारणे श्राव्या
बावसि ग्रमारे बालक बड्वो लाडनो
एने कासि–गड नि जनोइ ग्रँ नि गणि ओसे
बड्वा काने कडि माते घडि सोने जडि
जाइ बेटा विराजि ने खोले सडि

× × ×

(भीलो के गीत)

(x) सुदेडि तो भले रि श्रावि रे पावागड नि सुदेडि
श्रावि उतरि रामजि भाइ ने वेड रे पावागड नि सुदेडि
करो मारा रामजि विरा मुल रे „ „ „
सुंदेड़ि ना सवा बे रोकडा रे „ „ „
पेरो मारा मोति बाइ बुना रे „ „ „
सुंदेड़ि पेरो तो केडो भराय रे „ „ „
ग्रोढुँ तो पगल्या रोलाय रे „ „ „
धोवुँ तो दरियो रगाय रे „ „ „
जंजेडुँ तो उडें जेंणा मोर रे „ „ „

× × ×

(xi) मारो सांकलियालो कुँपडो ठेंकि आव, वाघजि तुं किम डरके रे
मारो घुघरियालो जाँपो सडि श्राव, „ „ „ „
तु श्रावे तो सानो–सानो श्राव, „ „ „ „
मारो सासरो तो ग्रोरा ने पड़साल, „ „ „ „
मारि सासुडि तो „ „ „ „ „ „ „ „
मारो परण्यो तो गदेडा गोंवाल, „ „ „ „

× × ×

(मृत्यु गीत हरिया)

(xii) दन उग्यो एम रयो घेरे श्रावो रुडा राजवि ·········
हरियो राजवि हाय··· ·····हाय ····· ···हाय ·· ····· !
ताँबा कुंडि जल भरि घेरे श्रावोरूड़ा राजवि · · · ·
हरियो राजवि साय······· हाय ······ हाय ······ ·· !

नावण वेला वै गै घेरे आवो रुडा राजवि…………

हरियो राजवि साय……हाय……हाय………!

सोना जारि जल भरि घेरे आवो रुडा राजवि……

हरियो राजवि हाय……हाय……हाय……!

दातुँण वेला वै गै घेरे आवो रुडा राजवि………

हरियो राजवि हाय……हाय………हाय……!

भोजन परुस्यँ एम रयँ घेरे आवो रुडा राजवि………

हरियो राजवि हाय………हाय……हाय………!

जम्मा वेला वै गै घेरे आवो रुडा राजवि……

हरियो राजवि हाय……हाय……हाय………!

ढालया ढोलिडा एम रया घेरे आवो रुडा राजवि………

हरियो राजवि हाय………हाय………हाय……!

× × ×

(xiii) वाडि मँय नो साँप लियो कटावो रे हाय केसरियो लाडलो……

साय केसरियो लाडलो, हाय……पातलियो ,,

सगवाडा नो सुतारि तेडावो रे हाय केसरियो ,,

केसरिया ने पालकडि गडावो रे ,, पातलियो ,,

डोँगर पर नो रगारि तेडावो रे ,, केसरियो ,,

पातलिया ने पालकडि रंगावो रे ,, ,, ,,

वाँसवाडा नो वणारि तेडावो रे ,, पातलियो ,,

केसरिया ने पालकडि वणावो रे ,, ,, ,,

पातलिया नि जाने सलावो रे ,, केसरियो ,,

एंणि जान मे तो अमुक भाइ ओँसिला हाय केसरियो ,,

एंणि जान मे तो सपो भाइ ,, ,, ,, ,,

एणि जान मे तो अमुक भाइ मरँणा ,, ,, ,,

अमुक वौ नो सुडिलो लुटँणो रे ,, पातलियो ,,

लाडि वौ नो फागणियो लुटँणो रे ,, ,, ,,

× × ×

(४) " भजन "

रोणिजा थकि रे जाणे वावो आवियो अरजि ने पुसे से पुसणँ

केनो रे वाजे से अरजि दावडो केनि रे सारे से बाकरिये

ओँतो वाजो रे गुजर दावडो माबी मारि बकरिये सरावे

थोडुक २ अरजि दुद पावजो सादु भुक्यो आवियो
सो सो मैननि वाकरि बाकडि दुद कण-वद काडो सो
समरत ओवो तो गरु मारा काडजो दुद काडि अरोगो सो जि
तु बडि लै ने गरु मारा वराज्या तुँवड़ि दुदे भरँणि सो जि,
ओँ तो जाणोँ के बावो जादु-खोरियो बाबो मल्यो हे अन्याडि
दुदे काडचु से अरजि दावडा तुँवडि मे तमे खिर पकावो
अगनि लागे ने तुँवडि बलि जावे दुद रिटाइ जावे हो जि
अगनि लगाडि अरजि दावडे तुँवे खिर पकावि सो जि;
ओँ तो जाणोँ के बावो जादु-खोरियो बाबो मल्यो से अन्याडि
खिर वेणावि अरजि दावडा खिर मे साकर नकावो
सो सो को माते गरु मारा सेर वसे वन मे साकर क्य थकि सो
घोबला भरो रे अरजि रेतना खिर में साकर नकावो
रेत नाकि ने गरु मारा खिर पकावि ......
धोबलो भरि ने अरजि खिर पियो थोडि अमँने पो हो जि ......
खिर खावि ने अरजि केवु बोल्या खिर मे साकर गोलँणि
ओँ तो जाणोँ ते बावो जादु खोरियो बाबो मल्यो से अन्याडि
खिर खादि हो अरजि दावडा थोडु पाणि पावो हो जि .....
खुवा-वावडि सो गरु वेगलँ पाणि कणवद लावोँ हो जि ..
तुँवडि लँ ने अरजि डोँगरि सडो खोरा मे बगलु वियँणु हो जि ....
डुँगरे सडि ने अरजि नँसे जोयुँ गगा उलटे भरँणि
नँसे जोइ अरजि विसार करे जे-टवैसाक मे पाँणि क्यँ थकि .....
ओँ तो जाणोँ रे बावो जादु-खोरियो मल्या रोणिजा वाला राम हो जि ....
जेलो एलोलो अरजि दियो तारजो पेला जुग मे
बिजो एलोलो अरजि दियो तारजो। विजा जुग मे
तिजो एलोलो अरजि दियो तारजो तिजा जुग में
सोतो एलोलो अरजि दियो तारजो सोता जुग में
पाणि लावि अरजि आपियु दोवारिकँ ना नात नें
पाणि पाइ ने अरजि सरणे पडया के आवोँ आपने लारे हो जि ....
काजलि वन मे तारि बाकरि सो वाघ-वरु खाइ जाय हो
गायँ ना गोँवालि विरा तने वेंदवु घडि बाकरियँ थामो सो जि .. ...
पासु फरि ने अरजि जोय तो राम रोणिजे सिदायी हो ....
दोय आत जोडि ने अरजि वोलिया संतँ ने दोवारिकँ मे वास

× × ×

(५) पारसियाँ : पहेलियाँ 'Riddles'

१. ओंसा गलानि जे कँय ओंटडि ने वेटि जाजेम पातरि—२
सतुर ओय तो सोड जु कँय मुरक गोता खाय
सोडो वेवाइ मारि पारसि..............=(बिछात पर शराब की बोतल)

२. ओसि गोरि पातलि जि कँय नदिये नावा जाय—२
सतुर होय तो सोड जु ने कँय मुरक गोता खाय
सोडो जमाइ मारि पारसि..............=(मीडी)

३. डाक्केण भुतनि लडाइ सालि जि कँय सुडवेल सोडाववा जाय—२
सतुर होय तो सोडी लेजु कँय मुरक पड़्यो जज़ाल
मारि सेजन सोडो वेवाइ मारि पारसि......... =(ताला—चाबी)

४. राति माटलि मारि रगे भरि उपर जड्यो रे जडाव २
सतुर होय तो सोडी लेजु कँय मुरक गोता खाय़
सोडो वेवाइ मारि पारसि.....................=(लाल मिर्च)

५. वना माता नो बोकडो जि़ कँय—२
आटो आट वेसाय मारि सेज़न
छोडो वेवाई मारि पारसि .... = (नारियल)

६. पाँस पाइयालो ढोलियो़ जि़ कँय—२
ढाल यो राज़दरबार मारि सेजन
सोडो ज़माइ मारि पारसि................. = (हाथी)

७. वना माता रो बोकडो जि़ कँय—२
वन सरवा ने जाय मारि सेजन
सतुर होय तो सोडजो जि कँय मुरक करे रे वस्या़र
सोड़ो जमाइ मारि पारसि .... = (कुल्हाड़ा)

८. कालो खुवो कालु पाणि ने कालि भमरज़िरि सेजलडि २
सतुर होय तो सोडजो़ जि़ केय मुरक गोता खाय़
सोड़ो वेवाइ मारि पारसि...................... = (काजल)

(६) कहावतें और मुहावरे

१. अजण्या नु आँगणे मौत
२. अण भण्या नँ उदार खातँ
३. अण कमाउ खेति करे तो बलद मरे के बिज़ पड़े
४. दाल वगडे अेनो दाडो वगडे
५. अन्याड़ि ओवे इ आड़े डाले वेइने वाढे

६. अमिर ने आदर सौए करे
७. अमिर ने घोड ु ने गरिब ने जोड ु
८. अलाव्या वना ओजे
९. अलों ड्यु तो वाघ--ए नें खाय
१०. अदा रवँ ने कुत्ता पिये
११. आइ एवि दिकरि ने घडो एवि ठिकरि
१२. आइ जोवे आवतो ने वौ जोवे लावतो
१३. आँगणे खुवो ने वौ उसमणि
१४. आँदलँ घोडँ ने बावलेया सणा
१५. आँदलँ ने सु ँ दिवा ने राँडयँ ने सु विवा
१६. आपडि तो बापडि ने पारकि सेनाल
१७. आवि हाटि ने बुद्दि नाँटि
१८. आवि आदत कारेये ने जाय
१९. उपर वागा ने नेंसे नांगा
२०. एक एकडा वना सब मेडँ खोटँ
२१. एक सति ने हो जति हरकँ
२२. कतुवारि नु सदरे ने वतुवारि नुं वगड़े
२३ करे सेवा इ पावे मेवा
२४. कात्या एना सुत ने जण्या एना पुत
२५. कामटे वदे इ रोत (Leader)
२६. काम सदारो तो पडे पदारो
२७. काम वेले काकि ने पसे मेलि आकि
२८. खाय एनि भुक जाय
२९. खोट्टु नारेल होलि मे
३०. गदेड ु कुगे राजि
३१. गरु गाडिया ने सेला डाडिया
३२. गरिब नि बैंरि आका गाम नि भाबि
३३. गोल वना हु सोत
३४. घाँसि नि वेटि ने हानि नो भावको
३५. टालजु इ ने वेजु वि
३६. ठालो आत मों डे नें जाय
३७. दइ ने इ देव ने
३८. दुबलि गाय ने बगा गणि
३९. धरम धिरें ने पाप उतावलें
४०. नदि मे खातर सु ँ कामनु

(७) "आरती" (माव संप्रदाय)

(i) आरतिओ निज नारायण तुमारि ॥ हरि हरि अलख पुरुष अखंड अवन्यासी ॥
आरतिओ.......................... .. .. ॥ १ ॥
निरजन निराकारि ज्योत अपारा ॥ मला मला मुनिजन पार न पाया ॥
आरतिओ .. .. ॥ २ ॥

आरति करता सकल जन तारया ॥ थम्ब पलोणि भगत प्रलाद उगार्या ॥
आरतिओ.... .... ॥ ३ ॥
सुरत सडार्वि वनरावन पोस्या ॥ नुरत मेलि ने अनहृद मे नास्या
आरतिओ .... ॥ ४ ॥
तनकि रे गादि ने मन का विसावणा ॥ त्यारे बिराज्या हो श्याम अवन्यासि ॥
त्यारे बिराज्या हो माव अवन्यासि ॥
आरतिओ .... ॥ ५ ॥
कहे तो श्री जनपुरस सनमुक वासा ॥ श्याम विना सर्वे पड रें कासा ॥
माव विना सर्वे पंड हे कासा ॥
आरतिओ .... ॥ ६ ॥

× × ×

(ii) हरे बाबो खेल खेलावे ने सगे न आवे जोत कला अवन्यासी ॥ हरे ॥
सकल मे व्यापक तेज तमारो तो मुक्ति राखियो घेरे दासि रे ॥ हरे ॥
हरे बाबो अलगो ते अलगो ने बाहे से वलग्यो ॥
प्रित करे जेने प्यारो ॥ कोई कहे जोगि ने कोइ कहे भोगि ॥
आप सकल थकि न्यारो ॥ हरे ॥
हरे बाबो रंग मे रास्यो ने नुरत मे नास्यो ॥
बालक थ घेरे आव्यो ॥
दासमुकन कहे गरिब तमारो ने तो हरि चरण चित्त भासो ॥

× × ×

(iii) आरतिओ हरि ने समरु सतमन ज्ञानि करो सादु आरति
प्रतमि मे पांडव उपज्या ने वस्या नव खडरे ॥
वेद भ्रम्माजि ना पुख्यारे ॥ पुंख्या भ्रम्माड रे ॥ करो सादु आरति ॥
दसरत ने घेरे अवतर्या ने वेट्यों वनवास रे ॥ गड लका ढारियोरे ॥
कोट लका ढारियो रे सेंदियो रावण रे ॥ करो सादु आरति ॥
वसुदेव ने घेरे अवतर्या ने जुग मे आनंद रे ॥ कस मामो मारियोरे ॥
मंतुर मे खेल्या रासरे ॥ करो सादु आरति ॥

आदिक रवा रुपे रुडा गुजरि बहु रंगरे ।। देवता मे श्याम सोइ ।।
देवता में माव सोइ, तिरथ मे माहि रे ।। करो सादु आरति ।।
जेना पिता पुरा गुरु सुरा सादु नें मल्या श्याम रे ।।
दास जिवरा नि विनति रे ।। तमे सुणिलो माराज रे ।।
सुणिलो श्री श्याम रे ।। करो सादु आरति ।।

× × ×

(८) लोक वार्ताएँ (Folk tales.)

" एक भ्रामरा अतो । पण्णि ने परदेस कमावा ग्यो । कमाइ धमाइ ने बार वरे घेरे पासो आव्यो । घेरे आवि ने सव ठिकठाक करि ने अेने वड नु आरा लेवा हरि-ग्यो । वाट मे एक दोव वलतु अतु नें अेरा दोव मे एक हाप रांपडा मे बलतो ने बुम पाडतो अतो । भ्रामरा ने जोइ ने सापे क्यु के भाइ, मने बसाव । भ्रामण के के गुराना भाइ अवगुण थाय ते तु मने खाइ जाय एटले श्रीं तो तने नें बसावु । सापे खोब कालावाला कर्या एटले भ्रामरो अेने बांरतो काड्यो । बारते आवि ने साप के के ओं तो तने खौं । भ्रामण के के बार वरे ओं घेरे आव्यो सों ने मारे वौ नु आरा करवा जौ सों । साप क्युके आरा करि ने वलतो आवतारे खँ । भ्रामण सारे पुगो । आट दाडा र्‌यो पण अनपाणि नें भावे । अेने साले पुस्यु के जिजाजि उदास केम रो सो ? भ्रामरो सव बात माडि ने कै सँबलावि । साले क्यु के साप अजि वेटो नें ओवे, तमे सन्ता सोडि दो । आरा वदा कर्यु ने भ्रामण ने अेने वौ सापना रापड़ा कने आव्यँ के तरत साप आवि ने आडो उबो र्‌यो । साप के ओं तारि वाट जोतो तो । अवे खौं । भ्रामण नि वौ तो पोक मेलि ने रोवा माडि । साप के के तु सानि रे । खोब घन ऑय डाट्यु से ते लै जा ने आ बुटि से ते जे तने सताव वा सामु आवे अेने अडाडि देजे ते भसम थै जासे । अेम कै ने जेवो साप भ्रामरा ने खावा ग्यो के तरत पेलि बाइये बुटि साप ने अडाडि दिदि । साप तो तरत भसम थै ग्यो । भ्रामरा खोब राजि थ्यो ने घणि वौ वे धन लै ने घेरे आव्य ने खाइ पी ने मजा कर्या !! कर्या पुटे नें करे ऐना गरु खोटा ।। "

(ii)

"एक डोइ ने एक जवान वेटो अतो । जेम तेम करि ने डोइए तरासें रुपिया वेटा नि सगाइ वल्ले भेगा करि मेल्या अता । डोइ खाटला मे मॉदि पडि । अेवामे मेलो भरातो अतो । वेटे क्यु के आइ मने पैसा आल ओंए मेलो जोइ आवुँ । डोइए क्युके तणसे मे आ तण रुपिया लैजा । वेटे तरा रुपिया रेवा दिदा ने विजा सब लै ग्यो । मेलॉ मे थकि एक साप लिदो, एक सुडो (पोपट) लिदो ने एक मनाडि (विल्ली) लिदि । घेरे आवि ने आइ ने रात करि तारे आइ तो सात्ति कुटि ने रोइ । थोडँ दाडँ मे डोइ तो देव लोक थै । एक दाडो साप के के मने मारे मा-वाप कने रॉपडा मे मेलि आव तने नेंयाल करसें । पण तु मारे वाप कने थकि आतनि मुद्रिकास मॉगजे । वेटो साप ने मेलवा ग्यो । साप नें मॉ-वाप खोब खुशि थ्यँ ने लावनार ने मागवा क्यु । पेले तो मुद्रिका मांगी । नाग के के तारेवति नें सँवालाय ने तु दुकि थै । पण पेलो एकनो वे ने थ्यो एटले मुद्रिका आलि दिदि ने क्यु के जे जुवे इ आ मुद्रिका तने आलसे राजि थै ने भाइ तो घेरे आव्या । विंना नि तैआरि करि करे से । मॉडवो उगो ने भ्रामरा वेटा ने पेलो भाइ नाइ धोई ने तै थै ने मॉडवा मे वेटो ने मुद्रिका ने क्यु के देवलोक नि परि आवि जाय । तुरे खर

एक रूपालि अवसरा आवि उबि । बेनं लगन थै ग्य । अवसरा के के मारे रेवा पाणि नो घाट उपर सात माल नु मेल मदावो । भाइये तो मुद्रिका पाए मेल माग्यु ने मेल तैयार थै ग्यु । वे जोण सुक शकि रेवा लागं । एक दाडो पेलो तो पोपट तथा मनाड़ि ने लैन वन मे फरवा ग्यो तो ने पेलि तलाव ने आरे नावा वेटि नेवाल ओलि ने कागि येम भुलि गै । सोनानि कांगि मे सोनेरि वाल जोइ ने राजा नो कवोर केवा माड्यो के पण्णु तो आनेस । राज हट के बाल हट ते राजाएं देम देस नि दुतिए बोलावि ने खबर कंडावि । वे दुतिये पेला मेल नेंसे जाइ ने वेटि ने जोरट थकि रोवा माडि– 'अमारे बोन अति तारे अमारा आदर भाव थाता ता अवे वउ ने भाणेज भाजि नो भावे नति पुसत ।' पेलो आदमि पासो आव्यो तारे अेने वौए वात करि के तमारे माइए आवि है ने मेल नेंसे वेइ ने ककलाट करे सें । पेलोके के मने तो मारे कोय आइ-माइ नि खबर नति । आतो कोक ठग विद्या करवा वालि दुत्ति रांडे सें पण पेलि वाइ ने दया आवि एटले वे ने मेल मे तेडावि । एक दाडो पेलो फेर बार ग्यो तारे दुति पुमे के वऊ आ मेल ने सब आलालिला एकदम सेरते थै गइ । तारे पेली के के सेसनागनि मुद्रिका थकि सब थ्यु से । दुत्ति के के आपोण जोत्र तो खर के आवि मुद्रिका केवि से । वऊ आजे तु मागि लेजे पेलिए अेने धणि पाइ मुद्रिका मांगि एटले पेला ने वेम पड्यो ने आलवा नु क्यु । पेलि खिजाइ गै नें सुला ऊपर खाटलो डालि ने सुति । आ सब किमिया दुत्तिए मालिति को पेले लासार थै ने मुद्रिका आलि । पेला ने आगो पासो थावा दै ने एक दुति के के देक वो मारे आँगलि मे आवे के जरा जोवा तो दे । अेटले वौए आलि दिदि ने तरत दुत्तिए क्यु के हे मुद्रिका आ मेले सेतु मारे देस साल, एटले मेल ने परि ने सब अलोप थै ग्यँ । राजा ने सेर मे जाइ ने वाइ ने मेलि पण वाइये क्यु के सो मैनं नु मारे वरत से अेटले पुरस नु मोडु नें जोवु । पसे जेम को अेम करे । एक थवियाा मेल मे वाइ रेवा लागि ने पकिड ने दाणा सगाव वा में ने सूर्यनारण नि आरादना करवा मे दाडो रातर काडवा लागि । आँय पेलो आव्यो पण मेल के परि कोय नें दिक्यु एटले रोवा मांडयो । तारे पोपट के के मने सिटि लकि आलो ते जे ओवे य जाइ ने खबर काडि लावु । पोपट उडतो २ राजा ना सेर में आवी ने एक थविया मेल मे सगो सगवा सब जनावर भेगो जाइ ने बेटो । बिजं सब सगें ने आ पोपट डलडल आँऊव पाडे इ जोइ ने वाइ अेने कणे आवि तो सुडा ने गला मे सिटि जोइ । सिटि लइने वासि ने राजि थै तरत वलतु कागद लकि ने सुडा ने गले मादि आल्यु । पासो पेला पाय आव्यो मनाइ न ने पोपट ने लै ने पेलो राजा न सेर आव्यो । मुद्रिका तो दुति आटे पोर अेना मोडा मे स राकति ति । अेवा मे ओदर नि जान जाति'ति । मनाडिये उंदरें ना वोर ने साइ लिदो नै सब ओदर ने क्यु के दुत्ति ने मोडा मेइ मुद्रिका आणि आलो तो स वोर ने सुदो करुं । सब ओदरे मेल मे पेइ ग्यं ने सात मे माले सुतिति य दुत्ति ने नाकोरा मे एक ओदरे पोसडि घालि एटले पेलि ने जोर नि सेंक आवि ने मोडा मेइ मुद्रिका बारति पडिगै । एकबिजु ओदरु मुद्रिका मोडा मे साइ ने नाइ ग्यु ने जाइ नें मनाडि ने आलि एटले मनाडिए वोर ने सोडि दिदो । मुद्रिका पेला ने मलि एटले अेणें क्यु के मुद्रिका आ आकु मेल पासु मारि जोनि जगा ऊपर लै जाइ ने मेलि दे ने पोपट नै मनाडि ने लै ने इ मेल ने अडि उबो एटले सब जण पास अत य आवि ग्य । पोताना धणि नें जोइ ने परि खौब खुस थै ने सब जण खाइ पि-ने-लेर करवा लाग !! सगा बापनो ए विसवा ने कर वो !!

(९) 'भड़लि वाक्य'

(i) सुक्करवारि वादलि जो थावोरे रैं जाय ।
बे काँटे नदिये सडें ने जल बबारण थाय ।।

(ii) भोडो भण्णि नो वर्यो करे मनक नि हाण ।
वरे करतिका नकेतरे तो करे जगत कल्याण ।।

(iii) वरे नकेतर रोयणि रेले खांकर पान ।
तो पाके होवन हरा धरति उपर धान ।।

(iv) कडा पडें जेंए वरे इ वर माडतु थाय ।
थैं जाय जो मावट्ठ तरे लैं इ जाय् ।।

(v) तेतर वरणि वादलि ने काजल वरणि रेक ।
पवन पाणि साते पडें थायं मिन ने मेक ।।

(vi) कावेरे ने कागला ने बोलें घुघोड ।
कण नें पाके धान नो पडे काल के ठोड़ ।।

(vii) गाम मे रोवें कुतर ने सेम मे रोवें हेयाल ।
गाँट गोट बादिलो नक्कि पड़े काल् ।।

(viii) थाय उगमणि विजलि तो कोरो काडे ताप ।
थाय आतमणि विजलि तो अन नो सताप ।।

विद्यापति : एक भक्त कवि

पिछले कई वर्षो से स्नातकोत्तर कक्षाओ को हिन्दी साहित्य के आदिकाल का अध्यापन करते हुए अनेक महत्वपूर्ण समस्याए सामने आई । उनमे से एक महत्वपूर्ण प्रश्न कविवर विद्यापति के सम्बन्ध मे उठा और वह यह कि विद्यापति एक उत्तान श्रृगार लिखने वाले कवि हैं जिन्होने अपने पदो के सृजन मे जो वर्णन किया है उसे पढकर कोई भी आलोचक उन्हे घोर श्रृंगारी कवि कहने मे ही परम संतोष का अनुभव करता है । विद्यापति पढाते हुए मुझे भी यही लगा कि विद्यापति के पद पढाते समय अध्यापक स्वयं एक विचित्र स्थिति और सकट का अनुभव करता है, क्योकि वह विशुद्ध रूप से साहित्य का अध्यापक है किसी काम भाव (सैक्स) अथवा काम सूत्रो को पढाने वाला अध्येता नही है । विद्यापति के पदों का रचना-विषय (कान्टेंट) निश्चित रूप से अध्यापक को एक अपूर्व सकोच मे डाल देता है और वह जैसे वैसे उन पदो का अभिधार्थ कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है ।

दूसरी ओर विद्यापति मे कविकर्म और सृजन के ऐसे मर्म भी मिलते हैं कि उनकी कृतिया उन्हे मिथिला का अमर कवि बनने का गौरव प्रदान किए हुए है । साथ ही साथ उनकी नचारिया और अन्य पद पढकर यह बात सहज ही उठती है कि भक्ति और श्रृगार जैसे विरोधी भावो को काव्य का विषय बनाकर विद्यापति एक ठोस व्यक्तित्व की छाप छोड गए हैं तो यह भी बात समझ मे आने लगती है कि विद्यापति के काव्यो का सम्यक् अध्ययन कदाचित अद्यावधि नही हो पाया है और यही कारण है कि विद्यापति जैसी सम्पन्न कृति को आलोचको ने घोर श्रृगारी कहकर एक ओर रख दिया है । इस समस्त पृष्ठ भूमि को ध्यान मे रखकर हमने विद्यापति के मूल्याकन पर कई दृष्टियो से विचार किया और इस समस्त अध्ययन का फल यह निकला कि उनके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट पहलू स्पष्ट हुआ जिसे हम इस निबन्ध के रूप मे विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत करने का साहस कर रहे हैं । विद्यापति को किसी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर न सोचने वाले आलोचक हमारे इस कथ्य पर नाक भौं सिकोड सकते हैं परन्तु इन मतभेदो को हम पाठको के निर्णय पर छोड अपनी बात खुलकर कहना चाहेंगे ताकि विद्यापति जैसे अमर कवि का एक मौलिक एव दिव्य व्यक्तित्व सामने आसके जो आज तक धूमायित बनाकर उपेक्षा प्राप्त कर दिया गया । आशा है विद्वान बिना किसी पूर्वाग्रह के हमारी बात वैसी ही समझकर उसे अन्यथा न लेने की कृपा करेंगे ।

मिथिला का गर्व गौरव चिर स्मृतव्य है । अत्यन्त प्राचीन गौरव भूमि मिथिला एक ओर राजर्षि जनक की जन्म भूमि है, (जिसके पास स्वयं शुकदेव जैसे महापडित ज्ञान प्राप्त करने आए थे और कहते है जिसका एक हाथ स्त्री के वक्ष पर और दूसरा जलती अग्नि मे रहता था) तो दूसरी ओर मिथिला को

जगज्जननी सीता जैसी महिमामयी नारी को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। मैथिल कोकिल विद्यापति इसी पुण्यशीला धरती के प्राणवान कवि थे।

विद्यापति को लेकर हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानो ने अनेक प्रश्न खडे किए हैं, जिनमे कई महत्व-पूर्ण ज्ञातव्य उनकी जन्म भूमि, समय, स्थान आदि बातो के विषय मे हैं। महाकवि कालिदास की भाति मैथिल कोकिल विद्यापति भी एक ही साथ कई प्रदेशो के कवि माने जाते रहे हैं। जैसे बगाल वाले उन्हे अपना कवि मानते हैं और मिथिला वाले अपना। परन्तु जन श्रुतियो से परे हटकर अन्तर्साक्ष्य और बहि-र्साक्ष्य को दृष्टि मे रखकर सोचने वाले कई विद्वानो ने उनके जीवन के सूत्रो पर विचार किया है और अब यह बात कई विद्वानो ने उनके जीवन के सूत्रो पर विचार किया है और अब यह बात अत्यन्त निभ्राति हो गई है कि वे बगाली न होकर मैथिल ब्राह्मण थे।

जहा तक विद्यापति के ज्ञान, विद्या, और प्रतिभा का प्रश्न है यह बात असदिग्ध है कि उन्हे अपने जीवन मे ही अनेक बार अभूतपूर्व सम्मान मिले तथा उन्हे अभिनव जयदेव, महाराज, पडित, सुकवि कठहार, राज पडित, खेलन कवि, सरस कवि, नव कवि शेखर, कविवर, सुकवि जैसे विरुद प्राप्त हुए। इन उपाधियो से स्पष्ट है कि वे अपने समय के उदग्र, प्रतिभा सम्पन्न और ख्याति लब्ध कवि थे। अपने काव्य के लिए विद्यापति स्वय इतने आश्वस्त थे कि उसका अनुमान विद्वान इस चतुष्पदी से लगा सकते हैं—

बालचद विज्जावइ भासा
दुहु नही लागइ दुज्जन हासा
ओ पर मेसुर हर सिर सोहाई
ई णिच्चई पायर मन मोहइ

उक्त चतुष्पदी से स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी केशवदास की भाति उन्होने लोकभाषा को उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा। अपने काव्यो की भाषा पर उन्हे स्वय बहुत गर्व था।

अपने जीवन काल मे विद्यापति ने बारह कृतियों की रचना की। ये कृतिया हैं—भू परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, शैव सर्वस्वसार, गगा वाक्यावली, दुर्गा भक्ति तरगिणी, दान वाक्यावली, गयापत्तनक, वर्षकृत्य पाण्डव विजय आदि। उनकी कीर्तिलता अपभ्र श मे और कीर्तिपताका अपभ्र श और सस्कृत दोनो मे विरचित है तथा विद्यापति पदावली मैथिल भाषा मे। अपनी पदावली मे उन्होने जो गीत लिखे है, कहते हैं उनके माधुर्य पर गद्गद् हो चैतन्य उन्हें गाते गाते मूर्छित हो जाते थे।

गीति तत्वो की दृष्टि से भी विद्यापति की पदावली स्वय मे एक दिव्य कृति है। गीति काव्य मे व्यक्ति तत्त्व, गेयता, संक्षिप्ता प्रेम की उत्कटता, अभिव्यक्ति की तीव्रता, भावोन्माद तथा आशा निराशा की धारा अबाध गति से प्रवाहमान रहती है साथ ही कवि की विषयानुभूति एव व्यापार एंव उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार उसके काव्य मे सगीत के अपूर्व मार्दव मे व्यक्त होते हैं। विद्यापति के काव्य में व्यक्तिगत विचार नही के बराबर हैं परन्तु उसमे गीत काव्य के उक्त सभी गुणो के साथ भावोन्माद की प्रचण्ड धारा वर्षाकालीन तीव्र शैवालिनी के वेग से किसी भी प्रकार कम नही है।

राधा कृष्ण तथा उनकी अनेक लीलाए ही उनकी पदावली के विषय हैं। उनके काव्य मे शृ गार का प्रस्फुटन स्फुट रूप मे मिलता है। शृ गारिक पदो मे अनुभूति की तीव्रता गेयता से समन्वय कर उन्हे

विदग्ध गीतकार ठहराती है। गीति काव्य की दृष्टि से हम उन पर अन्यत्र विचार करेंगे। यहा उनकी पदावली के आधार पर हम उनका व्यक्तित्व निर्धारित करना चाहते है।

विद्यापति के पदो को प्रमुख रूप से हम तीन भागो मे बाट सकते है—

१—शृंगारिक

२—भक्ति रसात्मक तथा

३—विविध विषयक पद

विद्यापति के जितने पद राधाकृष्ण के वर्णन सम्बन्धी अथवा नायक नायिकाओ पर लिखे गए है, सब शृंगारिक है। महेशवाणी, नचारिया दुर्गा गौरी तथा गगा से सम्बद्ध पद दूसरी श्रेणी मे एव प्रहेलिका कूट आदि पद और शिव सिंह युद्ध वर्णन तृतीय श्रेणी के अतगत आते हैं।

इन सभी पदो को लेकर विद्वानो ने उनके लिए एक भारी विवादास्पद प्रश्न यह खडा किया है कि क्या विद्यापति भक्त कवि थे या शृंगारिक ? अब तक इसी प्रश्न को लेकर आलोचको ने कई पुस्तकें लिखी है और इन पदो के आधार पर सबने यही निर्णय लिया है कि विद्यापति घोर शृंगारिक कवि थे।

डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते है—"विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण मे छिप जाता है। उन्हे तो सद्य स्नाता और वयः सन्धि के चचल और कामोद्दीपक भावो की लड़िया गूथनी थी। वय सन्धि मे ईश्वर से सन्धि कहां ? सद्य स्नाता मे ईश्वर से नाता कहा ? अभिसार मे भक्ति का सार कहा ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नही।"

डॉ० वर्मा जैसे प्रबुद्ध आलोचक ने विदित नही यह निर्णय किस आधार पर लिया है। इस सम्बन्ध मे हमारा उनसे गहरा मतभेद है।

श्री विनय कुमार सरकार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, गुणानन्द जुयाल, श्री कुमुद विद्यालकार—सभी ने उनके भक्त होने मे बाधा उपस्थित की है। श्री विद्यालकार कुमुद लिखते हैं:—"ध्यान पूर्वक विचार करने से सधिकाल के परम रसिक कवि विद्यापति को भक्त कवि की श्रेणी मे रखना केवल भ्रम ही नही कवि के साथ अन्याय भी होगा। निश्चय ही कवि ने राधाकृष्ण के नामो का उपयोग भक्ति के लिए नही किया है।"

आलोचको के उक्त सभी निष्कर्षो से हमारा मतभेद है। हम नही समझते कि इन विद्वानो ने तटस्थ होकर तथा विद्यापति का गहराई से अध्ययन कर यह निर्णय दिया हो। वास्तव मे विद्यापति को घोर शृंगारिक मानना उनकी अन्तःचेतना, व्यक्तित्व, उनके दर्शन तथा पृष्ठभूमि जन्य सभी मूल तत्वो की भारी अवहेलना होगी।

विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक इसको समझने के लिए हमे उनके विचार-दर्शन, अत.चेतना की पृष्ठभूमि, जीवन के मूलतत्व तथा उनके पूर्ववर्ती साहित्य की परपरा का अध्ययन करना होगा। हम समझते है, आलोचकों ने उन्हे घोर शृंगारिक ठहराने के अब तक जो भी निर्णय लिए है वे केवल उनकी पदावली के पाठ और उसके रचना विषय को लेकर ही लिए है। कवि के मूल तत्व, साहित्य की धारा तथा उसकी तत्कालीन मुख्य प्रवृत्तियो पर उन्होने कदाचित ही विचार किया हो। यदि विद्वान आलोचक विद्यापति के समय की धार्मिक, दार्शनिक एव साहित्यिक धाराओ का गहराई से अध्ययन करते तो वे विद्यापति के व्यक्तित्व

और कर्तव्य के साथ न्याय कर पाते और शायद तव स्थिति वह नही होती, जो आज है और हमारी यह निश्चित मान्यता है कि तव उनके हाथ से मिथिला के अमर कवि का इतना अहित भी नही होता। किसी के काव्य को शृ गारिक कहना और वात है (और उससे हमे कोई आपत्ति भी नहीं) पर उसे केवल ऊपरी दृष्टि से देखकर उनके काव्य को कामक्रीडा जन्य विलास की सामग्री आदि कहकर लाछित करना दूसरी वात है। एक वात मे मूल्याकन है और दूसरी वात मे उसके प्रति किया गया लाछन है जिसे वस्तुतः किसी भी प्रकार उचित नही कहा जा सकता। प्रस्तुत निबंध मे विद्यापति के सृजन की विभिन्न परिस्थितियो के अतराल मे जाकर विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसमे विद्यापति सम्वन्धी पूर्व मान्यताओ के प्रतिकूल अनेक तथ्य मिलेंगे। हिन्दी साहित्य की १३वी तथा १४वी शताब्दी की साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठ भूमि का अध्ययन कर यदि विद्वान आलोचक विद्यापति के काव्य का मूल्यांकन करते तो शायद उन्हे "घोर शृ गारी" का खिताव न मिलता। हमारे विचार से विद्यापति एक भक्त कवि थे और शृ गार उनका वर्ण्य विषय था और इस शृंगार वर्णन के माध्यम से ही उन्होने अपने अपने कतृत्व को भक्त के रूप मे प्रस्तुत किया है। विद्वानो के परितोष के लिए हम अग्राकित सारी सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं।

महात्मा वुद्ध के निर्वाण के वाद बौद्ध धर्म महायान और हीनयान इन दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया। हीनयान, हीन माना गया और महायान क्रमश. मत्रयान, वाममार्ग एव वज्रयान के रूप मे परिवर्तित हो गया। इसी मत्रयान के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन थे और नागार्जुन के "शून्यवाद" का विकसित रूप "सहजयान" था। सिद्ध सिद्धान्ततः सहजयानी थे। इसमे जत्रमत्र, डाकिनी, पूराकिनी, अभिसार यक्र पूजा, पच मकार आदि का विकास हुआ। भैरवी चक्र और मैथुन आदि भी इसमे शामिल थे। मैथुन छह प्रकार की सिद्धियो का दाता था। साधको ने इसीलिए इसे महासुख नाम दिया। यही इसकी अतिम अवस्था थी। वौद्ध-दर्शन के हीनयान के विकसित रूपो की परम्परा अवाध रूप से चल रही थी। तात्रिको की यह महासुख की भावना का सिद्धान्त वौद्धमत की निर्वाण की भावना से विकसित हुआ है। अव मैथुन के लिए स्त्री की आवश्यकता हुई, अत उसका महत्व वढा। इस महासुख का वडा रहस्यमय वर्णन मिलता है। यह मुद्रासाधना (स्त्री साधना) से मिलता जुलता है। ये मुद्राए-कर्ममुद्रा, महामुद्रा, धर्ममुद्रा तथा समयमुद्रा चार प्रकार की हैं। इन मुद्राओ से जो आनद मिलता है, वह भी आनद, परमानद, विरमानद और सहजानद आदि चार प्रकार का है। इस प्रकार की स्त्री साधना ही इसमे प्रमुख थी। यद्यपि साहित्यिक सिद्धो ने वज्रयान से विमुख होकर स्त्री को व्यर्थ बताया पर स्त्री की भावना दवे रूप से पलती रही और इसीलिए ससार रूपी विष की मुक्ति के लिए स्त्री रूपी विष को परमावश्यकता वताई गई। "विषस्य विषमौषधम्"। इसलिए भोग मे निर्वाण की भावना सिद्ध साहित्य मे देखने को मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियो में विश्वास रखने के कारण ही सिद्धो का यह सम्प्रदाय "सहजयान" कहलाता है।

इसी सहजयान की यह परपरा साहित्य मे आगे बढी और साधना की इस धारा के इस सम्प्रदाय का प्रभाव वैष्णव धारा पर भी पडा। वैष्णव धारा के कवियो ने इस बौद्ध सहजयान को वैष्णवी रूप मे प्रतिष्ठित किया। सहजयान के इस वैष्णवीकरण पर अभी तक विद्वानो ने विचार नही किया है। वैष्णव कवियो ने जो भी प्रेम गीत गाए हैं, उनमे ईश्वर के प्रति प्रेम या तो स्वकीया प्रेम का आदर्श लेकर चला या परकीया प्रेम का। पर सहजयान की स्त्री साधना दोनो मे विद्यमान रही।

इन दार्शनिक तत्वो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध सहजयान मे यौगिक क्रियाएं ही मुख्य थी। उसके दार्शनिक तत्व बौद्ध महायान के सिद्धान्त थे। वास्तव मे गुह्य साधना काम क्रीडाजन्य आनद को अलौकिक यौगिक आनद मे परिणित करने के लिए ही की जाती थी। इस प्रकार इस स्त्री साधना के तत्व से परकीया प्रेम को धीरे धीरे सफलता मिलने लगी और उसका प्रभाव चण्डीदास के प्रेम गीतो पर देखा जा सकता है। चण्डीदास, कहते है, रामा नामक एक धोबी की स्त्री से प्रेम करते थे जो सहजिया सम्प्रदाय का ही प्रभाव था, परन्तु यह केवल किवदन्ती ही कही जाती है और इतिहास इस तथ्य की पुष्टि नही करता। जो हो, पर इतना अवश्य सत्य है कि चण्डीदास सहजिया साधक थे। यो भी बगाल का चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय मधुर भाव की उपासना को ही प्रधानता देता है। सिद्धो की इस स्त्रीसाधना का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर अवश्य पडा होगा, क्योकि माधुर्य भाव मात्र स्त्री भाव को ही प्रधानता देता है। काम क्रीडा जन्य यह आनद की साधना इसी काल मे आगे बढी। इसी साधना के साथ शिव और शक्ति का सम्बन्ध जुडा, जो बौद्ध दर्शन मे प्रज्ञा और उपाय के रूप मे था। यही परपरा आगे चलकर रस एव रति के रूप मे कृष्ण व राधा बन कर वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय मे उतरी। ब्रज मे कृष्ण को रसेश कहा गया है और राधा-कृष्ण के अतरग विहार को अत्यन्त गुह्य माना गया है। निम्बार्क, राधाबलल्भ, हरिदासी और चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय सभी का मूल भाव माधुर्य है। इस स्त्री भाव की साधना को ब्रज मे वृन्दावन भाव और इस रस को ब्रज रस कहा जाता है। तथा यह विहार क्रीडा अन्तरग लीला का रूप धारण किए है। इस प्रकार सहजयान का वैष्णवी स्वरूप रस और रति, राधा और कृष्ण और लीला आदि तत्वो के रूप मे परिणित होता दिखाई पडता है। यही राधा कृष्ण इन भक्त कवियो के वर्ण्य विषय बने और जयदेव, विद्यापति ने राधाकृष्ण के प्रेम गीत गाए। विष्णु के दस अवतारो मे राम व कृष्ण ही काव्य के प्रमुख प्रेरक बने और गौडीय वैष्णव काव्य के आदि कवियो ने कृष्ण को अपनाया। राम को कवियो ने मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर उनका नायकत्व स्थापित किया और कृष्ण को लीलाधारी। परन्तु रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय और रामभक्ति काव्य मे माधुर्योपासना पर जो शोध कार्य सामने आए हैं उनसे राम के जीवन मे माधुर्य तत्व और राम भक्ति में मधुरोपासना का एक नया अध्याय खुला है। और कृष्ण का जीवन तो माधुर्य प्रेरित था ही। अत: इन सभी बातो से माधुर्य भाव की अति व्यप्ति स्पष्ट होती है। उक्त कथ्यो से निष्कर्ष यह निकला कि सहजयान की यौगिक साधना ने इस वैष्णव प्रेम साधना को अत्यन्त प्रभावित किया है अत. यह कहना असत्य होगा कि चैतन्य का सम्प्रदाय पूर्ववर्ती सहजिया साधना से प्रभावित नही था। उसका परिनिष्ठित रूप जैसा भी है, सबको उसकी भी पर्याप्त जानकारी होनी चाहिए।

वैष्णव सहजयान ने प्रेम को मुख्य सिद्धान्त के रूप मे अपनाया। गुरू की भक्ति भी इन कवियो मे बौद्ध सहजयान की ही भाति है।

जब बगाल मे पालवश के बाद सेनवश राज्य करने लगा तो सहजिया मत के महान कवि जयदेव का उद्भव हुआ जिन्होने राधाकृष्ण की प्रेम -लीला को वर्ण्य विषय बनाकर काव्य को शृ गारा। विद्यापति व चण्डीदास समकालीन कवि थे। इन्होने काव्य मे परकीया प्रेम का ही आदर्श लिया।

महासुख की कल्पना इन कवियो मे भी मिल जाती है। ये कवि महासुख को ब्रह्म की भाति मानते हैं। राधाकृष्ण की मिलन स्थिति को शिव व शक्ति की मिलन स्थिति के समान कहा गया है। दोनो का अलौकिक प्रेम सयोग ही सहजावस्था है। जीव का ईश्वर से प्रेम सयोग हो जाना ही आलौकिक आनद

प्राप्त करना है । इस प्रकार इन कवियो ने बौद्ध सहजयान की योग क्रियाओ से परिपुष्ट काम भाव से "प्रेम" तत्व ले लिया और वही प्रेम अब चण्डीदास तथा विद्यापति द्वारा आध्यात्मिकता में ढाला जाने लगा । ये परम ईश्वर को मानव-प्रेम मे खोजने लगे । अतः राधा और कृष्ण ही इन भक्त कवियो के आधार बने । राधा को कृष्ण की शक्ति जानकर कृष्ण को पारब्रह्म के रूप में माना गया । कृष्ण मे भोक्ता और भोग्य दो तत्व अभिहित किए गए । दोनो का सम्बन्ध नित्य तथा अक्षर माना गया । राधा भोग्य रही, कृष्ण भोक्ता और वृन्दा का मनोहारी वन ही इनका लीलाधाम समझा गया । इस प्रकार इन दोनो के इस अतरग प्रेम को विद्यापति ने मानवीय प्रेम के रूप मे प्रस्तुत किया और प्रेम की भावना परकीया इसलिए रखी गई कि उसमे असाधारण उत्कटता हो । निष्कर्षत विद्यापति ने इस धारणा को आदर्श बनाया कि भक्त को भगवान से ऐसा ही प्रेम करना चाहिए जैसा परकीया अपने प्रेमी से करती है । उक्त समस्त विश्लेषण इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि विद्यापति की कवि परपरा स्पष्ट हो जाय और विद्वानो के सामने यह बात खुले कि वे किस सम्प्रदाय के दर्शन से प्रभावित कवि थे ।

"विद्यापति भक्त थे"—इस महत्वपूर्ण स्थापना की अभिसिद्धि के लिए हम और अनेक मौखिक मान्यताओ को विद्वानो के सामने रखना चाहते हैं । हो सकता है ये निष्कर्ष उन्हे भी रुचें और विद्यापति सम्बन्धी पूर्वाग्रह नई मान्यता मे परिणित हो जाय । इसके लिए हम कुछ अप्रांकित निर्णय प्रस्तुत कर रहे हैं —

१—विद्यापति सगुण वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के कवि थे ।

२—सहजिया दर्शन से प्रभावित होकर ही उन्होने प्रेम तत्व या परकीया प्रेम को जीवन का लक्ष्य समझा ।

३. इस सदर्भ मे हम डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के "साहित्य के माध्यम से धार्मिक सबध" नामक निबध मे प्रकट किए कुछ विचारो को प्रकट करने का लोभ संवरण नही कर पा रहे-' मध्यकाल के भक्त कवियो को समझने के लिए हमे थोडा सा वर्तमान काल से निकलना पडेगा । हम जिस वातावरण मे शिक्षित हुए है उसकी एक बडी विशेषता यह है कि उसने हमारी समस्त प्राचीन अनुश्रुतिक धारणाओ से हमे अलग, विच्छिन्न कर दिया है । यदि हम सपूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गए होते तो हम आधुनिक ढग से सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकते । परन्तु हम पूर्ण रूप से अनुश्रुतियो से विच्छिन्न भी नही हुए है, और उन्हे जानते भी नही हैं नतीजा यह हुआ कि श्री कृष्ण का नाम लेते ही हम पूर्णानन्द घन विग्रह की सोचे बिना नही रहते और फिर भी गोपियो के साथ उनकी रास लीला की बात समझ नही सकते अर्थात् श्री कृष्ण को तो हम परम देवता का रूप मान लेते है । और आगे चलकर हम सारी कथा को तदनुरूप नही समझ पाते । इस अधकचरी दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि हम वैष्णव कवियो की कविता को न तो उसके तत्ववाद निरपेक्ष रूप मे देख पाते हैं और न तत्ववाद सापेक्ष रूप मे । हम झट कह उठते हैं कि भगवान के नाम पर ये क्या ऊल जलूल बातें हैं । यदि सूरदास के श्री कृष्ण और राधा, कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भांति प्रेमी और प्रेमिका होते तो बात हमारे लिए सहज हो जाती । पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमे उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा हीं हैं, इसलिए हम न तो वैष्णव कवियो की कविताओ को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्त की दृष्टि से ही अपना सकते हैं । हम मध्यकाल के भक्त कवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं और आधा सूधा जो कुछ हाथ लगता है उसी से या तो झुझला उठते हैं या गद्गद हो जाते हैं ।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भक्त कवि की कृतियो का सही मूल्याकन करने मे हम आधुनिक दृष्टि का उपयोग न करें। इस भ्रमपूर्ण उपनयन को उतारने के बाद ही हम उनके काव्य और व्यक्तित्व को आकने की अनाविल दृष्टि पा सकते है अपने एक और लीला और भक्ति निबध मे द्विवेदी जी ने चैतन्य देव और राय रामानद का एक सवाद प्रस्तुत किया है। चैतन्य देव ने राय रामानद से जब पूछा, "विद्वन्, तुम भक्ति किसे कहते हो?" उन्होने भक्ति के लिए क्रमश. स्वधर्माचरण, प्रेम, कर्मा का अपण, दास्य प्रेम, सख्य प्रेम, कान्ता भाव आदि उत्तर दिए पर अत मे राधाभाव ही प्रमुख उत्तर रहा। महाप्रभु ने इस अतिम उत्तर के लिए उनसे प्रमाण मागा। प्रमाण मे राय रामानद ने गीत गोविंद का ही मत उद्धृत किया और कहा—"भगवान श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय मे धारण करके अन्यान्य व्रज सुन्दरियो को त्याग दिया था। अतः कान्ता भाव मे राधा भाव ही सर्व श्रेष्ठ ठहरा। यही राधा भाव जयदेव ने भागवत पुराण परपरा से अलग रखा है। भागवत मे कही राधा का नाम तक नही है।

हमारी विद्यापति सम्बन्धी इस मान्यता की पुष्टि मे हम आचार्य द्विवेदी के एक उद्धरण को और रखना चाहेगे जिसमे विद्वान आलोचको ने जयदेव से प्रभावित विद्यापति के लक्ष्यों तथा मूल तत्वो का स्पष्टीकरण किया है— भगवान मे जितने सबन्धो की कल्पना हो सकती है उनमे कान्ता भाव का प्रेम ही श्रेष्ठ माना गया है। वैष्णव भक्तो ने इस सम्बन्ध को इतने सरस ढग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अन्य साधारण अलौकिक रस का समुद्र बन गया है।"

इस बात से यह धारणा स्पष्ट होती है कि कान्ता भाव का वैष्णव भक्तो से कितना गहरा लगाव रहा है। वस्तुत विद्यापति को यह परपरा जयदेव से थाती के रूप मे मिली जिसका प्रमुख लक्ष्य था प्रेम (परकीया प्रेम) वर्णन और हम विद्यापति को इसी मार्ग पर दृढता से बढता हुआ पाते हैं।

इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि सगुण वैष्णव सहजयान मत का यह प्रेमी कवि परकीया प्रेम मे ही मोक्ष और महासुख की कल्पना करता था।

प्राय. आलोचक वर्ग उन्हे उत्तान शृगारी कवि सिद्ध करने के लिए उनके इस पद को उद्धृत करते हैं—

नीवी बंधन हरि किए दूर
एहो पये तोर मनोरथ पूर
विहर से रहसि हेरने कौन काम
से नहि सह बसि हमर परान
परिजनि सुनि सुनि तेजव निसास
लहु लहु रमह सखी जन पास

उक्त पद मे कवि ने राधा-कृष्ण के मिलन एव संभोग का वर्णन किया है जिसे अश्लील कहा जाना है, पर आलोचक यही नही सोचते कि साधना जन्य स्थितियो को एव मिलन महासुख को वर्ण्य विषय बनाने वाले इस कवि को उक्त पद लिखने मे क्या झिझक हो सकती थी? उनके लिए यह सभी वर्णन महासुख की कामना का प्रयास था। ऐसे वर्णनो को अश्लील कहने तथा कवि को विलास की सामग्री मात्र प्रस्तुत करने वाला कहने के पूर्व हमे कुछ और महत्वपूर्ण बातों पर भी विचार कर लेना चाहिए। उनमे से कुछ इस प्रकार हैं:—

विद्यापति ने राधाकृष्ण का प्रेम स्वकीया का नही अपनाया, क्योकि वैवाहिक बधनो व नित्य सहवास से उसमे तीव्रता नही रहती। हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि मे परकीया प्रेम पर एक अभिमत प्रकट किया गया है—"प्रेम तो परकीया का ही आदर्श है जिसमे सारे सामाजिक बधनो का तिरस्कार कर विविध उपायो से परकीया अपनी आत्म विभोरावस्था मे पर पति से मिलने मे कोर कसर नही उठा रखती। यह प्रेम किसी स्वार्थ के लिए नही होता, प्रेम के लिए ही होता है।" और विद्यापति ने इसीलिए परकीया को अपने काव्य का आदर्श बनाया है।

राधा और कृष्ण के इसी स्वरूप को वर्ण्य विषय बनाकर इस भक्त कवि ने काव्य मे प्रस्तुत किया ताकि उसमे भावोन्मेष तथा प्रेम की उत्कटता चरम पर हो और वह परम तन्मयता से उसमे डूबा भी है। राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग के जितने चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं वे अत्यन्त मुक्तता और तल्लीनता से लिए हैं। उसे क्या पता था कि कालान्तर मे विद्वान उसकी परपरा, सम्प्रदाय, पृष्ठभूमि, जन्म परिस्थितिया और उसके जीवन दर्शन पर सोचे बिना ही उसको घोर शृगारिक या विलासपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने वाला कवि कहेगे। और भी यो साधक को इन बातो की कभी चिन्ता नही होती। भावोन्मेष मे वह रति भाव को भी बडे सामर्थ्य एव मुक्तता से कह जाता है।

परकीया के चित्रण मे इन वैष्णव सहजयानी भक्तों को किसी सामाजिक अनुशासन का भी क्या भय हो सकता था और इसीलिए विद्यापति के साथ साथ चंडीदास के सयोग वर्णनो मे भी विद्यापति की भाति अश्लीलता (विद्वानो के शब्दो मे) आ गई है। वे तो उन्मुक्त हो कर महासुख की कल्पना मे ही यह सब लिखते हैं।

विद्यापति को उत्तान शृगार जयदेव द्वारा ज्यो का त्यो परम्परा मे मिला। क्या जयदेव के चित्रण अश्लील नही कहे जा सकते ?

विद्यापति के लिए राधा-कृष्ण की सयोग लीला जीव एव ईश्वर की मिलनावस्था का प्रतीक थी।

चैतन्य ने तो अपने आपको राधा ही मान लिया था उनका ध्येय भी स्वय पर कृष्ण को रिझाना था। वे कृष्ण के आकर्षण मे तल्लीन थे।

कृष्ण के लिए चैतन्य को भी विद्यापति ने राधा की तरह वियोग मे घटो रोते और मूर्छित होते देखा तो उनमे भी इस प्रवृत्ति ने तीव्रता से घर किया। पर विद्यापति ने यह राधा भाव, सखी भाव के रूप मे ग्रहण किया है। वैष्णव कवियो ने भी इस सखी भाव को ही अधिक अपनाया है। विद्यापति स्वय को कृष्ण की सखी के रूप मे ही कल्पित करते थे। ऐसी सखी, जो स्वय कृष्ण से सयोग नहीं चाहती थी, वरन् वह कृष्ण और राधा की प्रेम क्रीड़ा, सयोग क्रीड़ा और अतरग लीला को अव्याहत देख कर महासुख प्राप्त करती रहे, यही उसका अभीष्ट था।

वृन्दावन मे होने वाली नित्य लीला ही उनके लिए शाश्वत महासुख की कल्पना थी। चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय और उसके समकालीन व्रज के अन्य सभी सम्प्रदायो मे इस महासुख की लीला को असाधारण महत्व दिया गया है। कृष्ण के आठ सखा और राधा की आठ सखिया ही उस लीला मे प्रवेश पाने की अधिकारिणी हैं। कृष्ण को ईश्वर के रूप मे और राधा को उनकी परम आद्या शक्ति के

रूप मे ग्रहण कर जीव को उस माधुर्य लीला देखने को लालायित बताया गया है। उस लीला मे सयोग शृ गार का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। उसमे शृ'गार की कही कोई उत्तानता नही मानी जाती। उस लीला मे किसी को भी प्रवेश पाने का अधिकार नही। केवल राधा की अन्तरंग सखिया ही उसमे जाने की अधिकारिणी मानी गई है। विद्यापति ने इसीलिए सखी भाव को ग्रहण कर निर्भय होकर अभिसार, शृ'गार, सयोग आदि के मुक्त वर्णन किए हैं। ये वर्णन केवल अपने काम्य को रिझाने के लिए ही है और इसीलिए इनमे अभिव्यक्ति की सरलता, प्रगाढ तन्मयता और प्रेम की पूर्ण उत्कटता है। उसमे कही भी झिझक और सकोच को स्थान नही है।

विद्यापति चैतन्य की भाति राधा और कृष्ण की प्रम लीला की झाकी पाने के लिए जिज्ञासु रहते थे और इसी लालसा पूर्ति के चित्र उनके काव्य मे है जो उनकी महासुख दशा के मार्मिक स्वप्न और तज्जन्य आध्यात्म के सदेश देते है। इस संदर्भ मे एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या आखो देखा वर्णन करने या अश्लील वर्णन करने के लिए ही विद्यापति ने सखी भाव अपनाया था ? तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वे जीव की सत्ता भगवान से भिन्न मानते थे। जीव और भगवान कभी एक नही हो सकते। इसलिए जीव को भगवान की लीला देखने को मिल जाय तो वह उसके लिए एक दुर्लभ प्राप्ति होगी। यो यह जीवात्मा कृष्ण की तदस्थ शक्ति अर्थात प्रकृति ही है और वह पुरुष है इसका उसे अभिमान है अत शक्ति को प्राप्त करने के लिए एव पुरुषत्व का दभ दूर करने के लिए ही उन्होने यह सखी भाव अपनाया। यह कहा जाता है कि ब्रज की यह लीला इतनी महान और गोपनीय है कि ब्रज मे हुए ऐतिहासिक राधा कृष्ण को भी इसमे प्रवेश का अधिकार नही है। लेकिन विद्यापति वृन्दावन के इन्ही ऐतिहासिक राधा-कृष्ण को लेकर उस अनिर्वचनीय लीला का स्मरण, जो महासुख मयी बनकर सदैव हुआ करती है, इन्ही लीलाओ के वर्णन मे तीव्रानुभूति लाकर करना चाहते थे। यही उनके लिए परम-सुख था। अत उनका यह लौकिक लीलाओ का ज्ञान, जिन्हे हम अस्वस्थ, अश्लील या उत्तान शृ गार कहते है, वस्तुत अलौकिक लीला का ही गान था।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण की लीलाओ का सखी रूप मे भावनकर यह जो यथार्थ वर्णन किया है, यह कभी अस्वाभाविक नहीं हो सकता, क्योकि साधारण स्त्रियो मे भी अभिसार, शृ'गार और उत्कट काम भावनाओ का स्थायी रूप मे होना प्राकृतिक है। इसलिए यदि विद्यापति ने लीलाधारी की प्रणयावस्था अथवा राधाकृष्ण के सयोग के चित्र प्रस्तुत किए, नायक को उत्तेजित करने के उदाहरण उपस्थित किये, सद्य स्नाता को निरखा, वियोग मे विरह पीडित दिखाया और नखशिख वर्णन कर वय. सन्धि कराई तो क्या अनुचित किया। विद्यापति का जीवन दर्शन तो कहता है, यह सब उन्होने उत्कृष्ट साधक-या महासुख के प्रति असाधारण जिज्ञासु या भक्त बनकर ही यह सब किया।

विद्यापति को असाधारण विश्वास था कि लौकिक लीला के गायन से ही सखी रूप मे जीव नित्य लीला मे प्रवेश पा सकता है अन्यथा महासुख की लीलाओ मे पुरुष को लीला भवन के द्वार पर ही 'प्रवेश निषेध' देखकर प्रवेश के लिए अत्यन्त सशकित हो जाना पडेगा! वस्तुत भक्त अद्वैतवादियो की तरह स्वयं को भगवान मे मिलाकर एकत्व नही चाहता। वह तो अपना अस्तित्व स्वतत्र रखना चाहता है और अपने स्वतत्र अस्तित्व से ही भगवान की लीलाओ का आनद उठाना चाहता है।

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य यह भी सामने आता है कि चैतन्य के बाद वैष्णव भक्त कवियो मे यह विश्वास असाधारण गति से बढा कि प्रत्येक व्यक्ति मे कृष्ण का स्वरूप है, जो लौकिक भावना या लौकिक जीवन से मिला है। लौकिक जीवन मे दूसरा तत्व रूप राधा का अ श है। अतः इस भावना ने और अधिक तीव्रता पकडी कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण है और प्रत्येक नारी, जो रूपवती है, राधा है और विद्यापति ने शिवासिह तथा लखिमारानी को इन्ही कारणो से निरन्तर अपने पदो मे सम्बोधित किया है। इस प्रकार हिंदू तान्त्रिको का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक पुरुष शिव है और हर नारी शक्ति, असत्य नही है। बौद्ध दर्शन मे वही शून्य या करुणा, प्रज्ञा या उपाय के रूप मे मिलता है। महाकवि विद्यापति ने इन्ही सिद्धान्तो से प्रेरित होकर काव्य रचना की है। अत यदि चैतन्य पर इन भावनाओ का तान्त्रिकी से असर पडा है, तो विद्यापति पर भी यह सब होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर उनका भक्त के रूप मे व्यक्तित्व स्पष्ट करते हुए एक विद्वान आलोचक ने एक राधाकृष्ण विषयक धारणा का स्पष्टीकरण किया है। उनके इस अवतरण से इस बात को पूर्ण बल मिलता है कि विद्यापति का राधाकृष्ण विषयक दृष्टिकोण उनके काव्य मे किस रूप मे आया है। 'कृष्ण व राधा रस व रति है केवल रसिक ही इसे जान सकते हैं। पुरुष व स्त्री को पहले अपने को कृष्ण व राधा समझकर लौकिक रति करना चाहिए और धीरे धीरे लौकिक वासना को अलौकिक प्रेम मे परिणित करना चाहिए। तब पुरुष को कृष्णत्व और स्त्री को राधात्व प्राप्त हो जायगा और लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम मे बदल जायगा।'

इस प्रकार हमारे उक्त विश्लेषण से विद्यापति का कृष्ण और राधा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है और यह विचार तथ्य के अधिक निकट पहुचता है कि विद्यापति वैष्णव सगुण सहजिया सम्प्रदाय के कवि थे और इस सप्रदाय पर बौद्ध तथा हिन्दू दर्शन का ही प्रभाव था। वस्तुत. इस सम्प्रदाय की दो धाराए मानी जा सकती हैं :—

१ एक वह, जो तान्त्रिक प्रभाव से कम प्रभावित, शुद्ध सगुण वष्णव धारा है।

२ और दूसरी वह, जो तान्त्रिक प्रभाव से पूर्ण प्रभावित, सगुण सहजिया वैष्णव धारा। इस तरह हम चैतन्य को पहली धारा का कवि तथा चण्डीदास और विद्यापति को पूर्णतया सगुण वैष्णव सहजयान धारा के अनुयायी कवि कह सकते हैं।

इस प्रकार वैष्णव सहजयान के अनुयायी भक्त कवि विद्यापति ने इसीलिए लौकिक व अलौकिक प्रेम को सामान्य स्तर पर रख समान महत्व दिया और अपनी पदावली मे निर्भीक होकर शृ गारिक पद लिखे। क्योकि वे जानते थे कि यदि लौकिक प्रेम मे मनुष्य मानसिक सतुलन रखे और स्वय को अनुशासित करे, तो वह लौकिक प्रेम अलौकिक या दिव्य प्रेम मे बदल सकता है।

विद्यापति प्रेम को काम का ही एक रूप मानते हैं और उनकी दृष्टि से काम ही महासुख प्राप्ति का एक मात्र माध्यम है। अत. यह बात समझ मे आजाती है कि उन्होने लौकिक प्रेम और काम आदि के इतने खुले चित्र क्यो प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः कवि का मन शृ गार के मूल भाव काम के चित्रण मे इसीलिए खूब रमा।

सगुण वैष्णव सहजयान के भक्त कवि मनुष्य को ही देवता मानते है अन्य किसी को नही। उनकी धारणा है कि मनुष्य ही स्वय कृष्ण का रूप है और उसे मानवीय लीलाओ के स्तर पर वर्णन करने मे कोई सकोच अनुभव नही हो सकता। अत इस धारा के अनुगामी जितने भी कवि हैं, वे सब कठोर साधक एव भक्त हैं तथा उनके लिए काया साधना का असाधारण महत्व है। यही कारण है कि विद्यापति ने पूर्ण भक्त होते हुए भी पदावली मे इस प्रकार की रचना की। ऐसे पदो के सृजन से इस सम्प्रदाय के कवियो के रचना-शिल्प एव व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार की कोई आँच सामान्यत नही ही आनी चाहिए। चन्डीदास यदि स्वय रामा धोबिन से कहते थे कि 'हे देवी तुम मेरे लिए रहस्योद्घाटिनी हो, तुम मुझ शिव के लिए शक्ति के समान हो। तुम्हारा शरीर राधा का शरीर है।' तो क्या इन भावनाओ को मात्र कामवासना प्रधान ही कहा जायगा ? और विद्यापति ने यदि इस धारा की भक्ति मे आकठ निमग्न होकर नायिका के पथ मे काव्य के गुलाब बिछाये तो क्या उनमे विशुद्ध कामवासना ही कार्य कर रही थी ? बस सोचने मे हम, यही गलती कर बैठते हैं और विद्यापति की शृ गारिक रचनाओ को लेकर यह ऊहापोह खडा करने लगते है कि वे घोर शृ ंगारिक कवि थे। वास्तव मे विद्यापति जिस सगुण सहजिया सम्प्रदाय के थे उसकी भक्ति सम्वन्धी अभिव्यक्ति का माध्यम ही शृ गार था और यही कारण था कि विद्यापति ने अपने वर्ण्य विषयो मे शृ गार के उत्तान चित्रो के माध्यम से लौकिक रति को अलौकिकत्व प्रदान करने के लिए ही यह माध्यम अपनाया। आलोचक प्राय उनके काव्य की ऊपरी टालमटोल करके ही उन्हे घोर शृ गारिक का खिताब दे देते है। कवि के जीवन-दर्शन और उसकी मूल परिस्थितियो के अन्तराल तक जाने का स्वल्प प्रयास भी नही करते। इसलिए आलोचको से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे अनाविल दृष्टि जुटाकर एक बार फिर इस प्रतिभा सम्पन्न कवि के काव्य का अध्ययन करें। उसके काव्य का सम्यक् परिशीलन, यदि विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्वन्धी प्रेमलीला विषयक दृष्टिकोण को समझ वैष्णव सगुण सहजयान के परिप्रेक्ष्य मे हो, तो कवि के सम्वन्ध मे स्थापित घोर शृ गारिक धारणा का सहज निराकरण हो सकेगा। भागवत परम्परा राधा से सम्बन्धित नही हो सकती। अत: विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक दृष्टिकोण के लिए हमे गीत गोविंद की परपरा का ही आश्रय लेना पडेगा और इस परपरा का सीधा सम्वन्ध भी वैष्णव सगुण सहजयान से ही था। वैष्णव सगुण सहजयान धारा के भक्त कवि होने से उनके द्वारा वर्णित शृ गार मे सीमा, सकोच तथा मर्यादा जन्य वह पवित्रता (हमारे दृष्टि कोण से) नही रह गई जो हमे सूर के काव्य मे देखने को मिलती है। यद्यपि उसकी पवित्रता मे विद्यापति की ओर से आशिक कमी भी नही थी परन्तु जीवन के व्यावहारिक पक्ष, एव नैतिक मान्यता को आधार बनाकर जब हम उनके काव्य का मूल्याकन करेंगे तो हमे उनका काव्य केवल उत्तान शृ गारिक ही शृ गारिक दिखाई पड़ेगा और उनका व्यक्तित्व केवल शृ ंगारिक बन कर ही रह जायगा। वस्तुत उनके सम्प्रदाय के भक्ति जन्य सिद्धान्तो को आधार वनाकर हम उनके काव्य का अध्ययन करें, तो हमे स्पष्ट होगा कि उनके भक्ति सिद्धान्तो की तह मे उनका सारा शृ ंगार मूर्छित पडा है।

उक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय निकला कि वैष्णव सगुण सहजयानी भक्त होने से सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के आधार पर ही (जिन्हे हमने ऊपर स्पष्ट किया है) उन्हे अपनी पदावली की रचना करनी पड़ी। इसलिए महासुख के कामी भक्त कवि विद्यापति ने यदि अपनी शक्ति रूपी नायिका के पथ मे गुलाव ही गुलाब बिछाए, सद्य.स्नाता को लुक छिप कर देखा, विना कांटों के फूल खिलाए, राधा को

रात भर तडपाया, उसके नेत्रो मे सपूर्ण रात्रि को ही समा जाने दिया, अभिसार कराए, रति प्रवीरणा वनाने के लिए दूती शिक्षा दिलवाई, सौंदर्य मे आकठ निमग्न होकर काव्य लिखा, सयोग शृंगार के मार्मिक चित्र उरेहे, सयोग मे डूव डूव कर गाया और गा गा कर डूवे तथा विलास की सामग्री प्रस्तुत की, तो उनका क्या दोष था ? भले ही आलोचक उनके अतर्जगत के वर्णन को हृदयग्राही न कहे, पर उनकी वर्णन विदग्धता तो निभ्रति है।

राज दरवार से प्रभावित एव राज्याश्रित होने के कारण भी उन्होने अपने आश्रयदाता के लिए शृंगार लिखा और राधा-कृष्ण के सयोग के खुल कर वर्णन किए। केवल अभिव्यक्ति के ऊपरी मूल्याकन से व्यक्तित्व का इतना सस्ता निवटारा कैसे किया जा सकता है ? आज के प्रगतिवादी कवि भले महलो मे बैठकर झोपडी की कल्पना मे साहित्य रचना करें और उनके व्यक्तित्व पर फिर भी कोई लाछन न हो। आज के प्रयोगवादी कवि अति यथार्थ को काव्य का विषय वनाकर सरेलिजम मे अत्यन्त भद्दे और नगे वर्णन करें और फिर भी श्रेष्ठ कवियो के खिताव पाये। समाज मे विकृत अह और काम विकृति "परवर्टेड सैक्स" के दूषित वर्णन को काव्य का जामा पहनायें और उस पर मनोविज्ञान सम्मत होने की दुहाई दे, तो वे साहित्यकार क्षम्य है। आज का ९० प्रतिशत साहित्य अपनी हर विधा मे समाज के सामने विकृत सैक्स के अनेक नगे व खुले चित्र उतारे और उसे सरकार विविध उपाधियो तथा पुरस्कारो से सम्मानित करे, यह कैसी विप्रतिपत्ति है। पर यह सव आज क्षम्य है क्योकि उनके पास सृजन का लाइसेंस है और विद्वान आलोचक उसे यथार्थ और जीवन का वास्तविक चित्रण कहकर पचा रहे हैं। यदि मानसिक कुठाओ और ग्रथियो से पीडित साहित्य का भी जब सत्साहित्य के नाम पर स्वागत हो रहा है तव आलोचना के सभी प्राचीन मानदण्ड उनके लिए किस खेत की मूली है। उनका चिन्तन, कान्टेंट, फार्म, अनुभूति, और सौदर्यवोध उनका अपना एव मौलिक है। उन्हे पुराना लिखा सव वेहद कुरूप और 'आउट डैटेड लगता है तो क्या कीजिएगा ? यो भी उन्हे आप कुछ भी कह लीजिए। अपने व्यक्तित्व निर्माण का भी उन्हे कोई डर नही। कालान्तर मे उनका मूल्याकन कैसा भी हो, उसकी उन्हे क्या भीति ? आज का साहित्यकार तो आख खोलकर जो देख रहा है उसे पचाता चला जा रहा है, उगलता चला जा रहा है। और यह सव हमे सहज स्वीकार्य है। यो भी साहित्य देवता का पेट तो समुद्र है उसमे सीपी सेवार के साथ मुक्ता रत्न भी तो पडे रहते हैं। वस आलोचना की तेजधार वाली तलवार तो प्राचीन कवियों के "आउट डैटेड" कान्टेंट और फार्म के लिए है।

इस प्रकार हम एक बार फिर अपनी इस बात को दुहराना चाहेगे कि प्रत्येक कवि को समझने के लिए हमे उसके समय, जीवन दर्शन और मूलभूत परिस्थितियो की ओर से आख नही मूद लेनी चाहिए। उनका उसके कर्तृत्व पर गहरा प्रभाव पडता है। विद्यापति भक्त कवि थे और वैष्णव सगुण सहजिया भक्त थे और उनकी साधना शृंगारमयी थी।

एक बात और कहना चाहते हैं कि हमारे भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो के मूल ग्रन्थ क्या एक स्वर से यह कहते हैं कि ब्रह्म को प्राप्त करने का केवल एक ही साधनात्मक रास्ता है ? और यदि ऐसा है तो फिर कबीर ने स्वय को "राम की वहुरिया" सूर ने कृष्ण का सखा, तुलसी ने राम का दास और मीरा ने कृष्ण को पति कहकर साधना क्यो की ? आधुनिक रहस्यवादी उसे अव्यक्त ब्रह्म बनाकर प्राप्त करना चाहते हैं। तो फिर विद्यापति को क्या यह अधिकार नही था कि वे इस साधना को शृंगार के

माध्यम से व्यक्त कर अपने साध्य को प्राप्त करें। उन्हे घोर शृ गारिक कहना क्या इस भक्त साधक का घोर अपमान करना नही होगा ? क्या ऐसा कहकर हम उसके व्यक्तित्व, जीवन दर्शन और मूल परिस्थितियो के लिए अपनी भारी अज्ञता प्रदर्शित नही करेगे ? उत्तर पाठक के विचारो पर ही छोड रहे है। यो हम आख मू द कर विद्यापति को कैसे शृ गारिक, मात्र काम और विलास की सामग्री प्रस्तुत करने वाला कह दे ? यह बात दूसरी है कि जनता पर उनके काव्य का क्या प्रभाव पडा और अध्येताओ पर क्या ? पर यह स्पष्ट है, उनके सम्प्रदाय ने उनके सृजन को कभी भी अश्लील करार नही दिया, अन्यथा चैतन्य की उनके पदो को परम तन्मयता से गा गाकर मूर्छित हो जाने वाली बात केवल मजाक बनकर रह जाती।

विद्यापति को घोर शृ गारिक सिद्ध करने मे आलोचको द्वारा कही इस अन्तिम बात को हम विज्ञ पाठको के समक्ष रखकर प्रस्तुत विश्लेषण का समापन करना चाहेगे। आलोचको ने यह लिखा है कि विद्यापति ने अपने रचना काल मे जितने भी शृंगारिक वर्णन लिखें उसका उन्हे अन्तिम समय मे भारी दु.ख हुआ। जिसे उन्होने भगवान शकर पर रची नचारियो मे स्पष्ट किया—

जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु जुवती मनिमय मेलि
अमृत तजि किए हलाहल पीयल सम्पद आपदहि झेलि

और अन्त मे उन्हे बडी ग्लानि हुई—

साझ क वेरि सेवकाइ मगइत हेरइत तुव पद लाजे

और

कखन हरब दुख मोर है भोलानाथ

उक्त पदो द्वारा कवि विद्यापति ने भगवान् शकर को सम्बोधित कर अपनी लघुता स्पष्ट की है और कुछ पश्चाताप किया है, यह स्पष्ट होता है, पर इससे तो उनके भक्त के व्यक्तित्व को और असाधारण बल मिलता है।

प्रमाण के लिए, एक सशक्त उदाहरण लें; रामचरित मानस के रचयिता तुलसीदास जैसे महान् कवि का सृजन देखिये। पूर्ण मर्यादा सपृक्त एव शृ गार की उत्तानता से एकदम असपृक्त। रामचरित मानस साहित्य का रस सिद्ध काव्य है। तो फिर तुलसी की 'विनय पत्रिका' क्या है ? दीनता, लघुता, मान मर्षता, भय, पश्चाताप, आत्मग्लानि और मनोराज्य से सने भावो का सुन्दर गीतकाव्य। पर उसको लिखने की उन्हे क्या आवश्यकता पडी थी ? उन्होने विद्यापति की भाति कही भी घोर शृ गार नही लिखा फिर काम का और वासनाओ का उन्हे क्या भय था ? अपने उत्तम कर्मो को उन्होने बुरा कहा। उन्हे स्वय पर बडी आत्मग्लानि हुई और उन्होने इस सारी आत्मवेदना को 'विनय पत्रिका' मे उभारा तो इससे उनका भक्त मर कहाँ गया ? इससे तो उन्हे और अधिक भक्त के रूप मे वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। अत. यदि इसे भक्त की विशालता और आराध्य के समक्ष स्वयं को छोटा मानने तथा उसके समक्ष अपने अपराधो को रखकर क्षमा याचना करने का वड़प्पन कहा जाय तो कौनसी असगति है ?

एक बात विद्यापति के लिए और कही जा सकती है कि वे वैष्णव नही, शैव या शिव भक्त थे क्योकि उन्होने नचारियो मे शिव पर पद लिखे हैं, पर शिव के साथ गगा पर भी तो पद लिखे हैं और उनके लिए

तो किंवदति भी है कि अपने अ तिम समय मे जब वे बीमार पडे तो कही आ जा नही सकते थे। दुखी होकर उस भक्त कवि ने गगाजी की प्रार्थना की कि वे उनके अन्तिम समय मे स्वय- चलकर एक अमृतमय स्पर्श दे दे, तो कहते है, भगवती-भागीरथी ने स्वय कवि के द्वार पर जाकर लहरो का पावन स्पर्श इस भक्त को देकर उसका कल्याण कर दिया। इस दृष्टि से उन्हे शिव भक्त या शैव न कह कर गगा का भक्त क्यो न कहा जाय ?

यो तुलसीदास जी ने अपनी कृतियो मे अनेक देवताओ की स्तुति उपासना की है तो वे शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी एक साथ क्यो नही हो गये ? कही ऐसा करने से भक्त का सप्रदाय और उपास्य बदल सकता है ? ऐसा कहना केवल एक खीचातानी मात्र होगी। वस्तुत वे तुलसी की ही भांति अपने सप्रदाय के महान कवि थे।

इसके अतिरिक्त महाकवि तुलसीदास का महासुख प्राप्त करने का माध्यम शृंगारिक नही था, वह सबका मन भावन था। जबकि हमारे आलोच्य कृति विद्यापति का माध्यम तो केवल मात्र शक्ति व शिव या राधाकृष्ण के हास-विलास, रति व अन्य लीलाओं का वर्णन आनन्द ही था। यही मार्ग उन्हे उचित जान पडा और परम्परा से यह मार्ग स्वीकार करने के लिए उन्हे बाध्य होना ही पडा। अन्यथा विद्यापति जैसा रस सिद्ध और प्रबुद्ध कवि क्या स्वय अपने युग मे इतना भी नही सोच सकता था कि आने वाली पीढिया उसको अपनी इन कृतियो पर क्या उपाधियाँ देगी और उसके पदो के क्या २ अर्थ लगाये जायेंगे। जान बूझकर कोई कवि अपने रचना विषयो को किस प्रकार अश्लीलत्व की आग मे झोंक सकता है ? वस्तुत वे स्वय अपने वर्ण्य विषय को औचित्य की सीमाओ मे प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ मानते थे।

ये सभी बाते विद्यापति की पदावली को ही लेकर उठी और सभवत विद्वानो ने अपना निर्णय भी उनके पदो पर ही दिया है, पर हम आलोचको के सामने विनम्रता से इस बात को भी रखने का प्रयत्न करना चाहते है कि अभी विद्यापति के पदो का वैज्ञानिक और प्रामाणिक पाठ ही कहा उपलब्ध होता है ? इस ओर पाठ विज्ञान के सधाताओ को विशेष गभीरता से सोचना चाहिये। नही तो विद्यापति के अप्रमाणिक, असम्पादित पदो से और भी न जाने कितनी भ्रान्तिया फैलाई जा सकती हैं।

विद्यापति का विशुद्ध भक्त के रूप मे व्यक्तित्व प्रस्तुत करने की एक दृष्टि हमने प्रस्तुत की है। हमने अपनी बात कही है, इससे विद्वान असहमत भी हो सकते हैं, पर अध्ययन को अपनी दिशा और चिंतन मे किसी मौलिक पहलू को लेकर अपनी बात कहने का हक तो सभी को है। पाठक यही समझ, इसे पढलें तो हम अपना श्रम कृत कार्य समझेंगे।

महाकवि धनपाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

वचन श्री धनपालस्य चन्दन मलयस्य च ।
सरस हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतः ।।[1]

(धनपाल कवि के सरस वचन और मलयगिरि के सरस चन्दन को अपने हृदय मे रखकर कौन सहृदय तृप्त नही होता ।)

सस्कृत भाषा के गद्यकाव्य का श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करने वाले तीन महाकवि, विद्वज्जनों मे अत्यन्त विख्यात है–दण्डी, सुबन्धु और बाण । सस्कृत-गद्य साहित्य की एक प्रौढ रचना "तिलकमञ्जरी" के प्रणेता महाकवि धनपाल भी उस कवित्रयी के मध्य गौरवपूर्ण पद पाने के योग्य हैं ।

धनपाल, सस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने प्रौढ ज्ञान के कारण वे "सिद्धसारस्वत धनपाल"[2] के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होने गद्य और पद्य, दोनो मे अनेक रचनायें की हैं, किन्तु उनकी "तिलकमञ्जरी" अपने शब्द सौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य, अलङ्कार नैपुण्य, वर्णन वैचित्र्य, रस-रमणीयता और भाव प्रवणता के कारण, लगभग एक हजार वर्षों से विद्वानो का मनोरञ्जन करती चली आ रही है । प्रायः सभी आलोचक "तिलकमञ्जरी" को "कादम्बरी" की श्रेणी मे बिठाने के लिए एक मत है ।

जीवन परिचय तथा समय—गद्य काव्य की परम्परा के अनुसार कवि ने तिलकमञ्जरी के प्रारम्भिक पद्यो[3] मे अपना तथा अपने पूर्वजो का परिचय दिया है । इसके अतिरिक्त, प्रभावक चरित (प्रभाचन्द्राचार्य) के "महेन्द्रसूरि प्रबन्ध," प्रबन्ध चिन्तामणि (मेरुतुङ्गाचार्य) के "महाकवि धनपाल प्रबन्ध" सम्यक्त्व-सप्ततिका (मघतिलक सूरि) भोज प्रबन्ध (रत्न मन्दिर गणि), उपदेश कल्पवल्ली (इन्द्र हंसगणि), कथारत्नाकर (हेम विजय गणि), आत्मप्रबोध (जिनलाभ सूरि), उपदेश प्रासाद (विजय लक्ष्मी सूरि) आदि ग्रन्थो मे कवि का परिचय स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है ।[4]

धनपाल, उज्जयिनी के निवासी थे । ये वर्ण से ब्राह्मण थे । इनके पितामह "देवर्षि" मध्यदेशीय साकाश्य नामक ग्राम (वर्तमान फरुखाबाद जिला मे "संकिस" नामक ग्राम) के मूल निवासी थे और उज्जयिनी मे आ बसे थे । इनके पिता का नाम था सर्वदेव, जो समस्त वेदो के ज्ञाता और क्रियाकाण्ड मे पूर्ण निष्णात थे। सर्वदेव के दो पुत्र–प्रथम धनपाल और द्वितीय शोभन, तथा एक पुत्री-सुन्दरी थी ।

१—'तिलकमञ्जरी' पराग टीका, प्रकाशक, लावण्य विजय सूरीश्वर ज्ञान मन्दिर, बोटाद (सौराष्ट्र) (संकेत-तिलक० पराग०) पृष्ठ २४, प्रस्तावना मे लिखित ।

२—'समस्यामर्पयामास सिद्धसारस्वत. कविः' प्रभावक चरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ईस्वी सन् १९४०

३—तिलकमञ्जरी, पद्य न० ५१, ५२, ५३

४—तिलक० पराग० प्रस्ताविक पृष्ठ २६

धनपाल ने बचपन से ही अभ्यास करके सम्पूर्ण कलाओ के साथ वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण आदि का प्रगाढ अध्ययन किया। इनका विवाह 'धनश्री' नामक अतिकुलीन कन्या के साथ हुआ।

कहा जाता है कि धनपाल के अनुज शोभन ने महेन्द्र सूरि के निकट जैन-दीक्षा स्वीकार की थी। धनपाल यद्यपि कट्टर ब्राह्मण थे किन्तु अपने अनुज से प्रभावित होकर अन्त मे उन्होने भी जैन धर्म स्वीकार किया।[1]

धनपाल, मालव देश के अधिपति धाराधीश मुञ्जराज (वि० स० १०३१-१०७८) तथा उनके भ्रातृ पुत्र भोजराज के सभापण्डित थे। भोजराज का राज्याधिरोहण काल वि० स० १०७८ है। अत धनपाल का समय निश्चित रूप से विक्रम की ११ वी शताब्दी समझना चाहिए।[2]

रचनायें—धनपाल ने सस्कृत और प्राकृत मे अनेक रचनायें की हैं। उनकी प्राकृत की रचनाओ मे "पाइयलच्छी नाममाला" "ऋषभ पञ्चाशिका[3]" और 'वीरथुई' प्रसिद्ध हैं।

ऋषभ पञ्चाशिका और वीरथुई मे क्रमश. भगवान् ऋषभदेव और महावीर की अनेक पद्यो मे स्तुति की गई है।

सस्कृत मे जो स्थान अमरकोश का है, प्राकृत मे वही स्थान पाइयलच्छी-नाम माला का है। धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिए विक्रम स० १०२९ (ई० सन् ९७२) मे धारा नगरी मे इस कोश की रचना की थी। प्राकृत का यह एक मात्र कोश है। व्यूलर के अनुसार इसमे देशी शब्द, कुल एक चौथाई हैं। बाकी तत्सम और तद्भव हैं।[4] इसमे २७९ गाथायें आर्या छन्द मे हैं जिनमे पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं।

इनके अतिरिक्त, सत्यपुरीय-महावीर-उत्साह, श्रावक विधि प्रकरण, प्राकृत नाम माला, शोभन स्तुति वृत्ति आदि ग्रन्थ भी उन्होने लिखे हैं।[5] शोभन स्तुति-वृत्ति, अपने अनुज शोभन सूरि द्वारा लिखित "शोभन स्तुति" पर धनपाल का टीका ग्रन्थ है।

तिलकमञ्जरी—धनपाल ने अनेक ग्रन्थो की रचना की किन्तु जिस ग्रन्थ की रचना से उन्हे सबसे अधिक यश मिला उसका नाम है-'तिलकमञ्जरी' यह सस्कृत भाषा का श्रेष्ठ गद्य काव्य है। इसमे विद्याधरी तिलकमञ्जरी और समरकेतु की प्रणय-गाथा चित्रित की गई है। इस ग्रन्थ की रचना का

१—प्रबन्ध चिन्तामणि (धनपाल प्रबन्ध) तथा प्रभावक चरित (महेन्द्रसूरि प्रबन्ध)

२—तिलक० पराग० 'प्रास्ताविक' पृ० २६

३—जर्मन प्राच्य विद्या समिति की पत्रिका के ३३ वें खण्ड मे प्रकाशित। ई० सन् १८९० मे काव्य माला के सातवें भाग मे, बम्बई से प्रकाशित। भावचूर्णि ऋषभ पञ्चाशिका के साथ वीरथुई, 'देवचन्द्र लाल भाई ग्रन्थ माला' बम्बई की ओर से सन् १९३३ मे प्रकाशित.

४—गेओर्ग व्यूलर द्वारा सपादित होकर गोएरिंगन (जर्मनी) से सन् १८७९ मे प्रकाशित। गुलाब भाई लालूभाई द्वारा सवत् १९७३ मे भावनगर से प्रकाशित। प० बेचरदास जी द्वारा सशोधित होकर, बम्बई से प्रकाशित।

५—तिलक० पराग० पृ० २८.

उद्देश्य स्वयं कवि ने इस प्रकार लिखा है—'समस्त वाड्मय के ज्ञाता होने पर भी जिनागम मे कही गई कथाग्रो के जानने के उत्सुक, निर्दोष चरित वाले, सम्राट् भोजराज के विनोदन के लिए, मैंने इम चमत्कार से परिपूर्ण रसो वाली कथा की रचना की। (तिलकमञ्जरी, पद्य न० ५०)

कहा जाता है कि तिलकमञ्जरी की समाप्ति के पश्चात् भोजराज ने स्वयं इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढा। ग्रन्थ की अद्भुतता से प्रभावित होकर भोजराज ने धनपाल से यह इच्छा व्यक्त की कि उन्हें इस काव्य का नायक बना दिया जाय। इस कार्य के उपलक्ष मे कवि को अपरिमित धनराशि उपहार मे प्रदान किए जाने का आश्वासन भी दिया गया, किन्तु धनपाल ने ऐसा करने से अस्वीकार कर दिया। इस पर भोजराज अत्यन्त क्रुद्ध हो गए और तत्काल उन्होने वह समस्त रचना अग्निदेव को भेंट कर दी। इस घटना से धनपाल अत्यन्त उद्विग्न हो गए। उनकी नौ वर्ष की बाल पण्डिता पुत्री ने उनके उद्वेग का कारण जानकर, उन्हें धीरज बन्धाया और तिलकमञ्जरी की मूलप्रति का स्मरण करके उसका आधा भाग पिता को मुंह से बोल कर लिखवा दिया। धनपाल ने शेष आधे भाग की पुनः रचना करके तिलकमञ्जरी को सम्पूर्ण किया।[1]

यद्यपि समस्त कथा गद्य मे कही गयी है किन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अनेक वृत्तो मे ५३ पद्य हैं। इनमे मगलाचरण, सज्जन स्तुति एव दुर्जननिन्दा, कविवश परिचय आदि उन सभी बातो का वर्णन है जिनका शास्त्रीय दृष्टि से गद्य काव्य के प्रारम्भ में वर्णन होना चाहिए।[2] इन पद्यो मे धनपाल ने अपने आश्रयदाता सम्राट्, उनके परमार वश और उनके पूर्वजो श्री बैरिसिंह, श्री हर्ष, सीयक, सिन्धुराज, वाक्पतिराज का भी वर्णन किया है।

तिलकमञ्जरी और कादम्बरी की तुलना—कादम्बरी तथा तिलकमञ्जरी मे अनेक प्रकार से समानता है। सच बात तो यह है कि तिलकमञ्जरी की रचना ही कादम्बरी के अनुकरण पर है। तिलकमञ्जरी की कवि प्रशस्ति मे जितना आदर धनपाल ने कादम्बरीकार बाण को दिया, उतना किसी अन्य दूसरे कवि को नही। अपने से पूर्ववर्ती प्राय सभी कवियो का यशोगान, धनपाल ने एक एक पद्य मे किया है किन्तु बाण का दो पद्यो मे। (तिलकमञ्जरी पद्य न० २६, २७)

शास्त्रीय दृष्टिकोण से तुलना करने पर दोनो कथाग्रो मे अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है। कवि कल्पित होने से कादम्बरी भी कथा है और तिलकमञ्जरी भी।[3] जैसे कादम्बरी मे मुक्तकादि चारो प्रकार की गद्य का प्रयोग होने पर भी 'उत्कलिकाप्राय' गद्य की बहुलता है उसी प्रकार तिलकमञ्जरी मे भी।[4]

१—प्रबन्ध चिन्तामणि (धनपाल प्रबन्ध)

२—'कथाया सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्रभवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके। आदौ पद्य नमस्कारः खलादेर्वृ तकीर्तनम्। .... कवेर्वं शानु कीर्तनम्। अस्पामन्य क वीना च वृत्त पद्य क्वचित् क्वचित्' साहित्य दर्पण, ६, ३३२-३३४

३—'आख्यापिकोपलब्धार्था प्रबन्ध कल्पना कथा' अमरकोश'।

४—'वृत्तगन्धोज्झित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च। भवेदुत्कालिकाप्रायं चूर्णकञ्चचतुर्विधम्॥
आद्य समासरहितं वृत्त भागयुत परम्। अन्यद्दीर्घसमासाढ्य तुर्यञ्चाल्पसमासकम्॥'
साहित्य दर्पण ६, ३३०, ३३१

कादम्बरी का नायक चन्द्रापीड, अनुकूल एवं धीरोदात्त है। तिलकमञ्जरी का नायक समरकेतु भी अनुकूल एव धीरोदात्त है।[1] कादम्बरी की नायिका गन्धर्वों के कुल मे उत्पन्न, कादम्बरी, विवाह के पहले परकीया एव मुग्धा तथा विवाह के पश्चात् स्वकीया एव मध्या है। इसी प्रकार तिलकमञ्जरी की नायिका विद्याधरी तिलकमञ्जरी पहले परकीया एव मुग्धा तथा पश्चात् स्वकीया एव मध्या है। कादम्बरी मे, पूर्वार्द्ध मे तथा कुछ उत्तरार्द्ध मे 'पूर्वराग विप्रलम्भ शृगार, तथा शेष उत्तरार्ध मे 'करुण विप्रलम्भ शृगार' प्रधान रस है। तिलकमञ्जरी मे केवल 'पूर्वराग विप्रलम्भ शृगार' ही प्रधान रस है। कादम्बरी और तिलकमञ्जरी दोनो की पाञ्चाली रीति और माधुर्य गुण है।[2]

दोनो कथाओ का प्रारम्भ पद्यो से होता है। इन पद्यो के विषय सज्जन–दुर्जन-स्तुति निन्दा, कवि-वश वर्णन आदि भी समान हैं। इन पद्यो मे बाण ने 'कथा' के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए हैं। धनपाल ने भी इन प्रारम्भिक पद्यो मे गद्य, कथा और चम्पू के सम्बन्ध मे अपनी धारणा स्पष्ट की है।[3] दोनो कथाओ मे गद्य के बीच मे कुछ पद्यो का प्रयोग किया गया है।[4]

कादम्बरी तथा तिलकमञ्जरी के कथानक मे भी यत्र तत्र समानता दिखाई देती है। कादम्बरी मे उज्जयिनी के राजा तारापीड और उनकी पत्नी विलासवती, निःसतान होने के कारण अत्यन्त दुःखी हैं।

१—'अनुकूल एकनिरतः'
'अविकत्थन क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थे यान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढ व्रत. कथित ॥

२—कादम्बरी—कल्पलता टीका (हरिदास सिद्धान्त वागीश भट्टाचार्य) 'साहित्य दर्पण' का स्वरूपनायिकादि निरूपण तथा तिलकमञ्जरी (पराग टीका) की प्रस्तावना।
'परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा। कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना।
प्रथमावतीर्ण यौवनमदनविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥
परिणयात् परन्तु स्वकीया मध्या च मन्तव्या, 'साहित्य दर्पण'
'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्ट मुपैति विप्रलम्भोऽसौ'
'श्रवणाद्दर्शनादवापि मिथः सरूढरागयो। दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वराग स उच्यते।'
'यूनो रेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तर पुनर्लभ्ये। विमनायते यदेकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य ॥
चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्य मुच्यते'
'समस्तपञ्चषपदोबन्धो पाञ्चालिका मता' साहित्य दर्पण

३—कादम्बरी पद्य न० ८, ९ तथा तिलकमञ्जरी पद्य न० १५, १६, १७, १८.

४—कादम्बरी—'स्ततमश्रु स्नात ····' शुक प्रसशा प्रकरण (पूर्वभाग-कथामुख)
'दूर मुम्तालतया ·· ·' मदनाकुलमहाश्वेतावस्था प्रकरण (पूर्वभाग-कथा)

तिलक मजरी—'यस्य दोष्णि स्फुरद्धेतौ ····' 'लतावनपरिक्षिपे · ·· ···'] मेघवाहन नृप वर्णन प्रसग
'अन्तर्दग्धागुरुशुचावाप·······' 'दृष्ट्या वैरस्य वैरस्य ·· ']
'आढ्यश्रोणिदरिद्रमध्यसरणि··· ··' रानी मदिरावती का वर्णन।
'विपदिव विरता विभावरी·······' वदिगान.

विलासवती ने महाभारत के इस कथन को सुन रखा था कि—'सन्तानहीन जनो को मृत्यु के पश्चात् पुण्य लोक नही मिलता, क्योकि पुत्र ही अपने माता-पिता की 'पुम्' नामक नरक से रक्षा करता है।' [1]

तिलकमञ्जरी में—अयोध्या के राजा मेघवाहन और उनकी पत्नी मदिरावती, अनपत्यता के कारण दुःखी है। इसी प्रकरण में, गुरुओ के द्वारा राजा को इस प्रकार मानो सबोधित किया गया है—'हे विद्वन् ! अन्य प्रजाजनो की रक्षा से क्या लाभ, पहले 'पुम्' नामक नरक से अपनी रक्षा तो कीजिए।[2]

पुत्रोत्पत्ति के निमित्त, दोनो कथाओ में समानरूप से देवताओ की पूजा, ऋषिजनो की सपर्या, गुरूजनो की भक्ति आदि का विधान बताया गया है।

तिलकमञ्जरी के, अयोध्या नगरी के बाहर उद्यान मे सुशोभित शुक्रावतार नामक सिद्धायतन (जैन मन्दिर) की तुलना, कादम्बरी मे उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर से की जा सकती है। भोजराज ने धनपाल से, अपने को तिलकमञ्जरी का नायक बनाने के साथ साथ शुक्रावतार के स्थान पर 'महाकाल' यह परिवर्तन करने की इच्छा भी प्रकट की थी।

कादम्बरी, जैसे लौकिक एव दिव्य कथानक का सम्मिश्रण है उसी प्रकार तिलक मजरी मे भी लौकिक एव अलौकिक पात्रो के कथानक का संयोजन किया गया है। विद्याधरी तिलकमञ्जरी, ज्वलजप्रभ नाम का वैमानिक, नन्दीश्वर नाम का द्वीप उसमे रतिविशाला नाम की नगरी, सुमाली नाम का देव तथा स्वयप्रभा नाम की उसकी देवी, क्षीरसागर से निकला चन्द्रातप नाम का हार, प्रियङ्गु सुन्दरी नाम की देवी वेताल आदि, तिलकमञ्जरी मे, अलौकिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शैली की दृष्टि से भी दोनो कथाओ मे पर्याप्त समानता है। प्रत्येक घटना तथा वर्णन को शब्द तथा अर्थ के विविध अलकारो से बोझिल बनाकर कहना; जैसा कादम्बरी मे वैसा ही तिलक मजरी मे। वैसे तो बाण सभी अलकारो के प्रयोग मे प्रवीण है किन्तु 'परिसख्यालकार' पर उनका विशेष अनुराग है। राजा शूद्रक तथा तारापीड़ के वर्णन मे उनके परिसंख्यालंकार का चमत्कार देखिए—'यस्मिश्च राजनि जित जगति परिपालयति मही चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराः, इतेषु केशग्रहा.……… ..'(शूद्रक वर्णन)—'यस्मिश्च रातनि गिरीणा विपक्षना, प्रत्ययाना परत्वम् ···· (तारापीड़वर्णन)।

धनपाल भी परि संख्यालंकार के अत्याधिक प्रेमी हैं। मेघवाहन राजा के वर्णन मे प्रयुक्त परिसख्यालकार कादम्बरी के उपर्युक्त परिसख्यालंकार से अत्यन्त समानता रखता है—'यस्मिश्च राजन्यनुवर्तित शास्त्र मार्गे प्रशासति वसुमति धातूना सोपसर्गत्वम्, इक्षुणा पीडवम्, पक्षिणा दिव्यग्रहणम्, पदाना विग्रहः तिमीना गलग्रह, गूढचतुर्थकानां पादाकृष्टय., कुकविकाव्येषु यतिभ्रंशदर्शनम्, उदधीनामवृद्धि, निधुवनक्रीडासु तर्जनताडनानि। प्रतिपक्षक्षयोद्यतमुनि कथासु कुशास्त्रश्रवणम्, शारीणामक्षप्रसरदोषेण परस्पर बन्धव्यधमारणानि, वैशेषिक मते द्रव्यप्राधान्यं गुणानामुपसर्जनभावो बभूव।' (तिलक० पराग पृ० ६७-६८)

१—अपुत्राणा किल न सन्ति लोका. शुभा. पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः'
-कादम्बरी-अनपत्यता विषाद प्रकरण।

२—'अखिलमपि तत्प्राणेण जीवलोकसुखमनुवभूव, केवलमात्मजाङ्गपरिष्वङ्ग निर्वृति नाध्यगच्छत्'
'विद्वन् ! किम परैस्त्रातै., आत्मान त्रायस्व पुन्नाम्नो नरकात्।'
-तिलकमजरी मेघवाहन राज प्रकरण पृ० ७८-८०

बाण का, परिसख्यालकार के पश्चात् दूसरा प्रिय अलकार विरोधाभास है जिसके सैकडो उदाहरण कादम्बरी मे प्राप्त है। धनपाल भी विरोधाभास के लिखने मे परम प्रवीण प्रतीत होते हैं—(मेघवाहन राजा का वर्णन है)—सौजन्यपरतन्त्रवृत्तिरप्यसौजन्ये निपण्ण, नलप्रथुप्रभोऽप्यनलप्रथुप्रभ समिद्व्यतिकरस्फुरित प्रतापोऽप्यकृशानु भावोपेत, सागरान्वयप्रभवोऽप्यमृतशीतल प्रकृतिः शत्रुघ्नोऽपि विश्रुतकीर्ति, अशेष शक्त्युपेतोऽपि सकलभूभार धारण क्षमः, रक्षिताखिलक्षिति तपोवनोऽपि त्रानचतुराश्रम." " ' (तिलक० पराग० ६२-६३)

तिलकमञ्जरी की विशेषतायें—बाण ने कादम्बरी मे कथा के सम्बन्ध मे अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है–'निरन्तर श्लेप घना सुजातय' (काद० पद्य ६) अर्थात् गद्य काव्य रूप कथा को श्लेषालकार की बहुलता से निरन्तर व्याप्त होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि धनपाल के समय मे कथा की निरन्तरश्लेषघकता' के प्रति लोगो की उपेक्षा हो चली थी। यही कारण है कि धनपाल ने तिलकमजरी मे (पद्य न० १६) मे लिखा कि —'नातिश्लेषघना' श्लाघा कृतिर्लिपिरिवाश्नुते—' अर्थात् अधिक श्लेपो के कारण घन (गाढबन्ध वाली) रचना, श्लाघा को प्राप्त नही करती। उन्होने यह भी लिखा है कि—'अधिक लम्बे और अनेक पदो से निर्मित समास की बहुलता वाले प्रचुर वर्णनों से युक्त गद्य से लोग घवडाकर ऐसे भागते हैं जैसे व्याघ्र को देखकर।' (तिलक० पराग० पद्य न० १५)। उनका यह भी कहना है कि—'गौडीरीति का अनुसरण कर लिखी गई, निरन्तर गद्य सन्तान वाली कथा श्रोताओ को काव्य के प्रति विराग का कारण बन जाती है अत. रचनाओ मे रस की ओर अधिक ध्यान होना चाहिए' (तिलक० पद्य न० १७-१८)

धनपाल ने उपर्युक्त प्रकार से गद्य काव्य की रचना के सम्बन्ध मे जो मत प्रकट किया है, तिलकमञ्जरी, मे उसका उन्होने पूर्णरूप से पालन किया है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि, तिलकमञ्जरी ने, कादम्बरी की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए भी गद्य काव्य को एक ऐसा नया मोड दिया है जहां वह विद्वानो के साथ जन साधारण के निकट भी पहुंचने का प्रयत्न करता दिखाई देता है।

पन्यास दक्ष विजय गणि ने दशकुमार, वासवदत्ता और कादम्बरी से तिलकमञ्जरी की विशेषता बताते हुए लिखा है कि[1] दशकुमार चरित मे पदलालित्यादि गुणो के होने पर भी कथाओ की—अधिकता के कारण सहृदय के हृदय मे व्यग्रता होने लगती है। वासवदत्ता मे, प्रत्येक अक्षर मे श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि अलकारो के कारण कथाभाग गौण तथा बिल्कुल अरोचक है। यद्यपि कादम्बरी उन दोनो से श्रेष्ठ है तथापि तिलकमञ्जरी कादम्बरी से भी श्रेष्ठ है, इस बात मे थोडी सी भी अत्युक्ति नही। उदाहरणार्थ—

१—पुण्डरीक के शाप से चन्द्ररूप चन्द्रापीड के प्राणो के निकल जाने का वर्णन करने से कादम्बरी की कथा मे आपाततः अमङ्गल है और इस कारण करुण विप्रलम्भ शृंगार इसका प्रधान रस है, किन्तु तलकमञ्जरी मे प्रधान रस पूर्वरागात्मक विप्रलम्भ शृंगार है।

२—कादम्बरी मे अगणित विशेषणो के आडम्बर के कारण कथा के रसास्वाद मे व्यवधान पडता है। तिलकमञ्जरी मे तो परिगणित विशेषण होने के कारण वर्णन अत्यन्तः चमत्कृत होकर कथा के आस्वाद को और अधिक बढा देता है।

१—तिलक० पराग०—प्रस्तावना पृ० १४-१६.

३—कादम्बरी के वर्णन-प्रधान होने के कारण उसमे प्रत्येक वर्णन के उचित विशेषणो के गन्वेषण मे व्यस्त बाणभट्ट ने कही कही पर शब्द-सौन्दर्य की उपेक्षा की है, जबकि तिलकमञ्जरी मे सर्वोतोमुख काव्योत्कर्ष' उत्पन्न करने के इच्छुक धनपाल ने परिसख्यादि अलकार वाले स्थलो मे भी प्रत्येक पद मे शब्दालकार का उचित समावेश किया है। जैसे अयोध्यावर्णन के प्रसग मे 'उच्चापशब्द शत्रु सहारे, न वस्तु विचारे। गुरुवितीर्ण शासनो भक्त्या, न प्रभुशक्त्या। वृद्धत्यागशीलो विवेकेन, प्रजोत्सेकेन। अवनितापहारी पालनेन, न लालनेन। अकृतकारुण्य करचरणे, न शरणे।' यहा श्लेषानुप्राणितपरिसख्यालकार मे भी प्रत्येक वाक्य में अन्त्यानुप्रास सुशोभित है।

इसी प्रकार 'सतारकावर्ष इव बेतालदृष्टिभि, सोल्कापात इव निशितप्रासवृष्टिभि' यहा युद्ध स्थल के वर्णन मे उत्प्रेक्षा के साथ भी।

इसी प्रकार 'सगरान्वयप्रभवोपि · ·· ·· ····· · ·· ·त्रातचतुराश्रम' इस प्रवेक्ति विरोधाभास के साथ भी।

इसी प्रकार, वैताढ्य गिरि के वर्णन मे—'मेरुकल्पपादपाली-परिगतमपि न मेरुकल्पपादपाली-परिगतम्, वनगजालीसकुलमपि न वनगजालीसकुलम्' यहा विरोधाभास के साथ यमक भी।

इसी प्रकार मेघवाहन राजा के वर्णन मे 'दृष्ट्वा वैरस्य वैरस्यमुज्झितास्रो रिपुव्रज.। यस्मिन् विश्वस्य विश्वस्य कुलस्य कुशलव्यधात्।' अतिशयोक्ति के साथ यमक भी।

४—तिलकमञ्जरी मे, सर्वत्र श्रुत्यनुप्रास के द्वारा सुश्रव्यता उत्पन्न की गई है।

५—कादम्बरी मे अन्य स्थानो पर उपलब्ध ही शब्द बार बार सुनाई पडते हैं किन्तु तिलकमञ्जरी मे 'तनीमेण्ठ-लञ्चा-लाकुटिक-लयनिका-गल्वर्क' प्रभृति अश्रुतपूर्व एवं अपूर्व शब्दो के प्रयोग से कवि ने विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है।

धनपाल ने, तिलकमञ्जरी के प्रारम्भिक सत्रह पद्यो मे कवि-प्रशस्ति लिखी है। इसमें जिन कवियो तथा रचनाओ की प्रशसा की गई है वे निम्न प्रकार हैं—

'रघुवश और कौरववश की वर्णना के आदिकवि वाल्मीकि एव व्यास, कथा साहित्य की मूल जननी 'वृहत कथा', वाङ्मय वारिधि के सेतु के समान 'सेतुबन्ध' महाकाव्य के निर्माण से लब्धकीर्ति प्रवरसेन, स्वर्ग और पृथ्वी (गाम्) को पवित्र करने वाले गगा के समान पाठक की वाणी (गाम्) को पवित्र करने वाली, पादलिप्त सूरि की 'तरगवती कथा', प्राकृत-रचना के द्वारा रस वर्षाने वाले महाकवि जीवदेव, अपने काव्य-वैभव से अन्य कवियो की वाणी को म्लान कर देने वाले कालिदास, अपने काव्य-प्रतिमा रूप वाण से (अपने पुत्र पुलिन्द के साथ) कवियो को विमद करने वाले तथा कादम्बरी और हर्ष चरित की रचना से लब्धख्याति बाण, माघमास के समान कपिरूप कवियो की पद रचना (कपि के पक्ष मे पैर बढाना) मे अनुत्साह उत्पन्न करने वाले महाकवि माघ, सूर्य रश्मि (भा-रवि) जैसे प्रतापवान् कवि भारवि, प्रशमरस की अद्भुत रचना समरादित्य-कथा' के प्रणेता हरिभद्रसूरि, अपने नाटकों मे सरस्वती को नटी के समान नचाने वाले कवि भवभूति, 'गौडवध' की रचना से कवि जनो की बुद्धि मे भय पैदा करने वाले कवि वाक्-

पतिराज, समाधि और प्रसाद गुण के घनी यास्यावरकवि राजशेखर, अपनी अलौकिक रचना से कवियो को विस्मय उत्पन्न करने वाले महेन्द्रसूरि, मदान्ध कवियो के मद को चूर्ण करने वाले 'ललित त्रैलोक्य सुन्दरी' के कथाकार कविरुद्र तथा सहृदयाह्लादक सूक्तियो के रचयिता, रुद्रतनय कवि कर्दमराज।'

धनपाल की यह कवि प्रशस्ति तथा उसके साथ, अपने आश्रयदाता श्री मुञ्ज तथा भोज के वश एव पूर्वजो की प्रशस्ति के रूप मे लिखे गए पद्य, साहित्य और इतिहास, दोनो दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। घनपाल की कवि प्रशस्ति सम्बन्धी पद्य, आज तक विद्वज्जनो मे बड़े आदर के साथ स्मरण किए जाते हैं।

तिलकमञ्जरी, ११ वी शताब्दी के सास्कृतिक एव सामाजिक इतिहास की दृष्टि से आलोचनीय ग्रन्थ है। इसमे तत्कालीन समाज एव कला-कौशल का बडे ही आकर्षक ढग से वर्णन किया गया है।[1] यह ग्रन्थ जैन कथा साहित्य तथा जैन सस्कृति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

धनपाल का व्यक्तित्व—सस्कृत साहित्य के पुरातन तथा आधुनिक विद्वान इस बात से पूर्ण सहमत है कि धनपाल ने बाण की गद्यशैली का सफल प्रतिनिधित्व किया है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र तो धनपाल के पाण्डित्य से अत्यन्त प्रभावित थे। जिनमण्डन गणिकृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' मे कहा गया है कि एक समय हेमचन्द्र ने धनपाल की ऋषभ पञ्चाशिका के पद्यो द्वारा भगवान् आदिनाथ की स्तुति की। राजा कुमारपाल ने उनसे प्रश्न किया कि—'भगवन्! आप तो कलिकाल सर्वज्ञ हैं फिर दूसरो की बनाई गई स्तुति के द्वारा क्यो भगवान् की भक्ति करते हैं?' इस पर हेमचन्द्र बोले—'कुमारदेव! मैं ऐसी अनुपम भक्ति भावनाओ से ओत-प्रोत स्तुतियो का निर्माण नही कर सकता।'[2]

हेमचन्द्र ने अपनी रत्नावली नामक देसी नाममाला मे प्रसिद्ध कोशकारो का उल्लेख करते समय धनपाल को सबसे प्रथम स्थान दिया है।[3]

सस्कृत साहित्य के योरोपीय विद्वान् एव प्रसिद्ध समालोचक श्री कीथ महोदय ने लिखा है कि—'धनपाल ने बाण का सफल अनुकरण किया है। समरकेतु के प्रति तिलकमजरी के प्रेम का वर्णन करने मे उनका स्पष्ट रूप से यही लक्ष्य रहा है कि कादम्बरी के समान अधिकाधिक चित्र खीचे जा सकें।[4] श्रीबलदेव उपाध्याय, एच० आर० अग्रवाल, डा० रामजी उपाध्याय और वाचस्पति गैरोला प्रभृति सस्कृति के आधुनिक विद्वान् भी कीथ महोदय के कथन की पूर्ण समर्थन करते हैं।[5]

१—वाचस्पति गैरोला, 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० ६३४.

२—'श्री कुमार देव! एवविधसद्भूतभक्तिगर्भास्तुतिरस्माभिः कर्तुं न शक्यते'

३—डा० जगदीशचन्द्र जैन—'प्राकृत साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६५५.

४—'सस्कृत साहित्य का इतिहास'—कीथ (अनुवादक डा० मगलदेव शास्त्री) पृ० ३६१

५—बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' १६४५, पृ० २६८. एच० आर० अग्रवाल, Short History of Sanskrit Literature' लाहोर, पृ० १५६. डा० रामजी उपाध्याय, सस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० १७५ वाचस्पति गैरोला—'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० ६३४.

आर्यासप्तशती मे लिखा है कि—'प्रागल्भ्यमधिकमाप्तु वाणी बाणो बभूवेति' अर्थात्—अधिक प्रौढता प्राप्त करने के लिए सरस्वती ने मानो बाण का शरीर धारण कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि गोवर्धन की इस उक्ति को ध्यान मे रखकर ही मुञ्जदेव ने, बाण के समान सिद्ध सारस्वत धनपाल को सरस्वती' की उपाधि प्रदान की थी[६] कहा जाता है कि मुञ्जदेव का धनपाल पर अत्यन्त स्नेह था। वे उन्हे अपना 'कृत्रिम पुत्र' मानते थे।

राज्याश्रय मे रहने पर भी धनपाल अत्यन्त निर्भीक एवं स्वाभिमानी थे। उन्होने राजा के कोप की भी उपेक्षा करके सदैव उचित मार्ग का अवलम्बन किया। भोजराज द्वारा, तिलक मजरी के नायक के रूप मे अपने को प्रतिष्ठित किए जाने की इच्छा व्यक्त करने पर धनपाल ने कहा था—

'राजन् ! जिस प्रकार खद्योत और सूर्य मे, सरसो और सुमेरू मे, काच और काञ्चन मे, धतूरे और कल्पवृक्ष मे महान् अन्तर है उसी प्रकार तिलकमञ्जरी के नायक और आप मे।'[७]

धनपाल का हृदय अत्यन्त दयार्द्र था। एक समय मृगया के प्रसङ्ग मे भोजराज द्वारा मारे गये मृग को देखकर उन्होने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा था—

रसातले यातु तवात्र पौरुष कुनीतिरेणा शरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बला हहा महाकष्टमराजक जगत् ॥'

अर्थात्—हे राजन् ! इस प्रकार का आपका पौरुष रसातल को चला जाय। निर्दोष और शरणागत का वध कुनीति है। बलवान् भी जब दुर्बल को मारते है तो यह बडे दु ख की बात है, मानो समस्त जगत् ही अराजक हो गया। कहा जाता है कि धनपाल के ये वचन सुनकर भोजराज ने आजीवन मृगया छोड दी थी।[८]

इसी प्रकार, एक समय यज्ञ मडप मे यूप (स्तम्भ) से बन्धे छाग (बकरे) के करुण क्रन्दन को सुनकर धनपाल ने कहा था कि—

यूप कृत्वा पशन् हत्वा, कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरक केन गम्यते ।
सत्यं यूप तपो ह्यग्नि', कर्माणि समिधो मम।
अहिंसामाहुति दद्यादेव यज्ञः सतां मतः ।

अर्थात्—यदि यज्ञ करके पशुओ को मारकर और खून का कीचड बनाकर स्वर्ग मे जाया ज ता है तो फिर नरक मे कैसे जाया जाता है ? ज्ञानीजनो का यज्ञ तो वह है जिसमे सत्य यूप हो, तप अग्नि हो, कर्म समिधा हो और अहिंसा जिसकी आहूति हो। कहते हैं राजा ने धनपाल के ये वचन सुनकर अपने को जैन धर्म मे दीक्षित किया था।[९]

६—'श्री मुञ्जेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीभृता व्याहृत.' तिलकमञ्जरी पद्य नं० ५३.
७—प्रबन्ध चिन्तामणि (महाकवि धनपाल प्रबन्ध)
८— वही
९— वही

धनपाल महान् गुणग्राही थे। अनेक अवसरो पर भोजराज को झिडकिया देकर सावधान करते रहने के अतिरिक्त उन्होने अनेक बार उनके गुणो की प्रशसा भी की है—

अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूर', क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मी. ।
एकत्र जन्मनि कृत तदनेन यूना, जन्मत्रये यदकरोत् पुरुष पुराणः ॥

अर्थात्—इसने अपने जन्म मे पृथ्वी का उद्धार किया, शत्रुओ के वक्षस्थल को विदीर्ण किया और अनेक बलशाली राजाओ की राजलक्ष्मी (विष्णु के पक्ष मे बलि नामक राजा की राजलक्ष्मी) को आत्मसात् किया। इस प्रकार इस युवक ने वे काम एक ही जन्म मे कर डाले जो पुराण पुरुष विष्णु ने तीन जन्मो मे किए थे। कहा जाता है कि भोजराज ने इस पद को सुनकर धनपाल को एक स्वर्ण कलश भेंट किया था।[1]

तिलकमञ्जरी को अग्नि मे स्वाहा कर देने के कारण धनपाल, भोजराज से रूठकर, धारा नगरी को छोड अन्यत्र चल दिए। कुछ दिनो के पश्चात् उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। भोज ने उन्हें पुनः सादर निमत्रित किया और उनसे कुशलक्षेम पूछा। धनपाल ने निवेदन किया—

'पृथुकार्तस्वरपात्र भूषितनि शेष परिजन देव।
विलसत्करेणुगहन सम्प्रति सममानयो. सदनम् ॥'

अर्थात्—हे राजन् ! इस समय हमारा और आपका घर बिल्कुल समान है, क्योकि दोनो ही 'पृथुकार्तस्वरपात्र' (गम्भीर आर्तनाद का पात्र तथा विपुल स्वर्ण पात्र वाला) है, दोनो ही—'भूषितनि शे-परिजन' है (अलकारहीन परिजन वाला तथा जिसके सारे परिजन आभूषणो से युक्त है) और दोनो ही 'विलसत्करेणुगहन' (धूलिपूर्ण और हाथियो से सुसज्जित) है।

यह श्लोक श्लेषालकार के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण के रूप मे आज भी विद्वज्जनो मे पर्याप्त प्रसिद्ध है। साथ ही यह धनपाल के स्वाभिमान की ओर पूर्ण सकेत करता है।[2]

भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण मे लिखा है—'यादग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृश' अर्थात् बाण, जितना गद्य बनाने मे कुशल है इतना पद्य बनाने मे नही। धनपाल की यह विशेषता है कि वे समान रूप से गद्य और पद्य, दोनो की प्रौढ रचना करने मे समर्थ थे। हेमचन्द्र ने अपनी अभिधान चिन्तामणि, काव्यानुशासन और छन्दोऽनुशासन मे धनपाल के अनेक सुन्दर पद्यो का उल्लेख किया है। १४ वी शताब्दी की रचना (सूक्तिसङ्कलन) 'शार्ङ्गधरपद्धति' मे धनपाल की अनेक सूक्तियो का उल्लेख है।[3]

इसी प्रकार मुनि सुन्दरसूरि ने 'उपदेश रत्नाकर' मे और वाग्भट्ट ने अपने 'काव्यानुशासन' मे अनेक स्थानो पर धनपाल के पद्यो का उल्लेख किया है। 'कीर्तिकौमुदी' एव 'अमर चरित' के रचयिता मुनि रत्न सूरि और 'पञ्चलिङ्गी प्रकरण' के कर्ता श्री जिनेन्द्रसूरि ने धनपाल के काव्य की प्रशस्ति गाई है।[4]

१—प्रबन्ध चिन्तामणि (महाकवि धनपाल प्रबन्ध)
२—प्रबन्ध चिन्तामणि (महाकवि धनपाल प्रबन्ध)
३—डा० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६५५.
४—तिलक मञ्जरी पराग० प्रस्तावना पृ० २८.

सस्कृत विद्वानो मे यह कहा जाता रहा है कि 'बोणोच्छिष्ट जगत् सर्वत्' अर्थात्—बाण के अनन्तर समस्त सस्कृत साहित्य बाण के उच्छिष्ट (त्यक्त वस्तु) के समान है। बाण की प्रशस्ति मे लिखे गये ये पद्य—

'कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चानन' श्रीचन्द्रदेव (शार्ङ्गधर पद्धति ११७)
'युक्त' कादम्बरी श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिता: ।
बाणध्वानावनध्यायो भवतीनि स्मृतिर्यत. ।।' कीर्ति कौमुदी १,१५.
'बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य,
शक्ति न केऽत्र कवितास्त्रमद त्यजन्ति । कीथ का इतिहास पृ० ३६७

इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि बाण की अप्रतिम गद्य रचना 'कादम्बरी' को देखकर किसी कवि का साहस नही होता था कि वह बाण के मार्ग पर चलकर उनकी गद्य रचना शैली को आगे बढाये। यही कारण है कि बाण के पश्चात् लगभग ३०० वर्षों तक कादम्बरी की समानता करने वाली कोई उत्कृष्ट गद्य रचना उपलब्ध नही है।

महाकवि धनपाल ही एक ऐसे कवि है जिन्होने कवियो के हृदय से, बाण के भय-व्यामोह को दूर किया और अपनी तिलकमञ्जरी को कादम्बरी की श्रेणी मे बिठाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धनपाल के पश्चात् वादीभसिंह (गद्य चिन्तामणि), सोड्ढयल (उदय सुन्दरी कथा), बामन भट्ट बाण (वेम-भूपाल चरित-हर्ष चरित के अनुकरण पर) आदि कवियो ने बाण की शैली पर रचनाये लिखी।[1]

तिलकमञ्जरी की रचना के लगभग एक शताब्दि के पश्चात् पूर्ण तल्लगच्छीय श्री शान्तिसूरि ने इस ग्रन्थ पर १०५० श्लोक प्रमाण टिप्पणी की रचना की जो पाटन के जैन भण्डार की प्रति[2] के अन्त मे दिए गए निम्न श्लोक से प्रमाणित है—

श्री शान्तिसूरिरिह श्रीयति पूर्णतल्ले गच्छे वरो मतिमता बहुशास्त्रवेत्ता ।
तेनामल विरचित बहुधा विमृश्य सक्षेपतो वरमिद वुध टिप्पितभो. ।।

इस ग्रन्थ पर श्री विजय लावण्य सूरि ने (विक्रम सवत् २००८ मे प्रकाशित) पराग नामक एक विस्तृत टीका लिखी है।[3]

धनपाल, विक्रम की ११ वी शताब्दि के सस्कृत और प्राकृति भाषा के उत्कृष्ट विद्वान थे। गद्य और पद्य दोनो की रचना पर उनका समान अधिकार था। शब्द और अर्थ, भाषा और भाव, वशीभूत के समान उनकी लेखनी का अनुगमन करते थे। उन्होने बाण की गद्य शैली की परम्परा को निबाहते हुए, गद्य काव्य को कुछ और सरल और सरस बनाकर उसे जनता के अधिक निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया। नि सदेह, धनपाल अपने इस ऐतिहासिक कार्य के लिए सस्कृत साहित्य के इतिहास मे अमर रहेगे। किसी कवि का यह कथन धनपाल के लिए अत्यन्त उचित प्रतीत होता है—

तिलकमञ्जरी मञ्जरिसञ्झरिलोलहिपश्चिदन्मिजाल. ।
जैनारण्येऽसाल. कोऽपि रसाल पपाल धनपाल ।।[4]

१—बामदेव उपाध्याय, सस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २६८.

२—पाटन के 'सघवीपाडा जैन भण्डार' की १२५ वी प्रति (गायक वाड ओरियण्टल सिरीज न० ७६—'पाटन जैन भण्डार केटलाग' प्रथम भाग, पृष्ठ ८७)

३—तिलकमञ्जरी, श्री शान्तिसूरि रचित टिप्पणी तथा श्री विजय लावण्य-सूरि रचित टीका (पराग) के साथ प्रकाशित। प्रकाशक—श्री विजयलावण्य-सूरिश्वर ज्ञान मन्दिर, बोटाद, सौराष्ट्र, वि० स० २००८.

४—तिलक० पराग० प्रस्तावना—पृ० १६.

गुजरात में रचित कतिपय दिगम्बर जैन-ग्रन्थ

पन्द्रह शताब्दियों से भी अधिक समय से गुजरात और राजस्थान जैन धर्म के केन्द्र रहे हैं। यहा जैनो मे सबसे अधिक बस्ती श्वेताम्बरो की है। समस्त श्वेताम्बर आगम ईशु की पाचवी शताब्दी में सौराष्ट्र के वलभीपुर मे एक साथ लिपिबद्ध किया गया था। आगमों की बहुतेरी टीकाए इसी प्रदेश मे लिखी गई है। इतना ही नही लेकिन सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श एव प्राचीन गुजराती-राजस्थानी के ललित तथा शास्त्रीय वाड्मय के सभी ग्र थो के निरूपक जैन श्वेताम्बर साहित्य का जितना विकास गत प्रायः एक हजार वर्षो मे इस प्रदेश मे हुआ उतना भारत मे और कही भी नही हुआ है। यद्यपि आज गुजरात मे दिगम्बर जैनो की जनसख्या प्रमाण मे अल्प है, तथापि एक समय मे उनकी संख्या बहुत रही होगी। अभी तो उनकी साहित्य प्रवृत्ति के थोडे ही अवशेष बचे हुए हैं, इतने प्राचीन एवं विरल हैं कि गुजरात के समग्र जैन साहित्य के इतिहास की दृष्टि से वे अति महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवशपुराण' तथा आचार्य हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश' ये दो संस्कृत ग्रंथ दिगम्बर साहित्य की प्राचीनतम उपलब्ध रचनाओ मे से है। ये दोनो कृतिया 'वर्धमानपुर' अर्थात् सौराष्ट्र मे आये हुये वढवाण मे लिखी गई हैं 'हरिवशपुराण' की रचना शक स. ७०५ (वि. स. ८३९ - ई. सन् ७८३) मे हुई और 'बृहत्कथाकोश' की रचना वि. स. ९८९ अर्थात शक स. ८५३ (=ई. सन् ९३१-३२) मे—ज्यौतिषशास्त्र की दृष्टि से जब खर नामक सवत्सर प्रवर्तमान था, तब हुई। जिनसेन ने रचनावर्ष शक सवत मे बताया है और हरिषेण ने विक्रम एव शक दोनो मे।

दिगम्बर सम्प्रदाय के उपलब्ध कथासाहित्य मे कालानुक्रम की दृष्टि से 'हरिवशपुराण' तृतीय ग्रन्थ है, इस हकीकत से उसके महत्व का खयाल सहज ही आएगा; उससे पूर्व के दो ग्रन्थ हैं आचार्य रविषेण का 'पद्मचरित' और जटा-सिंहनंदि का 'वरागचरित'। इन दोनो का उल्लेख 'हरिवशपुराण' के पहले सर्ग मे ही किया गया है।

'हरिवशपुराण' बारह हजार श्लोक प्रमाण का ६६ सर्गों मे विभाजित बृहद् ग्रन्थ है। बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ जिस वश मे उत्पन्न हुये थे उस वश का अर्थात् हरिवश का वृत्तान्त इसका वर्ण्य विषय है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे जिनसेन ने कहा है कि सौरो के अधिमण्डल अर्थात् सौराष्ट्र पर जब जयवराह नामक राजा का शासन था, तब कल्याण से जिसकी विपुल श्री वर्धमान होती है ऐसे वर्धमान-नगर मे पार्श्व-नाथमन्दिरयुक्त नन्नराजवसति मे इस ग्रन्थ की रचना हुई। प्रशस्ति मे और भी कथन है कि दोस्तटिका नामक स्थान मे तीर्थंकर शान्तिनाथ के मन्दिर मे प्रजा ने इस ग्रन्थ का पूजन किया। इस दोस्तटिका के स्थान के बारे मे अभी कोई निर्णय नही किया जा सकता, फिर भी वह वढवाण का समीपवर्ती होगा यह तो निश्चित हे ई. सन् वढवाण के राजा जयवराह के बारे मे विशेष माहिती इस प्रशस्ति मे से प्राप्त नही होती है। तथापि कन्नौज के प्रतिहार राजा महीपाल का शक स० ८३६ (ई० सन् ९१४) का जो एक ताम्रपत्र सौराष्ट्र के डाला गाव मे से मिला है उससे ज्ञात होता है कि उन दिनो वढवाण मे चाप वश के राजा

धरणिवराह का शासन था और वह प्रतिहारो का सामन्त था। वढवाण के राज्यकर्ताओ के इन वराहान्त नामो से एक स्वाभाविक अनुमान किया जा सकता है कि 'हरिवशपुराण' की प्रशस्ति मे जिसका उल्लेख है वह राजा जयवराह उपर्युक्त धरणिवराह का चार-पाच पीढी पूर्व का पूर्वज होगा। यह तो स्पष्ट है कि ये राजवी चाप अर्थात् चावडा वश के थे।[1] तदुपरान्त 'हरिवंश' कार जिनसेन ने अपनी रचना गिरनार पर की। सिंहवाहनी शासनदेवी का जो उल्लेख किया है इससे ज्ञात होता है कि ईशु के आठवें शतक तक के पुराने काल में गिरनार पर नेमिनाथ की शासनदेवी अम्बिका का मन्दिर विद्यमान था।

हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश' की रचना इस 'हरिवशपुराण' से डेढ शतक के बाद हुई। साढे बारह हजार श्लोकप्रमाण के इस ग्रन्थ मे विविध-विषयक १५७ जैन धर्म-कथाए दी गई हैं। उसके कर्ता ने अपना परिचय मौनि भट्टारक के शिष्य के रूप मे दिया है। वह कहता है कि जैन मन्दिरो से सकीर्ण चन्द्र जैसी शुभ्र कान्ति से युक्त हर्म्यो से सभर और सुवर्णसमृद्ध जनो से व्याप्त वर्धमानपुर मे इस कृति की रचना की गई थी। उन दिनो वहाँ इन्द्रतुल्य विनायकपाल नामक राजा का शासन चल रहा था। यह विनायकपाल भी कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वश का ही राजा था। विद्वानो के मत से विनायकहाल, क्षितिपाल, हेरम्बपाल आदि नाम इस वश के सुप्रसिद्ध सम्राट् महीपाल के ही हैं (देखिये-कन्हैयालाल मुन्शी' ग्लोरी इट वोफ गुर्जरदेश' ग्रन्थ ३, पृ० १०५ तथा १०८–९)। बृहत्कथाकोश के अन्त मे उसके रचना समय के बारे मे कर्ता ने जो तफसीलें दी हैं उनसे यह खयाल आता है कि ज्यौतिष की गणना के अनुसार यह ग्रन्थ ५ वी अक्टूबर, ९३१ से १३ वी, मार्च ९३२ के दरम्यान किसी समय लिखा गया है (देखिये, 'बृहत्कथाकोश' की डॉ० उपाध्ये की प्रस्तावना, पृ० १२१), और इसमे राज्यकर्ता के तौर पर विनायकपाल का उल्लेख किया गया है। दूसरी ओर, राजा महीपाल का एक दानपत्र ई० स० ९३१ का प्राप्त हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि विनायकपाल और महीपाल ये एक ही नृपति के दो नाम हैं।

जिनसेन एवं हरिषेण दोनों 'पुन्नाट सघ' के साधु थे। हरिषेण ने अपने गुरु मौनि भट्टारक को 'पुन्नाटसघाम्वरसनिवासी' कह कर वर्णित किये हैं और जिनसेन ने स्वगुरु कीर्त्तिषेण के गुरुबन्धु अमितसेन को 'पवित्रपुन्नाटगणाग्रणीर्गणी' के रूप मे आलिखित किये हैं; अर्थात् पुन्नाटसघ दिगम्बर जैन साधुओ का एक समुदाय था। पुन्नाट देश के नाव से वह पुन्नाट कहलाया। खुद हरिषेण ने ही दो कथाओ मे जो निर्देश किया है उसके अनुसार पुन्नाट देश दक्षिणापथ मे स्थित था।

अनेन सह सङ्घोऽपि समस्तो गुरुवाक्यत:।
दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषय ययौ ॥
(कथा १३१, श्लोक ४०)

१—वनराज चावडा ने ई० स० ७४६ मे अणहिलवाड पाटण बसाया। उसके पूर्व प्राचीन गुर्जर देश मे चावडाओ के कम से कम तीन राज्य थे---श्रीमाल मे, वढवाण मे और पचासर मे। ई० स० ६२८ मे भिल्लमाल अथवा श्रीमाल मे 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक ज्यौतिष के ग्रन्थ के रचयिता आचार्य ब्रह्मगुप्त कहते है कि चापवश के तिलकरूप व्याघ्रमुख राजा जब वहाँ राज्य करता था तब यह ग्रन्थ उन्होने लिखा। वढवाण के चापवश का निर्देश ऊपर किया गया है। वनराज का पिता जयशिखरी और उसके पूर्वज पचासर के शासक थे।

पुन्नाटविषये रम्ये दक्षिणापथगोचरे।
तलाटवीपुरमित्य बभूव परम पुरम्।
(कथा १४५, श्लोक ६)

दक्षिणापथ मे भी पुन्नाट कर्णाटक का एक भाग था। अद्यपर्यन्त इसके बारे मे जो बहस हुई है (देखिये 'इंडियन कल्चर', ग्रन्थ ३, पृ० ३०३-१, पर ए० बी० सालेटोर का 'एन्शेयन्ट किंगडम ऑफ पुन्नाट', नामक लेख तथा 'काणे अभिनन्दन ग्रन्थ' मे एम्० जी० पाई का 'रुलर्स ऑफ पुन्नाट' नामक लेख), उसके अनुसार कावेरी और कपिनी नदियो के बीच का प्रदेश–जिसका मुख्य शहर कीर्त्तिपुर (अथवा किट्टूर) था–वही प्राचीन पुन्नाट प्रदेश है। यह स्पष्ट ही है कि 'पुन्नाट सघ' का नाम इस प्रदेश के नाम पर से ही रक्खा गया है। कर्णाटक दिगम्बर जैनो का केन्द्रस्थान था और आज भी है, लेकिन वहा के प्राचीन साहित्य मे या लेखो मे कही भी 'पुन्नाट सघ' का उल्लेख नही मिलता। कभी कभी किट्टूर सघ' का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका नाम पुन्नाट प्रदेश के पाटनगर किट्टूर पर से रक्खा गया है और इसी से शायद 'पुन्नाट सघ' विवक्षित हो सकता है। किन्तु यह तो निश्चित है कि विक्रम के नववें शतक के पूर्व ही कर्णाटक-अन्तर्गत पुन्नाट का एक दिगम्बर साधु समुदाय सौराष्ट्र मे आकर विशेषत वढवाण के नजदीक के प्रदेश मे स्थिर हुआ था और अपने मूलस्थान के नाम से 'पुन्नाट सघ' नाम से प्रख्यात हुआ था। 'बृहत्कथाकोश' की अनेक कथाओ मे दक्षिणापथ के नगरो का जो उल्लेख मिलता है वह भी इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। मध्य-कालीन गुजरात का जैन साहित्य-विशेषत प्रबन्ध साहित्य यह स्पष्टतया दिखलाता है कि उस समय मे गुजरात मे इसके अलावा दूसरे भी दिगम्बर साधु-समुदाय थे तथा दिगम्बर और श्वेताम्बरो के बीच अनेक विषयो मे तीव्र स्पर्धा प्रवर्तमान थी। राजा सिद्धराज जयसिंह (ई. स १०९४–११४३) के दरबार मे श्वेताम्बर आचार्य वादी देवसूरी और दिगम्बर आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच जो प्रसिद्ध विवाद हुआ जिसमे आखिर कुमुन्दचन्द्र की पराजय हुई उसका निरूपण यशश्चन्द्ररचित समकालीन सस्कृत नाटक 'मुद्रितकुमुद-चन्द्रप्रकरण' मे किया गया है तथा इस घटना का चित्रण आचार्य जिनविजयजी के द्वारा प्रकाशित चन्द समकालीन चित्रो मे भी मिलता है।

कर्णाटकविनिर्गत दिगम्बर साधु समुदाय सौराष्ट्र मे स्थित हुआ यह हकीकत गुजरात एव कर्णाटक के सास्कारिक सम्पर्क की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह समग्र विषय एक अलग अध्ययन का पात्र है। यह तो अब निश्चित हुआ है कि उन दिनो वढवाण पश्चिम भारत के दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का एक महाकेन्द्र था। दिगम्बर साहित्य के दो सबसे प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ क्रमानुसार ठीक आठवी और दशवी शताब्दी मे वढवाण मे ही लिखे गये, तथा इसी नगर में रचित श्वेताम्बर साहित्य के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ जालिहरगच्छ के आचार्य देवसूरिकृत प्राकृत 'पद्मप्रभचरित' का रचनावर्ष स० १२५४ (इ. स ११९८) है।

गुजरात की भूमि मे ही हुए, इसके बाद के समय के, दो दिगम्बर कवियो के बारे मे अब मैं कुछ कहूँगा। ये दो कवि है जसकित्ति या यश कीर्त्ति और अमरकीर्त्ति, जिन दोनो की कृतियाँ अपभ्रंश भाषा मे लिखी हुई मिली हैं।

यश कीर्ति की दो अपभ्रंश रचनाएँ विदित हुई हैं। इनमे से एक 'पाण्डवपुराण' है, जिसमे जैन महाभारत की कथा अपभ्रंश पद्य मे दी गई है। यह कृति वि० स० ११७९ (ई.स. ११२३) मे बिल्हसुत

हेमराज नामक श्रावक की विनती से नवगावपुर मे लिखी गई।[1] इस नवगावपुर का स्थान निश्चितरूप से स्थापित किया नही जा सकता। यश कीर्ति गुणकीर्त्ति के शिष्य थे। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जीवनी का आलेखन करने वाली उनकी दूसरी अपभ्र श कृति है चदप्पहचरिउ'। इसकी स० १५७१ मे लिखी हुई १५० पत्र की एक पाण्डुलिपि मेरे मित्र प० अमृतलाल मोहनलाल ने मुझे दी थी। 'चदप्पहचरिउ' मे रचनावर्ष नही दिया है, तथापि उसको 'पाण्डवपुराण' के रचनाकाल के अरसे मे रख दिया जा सकता है, 'चदप्पहचरिउ' का ग्रन्थाग्र २३०८ श्लोको का है। उसमे कर्त्ता ने जो उल्लेख किया है उसके अनुसार हुबड जाति के कुमारसिंह के पुत्र सिद्धपाल की विनती मे गुर्जर देश मे उम्मत्त गाँव मे उसकी रचना हुई। उम्मत्त गाव उत्तरगुजरात मे स्थित वडनगर के समीप का उमता गाव होगा। 'पाण्डवपुराण' की रचना जिस स्थान मे हुई उस नवगावपुर का भी गुजरात मे होना असम्भव नही है, तथापि इसके लिये स्पष्ट प्रमाण नही मिला है। मेरे पास की पाण्डुलिपि मे से 'चदप्पहचरिउ' के आदि-अन्त मे से ऐतिहासिक दृष्ट्या महत्वपूर्ण भाग यहा रखता हू।

आदि

'हुवडकुलनहयलि पुप्फयत वहुदेउ कुमरसिंहु वि महत।
तह सुउ णिम्मलगुणगणविसालु सुप्रसिद्ध पभणइ सिद्धपालु।
जसकित्ति विवुह करि तुहु पसाउ मह पूरइ पाइअकव्वभाउ।
त णिभुणिवि सो भासेइ मदु पगलु तोडेसइ केम चदु।'

अन्त

गुज्जरदेमह उम्मत्तगामु तहिं छड्डासुउ हुउ दोणणामु।
सिद्धउ तहो णदणु भव्ववन्धु जिणधम्म भारि ज दिण्णु खधु।
तसु सुउ जिट्ठउ बहुदेउ भव्वु जि धम्मकज्जि विव कलिउ दव्वु।
तहो लहु जायउ सिरिकुमरसिंहु कलिकालकरिंदहु हणणसिंहु।
तसु सुउ सजायउ सिद्धपालु जिणपुज्जदाणगुणगणरसालु।
तहो उवरोहे इह कियउ गथु हउण मुणमि किंपि वि सत्थगंथु।
घत्ता। जा चदविवायर सव्व वि सायर जा कुलपव्वंय भूवलउ।
ता यहु पयट्टउ हियइ चहुट्टइ (उ) सरसइदेविहिं मुहतिलउ।

इय सिरिचदप्पहचरिए महाकइजसकित्तिविरइए महाभव्वसिद्धपाल सवणभूसण सिरिचदप्पह सामिणिव्वाणगमणणाम एयारहमो सधी समत्तो॥'

इस पाण्डुलिपि का हस्तलेख सौराष्ट्र के पूर्वतट पर के ऐतिहासिक नगर घोघा मे हुआ था। उसकी पुष्पिका इस तरह है:—

---

१. कस्तूरचन्द कासलीवाल, 'प्रशस्तिसग्रह', जयपुर १९५०, प्रस्तावना, पृ० १५। हस्तप्रतविषयक टिप्पण के लिए देखिये पृ० १२२-२७.

'सं० १५७१ वर्षे आपाढ वदि १२ बुधे अद्येह घोघाद्रंगे श्रीचंद्रप्रभचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भ० देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीविद्यानंदिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टालंकार गच्छनायक जिनाज्ञाप्रतिपालक छत्रीसगुणविराजमान बइतालीसदोपनिवारक श्रौदार्यस्थैर्यगाम्भीर्यादिगुणविराजमान भट्टारक श्रीलक्ष्मीचंददेवोपदेशात् हुंबडज्ञातीय एकादशप्रतिमाधारक द्वादशविधतपश्चरणनिरत त्रिपंचास ·· ··· ·· ············' (पाण्डुलिपि का अन्तिम पत्र लापता होने से पुष्पिका की आखिरी चन्द पंक्तियां नहीं मिलती।)

इसके बाद का ग्रन्थ है अमरकीर्त्तिकृत 'छक्कम्मुवएसो' अथवा 'षट्कर्मोपदेश'। यह श्रावकों के धर्म का आलेखन करनेवाला अपभ्रंश काव्य है। इसकी रचना महीतट प्रदेश के गोद्रह (पंचमहाल जिले के गोधरा) में सं० १२७४ (ई० स० १२१६) में हुई है। २५०० पंक्तियों के इस ग्रन्थ का सं. १५४४ में लिखा हुआ हस्तलेख अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० प्रो० केशवलाल हर्षदराय ध्रुव ने सर्वप्रथम प्राप्त किया था।[1] तत्पश्चात् प्रो० मधुसूदन मोदी ने उसका सम्पादन किया और गायकवाड्स् ओरियेन्टल सिरीज में उसको प्रसिद्ध करने का आयोजन हो गया है। 'छक्कम्मुवएसो' के कर्त्ता अमरकीर्त्ति दिगम्बर सम्प्रदाय के माथुर संघ के चन्द्रकीर्त्ति के शिष्य थे। नागर कुल के गुणपाल एवं चच्चिणी के पुत्र अम्बाप्रसाद की प्रार्थना से इस काव्य की रचना हुई। कर्त्ता के अपने ही कथन के अनुसार अम्बाप्रसाद उनका छोटा भाई था। इससे विदित होता है कि अमरकीर्त्ति पूर्वाश्रम में नागर ब्राह्मण थे और बाद में उन्होंने दिगम्बर साधु की दीक्षा ली थी। उनका यह भी विधान है कि 'छक्कम्मुवएसो' की रचना के समय गोद्रह में चौलुक्य वंश के कर्णराजा का शासन प्रवर्त्तमान था। गोद्रह के चौलुक्य राजाओं की शाखा अणहिलवाड पाटण के चौलुक्य राजवंश से भिन्न है, और अमरकीर्त्ति ने जिसका उल्लेख किया है वह कर्ण उससे करीब सवा सौ वर्ष पूर्व के गुजरात के चौलुक्य नृपति कर्णदेव (सिद्धराज जयसिंह के पिता कर्ण सोलंकी) से भिन्न है।

'छक्कम्मुवएसो' की प्रशस्ति में अमरकीर्ति ने अपने अन्य सात ग्रन्थों का उल्लेख किया है:—

'नेमिनाथचरित्र', 'महावीरचरित्र', 'यशोधरचरित्र', 'धर्मचरित्र टिप्पण', 'सुभाषितरत्ननिधि', 'चूडामणी' और 'ध्यानोपदेश'। तदुपरान्त वह कहता है कि लोगों के आनन्ददायक बहुतेरे संस्कृत-प्राकृत काव्य भी उसने लिखे थे। परन्तु इनमें से एक कृति अभी मिलती नहीं है।

प्रमाण में प्राचीन काल में गुजरात में रचित दिगम्बर साहित्य की ये उपलब्ध रचनाएँ हैं।[2] यदि ऐसी अन्य कृतियों की भी खोज की जाय तो गुजरात के दिगम्बर सम्प्रदाय के इतिहास पर एवं तद्द्वारा गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास पर ठीक-ठीक प्रकाश डाला जा सकेगा।

---

१. 'छक्कम्मुवएसो' के आदि-अन्त के अवतरण के लिए देखिये मोहनलाल दलिचन्द देसाई, जैन गुर्जर कविओ', भाग १, प्रस्तावना, पृ० ७६-७८, केशवराम शास्त्री, 'आपणा कविओ', पृ० २०४-५१।

२. प्राचीन गुजराती में भी थोडा कुछ दिगम्बर साहित्य मिलता है। श्री मोहनलाल देसाई ने ('जैन गुर्जर कविओ', भाग १ पृ० ५३-५५) मूलसंघ के भुवनकीर्त्ति के शिष्य ब्रह्मजिनदासकृत 'हरिवंशरास' (सं० १५२०), 'यशोधर रास', 'आदिनाथ रास' और 'श्रेणिक रास' का उल्लेख किया है। दिगम्बरकवि रचित पाँच अज्ञात फागु-काव्यों का परिचय श्री अगरचन्द नाहटा ने दिया है ('स्वाध्याय' त्रैमासिक, पु० १, अंक ४), जिनमें से रत्नकीर्ति का 'नेमिनाथ फाग' गुजरात के भडौच के नजदीक के गाँव हांसोट में रचा हुआ है। गुजरात में रचित दिगम्बर साहित्य के उपरान्त गुजरात में जिनकी प्रतिलिपि की गई हो ऐसे दिगम्बर ग्रन्थों के लेखन-स्थान एवं लेखनवर्ष का अध्ययन यदि पाण्डुलिपियों की मुद्रित सूचियाँ आदि के आधार पर किया जाय, तो भी गुजरात के दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रसार के बारे में स्थलकालदृष्ट्या बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

जैन आगम—औपपातिक सूत्र का सांस्कृतिक अध्ययन

भारतवर्ष सतो की साधना भूमि है। ऋषियो की चिंतन भूमि है। वीरों एव सतियो का जीवनोत्सर्ग तीर्थ है। अनेक महापुरुषो ने समय-समय पर इस पवित्र भूमि मे जन्म ले कर अपनी आत्मा का चरम आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष किया, उन्नति की ओर जनता को सत्पथ प्रदर्शित किया। प्राचीनकाल मे अध्ययन अध्यापन प्राय: मौखिक ही अधिक हुआ करता था इसलिए बहुत से महापुरुषों की अनुभूतिरूप वाणी आज हमे प्राप्त नही है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे भारतवर्ष ने जो उन्नति की उसका, भी लेखा-जोखा बतलाने वाला प्राचीन साहित्य अधिकाश लुप्त हो चुका है। प्राप्त प्राचीन ग्रन्थों में उन ग्रंथो से पूर्ववर्ती जिन ग्रन्थकारो व पुस्तको का नाम उल्लिखित मिलता है—उनमे से अधिकाश ग्रन्थ अब प्राप्त नही हैं। इसी से हम अपनी प्राचीन साहित्य-सपदा को कितना अधिक खो चुके है इसका सहज ही पता चलता है। लेखन-कला का समुचित विकास होने के बाद भी बहुत बडा साहित्य नष्ट हो चुका है।

भारत की दो प्राचीन सस्कृतिया विशेष रूप से उल्लेखनीय है—एक वैदिक दूसरी श्रमण। वैदिक सस्कृति सम्बन्धी प्राचीन साहित्य वेद आदि उपलब्ध हैं पर श्रमण सस्कृति का इतना प्राचीन साहित्य उपलब्ध नही है; जैसा कि बहुत मे विद्वानो का मत है कि यदि वैदिक-आर्य बाहर कही से आकर भारत मे बसे हैं तो उससे पहले भारत मे अनार्य एव श्रमण सस्कृति के अस्तित्व का पता चलता है। श्रमण सस्कृति मे सम्भव है पहले और भी कई धाराएं हो, पर वर्तमान मे बौद्ध और जैन ये दो धाराएं ही प्रसिद्ध हैं। इनमे से बौद्ध धर्म तो गौतमबुद्ध के द्वारा अब से २५०० वर्ष पूर्व ही प्रवर्तित हुआ पर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर वुद्ध के समकालीन थे, अत: प्राचीन है। उससे पूर्व २३ तीर्थङ्कर और हो चुके हैं जिनमे से पार्श्वनाथ को तो सभी विद्वान् ऐतिहासिक महापुरुष मानते है और उनके चातुर्याम धर्म का बौद्ध ग्रन्थो मे निग्रन्थ धर्म के रूप मे उल्लेख है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती भगवान् नेमिनाथ--पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। अतः उन्हें भी कई विद्वान् ऐतिहासिक मानने लगे है। भगवान् ऋषभदेव, जो जैन धर्म के अनुसार इस अवसर्पणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर थे, उनके वडे पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ और जिनकी बडी पुत्री ब्राह्मी के नाम से भारतवर्ष की प्राचीन लिपि का नाम 'ब्राह्मी' पडा। उन ऋषभदेव को भागवत पुराण मे एक अवतारी पुरुष के रूप में मान्य किया गया है। मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त ध्यानस्थ नग्नमूर्तियां जैन धर्म से सम्बन्धित होना अधिक संभव है।

जैन धर्म के प्रचारक--तीर्थङ्कर सभी इसी भारत भूमि में हुए और उनका जन्म, प्रव्रज्या, केवल-ज्ञान प्राप्ति और मोक्ष यावत् संपूर्ण जीवन भारत मे ही बीता और विशेपकर उत्तर-पूर्व, प्रदेश मे। इससे जैन धर्म भारत का बहुत प्राचीन धर्म सिद्ध होता है। भगवान् महावीर के पूर्ववर्त्ती तीर्थङ्करों की वाणी आज उपलब्ध नही है। पर कई विद्वानो का मत है कि भगवान् महावीर के समय जो चौदह पूर्वों का ज्ञान था वह संभवत भगवान् पार्श्वनाथ की ही वाणी हो। भगवान् महावीर ने १२॥ वर्षो तक कठोर साधना करके कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया और तीस वर्ष तक सर्वज्ञ के रूप में सर्वत्र विचरण करते रहे। उन्होंने समय-समय, एवं स्थान-स्थान पर भव्य जीवो के कल्याण के लिये जो कुछ उपदेश दिया वह

उनके प्रधान शिष्य--गणधरो ने द्वादशाङ्गी के रूप मे ग्रथित कर लिया, जिसे 'गणिपिटक' कहा जाता है। लबे दुर्भिक्ष तथा मनुष्यो की ह्रसमान-स्मृति आदि के कारण चौदह पूर्व और वारहवें अग दृष्टिवाद सूत्र का एव ज्ञान भगवान् महावीर से दो सौ वर्ष के भीतर ही भद्रवाहु स्थलिभद्र से विच्छिन्न हो गया और उसके कुछ काल बाद तक दस [1]पूर्वो का ज्ञान रहा था, वह भी व्रज स्वामी के वाद नही रहा। इसलिए वीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद जब जैन आगम देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी मे लिपिवद्ध किये, तब केवल ग्यारह अंग सूत्र और कुछ अन्य ग्रन्थ ही बच पाये थे, जिनके नाम नदी एव पक्षीसूत्र मे पाये जाते हैं।

एकादश अंग सूत्रो मे भी अब मूल रूप, मे उनके जितने परिमाण का उल्लेख चौथे अंग सूत्र-समवायांग मे मिलता है, प्राप्त नही है। समवायाग मे वारहवें दृष्टिवाद--अग सूत्र का विस्तृत विवरण है, चौदह पूर्व उसीके अन्तर्गत माने गये हैं। दृष्टिवाद वहुत लम्बे अर्से से नही मिलता। पर दसवा अंग प्रश्न-व्याकरण न मालूम कब लुप्त हो गया। समवायाग और नंदीसूत्र मे 'प्रश्नव्याकरण' के विषयो का विवरण दिया है, वह वर्तमान मे प्राप्त 'प्रश्नव्याकरण' मे नही मिलता है। इससे मालूम होता है कि आगम लेखन के समय तक 'प्रश्न व्याकरण' मूलरूप मे प्राप्त होगा पर उसके वाद उस सूत्र मे मन्त्र विद्या, प्रश्न विद्या का विवरण होने से अनधिकारियो के द्वारा उसका दुरुपयोग न हो, यह समझ कर किसी वहुश्रुत आचार्य ने उसके स्थान पर पाच आश्रव और पाच संवर द्वार वाले सूत्र को प्रचारित कर दिया। ग्यारह अग सूत्रो का भी जो परिमाण समवायाग आदि मे लिखा है उससे वर्तमान मे प्राप्त उसी नाम वाले अगसूत्र वहुत ही कम परिमाण वाले मिलते हैं। जिस प्रकार आचारग के पदो की सख्या १८००० हजार, सूत्रकृताग की ३६०००, स्थानाग की ७२०००, समवायाग की १४०,०००, और व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) की ८४००० पदो की सख्या बतलाई गई है उनमे से आचाराग २५२५, सूत्र कृताग २१००, स्थानाग ३६००, समवायाग १६६७, भगवती १५७५२ श्लोक परिमित ही प्राप्त हैं। यद्यपि समवायाग मे उल्लिखित पद के परिमाण के सबध मे कुछ मतभेद हैं फिर भी यह तो निश्चित है कि उपलब्ध आगम, मूलरूप से बहुत कम परिमाण वाले रह गये हैं। छठे 'ज्ञाताधर्म कथा' मे साढ़े तीन करोड कथाओ के होने का उल्लेख 'समवयाग' मे है, उनमे से अब केवल प्रथम श्रुतस्कध की १९ कथाएं ही बच पाई हैं। द्वितीय स्कध जो बहुत आख्यायिका और उपाख्यायिकाओ का भडार था, वह भी अब लुप्त हो चुका है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे आगमो के नाम और विषय तो वही मिलते हैं पर उनकी पद सख्या या परिमाण और भी अधिक बताया गया है। खैर, जो चीज लुप्त या नष्ट हो गई, उसके सम्बन्ध मे तो दु:ख ही प्रकट किया जा सकता है अन्य कोई चारा नहीं है। पर सबसे ज्यादा दुःख की बात है कि जो कुछ प्राचीन जैन प्राकृत वाङ्मय उपलब्ध है उसका भी पठन-पाठन जिस गहराई से किया जाना अपेक्षित है, नही हो पा रहा है इसके प्रधान दो कारण हैं--जैन मुनियो व श्रावको के लिये वे ग्रन्थ श्रद्धा के केन्द्र हैं अत परम्परागत जिस तरह उनका वाचन एवं श्रवण होता आया है, करते रह कर ही वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और जैनेतर विद्वानो का ध्यान इस ओर इसलिए नही जाता कि उनकी यह धारणा बन गई है कि इन ग्रंथो मे जैन धर्म का ही निरुपण है, इसलिए उनका ऐतिहासिक, साहित्यिक एव सास्कृतिक महत्त्व विशेष नही है। पर वास्तव मे यह धारणा उन ग्रथो के गम्भीर अध्ययन के बिना ही बना ली गई है। अन्यथा बौद्ध साहित्य की भाति-इन आगमदि का भी परिशीलन होना चाहिये था।

---

१. इन पूर्व सज्ञक श्रुतज्ञान पर आधारित कुछ ग्रन्थ कषाय पाहुडादि १ मिलते हैं।

साहित्य, समाज का प्रतिबिम्ब है। जिस काल मे जिस ग्रन्थ की रचना होती है, उस ग्रन्थ मे उस समय के जीवन की झलक आ ही जाती है। प्राचीन जैन आगम, भगवान् महावीर की वाणी का सकलन है। भगवान् महावीर ने अपना उपदेश अपने विहार क्षेत्र के अधिकाधिक लोगो की जनभाषा मे दिया था। इसीलिये उसका नाम अर्धमागधी रखा गया। इस प्राचीन साहित्य मे भगवान् महावीर के समय के देश प्रदेश, ग्राम, नगर, राजा, रानी, मन्त्री, सेठ, विद्वानो आदि के अनेक ऐतिहासिक प्रसंग एव उस समय के लोक जीवन के वास्तविक चित्र प्राप्त होते है। सास्कृतिक दृष्टि से इन ग्रन्थो का अध्ययन करने से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और सस्कृति सम्बन्धी अनेको महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश मे आवेंगे।

बौद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य के अध्ययन का महत्व इसलिये और भी बढ जाता है क्योंकि जैन साहित्य की परम्परा २५०० वर्षो से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आगमो पर समय समय पर निर्युक्ति, भाष्य चूर्णि, एव विस्तृत टीकाएँ रची जाती रही है और उनमे उन टीकाकारो ने अपने अनुभव एव मौखिक श्रुत परम्परा और अन्य साहित्य से प्राप्त हुए ज्ञान का बहुत सुन्दर रूप से उपयोग किया है। निर्युक्ति, भाष्य एव चूर्णि मे-जो आगम काल के बाद की है, अनेक सास्कृतिक प्रसग उल्लिखित हैं। भगवान् महावीर के कुछ शताब्दी बाद जैन मुनियो के जीवन मे कितने विषम प्रसग उपस्थित-हुए और उस समय उन्होने अपने आचार एव जैन धर्म को किस तरह सुरक्षित रखा, इसका बहुत ही विशद वर्णन छेद सूत्र एव उनकी भाष्य चूर्णि मे मिलता है। आचार्य कालक और शको के भारत आगमन का प्रसंग निशीथ चूर्णि आदि मे लिखा मिलता हैं जो भारत के ऐतिहासिक अन्धकार को मिटाने के लिये उज्जवल प्रकाश है।

आगमो की टीकाओ के अतिरिक्त मौलिक ग्रन्थ भी बराबर रचे जाते रहे है। उन सबके आधार से भारत के इतिहास और सस्कृति के महत्त्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं। जबकि बौद्ध साहित्य की परम्परा भारत मे कुछ शताब्दी चलकर ही लुप्त हो गई। उनके मध्यकाल के जो थोडे से ग्रन्थ मिलते हैं, वे बौद्ध न्याय के होने के कारण उनसे दार्शनिक उथल-पुथल का ही थोडा पता चल सकता है पर सास्कृतिक सामग्री अधिक नही मिल सकती। दसवी शताब्दी के बाद भारत मे रचा हुआ बौद्ध साहित्य प्रायः नही मिलता क्योकि बौद्ध धर्म का प्रचार तब भारत के बाहर होने लग गया था जबकि जैन धर्म भारतवर्ष मे ही सीमित रहा; इसलिये मध्यकालीन ऐतिहासिक एव सास्कृतिक सामग्री के रूप मे जैन साहित्य अधिक मूल्यवान है।

जैन आगम साहित्य प्राकृत भाषा मे है और उसी भाषा से आगे चलकर अपभ्रंश का विकास हुआ। अपभ्रंश मे भी सबसे अधिक साहित्य निर्माण जैन विद्वानो ने ही किया है। अपभ्रंश भाषा से ही उत्तर भारत की समस्त प्रान्तीय बोलियां निकली हैं। इसलिये भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जैन साहित्य का महत्व सर्वाधिक है। बहुत से शब्दो के मूल का पता लगाने मे जैन साहित्य ही सबसे अधिक सहायक हो सकता है। जैन आगमो आदि मे प्रयुक्त अनेको शब्द आज भी प्रान्तीय बोलियो मे ज्यो के त्यो या सामान्य परिवर्तन के साथ प्राप्त हैं। फिर समय समय पर उन शब्दों व व्याकरण के रूप किस तरह परिवर्तित होते गये। इसकी भी पूरी जानकारी जैन साहित्य से भलीभाँति मिल सकती है। बहुत से देशी शब्द जिनकी उत्पत्ति सस्कृत कोष एवं व्याकरण मे ठीक नही मिल सकती, उनका प्राचीन रूप व परिवर्तित रूप भी जैन साहित्य के आधार से जाना जा सकता है। प्रान्तीय भाषा मे केवल उत्तर भारत की ही नही पर दक्षिण

भारत की कन्नड व तामिल मे भी जैन विद्वानों के प्रचुर ग्रन्थ हैं। गुजराती, राजस्थानी मे जैन साहित्य सर्वाधिक है ही, पर हिन्दी मे भी कम नहीं है। थोडा बहुत मराठी, सिंधी, पजाबी व बगला भाषा मे भी है। जैन यति-मुनि धर्म प्रचारार्थ भारत के प्रायः सभी प्रदेशो मे घूमते रहे हैं इसलिए उनकी रचनाओं में अनेक प्रान्तो की बोली व शब्दो का समावेश मिलता है। लोक-भाषाओ की भाति लोकगीत एव कथाओं आदि को भी जैन विद्वानो ने खूब अपनाया। आगम साहित्य से लेकर निर्युक्ति, भाष्य चूर्णि, टीका एव कथा तथा औपदेशिक ग्रन्थो एवं प्रबन्धसंग्रह आदि मे सैकड़ों लोककथायें मिलती हैं। इसी प्रकार विविध काव्य रूपो एव शैलियों को भी जिस समय जो जहा प्रचलित रही है, प्राय. उन सभी को जैन विद्वानो ने अपनी रचनाओ मे समाविष्ट किया। इसीलिये राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी के शताधिक 'रचना प्रकार' जैन रचनाओं में देखने को मिलते हैं। जब साधारण जनता का झुकाव लोक सगीत की ओर अधिक देखा तो उन्होने प्रसिद्ध एवं प्रचलित लोक गीतो की तर्ज व शैली मे अपनी रास, चौपाई आदि की ढालें बनानी प्रारम्भ की। इससे हजारो लोकगीतो के स्वर एव प्रारम्भिक पक्तिया सुरक्षित रह सकी और प्रचुर लोककथाए जीवित रह सकी।

इतने प्रासंगिक निवेदन के पश्चात् मैं लेख के मूल विषय पर आता हूँ। प्राचीन जैन आगमो मे कितने विपुल परिमाण मे सास्कृतिक सामग्री[1] सुरक्षित है इसकी ठीक से जानकारी तो उन ग्रन्थो के अध्ययन से ही प्राप्त की जा सकती है। यहाँ तो उनके सास्कृतिक अध्ययन की प्रेरणा देने के लिये सामान्य दिशा-निर्देश ही किया जाता है।

प्रथम अ ग सूत्र—आचाराग मे यद्यपि प्रधानतया जैन मुनियो के आचार का ही निरूपण है पर अत मे भगवान् महावीर की चर्या का जो निरुपण है वह सास्कृतिक दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार सूत्रकृताग मे भगवान् महावीर के समय के मत मतान्तरो—क्रियावादी अक्रियावादी आदि ३६३ पाखडों का उल्लेख महत्व का है। तीसरा चौथा अ गसूत्र—स्थानाग व समवायाग सख्याक्रम से लिखा हुआ पदार्थ-कोष है। इसमे भौगोलिक, ज्योतिष, वैद्यक, सगीत, बहत्तर कलाएं एव उस समय के राजादि, तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव के जीवनी के सूत्र तथा व्याकरण आदि विषयो का निरुपण साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक सभी दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर के समय के आठ राजाओ के नाम उस समय के इतिहास की दृष्टि से महत्व के हैं। पाचवा भगवती सूत्र भी ज्ञान विज्ञान का भडार है। इसमे गोशालक, भगवान् महावीर के समय के एक बड़े युद्ध, उस समय के पार्श्वनाथ संतानीय व तापसों तथा उदयन राजा, भगवान् महावीर, जमाली आदि अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम व चरित्र होने के साथ साथ राजगृह के गर्म व ठडे पानी के कुण्ड, परमाणु—पुद्गल शक्ति आदि अनेक वैज्ञानिक विषय भी प्रश्नोतर के रूप मे वर्णित है। छठे सूत्र-ज्ञाता धर्म कथाएं उगणीसवे तीर्थङ्कर मल्लिनाथ और पांच पाण्डव पत्नी-द्रौपदी का जीवन चरित्र उल्लेखनीय है। वैसे इसमे बहुत सी दृष्टात कथाए लोक प्रचलित रही होगी।[2] पर वे है बडी

१—थोड़ा विवरण डा॰ जगदीशचन्द्र जैन के शोध प्रबन्ध मे दिया गया है।

२—डा० जगदीशचन्द्र जैन की 'अढाई हजार वर्ष पुरानी कहानिया' पुस्तक जो भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस से प्रकाशित है।

रोचक एव उपदेशक। वे उस समय के लोकजीवन का अच्छा चित्र उपस्थित करती हैं। सातवे उपासक दशागसूत्र भी विविध दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। इसमे दी हुई भगवान् महावीर के दस श्रावको की जीवनी से तत्कालीन धर्म जिज्ञासा, जीवन की आवश्यकताओ, समृद्धि, गोधन, विविध व्यापार, गोशालक आदि के अनेक प्रसग, उस समय के सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार अन्तकृतदशाग व अनुत्तरोपातिक सूत्रो में भी महान साधकों की उज्जवल जीवनी है। उनमे से बहुत से व्यक्ति ऐतिहासिक भी हैं। प्रश्न व्याकरण नामक दसवें उपलब्ध अग सूत्र मे, अहिंसा, सत्य, अौचर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाच आश्रवो एवं दया सत्य आदि पाच सवर आदि के अनेक पर्यायवाची नाम, हिंसादि करने के साधन-सामग्री का वर्णन महत्व का है शब्द कोष और सास्कृतिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बडे काम का है। ग्यारहवें-विपाक सूत्र अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम बताने वाली कथाओ का सग्रह है इससे तत्कालीन दंड व्यवस्था, लोक जीवन आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इन ग्यारह अ ग सूत्रों का थोड़ा सा सास्कृतिक महत्व दिखाते हुए अब हमे प्रथम उपाग–औपपातिक सूत्र के सास्कृतिक महत्व का सक्षिप्त विवरण देंगे।

औपपातिक सूत्र का आधे से अधिक भाग वर्णनो के सग्रह रूप मे है। इसलिये सास्कृतिक दृष्टि से यह सूत्र बहुत ही मूल्यवान है। इसमे नगर, चैत्य, वनखड, अशोकवृक्ष, पृथ्वी शिलापट्ट, राजा रानी उपस्थान व अट्टणशाला, भगवान् महावीर और उनका शिष्यवर्ग, चम्पानगरी के महाराज कोणिक, उनकी राजसभा का वर्णन इतना सजीव हैं कि उनको पढते ही उनका एक चित्र सा सामने खडा हो जाता है। उस समय के नगर मे क्या २ विशेषतायें होती थी? चैत्य कैसे होते थे? राजा और राज सेवकों का व्यवहार, राजा का प्रभुत्व, राजा के शारीरिक व शासनिक नित्य कार्य, जनता मे महापुरुषो के दर्शन की उत्सुकता उनके पधारने पर आनन्द का वातावरण, धर्मोपदेश सुनकर प्रसन्नता की अनुभूति, राजा की सवारी, उसकी सभा, तीर्थङ्कर के समोसरण आदि के अनेक चित्र सामने आ उपस्थित होते हैं। भगवान् महावीर के शरीर और उनके गुणो का, उदाहरण एव उपमा सहित जैसा सुन्दर निरूपण इस ग्र थ मे है, अन्यत्र नही मिलता। उनके शिष्य समुदाय और तपस्वी जीवन का एव तत्कालीन परिव्राजक, आजीविक, वानप्रस्थ तापस, श्रमण आदि का विशद् वर्णन भी उल्लेखनीय है। प्रसगवश चार प्रकार की कथायें, नव विहाई, आठ मगल, पाच अभिगम, पाच राजचिन्ह, बहत्तर कला, नव अ ग, अठारह भाषा, चार प्रकार का आहार, बाह्यअभ्यन्तर तप भेद, चार गतियो के चार चार कारण, अणगार 'धर्म' और श्रावक धर्म के १२ भेद, सात निन्हव विविध प्रकार के पुष्प अलकार, अनेक प्रकार के तपस्वियो आदि के महत्वपूर्ण विवरण इस सूत्र मे मिलते हैं साथ ही असुरकुमार, भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक देवो और सिद्धशिला, सिद्ध गति, समुद्घात आदि का भी अच्छा वर्णन दिया गया है। राजा-रानी के विवरण मे विदेशो की दासियो का जो विवरण दिया गया है उससे उस समय भारतवर्ष मे अन्य कौन कौन से देशो की स्त्रियो, रानियो व सेठानियो की सेवा मे रहती थी, इसकी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। सूत्र पाठ इस प्रकार है–

"बहूहि खुज्जाहिं चिलाईहिं, (वामणीहिं वडभीहिं बब्बरीहिं पउयासियाहिं जोणियाहिं) पण्हवियाहि इसिगिणीयाहिं वासिइणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं सिहलीहिं दमिलीहिं आरबीहिं पुलदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरियाहिं पारसीहिं णाणादेसी विदेस परिमडियाहिं इ गिय चिंतिय पत्थिय विजाणियाहिं"

इन देशो सम्बन्धी अन्य उल्लेखो के लिए देखें मेरा "जैन साहित्य का भौगोलिक महत्व" नामक लेख जो प्रेमी अभिनन्दन ग्र थ मे प्रकाशित है।

बालको के जन्म समय के सस्कार एवं उनकी शिक्षा दीक्षा का विवरण दृढ प्रतिज्ञ के जीवन प्रसग मे इस प्रकार दिया है। कल्पसूत्र तथा अन्य आगमो मे भी ऐसे ही वर्णन मिलते हैं जिससे तत्कालीन सस्कृति की जानकारी मिलती है--

"तए ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठियवडिय काहिति, बिइय दिवसे चद सूर दसणिय काहिति, छट्ठे दिवसे जागरिय काहिति, एक्कारसमे दिवसे वीइक्कते णिव्वित्ते असुइजायकम्मकरणे सपत्ते। बारसाहे दिवसे अम्मापियरो इय एयारूव गोण गुणणिप्फण्णं णामधेज्ज काहिति--

"जम्हाण अम्ह इमसि दारगसि गब्भत्थसि चेव समाणसि धम्मे दढपइण्णा त होउण अम्ह दारए दढपइण्णे णामेण" तएण तस्य दारगस्स अम्मापियरो णाम धेज्ज करेहिति दढपइण्णेति।

( ) त दढपइण्ण दारग अम्मापियरो साइरेगठ्ठवास जायगं जाणित्ता सोभणसि तिहिकरण (दिवस) णक्खत्त मुहुत्तसि कलायरियस्स उवणेहिति।

तए ण से कलायरिए तं दढपइण्ण दारग लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुय पज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहाविहिइ सिक्खा विहिति, (७२ कला नाम) त जहा-लेह गणिय रूव णट्टं गीय, वाइय, सरगय पुक्खरगयं समताल जूय जणवाय पासग अट्ठावय पोरेकच्च दगमट्टिय अण्णविहिं (पाणविहिं वत्थविहिं विलेवणविहिं) सयणविहिं अज्ज पहेलिय मागहिय गाह गीइय सिलोय हिरण्णजुत्ति (सुवण्णजुत्ति गधजुत्ति चुण्णजुत्ति आभरण विहिं तरुणीपडिकम्मं इत्थिलक्खण पुरिसलक्खण हयलक्खण गयलक्खण गोणलक्खण कुक्कुडलक्खण चक्कलक्खण छत्तलक्खण चम्मलक्खण दडलक्खण असिलक्खणं मणिलक्खणं काकणिलक्खणं वत्थुविज्ज खधारमाण नगरमाण वत्थुनिवेसण ( ) वूह पडिवूह चार पडिचार चक्कवूहं गरुलवूह सगडवूह जुद्ध निजुद्ध जुद्धाइजुद्ध मुट्ठिजुद्ध बाहुजुद्ध लयाजुद्धं इसत्थ छरूप्पवाह धणुव्वेयं हिरण्णपागं सुवण्णपागड्ड ( ) वट्टखेड्ड सुत्तखेड्ड णालियाखेड्ड पत्तच्छेज्जं कडवच्छेज्ज सज्जीव निज्जीव सउणरूयमिति बावत्तरिकलाओ सेहावित्ता सिक्खावेत्ता अम्मापिईणं उवणेहिति।

तएण तस्म दढपईण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेण वत्थगंध मल्लालकारेण य सक्कारेहिति सम्माणेहिति सक्कारेत्ता सम्माणित्ता विउल जीवियारिह पीइदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेहिति।

तए ण से दढपइण्णे दारए बावत्तरिकला पडिए नवगसुत्तपडिबोहिए अट्ठारसदेसी भासा विसारए गीयरई गधव्वणट्टकुसले, हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी वियालचारी साहसिए अलभोग समत्थे यावि भविस्सई।"

गगाकूल के वानप्रस्थ तापसो का अच्छा विवरण देते हुये सन्निवेश के परिव्राजक के सम्बन्ध मे लिखा गया है कि आठ ब्राह्मण परिव्राजक और आठ क्षत्रिय परिव्राजक हुये और उन्होने वेद आदि ब्राह्मण शास्त्रो को पढा--यह विवरण भी महत्व का होने से नीचे दिया जा रहा है। इससे परिव्राजको के प्रकार उनके नाम, एंव ब्राह्मण शास्त्रो का अच्छा परिचय मिलता है।

"से जे इमे जाव सन्निवेसेसु परिव्वाया भवति त जहा ईखा जोगी काविला - भिउव्वा हंसा परमहसा बहुउदगा कुडिव्वया कण्हपरिव्वायया। तत्थ खलु इमे अट्ठ माहण परिव्वायया भवति। तजहा—

ब्राह्मणपरिव्राजक

कण्णे[1] य करकण्टे[2] य अवडे[3] य परासरे[4]।
कण्हे[5] दीवायणे[6] चेव देवगुत्ते[7] य नारए[8] ।।१।।

क्षत्रिय परिव्राजक

तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तिय-परि-वायया भवति त जहा—

सीलई[1] ससिहारे[2] (य) नग्गई[3] भग्गई[4] ति य।
विदेहे[5] राया[6] रायारामे[7] बले[8] ति य ।।

ते ण परिव्वायया रिउवेद यजुव्वेद सामवेय अहव्वणवेय इतिहासपचमाण, णिघण्टु छट्ठाणं संगोवंगाण, सरहस्साण चउण्ह वेयाण सारगा पारगा धारगा वारगा सउंगवी सट्ठिततविसारया, सखाणे सिक्खाकप्पे वागरण छदे निरूत्ते, जोइसामयणे अण्णेसु य (बहूसु) बभण्ण एमु य सत्थेसु सुपरिणिट्ठिया यावि होत्था।

परिव्राजको को क्या क्या नही करना चाहिये इसका विवरण देते हुए ४ कथाओ व धातु पात्रो एव आभूषणो का विवरण इस प्रकार दिया है—

"तेसि परिव्वायाण णो कूप्पइ— इत्थिकहा इवा भत्त कहाइवा देस कहाइवा, राय कहाइवा, चोरकहाइ वा जणवयकहाइवा, अणत्थदड करित्तए।

"तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ अयपायाणि वा सीसग पायाणि वा रूप्पपायाणिवा सुवण्ण-पायाणि वा अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि धारित्तए, णएणत्थ लाउपाएण वा दारूपाएण वा मट्टियापाएण वा। तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ अय बधणाणि वा तउ अपवधणाणि वा तव बधणाणि वा जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए। तेसि ण परिव्वायगाणं णो कप्पइ णाणाविहवण्णरागरत्ताइं वत्थाइं धारित्तए णण्णत्थ एगाए धाउरत्ताए। तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ हार वा अद्धहार वा एगावलिं वा मुत्तावलिं वा कणगावलिं वा रयणावलिं वा मुरविं वा कंठमुरविं वा पालबं वा तिसरय वा कडिसुत्तं वा दसमुद्धि आणतगं वा कडयाणि वा अगयाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा मउड वा चूलामणि वा पिणद्धित्तए..।,

अत मे भगवान महावीर का जो वर्णन इस सूत्र मे दिया गया है उमसे उद्वृत क्रिया जाता है। इससे भगवान महावीर की विशेषताओ की सास्कृतिक झलक बहुत अच्छे रूप मे मिल जाती है।

"अरहा जिणे केवली सत्त हत्थुस्सेहे समचउरस सठाण संठिए वज्ज रिसहनारायसघयणे अणुलोम-वाउवेगे ककग्गहणी कवोयपरिणामे सउणिपोसपिट्ठ तरोरूपरिणए पउमुप्पलगधसरिसनिस्सासमुरभिवयणे छवी निरायंक उत्तमपसत्थ अइसेयनिरूवमपले जलमल कलंक सेयरयदोसविज्जयसरीर निरूवलेवे छाया उज्जोइयगभगे घणमिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागार निर्मपिडियग्गसिरए सामलिवोडघण निचियच्छोडियमिउ विसयपसत्थसुहुमलक्खण सुगधसुन्दर भुयमोयग भिंगनेलकज्जल पहिट्ठ भमर गणणिद्ध निकुरूवनिचियकुंचिय पयाहिणा वत्तमुद्धसिरए दालिम पुप्फप्पगा सतवणिज्जसरिस निम्मलसुणिद्ध केसंतके सभूमी घण (निंचिय)

( ) छत्तागारुत्तमगदेसेणिव्वण समलट्ठ मट्ठचदद्ध समणिडाले उडुवइ पडिपुण्ण सोमवयणे अल्लीण पमाणजुत्तसवणे सुस्सवणे पीणमसल कवोलदेस भाए आणामिय चावरुइल किण्ह ब्भराइतणुकसिणणिद्धभमुहे अवदालियपु डरीयणयणे कोयासिय धवलपत्त लच्छे गरुलायतउज्जुतु गणासे उवचिय सिलप्प वालबिबफलसंण्णि भाहरोट्ठे पडुर ससिसयल विमलणिम्मल संख गोक्खीरफेणकु ददगरयमुणालिया धवल दत सेढी अखड दते अप्फुडियदते अविरलदते सुणिद्धदते सुजायदते एगदतसेढी विव अणेग दते हुयवहणिद्ध तघोयतत्त वणिजर-त्ततलतालुजी है अवट्ठिय सुविभत्तचित्तमसू मसल सठिय पसत्थसदूल विउलहणुए चउरगुलसुप्पमाण कबुवर सरिसग्गीवे वर महिस वराहसोह सद्दूल उसभ नागवर पडिपुणविउलक्खंधे जुगसन्निभपीण रइयपीवर पउट्ठ-सुसंठिय सुसिलिट्ठि विसट्ठ घण थिर सुबद्ध सधिपुर घरफलिहवट्टियभुए भुयईसरविउल भोग आयाण पलिए उच्छूढ दीहबाहू रत्ततलो वइयमउयमसलसुजायलक्खणपसत्थ अच्छिद्दजालपाली पीवरकोमलवरगुली आयँ बत बत लिण सुइ रुइ लणिद्धणक्खे चद पाणि लेहे सूरपाणिलेहे सख पाणिलेहे चक्कपाणीलेहे दिसासोत्थिय पाणि-लेहे चदसूर सखचक्क रिसा सोत्थिय पाणिलेहे कणगसिलायलुज्जलपसत्थ समतलउवचियविच्छिण्ण पिहुल वच्छे सिरिवच्छ क्कियवच्छे अकरडुयकणगरूययनिम्मल सुजायनिरुवहयदेहधारी अट्ठ सहस्स पडिपुण्णवरपुरिसलक्खणधरे सण्णयपासे सगयपासे सुन्दरपासे सुजायपासे मियमाइय पीणरइयपासे उज्जुय समसहिय जच्चतणुकसिणणिद्ध आइज्जल डहरमणिउज्जरोमराई झसविहग सुजायपीण कुच्छी झसोयरे सुइकरणे पउमवियडणाभे गगाव-त्तगयाहिणावत्ततरग भगुर रवि किरण तरुणबोहियअकोसायतपउमगभीर वियडणा भे साहयसोणदमुसलदा-पणणिकरियवरकणगच्छरुसरिसवर वइरवलियमज्झे पमुयइवरतुरगसीहवरवट्टियकडीवरतुरगसुजायसुगुज्झ देसे आइण्ण हउव्व णिखवलेवे वरवारणतुल्लविक्कमविलसइयगई गयससणसुजायसन्निभोरू समुग्ग णिमग्गगूढजाणू एणीकुरूविंदावत्त वट्टाणुपुव्वजघे सठिय सुसिलिट्ठ विसिट्ठगूढगुप्फे सुप्पइट्ठियकुम्भचारूचलणे अणुपुव्व सुसहय-गुलीए उण्णयतणुतवणिद्धणक्खे रत्तुप्लयपत्तमउय सुकुमाल कोमलतले अट्ठसहस्सवर पुरिसलक्खणधरे नग नगर-मगर सागर चक्ककवरगमगलकियचलणे विसिट्ठरूवे हुयवहनिद्धू जलियतडितडियतरूणर विकिरण-सरिसतेए ।... .. ।"

दूसरे उपाग 'राजप्रश्नीय' मे सास्कृतिक सामग्री बहुत अच्छी है उसमे सूर्याभिदेव के ३२ प्रकार के नाटक और देवलोक के वर्णन मे वहा की रत्नमय पुस्तक का विवरण, तथा अन्य अनेक वर्णन व विवरण बडे महत्व के हैं। जीवभिगम' और "प्रज्ञापना" सूत्र यद्यपि सैद्धान्तिक विषय के है पर उनमे भी अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, वृक्ष, भाषा, आदि जीव और जड पदार्थों का विवरण महत्व का है। "जम्बूदीप प्रज्ञप्ति" मे प्राचीन भूगोल और ज्योतिष की जानकारी महत्व की है और ऋषभदेव का चरित्र, भारत की छ खण्ड साधना का वर्णन वडा उपयोगी है। 'चन्द्रप्रज्ञप्ति 'सूर्य प्रज्ञप्ति' से प्राचीन ज्योतिष की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। 'निरयावली' आदि पचोपाग मे महाराजा कोणिक और चेडा के युद्ध का वर्णन उस समय के युद्ध का सजीव चित्र उपस्थित करता है। छ छेद सूत्र मुनि जीवन मे कैसी विषमता आई और उसका परिहार कैसे किया जा सकता है, एक तरह से मुनियो का दण्ड विधान ये शास्त्र है। उनकी भाषा चूणियो मे प्रचुर सास्कृतिक सामग्री है। नदी और अनुयोगद्वार तो सास्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्व के हैं जिन पर कभी स्वतन्त्र रूप से प्रकाश डाला जायगा। कल्पसूत्र के स्वप्न आदि के विवरण भी बहुत सुन्दर हैं। 'उत्तराध्ययन' भी बहुत महत्वपूर्ण है जिसमे नेमिनाथ तथा गौतम और केशी सम्वाद आदि अध्ययन बहुत ही महत्व के हैं। समग्र जैनागम और प्राकृत साहित्य के अवलोकन से भारतीय सस्कृति को ठीक से सम-झने मे बहुत मदद मिलती है।

STUDY OF TITTHOGALIYA

The Yuga[1] conception of the Vedic tradition and the Avasarpini of the Jainas have a common feature of degradation in Bhāratavarsa in every respect. Thus the present Kaliyuga of the Vedic tradition and the Dusama of the Jainas are the periods when degradation has taken place in every respect in comparision with their previous period of Satya and Susamadusama. So, it is but natural that degradation of the religious life should take place and so we find such narration in the religious literature. However it may here be noted that according to Vedic Tradition the king[2] can change this process of degradation but according to the Jainas there is no such possibility. I propose to give the gist of my study of a work 'Titthogaliya[3] (Sk. Tīrthodgalika[4]) which mainly deals with the degradation of the Jaina Tirthas. Unfortunately though included in the list of the 84 Āgamas the work is not yet published. So, I have to base my study on the copy of the mss of the work Titthogaliya supplied very kindly by Muni Shri Punyavijayaji.

MSS. OF THE WORK :

The Jainagranthāvali on p. 62 and Jinratnakoṣa on p. 161 give information regarding the availability of the mss. of the Titthogâliya. Also Bhandarkar Oriental Research Institute Cat. Vol.XVII part I gives description of three mss. of Titthogâliya having No. 395 to 397

Though the work itself gives us the information that it contains 1233 gathas[5], we find different number of gathas in different mss. The copy before me has 1251 gathas and some other mss. has 1254 gathas. And also we find the difference of granthāgra mentioned at the end of the mss. Some have 1565 while others have 1570 granthagras.

The press copy before me is based on a palmleaf mss. copied in V.S. 1452 at Patan at the instance of Ācharya Sundara Suri of Tapagacche. The three mss. with B O.R.I. are dated V. S. 1584, 1612 and 1671 respectively.

---

1. History of Dharmasūtra · Vol V. Part I pp 688 ff.
2. Ibid p 698
3. See, B O R. I. Cat, Vol XVII part I, Vo 395-397 and Jainaratnakosa I. p. 161.
4. Jainagranthavali p 62 gives : SK. Tirthodgāra
5. सेतीसनाहामों दोसि सताउ सहस्समेगं च ।
तित्थोगालीए संखा एसाम लिखाउ अंकेण ॥
॥ गाथा १२३३ ॥

Upto this time nothing is known about the contents of the work except some quotations given by Muni Shri Kalyan Vijayaji in his "Vira Nirvana Samvat Aur Jaina Kalaganana". in Hindi and some of the gathas quoted by Abhidhānarājendra Kosa from the beginning and from the end of the work. So it will be useful to scholars if some more information about this important work is given

A Canonical Work :

This work is accepted as the Angabahaya work in the Parkirnaka class by the Śvetambara Jainas But it should be noted that it is not included in the 45 Āgamas recognised by the Svetambars, However, it is given a place among the Prakirṇakas in the list of the 84 Agamas[6] Its non-inclusion in the 45 Āgamas requires explanation One possible explanation *might be its late origin, or, the* other, possible explanation is as follows —

The work deals with the details of process of the degradation of the Āgama, It is possible that to some its propositions may not be acceptable because they see that the Āgamas which the work considers to be lost are available to them On this account the work might have been neglected and it might not have been regarded as authoritative as the other works

A Śvetāmbara Work

There are certain indications which show that the work was composed or compiled by a Śvetambara Acharya Dreams of the mother of a Tirthankara are mentioned and they are 14 in number[7] instead of 16, the number recognised by the Digambaras It mentions that Maru devi was liberated (87) and also out of the 24 mothers of Tirthankaras eight were liberated.[8] This certainly shows that the author was a Svc. Jaina. Moreover, we will see later on that some of the Agamas which are mentioned in the work do not find place in the canon of the Digambaras The number of Kulakaras[9] is given as seven and not as Fourteen, the number accepted by Tiloyapannatti[10] and other Digambara works.[11] Ten Accheragas are mentioned which go against the accepted views of the Digambaras .

---

6 See Jainagranthavali p 62 and 72 and also schubring Doctrine of the Jains, p 109.

७. मरुदेवीपमुहाओ वियसियकमलाणणा उ रयणीए
पेच्छंति सुहपसुत्ता चोद्दसपवरे महासुमिणे ॥१००॥ also see pathas 1020, 1022, 1024

८. अट्ठण्ह जणणीओ तित्थयराण तु होंति सिद्धाओ ।
अट्ठय नागकुमारे माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥४६३॥

9 See pathas 70 ff ,

10 See Tiloya. 4 421-504

11 Here we must note that Jambudvipaprajnapti (second Vakṣaskāra) mentioned 15 and not 7 Kulakaras It adds the name of Rṣabha to the 14 mentioned by Tiloyap.

दससु वि वासेसेव दस दस अच्छेरगाइ जायाइ ॥
ओसप्पिणीए एव तित्थोगालीए भणियाई ॥ ८८३ ॥
उवसग्ग—गब्भहरण इत्थीतित्थ अभव्विया परिसा ॥
कण्हस्स अवरकका अवयरण चदसूराण ॥ ८८४ ॥
हरिवस कुलुप्पत्ति, चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा ॥
अस्सजयाण पूया दस वि अणतेण कालेण ॥ ८८५ ॥

Out of these ten only Uvasagga seem to be accepted by the Tiloyapannatti when it describes the special features of Hundavasarpini and says that 7 h. 23rd and the last 24th Tirthankaras have Uvasagga

मत्तमतेवी सतिमतित्थयराण च उवसग्गो ॥ ४. १६२०

These and other views* of T. go to prove that it is a Sve. work.

Contents of the Work

After eulogy to Tirthankaras Rsabha etc, (1–3) and Sramanasangha (4 a) the author proposes to write in short about the degradation of the Tittha (Titthogali) (4b) Originally this was preached by Lord Mahavira at Gunasila Caitya in Rajagraha (5–6).

Kala is beginningless and endless and it is divided in twelve araga. It is permanent as well as impermanent according to different Nayas Absolute or extreme view is wrong Jainas preach Non-absolutism (Anekanta) (7–8). In Bharat and Aryavata there are Avasarpini and Utsarpini but in the rest of the world there is no change in Kala (9) Duration of two cycles, their nature, six divisions of each cycle, duration of division etc (10–25), condition in (1) *Susamasusma* (26–54), Description of (2) *Susama* (55–62), of (3) *Susamadusama* (63–), in the last part of *Susamadusma*, 7 Kulakaras are born one after another of which the last is Nabhi and his wife is Marudevi (70–94). Narration of the Life of Rishabha begins (95), 13–14 Dreams (110–), their result (118–), gods' arrival to serve the mother (127), miracles at the time of birth (132–), coming of Disakumaris (136) and other gods Bhavanapati etc (182), moving of the thrones of Sakra, etc praise and performance of bath ceremony by them at Sumeru (188–), presents by the gods (267–). Indra's arrival for the establishment of the Iksvaku Vansa (278), marriage and the birth of Bharat etc. (280), enthronement of Rsabha as a king (285), Diksha (292), Bharat and his Jewels (294)

2 These are from Sthananga–777 see also my Sthananga–Samavayanga P 891.

* एगपि असद्दहिओ मिच्छद्दिट्ठी जमालिव्वा गा० १२०३

13. At the same time the other 9 Tirthankaras are also born in different lands and so the description of Reshabha will apply to them also (96–) Similar is the case with Bharat Cakri. He also has his contemporary Cakri in different lands (308)

Eulogy of 24 Tirthankaras and various information about them (305) regarding their previous last birth as gods (306), their other contemporary Tirthankaras (313), Varna (colour), Samsthana (358), Table of Tirthankars and Cakri (359), Height (362) Age (372), Vamsa (383), Gotra (384), names of those who became king or Cakri and who did not accept the kingdom (385) Rsabha was born at the end of Susama-Dusama and the rest in (4) Dusama-Susama (388), kingship or otherwise in previous birth (389). Sruta (390), place (391) and time of Diksha (392), companions at the time of Diksha (393), penances at the time of Diksha (399), when they attained Kevalajnana (402), place where they attained it (405), Caityavrksas (407), Month of attaining Kevaljnana (411), Naksatra and Paksa (413), the day (413), the time, (417), penances before becoming Kevali (419), Samavasarana (421), Preaching (446), about pratikramana (447), Samaiya etc (449), number of Ganadharas and the name of the first Ganadhara (450), names of the first nuns (463), number of pupils, names of kings and parents (471), Antarakala (494), Tirthaviccheda (522), time of Liberation (524), position at that time (551). penance at the time (555), place (558), next life for their parents (563) description of Cakri (565), Ardhacakri, Kesavas and Baladevas (572), Pratisatru (606), condition at the concluding period of Dusama-Susama (614). When there remained three years, eight months and one paksa of Dusama-susama, Tirthankaras in different lands were liberated (615), on the same day Palaka was enthroned (616) then the following are mentioned inbetween the Nirvana and Saka–

Palaka	reigned for	60	
Nandas	,,	155	
Maruya	,,	160	
Pusamitta	,,	30	
Balamitta-Bhanumitta		60	
Nahasena	,,	40	
Gardhabha	,,	100	(Gathas 617-618)
		605	

605 years and five months after the V N Saka became the king (619) 1323 years after Saka (i e V N 1928) in Kusumapura (Pataliputra) Dutthabuddhi (Kalki) will be born. His misdeeds are enumerated (625-), about Caturmukha (Kalki) king it is said that for satisfaction of his greed he will dig out the Stupas (631–), Lonadevi's story (637–), Nagara devata's intervention (651–), Floods in rivers Ganges etc and destruction due to that (658), construction of new city by the king and for sometime his good behaviour (672–) After fifty years of good behaviour again Kalki adopts his old tactics to harass the monks (674–) Acarya Padivata (678–), Kalki's death at the age of 86 in V.N. 2,000 (685), Kalki's son Datta's enthronement by Indra (686), for a little less than 20000 years there will be regard for Sangha (689) the birth of Sokka, his son Jiyasattu, his grandson Meghaghosa and at the end there will be Vimalvahana king (690).

Begins the story of Srutahani upto Duppasaha (693)–Viccheda of Kevali in V.N. 64 with the death of Jambu (698), Viccheda of Manaparyaya etc. (695), Viccheda of Caturdasapurva at time of Sthulabhadra in V. N. 170 (697). The question regarding the Viccheda (698-) The birth of Mahavira when there remained 74 years and 8 months for the end of fourth Araka and his death accured when 3 years 8 months and 15 days remained for the end of the same (704–5). Sudharma Jambu, Prabhava Sayyambhava Jasabhadda, Sambhuto, Bhaddbahu (707–), due to anavrsti monks had to leave the Magadha (712), after returning back–

ते बिंति एक्कमेक सज्झाओ कस्स केत्तिओ धरति ।
हदि दुठुकालेण अम्ह नठ्ठो उ सज्झाओ ॥७१७॥
ज जस्स धरइं कठे ते ते परियठ्ठिऊण सव्वेसिं ।
तो गेहिं पिंडिताइ तहिय एक्कारसगाइ ॥७१८॥

Some of the monks go to Bhaddabahu and say to him on behalf of Sangha—

त अज्जकालियजिणो वीरसघो त जायए सव्वो ।
पुव्वसुयक(ध)म्मधारय पुव्वाण वायणं देहि ॥७२३॥

but as he was not ready to give Vacana was asked by the monks as to what will be the danda proper for you for such behaviour (724–6). He replies:—

सो भणति एव मणिए अविसन्नो वीरवयण नियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयनिण्हओ त्ति अह सव्वसाहूहिं ॥७२७॥

then the monks say to him—

त एव जाणमाणो नेच्छसि नो पाडिपुच्छिय दाउं ।
त थाण पत्त ते कह त पासे ठवेहामो ॥७२८॥
बारसविहसभोगो वज्जए तो तयं समणसघो ।
ज ने जाईज्जतो न वि इच्छसि वायणं दाउं ॥७२९॥

on this he agrees to give Vacana (730), so more than 500 monks go to him, one of them being Sthulabhadra who only remains with him upto the end (738-), as he learns the 11th purva, his seven sisters come to him and a miracle is performed by him (749-) and knowing this Bhadrabhahu informs him to discontinue the further vacana. But on his request he gives him vacana of the rest (764–). Story of previous life of Sthulabhadra (772–), Bhadrabhahu though gives Vacana of the last four purvas to him he is not permitted to teach them to others ; so, after him only ten Purvas remain (797-)

एतेण कारणेणं उ पुरिसजुगे अठ्ठमम्मि वीरस्स ।
सयराहेण पणट्ठाइ जाण चत्तारि. पुव्वाइं ॥७९८॥

अणवट्टुप्पो य तवो तवपारची य दो वि वोच्छिन्ना ।
चोद्दसमुव्वधरम्मी धरति सेसा उजा तित्थ ॥७९९॥
त एव सगवसो य नदवसो य मरुयबसो य ।
सयराहेण पणट्ठो समय सज्झायवसेण ॥८००॥
पढमो दसपुव्वीण सयडालकुलस्स जसकरो धीरो ॥
नामेण थूलभद्दो अविहिंसाधम्मभद्दो त्ति ॥८०१॥

and the last Dasapuvvi will be Saccamitta (802–) and after V N 1000 in the time of Uttaravayaga the last knower of Puvvagaya the Vicceda of Purvas will occur (805–) Then follows the mention of the Viccheda of the rest of the Agamas (807–) -which is compared here with the account of the Digambara tradition —

In V N.	or V.N.	The end of	Occurred according to
64	–	Kevali	Tittho. 694
–	62	,,	Tiloya. 4 1478
170	–	Srutakevali	Tittho. 697
–	162	,,	Tiloya. 4 1484
375	–	Dasapurvi	Tittho. 800
–	345	,,	Tiloya 4 1486
–	565	Ekadasangadhara	Tiloya 4. 1489
–	683	Acarangadhara[1]	Tiloya 4 1491
			Will occur according to
1000	–	Puvvagaya	Tittho. 806
1250	–	Last six Angas and Vyakhyaprajnapti.	Tittho 807
1300	–	Samavaya	,, 810
1350	–	Sthananga	,, 811
1400	–	Kalpa and Vyavahara	,, 812
1500	–	Dasasruta	,, 813
1900	–	Sutrakrtanga	,, 814
2000	–	Nisitha	,, 815
20000	–	Acaranga	,, 816
20500	–	Uttaradhyayana	,, 822
20900	–	Dasavaikalika	,, 823
–	20317	Srutatirthavicceda	Tiloya 4 1493

Then the lives of the following are narrated.- Duppasaha the last monk (825). Faggusiri the last nun (837), Saccasiri the last lay-woman (838), Vimalavahana the last

1 There is some differance about the calculation but the year 683 is common, vide Dhavala part I Intro. pp. 26 ff and Jaya Dhavala part I Intro pp 48 ff

king and Sumuha his amatya (840). The Indra comes and offers his prayers to the Sangha (843). The gathas of the prayer are from Nandi (844–). Again, the life of Duppasaha (850–), and the future lives of Vimalavahana and others (857) are sketched. Upto the end of V N. 21000 Avasyaka, Anuyogadvara and Nandi will remain intact (avvocchinna) (861–) , two types of Caritra-Samayika and Chedopasthapaniya will be possible till the existence of the Tirtta. (863) and so—

जो भणति नत्थि धम्मो नेव सामाइय न चेव य वयाइं ।
सो समणसघवज्झो कायव्वो समणसघेण ।।८६४।।
जइ जिणमत पव्वज्जह ता मा ववहारदसण मुयह ।
ववहारनयच्छेदे तित्थुच्छेदो जओहुवस्सं ।।८६५।।
इच्चेय मणिपिडम निच्च दव्वट्ठयाए नायव्व ।
पज्जाएण अणिच्च निच्चानिच्च च सियवादो ।।८६६।।
जो सियवायं भासति पमाणनयपेसलं गुणाधार ।
भावेइ भणेण सया सो हु पमाणं पवयणस्स ।।८६७।।

At the end of (5) Dusama there will be the end of Dhamma and so after that Adhamma will prevail (870-) The condition during the (6) Dusama (871-), mention of 10 accheragas (884) and of the no. 54 of Loguttamapurusas (886), the (6) Egantadusama Kala described (933) then only the Adhamma will prevail. And.

गोधम्मसमाणाई तेसिं मणुयाण सुरताइं ।।९४०।।

natural calamities (946), men will have to dwell in the Ganges, the Sindhu and the mounts (951–) duration of the (6) Atidusama (957).

Then begins the description of the *Utsarpini* the progressive cycle of time wherein there will be progress in every respect The first is (1) *Atidusama* in reverse form (959) the rains of five types (975), and as a result the depression of natural calamities (978-) and then comes (2) *Dusama* (987).

एव परिवड्ढमाणे लोए चदे व धवलपक्खम्मि ।
तेसिं मणुयाण तया सहस्स च्चिय होइ मणसुद्धी ।।०९१।।

Beginning of (3) Dusamasusama (993), mention of seven Kulakaras to be born in Dusama (999)).

Here it may be noted that after the gatha No 1008 it is noted that 'gātha Sahassami gatam'. This means that originally this gatha was numbered 1000th, from this it can safely be concluded that before this gātha eight gathas are somewhere interpolated. Mention of Tirthankars, Cakri, and Vasudevas to be born in (3) *Dusamasusama* Kāla 1019-) . Seniya of the previous birth will be born as Mahapauma (Pauma) of this Thir-

thankara, parents and the dreams etc. (1020-), Mahāpadma's other name Vimalavahana (1050), ganadharas of Mahapauma (1088), Names of the Tīrthankaras to be born in Utsarpini in Bharata (105 -), in Airavata (11 10) , Cakri of Bharata and Airavata (117-) Vasudeva etc (1136 -)

Description of (4) *Susama-Dusama Araka* (1145 -), of *(5) Susama* (1151 -), of (6) *Susama-Susama* (1150). The persons who do not deserve to hear this (1181 -) and those who deserve (1184 -) Preaching on Sammatta, Jñāna and Caritta (1186) - 10 Yati Dharma (1187) adoration of Samyakiva (1202 -),

सम्मत्ताश्रो नाण सियवायसन्निय महाविसम ।
मावाभावविभाव दुवालसग पि गणिपिडग ।। १२१२ ।।
ज श्रन्नाणी कम्म खवेइ वहुया वि वासकोडीहिं ।
त नाणी तिहिगुत्तो खवेड ऊसासमेतेण ।। १२१३ ।।

Then comes the description of Moksa (1215)

जह नाम कोइ मेच्छो नगरगुणें बहुविहे वि जाणतो
नव एइ परिकहेउ उवमाए तहि असतीए ।। १२४० ।।

Conclusion and adoration to Sangha and a request to correct
The mistakes (1247-50). The Prasasti at the end is as follows :

तित्थोगाली सम्मत्ता । श्री योगिनीपुरवासिमिर्महर्द्धिक राजमान्यै.
सकलनागरिकलौकमुख्यैष्ठ दूदा ठ० ठकुरा ठ. पदमसी है
स्वगितु सा० राजश्रेयसेश्रनुयोगद्वारचूर्णि १ पोडशक
सूत्रवृत्ति २ तित्थोगाली २ श्री ताडे तथा श्री ऋषमदेव चरित १२
सहस्त्र कागदे एव पुस्तिका ४ तपागच्छानायकसुन्दरसूरीणामुपदेशेन
सवत १४५२ श्री पतने लेखिता इति मद्र ।। छ ।।

Sources

The main theme of T is to describe in detail the progressive annihilation of the present Tirtha But in order to give an idea of the whole cycle of time which is called Kalpa and to present the theme of T. as a part of the whole cycle of time T. describes the two divisions of Kalpa the Avasarpini and the Utsarpini setting up in that frame at a proper place the narration of progressive annihilation of the present Tirtha, so that one can have an idea of the same in the proper perspective. With this purpose in view the author has compiled this work using mainly canonical works and perhaps the old Niryuktis and some other works of which we know very little It is definite that he has used for the description of the Kalpa or the Kàlacakra the following works. Bhagavatī Sūtra S 287, Jambūdvīpaprajñapti second vaksaskara sutras 18, wherein the Avasarpinī and Utsarpinī of Bharata are described However, it may be noted here that the T does not follow Jambū. (Sùtra 28) with regard to the number of Kulakaras and their Nīti. T.

follows here Sthanganga (556) and Samavayanga (157). This question of number is discussed by Jinabhadra in his Visesanavati and by Santicandra in his Cam. (p 132). On Jamp. (also see my note on this, Sthananga-Samavayanga p. (692-695). For life of Bharata vide Jambū P, Vaks. III. As regards the description of Tirthankaras and Kulakaras etc. which is found here, it is to be noted that we are not sure if it is from Avaśyakaniryukti, we may consult the ĀvaN 150 ff. for finding out the common source. Paumacriya (Uddesa-21) of Vimal gives the details as are found in T. We should also compare the Tiloyapannatti (41.313 ff) which is also useful in deciding the sources of T.

Comparison and Date :

In the T. itself we find many times stated that T. was preached by Lord Mahavira or the Jinavara (5,677, 875, 895, 1180, 1246, 1247 etc). Original T. had one lac padas (5, 1246) but this T is an abridgment of the original T. (6, 706, 875). The reference to Titthogaliya is found in Vyavaharabhasya wherein it is stated:

तित्थोगाली एत्थ वत्तव्वा होद आणुपुव्वीए ।
जै तस्स उ अगस्स वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठा ॥ १०.६०४ ॥

It is certain that according to Vyavaharbhasya the progressive vicceheda of Añgas is described in T. The question was raised as to what was lost and what was not at the time of Jambū and the Vya Bhasya says that it is to be decided according to T. (110.695). Some said (Vya. 10 695) that there was no path for liberation after Jambū. But in T. the question is decided that up to the end of the Dusama there will be Samayika and Cheda Caritras (T. 863-867). Moreover Vya. B. favourably records the view that there is no Viccheda of four Vyavaharas (10.703) as accepted by some (10 696). And according to T. there will be the persons who will possess the Kalpa and Vyavahara (10 702 : Kappavavaharadharino dhira). We find the same mentioned in T. : Taiyā vi Kappa-Vavahāradharo-676 'Manaparamohi' etc. (T. 695 and Vya. B. 10.699) is from same source i. e. Niryukti. So it is certain that T. was present before the author of Vya. B. Some of the gathas of Sangha Stuti occuring in Nandi are found in T-(vide T. 844-848 and Nandi 4-8) but in Nandi the order of these gathas is different. Here I am not in a position to decide whether T. quotes from Nandi.

"Bavisawi Titthayara" T. 449 is common in Mulacara (7 36) and AvaN. 1243, and X 'Sapadikkamano Dhammo' T. 447 is also common in Mūlacara (7 129) and AvN, (1241). Moreover many gathas of T. describing the life of Rsabha and giving the common features of all the Tirthañkaras are found in Avaśyakaniryukti such as :—

ĀvN. (Dipika Ed.) 150-161=T. 70 81, ĀvN (62–168=T. 83-89); ĀvN. 189–195= T. 275–280, ĀvN. 196–207=T. 282–290 and Bhasya No 4, ĀvN 221–223 = T. 385-387, ĀvN 228=T. 399, ĀvN 319–320 = T. 400–401 ; AvN 253–254 comp. with T. 402, 405 and 406 ; AvN 341, 346, 546, 547, 548, 552, 553, 551=T. 421–429, AvN. 554–567

= T. 430-446 ; T. 1216—46 have many gathas common with Avn. 952-982 , Avn. 1241-43 = T. 447-449; Also comp. these with Devendrastava 273-302. T. has following gatha—

ज अन्नाणी कम्म खवेइ वहुयाहिं वासकोडीहिं ।
त नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥ १२१३ ॥

The same is found in Mahapratyakhyana-101. With slight variation Kundakunda's Pravacansara has :—

ज अन्नाणी कम्म खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
न नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥ ३.३८ ॥

and also Vimala's Paumacariya :—

ज अन्नाण तवस्सी खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
कम्म त तिहि गुत्तो खवेइ नाणी मुहुत्तेण ॥ १०२. १७७ ॥

It also should be noted that

सिज्झन्ति चरिय भट्टा दसण भट्टा न सिज्झन्ति ॥ १९ ॥

this latter half is found in Ekatvanupreksa of Kundakunda and T. has—

सिज्झन्ति चरणहीणा न सिझन्ति ॥ १२०७ ॥

But note that in Bhaktaparijna 66 is same as that of Kundakunda's Ekatva. 19. with a difference that the former has singular number.

Amongst these authors it is difficult to say who is influenced by whom.

T. Gathas 1226-1227 are from Uttaradhyyana 36. 56-57. These and other factors help us in deciding the date of T. But since the dates of all the works utilised for comparision are not finally settled, we are not in a position to finalize the date of T. This much we can say that it was compiled before Vyavahara bhasya and we may for the time being agree with Shri Muni Kalyanvijayji that T. was completed in 5th. Century of Vikrama era,—vide his essay on Vira Nirvan Samvat p. 30.

———

राजस्थान भाषा पुरातत्व

१. प्राग् एतिहासिक पृष्ठ भूमि, आदिम जातियां–भील, द्रविड़, आग्नेय, मगोल उनकी भाषा-प्रवृत्तियां और सस्कृति।

अर्थमय जगत की अभिव्यक्ति के लिये भाषा एक महान साधन है। इसके प्राचीनतम और श्रेष्ठतम प्रतीक ध्वनि द्वारा सघटित वे रूप हैं जो मानव विकास के साथ-साथ विकसित होते चले आ रहे हैं और जो समय समय पर यत्र तत्र विकीर्ण रूप में मिलते रहते हैं। भाषा और मनुष्य का विकास सदा से अन्योन्याश्रित रहा है। ज्यो ज्यो मनुष्य जगत के अर्थ की गहनता और विस्तार मे प्रवेश करता गया त्यो त्यो उसकी अभिव्यक्ति के लिये उसका यह भाषा रूपी साधन अधिक सबल और सक्षम होता गया। इसी प्रकार मानव ने भी भाषा के माध्यम से जगत के गूढतम अर्थ को समझकर अपना विकास किया। भाषा के द्वारा मनुष्य ने जीवन के गभीर रहस्यो को खोजा, उनके तत्वों पर चिन्तन-मनन किया, और उन्हे जीवन के व्यवहार योग्य बनाने के लिये भावो और विचारो की सृष्टि मे स्थापित किया।

सृष्टि और सस्कृति के विकास के साथ ज्यो ज्यो भाषा मे विकास हुआ, वह अधिकाधिक व्यवहार योग्य होती गई, उसके रूप मे परिवर्तन होता गया। ध्वनि और अर्थ मे अधिकाधिक साम्य होता गया। भाषा मे अर्थ की स्थिति स्थापना के हेतु विविधता और रूपात्मकता बढी। पृथ्वी पर अनेक जातियो की सृष्टि हुई, उनका विकास तथा प्रसार हुआ। उनके विकास और ह्रास के साथ उनकी भाषा का भी विकास और ह्रास होता गया। अनेक जातिया कही कही अपनी भाषा के अवशेषो को सुरक्षित भी कर गई। इनमे उच्चारण ध्वनि सबसे प्राचीन और परम्परागत अवशेष रहा और उसके पश्चात् रूप। ध्वनि और रूप मे भाषा के विकास का इतिहास छिपा है। इस इतिहास मे भाषा और उसको बोलने वाली जाति के उद्गम, विकास, ह्रास, परिवर्तन आदि अनेक स्थितियो की खोज की जा सकती है। भाषा के इतिहास मे मानव जाति के इतिहास का भी उद्घाटन होता है। भाषा की स्थिति—उसका उद्गम, विकास, ह्रास आदि उसके बोलनेवालो पर निर्भर करती है। बोलनेवालो की उच्चारण और रचना–सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ तथा उन पर प्राकृतिक सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि प्रभावो के कारण भाषा की शक्ति न्यूनाधिक होती रहती है। इनके द्वारा भाषा के उद्गम, विकास, ह्रास, परिवर्तन आदि को सक्रिय पोषण मिलता है। ये ही प्रवृत्तिया जब किसी भाषा की अपनी हो जाती है तो भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व सामने आ जाता है। अत. हमे यह खोजना है कि वे कौन सी भाषा प्रवृत्तिया हैं जो राजस्थान की अपनी हैं।

भारत के जिस प्रदेश को हम आज राजस्थान कहते हैं: वह भाषा की दृष्टि से कोई पूर्ण इकाई नहीं हो सकती। राजनैतिक सीमाएँ भाषा की सीमाओं से बहुत कम मेल खाती हैं। एक ही भाषा की सीमा मे दो राजनैतिक सीमाएँ देखी जाती हैं। भाषा की सीमाएँ उनके बोलने वाले लोगों के ऊपर निर्भर करती

हैं। इस दृष्टि से राजस्थान भाषा पुरातत्त्व की खोज यहा पर रहने वाली आदिम जाति के आधार पर ही की जा सकती है। यहा के आदिम निवासियो की भाषा, जीवन, व्यवहार आदि, प्राचीन निवास स्थानो के नाम तथा अन्य अनेक प्रकार के उत्खनित प्रागैतिहासिक अवशेष राजस्थान भाषा पुरातत्व की ओर सकेत करते हैं। आधुनिक बोलियो तक मे ऐसे तत्व मिलते है जो यहा की आदिम तथा अन्य प्राचीन जातियो के भाषा-अवशेष कहे जा सकते हैं और जो राजस्थानी के अक्षुण्ण आधार हैं। राजस्थानी ध्वनिप्रकृति, रूप-योजना, भावाभिव्यक्ति आदि मे प्राचीन तत्व वर्त्तमान है, और इसकी खोज से राजस्थानी ही नही, भारत मे बोली जाने वाली अन्य भाषाओं और उनको बोलने वाली जातियो के इतिहास की रहस्यमय पृष्ठभूमि का उद्घाटन हो सकता है।[1]

राजस्थान की प्राग्-इतिहासिक भूमि पर भी मानव विचरता था, परन्तु यह कहने के लिये हमे प्रमाणो की आवश्यकता है कि इस भूमि पर किसी आदि मानव का उद्भव हुआ हो। जो अवशेष या अन्य सामग्री अब तक उपलब्ध है उससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान भी प्राग्-ऐतिहासिक युग से अनेक जातियो के उत्थान-पतन की भूमि रहा है। आज से कई हजार वर्ष पूर्व राजस्थान मे अर्वलि पर्वत मालाओ से विशाल समुद्र स्पर्श करता था,[2] जिसके अवशेष आबू पर्वत श्रेणी मे विद्यमान हैं। दक्षिण राजस्थान तथा बीकानेर का एक भाग आज भी 'बागड' कहा जाता है, जिसका अर्थ समुद्रतट की कछार भूमि से होता है। ऋग्वेद की रचना के समय राजस्थान का बहुत बडा भाग समुद्र मे निमग्न था और यही पर सरस्वती नदी हिमालय से निकल कर समुद्र मे मिलती थी।[3] यह समुद्र पजाब के पूर्व से लेकर गगा के मैदान मे लहराता था। इसका उल्लेख ऋग्वेद की ऋचाओ मे मिलता है। आधुनिक भूतत्त्व अनुवीक्षण से भी इस कथन की पुष्टि होती है कि तृतीय भूस्तर युग (Tertiary Era) मे आधुनिक राजस्थान मे और मध्य-तृतीय भूस्तर उत्थान युग (Miosene Epoch) मे गगा के मैदान मे समुद्र लहराता था। भूतत्त्व शास्त्री प्रमाणो से यह भी स्पष्ठ है कि भारत मे मध्य तृतीय भूस्तर उत्थान युग (Miosene Epoch) और प्रस्तरोदक्त उत्थान युग (Paleosene Epoch) के समय मानव वर्त्तमान था।[4] सम्भव है यह मानव राजस्थान का भील अथवा उसी का कोई आदि पुरुष रहा है, जो इसी समुद्र के तट पर विचरता हुआ पूर्व मे, और फिर दक्षिण मे बढा और वहा से पूर्वी द्वीपो तक चला गया। जहा आज हिन्दमहासागर लहराता है। वहा सिक्तप्रस्तरोदक्त उत्थान युग (Permian Epoch) मे एक हिन्द महासागरीय (Indo Oceanic) महाद्वीप था। दक्षिण अफ्रीका और भारत। मिसलेन युग (Mislane Epoch) के अन्त तक एक ही भूमि तट से

---

1. We have thus the Primitive-Negreto tribes, probably the most ancient people to make India their homes . . Then these were followed by Austric tribes from Indo-China, and these in their turn by Dravidians from the west. The Aryans next followed and from the North-East and North came Tibeto-Chinese tribes." S. K Chatterji—Indo—Aryan and Hindi P. 2.
2. Avinash Chandra—Rigvedic India P. 7
३. वही पृ० ७
४. वही पृ० ५५६—५७

जुड़े थे और यह महाद्वीप भी इस युग के उत्तरकाल तक मलयन (आधुनिक मलय आदि प्रदेश) से संबद्ध था।[५] मलयनलोग जो पूर्वी द्वीपो मे जाकर बसे उन्हे आज पोलिनेशियन भाषा समूह मे रखा जाता है। इसके साथ मलयन लोगो को मिलाने से यह पूरा समूह अब मलय-पोलिनेशियन-भाषा-समूह कहा जाने लगा है। राजस्थान भाषा पुरातत्व की खोज मे इस समूह की भाषा के प्राचीन और मूल तत्त्वो का अध्ययन भी अपेक्षित होगा। इन द्वीपो मे एक अति प्राचीन जाति है जिसको काकेशियस जाति कहा जाता है जो अति प्राचीन काल मे ही यहा आकर जम चुकी थी। इस जाति और भील जाति मे कुछ ऐसी समानताएँ लक्षित होती हैं जो इनके प्राचीन सम्बन्ध की ओर सकेत करती है। इनके रीति-रिवाज और भाषा-प्रवृत्तियों की समानता इनके हजारो वर्षो के प्राचीन सम्बन्ध की द्योतक है।[६] भीलो के समान ही उनकी साधारण वेश-भूष। होती है जो उनका अधोभागढकने के लिये पर्याप्त होनी है—कपड़े या पत्तो की। विशेप अवसर या पर्व के समय स्त्रिया कधो को ढकती है और पुरुप वृक्ष की छाल का कपडे जैसा बनाकर पहनते है। यह कपडा 'टप' (Tapa) कहलाता है। यह 'टप' शब्द भीली-राजस्थानी से मिलता-जुलता और लगभग समा-

5. "India, South-Africa and Australia were connected by an Indo-Oceanic Continent in the Perminian epoch, and the two former countries remained connected (with at the utmost only short interruption) up to the end of the Mislane Period. During the later part of the time this land was also connected with Malyan "—Quarterly Journal of the Geological Society vol, XXXI P. 540.

6. "Joseph Demper declares the Polynesians a separate ethnic group of Indo-Pacific area, and in this view he is followed by A. K Keane, who suggests that they are a branch of Caucasic division of mankind who possibly migrated in the Neolithic period from Asiatic mainlands. Of the migration itself no doubt is now left, but the first entrance of the Polynesians must have been an event so remote that neither by traditions nor otherwise can it be even approximately fixed. The journey of these Caucasians would naturally be in stages The earliest halting place was probably Malaya Archipelago, where a few of their kin linger in Mantavo Islands on the west coast of Sumatra. Thence at a date within historic times a migration eastward took place. The absence of Sanskrit roots in the Polynesion languages appears to indicate that this migration was in pre-Sanskritic times. The traditions of many of the Polynesian peoples tend to make Savaii, the largest of the Samoan Islands, their anecstral home in the East Pacific and linguistic and other evidences go to support the theory that the first Polynesion Settlement in the East Pacific was in Samoa, and that thence the various members of the race made their way in all directions. Most likely Samoa was the Island occupied by them."

Encyclopaedia Brittanica Vol. II P, 35.

नार्थी है । आधुनिक 'टप' पत्तो का बना हुआ छाते के आकार का होता है, जो धूप से बचने के लिये काम मे आता है । आजकल राजस्थानी मे 'टप' गाडी या तागे के ऊपर के आच्छादन को भी कहते हैं । इधर झाबुआ के भीलो मे 'टप' शब्द का प्रयोग अधोवस्त्र के लिये ही होता है । भीलो के समान ही इन लोगो मे शरीर पर गोदने की प्रथा है । सामाजिक व्यवस्था मे भी एक प्रकार की समानता देखी जाती है । इसमे परस्पर वर्ग और श्रेणी मे आदर सम्मान की भावना बडी तीव्र है । उच्च श्रेणी या मुखियो के आदर के लिये भाषा मे विशेप प्रयोग होते है, जैसे--

'आना' के अर्थ मे--

१ सामान्य व्यक्ति के लिये--सउ (Sau)

२ आदरणीय या बडे के लिये--मलिउ माइ (Malıu mai)

३. पदस्थ मुखिया के लिये--सु सु माइ (Su Su Maı)

४. राजपरिवार के व्यक्ति के लिये--अफिओ माइ (Afıo Maı)

इसी प्रकार मुखिया तथा अन्य आदरणीय व्यक्ति के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिये सर्वनाम मे द्विवचन का प्रयोग होता है । राजस्थानी मे 'आपा' सर्वनाम इसी प्रकार का है । क्रियाओ मे भी 'आ', आव, 'आवो', 'पधारो', 'पधारखा मे आवे' मे वर्ग और श्रेणी का भाव निहित है । राजस्थानी के मूल मे यह भील सस्कृति की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है । अन्य किसी भारतीय भाषा मे यह प्रभाव नही देख पडता । इसी प्रकार राजस्थानी सर्वनामो मे 'थू', 'था', 'थें' और 'आप' (आपा) के भीतर भी वही प्रवृत्ति है । हिन्दी मे जो आदरवाचक का प्रयोग देख पडता है वह राजस्थानी का ही प्रभाव है । मुगल सभ्यता (विशेष कर दरबारी सभ्यता) राजपूत सभ्यता का ही विकसित रूप है । इस प्रकार राजपूत सभ्यता का प्रभाव मुगल सभ्यता के द्वारा हिन्दी पर पडा है । मराठी मे 'आप' का प्रभाव अब भी द्विवचन मे होता है 'आपल्या माणस' ।

उच्चारण सम्बन्धी प्रवृत्तियो मे भी यह समानता देखी जाती है । राजस्थानी में 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण होता है । यह भीली की एक विशेषता है । बोलियो मे यह 'ह' अति अल्प सुनाई पडता है अथवा कही लुप्त भी हो जाता है, कभी कभी उसका स्थान कोई स्वर ले लेता है, जैसे--

सासू	=	हाऊ
सास	=	हाए
देवीसीग	=	देवी-ग'

यह भीली प्रभाव है । अर्वलि से लेकर दक्षिण मे खानदेश और पूर्व मे विन्ध्य और सतपुडा की उपत्यकाओ मे भीली प्रदेश मे यह प्रवृत्ति वर्त्तमान है । राजस्थान और गुजरात--जहा इनके राज्य विस्तृत थे इस प्रवृत्ति से पूर्णत प्रभावित हैं । शको की भाषा मे इस प्रवृत्ति के होने के कारण ग्रियर्सन ने इसको शक प्रभाव माना है, परन्तु शको मे और इनमे इस प्रवृत्ति का स्रोत एक ही है और उसका मूल स्थान है काकेशिया, जहा से दोनो के पूर्वजो ने प्रसार किया । भील हूणो से प्राचीन हैं । यही प्रवृत्ति सामोग्र

(Samoa) के आस पास के द्वीप समूहों मे वर्त्तमान है।[७] इसी प्रकार इन दोनों में दन्त्योष्ठ्य व् (V)[८], और द्वयोष्ठ्य व् (W)[९] भी वर्त्तमान है।

भील भारत की उन प्राचीनतम जातियो मे से है जो रामायण और महाभारत युग से भी पहले वर्त्तमान थी और अर्वलि, विन्ध्या तथा सतपुडा के प्रदेश इनके निवास स्थान थे। पूर्व मे जहा पूर्वी द्वीप समूहो तक उनका सम्वन्ध था इसी प्रकार पश्चिम मे काकेशिया और फिनिशिया तक भी इनका सम्बन्ध रहा है। भाषा तत्त्व के आधार पर इसको खोजा जा सकता है। भारत की प्राग्-एतिहासिक जातियो के उद्गम या विकास की भूमि राजस्थान का वह भूखण्ड भी है जिसको अर्वलि कहा जाता है। इसी प्रदेश मे उसी आदिम जाति के निवास स्थान है जिसको भील कहा जाता है। भीलो की अपनी भाषा यद्यपि आज नष्ट हो गई है और वे आर्य भाषा ही बोलते हैं फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व उसमे वर्त्तमान हैं जो उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं। अर्वलि मे बिखरी हुई बस्नियो का प्रान्त अति प्राचीन काल से 'मगरा' कहलाता है। यह 'मगरा' शब्द भाषा पुरातत्त्व की दृष्टि से विचारणीय है। राजस्थानी मे इसका अर्थ पहाड होता है और उसी से उसका पहाडी प्रान्त से भी अर्थ लिया जाता है। इसका सम्वन्ध इजिप्टो-फिनिशियन शब्द 'मगरोह' से है, जिसका अर्थ उन भाषाओ मे भी पहाड ही होता है। इसी आधार पर फिनिशिया के एक प्रान्त का नाम 'वाडी मगराह' (Wady Magrah) मिलता है, जिसका अर्थ फिनिशियन भाषा मे पहाडी प्रान्त से ही होता है। वाडी शब्द की व्युत्पत्ति वाटिका से मानकर उसका अर्थ किसी छोटे बाग-बगीचो से लिया जाता है, परन्तु राजस्थान-गुजरात मे प्राचीनकाल से ही इस शब्द का प्रयोग निवास, बस्ती, प्रान्त, सीमा आदि अर्थों मे होता आया है, जैसे--

१. प्राचीन वडी जातियो की वस्तियो और सीमाओ के द्योतक–भीलवाडो, मेरवाडो, मेवाड आदि।

२. अन्य स्थानीय विशेषताओ वाली बस्तियो के द्योतक–मारवाड, ढूंढाड, खैराड, (आड<वाड) आदि।

३. उत्तरकालीन जातियो और स्थानीय विशेषताओं की बस्तियों और स्थानो के द्योतक–जीलवाडो, केलवाडो, खेरवाडो, बाँसवाडो, सागवाडो, गौरवाड, झालावाड, रीछेड (रीछ+ईड<वीडु) आदि।

४. एक ही गाव या नगर मे भिन्न जातियो के मुहल्लो के आधुनिक नाम—कुम्हारवाडो, तेली-वाडो, मोचीवाडो, कोलीवाडो, भोईवाडो, जाटवाडी, वोहरवाडी आदि।

---

7. "Apart from traditions Samon is the most archaic of all Polynesions tongues and stlll preserves the organic letter S which becomes H or disappeais in nearly all other archipelegos. Thus the terms Sawaii, itself, originally Savaiki is supposed to have been carried by Samsan wanderers over the ocean of Tahiti, Newzealand and the Marquisses Sandwhich groups, where it still survives in such varient forms as Havar,[7] Hawaiki,[8] Havaiki[9] and Hawaite.[7] "

Encyclopeedia Brittanica Vol. XXIV P. 115-11th Ed.,

इनमे एक ही शब्द के वाड, वाडो, वाडी, बीडु चार रूप हैं, जो स्थान और सीमा के द्योतक है अ फिनिशियन वाडी (Wady) के समानार्थी हैं। 'मगरा' शब्द पर विस्तारपूर्वक विचार करने से हमारा ध्या पूर्व की ओर मगध और वहा से वर्मा के अरकान पहाडी प्रदेश मे बसी हुई अति प्राचीन जाति 'मग' क ओर आकर्षित हो जाता है और कुछ ऐसा लगता है कि इजिप्टो-फिनिशियन 'मगराह' राजस्थानी मर बिहारी 'मगधरा' और 'अरकान' के 'मग' मे 'मग' तत्व मे ध्वनि-साम्य के साथ कोई अर्थसाम्य भी है

इस प्रकार 'मगरा' से भीलो का सम्बन्ध पश्चिम मे एशिया माइनर और पूर्व मे अरकान तक कहा जाता है। वाड, वाडो, वाडी, वीडु शब्दो से इनका सम्बन्ध पश्चिम मे एशिया माइनर और दक्षिण मे तमिलनाड (>तमिल्लवाड) से स्थापित होता है। तमिल से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य प्राचीन भीली शब्द पाल, पाली, पालवी हैं, जो द्रविड से ध्वनि-साम्य और अर्थ साम्य रखते है। भीलो मे इनका अर्थ क्रमश. सीमा, बस्ती और मुखिया होता है। तमिल मे 'पल्ली' शब्द भीली 'पालवी' का समानर्थी है। इस प्रकार 'वाड' (वीडु) और पाल (>पल्ल) प्राचीनतम शब्द हैं और प्राचीनतम भाषावशेष भी, जिनका सम्बन्ध राजस्थान से अति प्राचीनकाल से चला आया है।

इस प्रकार अर्वलि (>अर्+वल्लि) और अर्वुद (अर्+वुद्ध) मे अर् का अर्थ भी पहाड होता हैं। 'अर्' के समानार्थी फिनिशिया मे 'अर्दस' (पहाडी प्रदेश) यूनान में, 'अर्कादिया'(Arkadia)= पेलोपोनीज का एक पहाडी प्रान्त और वर्मा मे 'अरकान' नामो मे 'अर्' तत्व वर्त्तमान हैं।-अर तत्त्व की प्राचीनता और भीलो का उसके साथ सम्बन्ध इससे स्पष्ट होता है और यूनान तथा फिनिशिया से लेकर अरकान तक किसी एक साम्य-सम्बन्ध का सकेत मिलता है। यह शब्द 'मगरो' के बहुत पीछे का है और सम्भवत आर्य भाषा का शब्द है।[10] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भील आर्यो से बहुत पहले इस देश मे वर्त्तमान थे और यहा आ चुके थे-अथवा यहा से अन्य देशो मे गये हो।

१०—सस्कृत मे 'अर्' शब्द का प्रयोग पहाड के लिये ही हुआ है, पर भारत मे इस प्रान्त को छोडकर शायद कही भी पहाड के लिये 'अर' शब्द का प्रयोग नही हुआ है। सम्भवत 'अर' शब्द सस्कृत मे बहुत पीछे स्वीकृत हुआ होगा। आबू पर्वत मे आबू शब्द का विकास अर्वुद से माना जाता है। अर्बुद अर्+वुद। यहाँ कुछ लोगो ने वुद शब्द का सम्बन्ध फारसी 'वुत' जो स्थापित किया जो ठीक नही है। वुद शब्द 'भुज' का अपभ्रश है। भुज के 'भ' मे महाप्राण लोप होकर 'व' हुआ और 'ज' का द' मे परिवर्तन हुआ- जैसे—कागज का कागद। इधर 'अर' शब्द का अर्थ पहाड स्पष्ट होने पर भी डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने थीसिस 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' मे लोक प्रचलित कथन के आधार पर अर्वलि शब्द की व्युत्पत्ति 'आडाव [illegible] डा+ [illegible] से मानी है। यह उलटी व्युत्पत्ति मान लेने पर अर्वुद की व्युत्प [illegible] सम्बन्ध हाड >पहाड से है वला, वलि, वल शब्दो का अर्थ। [illegible] अर्वलि का ही अपभ्रंश रूप है जिसका अर्थ [illegible]

भारत मे आदिम जातियो के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध मे दो पक्ष हैं। एक पक्ष का मत है कि भारत की आदिम जाति का उद्‌भव भारत मे ही हुआ[11] 'वह कही बाहर से नही आई।[12] दूसरे पक्ष का मत है कि भारत में किसी भी आदिम मानव का उद्‌भव नही हुआ। वह दक्षिण अफ्रीका से आया यह निग्रो-बटु परिवार से सम्बन्धित निग्रोइड (Negroid) या नेग्रिटो (Negrito) कहा जाता है।[13] इस नेग्रिटो जाति के लोग बौने और काले रग के थे। उनका कपाल दीर्घ, नाक चौडी और ठुड्डी ऊ ची होती था। ये लोग भूमि पर से चुने हुए अन्न से अपना निर्वाह करते थे। इसी तरह ये भोजन की खोज मे विचरते हुए अरब और ईरान के समुद्र तटो पर होते हुए भारत मे आ पहुँचे। लगभग सात हजार वर्ष पूर्व उषः प्रस्तर युग (Eolithic) मे इन लोगो ने भारत मे प्रवेश किया। समुद्र तट के मार्ग मे होकर आने के कारण आबू के आस पास के पहाडी प्रदेश मे इन लोगो ने अपना निवास किया होगा, क्योकि उसके आसपास समुद्र तट था। इनको न तो खेती का ज्ञान था और न पशु पालन का। ये लोग भोजन की खोज में आये और पूर्व मे बडते-वढते अदामान द्वीपो तक पहुँच कर वहाँ वस गये। वहाँ आज भी उनकी कुछ बस्तियाँ है; जिनमे उनकी अपनी ही भाषा बोली जाती है। इन लोगो मे से जो लोग राजस्थान मे रह गये उनका क्या हुआ, यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। इसके लिये भाषा पुरातत्व में अवशेषो की खोज की जा सकती है। यह सम्भव है कि इनके पीछे आने वाली जातियो के द्वारा ये लोग तितर-बितर कर दिये गये हो अथवा उन्ही मे मिल गये हो। निग्रोबटु भाषा प्रवृत्तियो के आधार पर यह खोज सम्भव है। बन्टु परिवार की भाषाए पूर्व-प्रत्यय सयोगी (Prefix-agglutinating) होती हैं और इनमे व्याकरणिक लिंग-भेद नही होता। जिस प्रकार पूर्व मे आसाम मे तिब्बत-बर्मा परिवार के अन्तर्गत नाग जाति के लोगो मे 'निग्रोबन्टु' अवशेष मिलते हैं। उसी प्रकार पश्चिम मे भी बलूचिस्तान के दक्षिण मे इन जातियो के अवशेष अब भी वर्तमान हैं। प्राचीन काल मे उदयपुर के आसपास के पहाडी प्रदेशो में नागो की बस्तियाँ थी जिसके अवशेष उदयपुर के पास नागदा गांव मे मिलते हैं। असम की सीमा पर बोमडिला, लाठीटिला आदि ला अन्तवाली नागो की बस्तियों के समान बस्तियो के नाम राजस्थान के इस प्रान्त मे (और अन्यत्र) भी मिलते हैं, जैसे—वेदला, ऊ ठाला, पोटला, रायला, गटीला, गुडला। इन नामो के आधार पर यहाँ के लोगों की बोलियो मे प्राचीन भाषा तत्त्वो के अवशेष प्राप्त हो सकते है।

नेग्रिटो लोगो के पश्चात् भारत मे प्रवेश करने वाली जाति प्राथमिक दक्षिणाकार (Proto-Australoid) मानी जाती है। ये लोग काले और मध्यम कदवाले थे। इनका ललाट ऊंचा और मुंह तथा नाक

---

11. "So far as known the bulk of population of India has been stationery"
—Dr. Hodden-'Wonderings of the People-P.25.

12. "The earliest political event in India to which an approximately correct date can be assigned is the establishment of the Shaishunag dynasty of Magadh about 642 B C."
—V.A Smith-Early History of India'. Introduction P. 2.

13. "We have thus the Primitive Negrito tribes, probably the most ancient people to mak India their homes; no proof has yet been found that a man of any type had evolved from some kind of anthropoid ape on the soil of India.
—S.K. Chaterji-Indio Aryan and Hindi'.—P.2.

चौडे थे। भीलो को भी इन्ही का वशज माना जाता है। भील >भिल्ल जाति को नृतत्व विशेषज्ञो ने राजस्थान की आदिम जाति माना है।[14] परन्तु डा० चाटुर्ज्या के मत के अनुसार वे बाहर से आयी हुई इस प्राथमिक दक्षिणाकार जाति के वशज थे और ये भारत मे आर्यो से पूर्व ही आ चुके थे। आर्यो द्वारा ये निषाद कहे जाते थे—'इस निषाद जाति के लोगो ने भारत की कृषि मूलक सभ्यता की नीव डाली थी। गगा की उपत्यका मे इनकी बस्ती ज्यादातर हुई थी, और वहाँ ये लोग धीरे-धीरे द्रविड तथा आर्य लोगो से मिल गये इनकी उपजातियाँ थी, जिनमे दो मुख्य थे 'भिल्ल' और 'कोल्ल' लोग—जिनके उत्तर पुरुष ये हुए—राजपुताने और मालवे के 'भील' लोग और मध्य भारत तथा पूर्व भारत के कोरकु, सन्थाल, मुन्डारी हो, शवर, गदब आदि कोल जाति के मनुष्य'।[15] ये भील-कोल आज भी राजस्थान और मालवा मे अर्वलि पहाडो की उपत्यका मे तथा दक्षिण मे इसी से सम्बन्धित पहाडियो मे खानदेश तक और विन्ध्याचल के पहाडो और जगलो मे बसे हुए हैं।

इन भीलो की यद्यपि आज अपनी कोई भाषा नही है और जो भाषा ये लोग बोलते हैं वह राजस्थानी—आर्य भाषा ही है जो थोडी बहुत स्थानीय विशेषताओ के साथ पूरे भीली प्रान्त मे बोली जाती है। इनकी इस भाषा का प्रभाव आस-पास की स्थानीय भाषाओं पर भी देख पडता है[16] इसमे कुछ प्राचीन तत्व अवशेष के रूप मे वर्त्तमान है जो किसी स्वतन्त्र आर्येतर बोली के अवशेष हैं। ये अवशेष दो रूपो मे पाये जाते हैं।

१. ध्वनि (उच्चारण) सम्बन्धी, और

२ रूप (शब्द) सम्बन्धी

यह भीली प्रभाव राजस्थान की भाषा पर भी व्यापक रूप मे देख पडता है, जिसके कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। और आगे भी दिये जायेंगे। इन भीलो मे से कई अपने को क्षत्रियो के वशज (राजपूत) बतलाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि किसी समय राजस्थान और गुजरात मे

---

14. 'Taking them as we find them now, it may be safely said that their present geographical distribution, the marked uniformity of physical characters among the more primitive members of the group, their animistic religion, their distinctive languages, their stone monuments, and their retention of a primitive system of totemism justify us in regarding them as the earliest inhabitants of India of whom we have any knowledge"

—H.H Risly, 'Ethnology and Caste'–Imperial Gazetteer of India (1) 299.

१५. 'राजस्थानी' पृ० ३७-३८।

१६ भील लोग मध्य भारत तथा विन्ध्या और सतपुडा की घाटियो से बढ़ते हुए दक्षिण मे खान देश तक फैले हुए हैं और इनकी उच्चारण प्रवृत्ति का प्रभाव मराठी और गुजराती पर प्रबल है। सु.कु. चाटुर्ज्या,

इनके राज्य वर्त्तमान थे और कुछ तो स्वाधीनता के पूर्व तक वर्त्तमान थे। दूसरा कारण भीलों और राजपूत जातियो का परस्पर मिश्रण है,[१७] जिसने व्यापक रूप मे राजस्थानी के निर्माण का काम किया।

डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार भील और कोल के आदि पुरुष आग्नेय (Austric) जाति के लोग थे। यह जाति हिन्द-चीन की ओर से आने वाली 'प्राथमिक आग्नेय' (Proto--Australoid) जाति से इस देश मे आदि कृषक के रूप मे विकसित हुई। आग्नेय लोगो के पश्चात् द्रविड और द्रविड़ो के पश्चात् आर्य लोगो ने भारत मे प्रवेश किया। आर्य साहित्य मे जिस निषाद जाति का उल्लेख मिलता है वह आग्नेय जाति ही थी। इसी निषाद जाति के वशज अर्वलि की पर्वत श्रेणियो और मालवा की पठार भूमि मे बसे हुए भील माने जाते है[१८]। मध्य और पूर्व भारत की कोरकू, सन्याल, मुन्डारी, हो, गदब, शबर आदि जातियाँ कोल जाति से विकसित मानी जाती है। कोल भी इन निषादो के ही वशज थे। इस प्रकार इन सभी जातियो मे एक वश-परम्परा है। इस कारण इनकी भाषा-प्रवृत्ति मे कही कही साम्य-प्रभाव लक्षित होता है। डा० ग्रियर्सन ने अपनी भाषा सर्वे मे भारत की कोल और मुडा श्रेणी की भाषाओ, असम और मोनख्मेर जाति की 'खसी' भाषा भारत-चीन तथा भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के द्वीप-समूहो की भाषाओ को आग्नेय (Austric) भाषा से विकसित माना है। परन्तु भीली का उल्लेख उन्होने इसके अन्तर्गत नही किया।

---

१७. (क) राजस्थान के भील अपने को क्षत्रीय-वशी मानते हैं। मेवाड के भोमट प्रान्त मे पान रवा का भील राज, जो राणा की उपाधि से विभूषित है, वह भोमिया भील है और सोलकी कहलाता है; क्योकि उसमे क्षत्रिय का मिश्रण है—Tod–"Annals", Vol. P185.

(ख) विध्यप्रदेश के भिलाड भी इसके उदाहरण हैं–Bhilads : Closely related to Bhils, Pathas and other tribes which inhabit the Vindhyas and Satpuldas. They claim however Rajput descent and are considered to be of higher status than their neighbours The Bhumias or allodial proprietors of this hilly tract are all Bhilads .According to traditions their ancestors lived at Delhi. They were 'Chauhans and members of the family of Prithviraj. When the Chauhans were finally driven out from Delhi by Mohammadons (by Muiz-ud-din 1192 A.D.) 200,000 migrated to Mewar and settled at Chittor On the capture of Chittor by Allahuddin in 1303 A.D. a large number of them fled to Vindhya hills for refuge. Here they married Bhil girls and lost their caste "

—L.J. Blunt,'As short Bhili Grammar of Jhabua State and adjoining territories.

१८. भील की उत्पत्ति के विषय मे कई कथाए प्रचलित हैं, जिनमे से तीन अत्यधिक प्रसिद्ध है। इनमे से एक उनका निषाद से सम्बन्ध स्थापित करने वाली भी है:—

१. पहली कथा राम और धोबी की है। इसमे उक्त धोबी अपनी बहन से विवाह कर लेता है। उसके सात लडके और सात लडकियाँ उत्पन्न हुई। राम ने पहले लडके को घोडा दिया। वह उसको चलाने मे असमर्थ रहा और जगल मे लकडियाँ काटने चला गया। भील उसी के वशज है।

सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से आर्य जाति का जैसा प्रभाव इस देश पर पडा वैसा बाहर से आने वाली किसी भी जाति का न पडा। आर्यों मे समन्वय की जो महान् शक्ति थी वह प्रत्येक परिस्थिति मे प्रबल और सक्रिय बनी रही। सम्भवतः उक्त भीलो अथवा उनके आदि पुरुपो की जो भी भाषा रही होगी उसका समन्वय धीरे धीरे आर्य भापा मे हो गया। इसमे सन्देह नही कि आर्य जाति और उसकी सस्कृति तथा भाषा मे एक ऐसी शक्ति रही कि जिन जिन जातियो ने इस देश में प्रवेश किया तथायहाँ आकर जम गई उनकी सस्कृति और भाषा को अपनी संस्कृति और भाषा मे मिला कर एक कर लिया। भापा इस समन्वय का प्रथम और प्रधान साधन रहा है। यही कारण है कि भौगोलिक दृष्टि से एकता रखने वाले इस देश की अनेकता मे भी एकता बरावर बनी रही है। आर्यो की भावनात्मक और विचारात्मक स्तर उच्च कोटि का होने के कारण आर्य सभ्यता और सस्कृति का प्रभाव यहाँ की अन्य जातियो पर पड़ने के कारण इस एकात्मकता का विकास हुआ और उसकी अभिव्यक्ति भी उसी के अनुकूल भाषा मे हुई। भारतीय आर्य सभ्यता और सस्कृति के भीतर यहाँ के आदि वासियो अथवा बाहर से आने वाली प्राचीनतम जातियो के विकसित युग की सभ्यता और सस्कृति के अवशेष वर्तमान हैं। इन्ही के सम्मिश्रण से भारतीय सभ्यता और संस्कृति का निर्माण हुआ। भील जातियो मे जो धार्मिक प्रथाएँ वर्तमान हैं वे हिन्दू सस्कृति की द्योतक होते हुए भी आर्यों की वैदिक रीतियो के अनुकूल नही है। आग्नेय जाति के पश्चात् जो जातियाँ भारत मे आई वे एक दूसरी से अधिक विकसित, सभ्य और सवल थी और ये लोग अपने साथ जो भी भापा लाये उसकी अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ, ध्वनि और रूप आदि का मिश्रण यहाँ की भाषा के साथ हुआ। मध्य और पूर्वी राजस्थान पर पहले भीलो का प्रभाव था। पीछे से आने वाली जातियो ने इन्हे जगल की ओर खदेड दिया। जिससे ये सिकुड कर अर्वलि और अन्य पर्वत मालाओ की उपत्यकाओ मे सीमित हो गये। ये लोग उत्तर प्रस्तर काल (Neolithic slage) मे भारत मे विकसित हुए और ताँवे और लोहे का प्रयोग आरम्भ किया खेती करने का ढग इनमे आदिम प्रकार का था। भूमि खोदने के लिये जब ये लोग लकडी का प्रयोग करते

---

२. सात मनुष्य महादेव के पास गये। पार्वती ने महादेव से कहा कि ये मेरे भाई हैं। मेरा आपके साथ विवाह होने के उपलक्ष मे ये आपसे 'दहेज-दापा' लेने आये हैं। महादेव ने उनको भोजन कराया और अपना नान्दी तथा कमण्डल दे दिया। जाते समय उन्होने उनके मार्ग मे कुछ और देने के लिये एक चाँदी पाट भी बिछा दिया, पर उस पर उनकी दृष्टि नही पडी। पार्वती ने कहा कि तुम अवसर चूक गये, नही तो तुम्हारा भाग्य खुल जाता। फिर भी नान्दी का ध्यान रखना। उसकी कूबड मे धन का भण्डार है। पार्वती का सकेत नान्दी से हल हाँक कर पृथ्वी से धन-धान्य उत्पन्न करने की ओर था, पर वे न समझ सके। उनमे से एक ने नान्दी को मार डाला। पार्वती ने क्रुद्ध होकर शाप दिया, जिससे वे भील हुए।

३. तीसरी कथा पौराणिक है। मनु स्वयभू वशज अ ग का पुत्र वेण नि सन्तान था। अत. ऋषियो ने उसकी जाँघ को रगड कर एक पुत्र उत्पन्न किया जो जले हुए लकर्डा के डीगे के समान काला था। उसका कद बौना और नाक चपटा था। उसको बैठने के लिये 'निपाद' कहा गया। वह बैठ गया और 'निषाद' कहलाया। इसी के वशज निषाद कहलाये जो विन्ध्य पर्वत मे रहते हैं।

रामायण, महाभारत, हरिवशपुराण आदि मे भी इसी प्रकार की कथाए मिलती हैं।

–L. Jung Blunt 'A short Bhili Grammar of Jhabua State and adjoining territories.'

थे तब उसके नाम का आदिम *लक् या *लेक (*lak *lek) था। इसी से विकसित *लग, *लॅग, *लिग (*lang, *leng, *ling) रूप हुए। आगे चलकर यह लक्–लिंग, लकु-लिंग, लेक-लिंग रूपो मे विकसित होकर लकुटीश, लकुलीश, एकलिंग आदि रूपो मे मिल कर देवता के रूप मे स्थापित हुआ[१६]। लकुटीश या लकुलीश शिव रूप मे स्थापित हुआ और मेवाड के राजवंश द्वारा उसकी पूजा होने लगी। यही लकु-लीश नाम एकलिंग के रूप मे इसी वश द्वारा स्थापित होकर कुल देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ।[२०] एकलिंग की यह मूर्ति गोभिल्ल (गौ+भिल्ल) द्वारा पालित-पोषित गुहिल-वप्पा (गुहिल ∠ गोहिल ∠ गोहिल्ल ∠ गोभिल्ल, ∠ गौ+भिल्ल) के राज्य स्थापित करने के पूर्व जहाँ स्थित थी वहाँ पहले भीलो का ही राज्य था और उपर्युक्त हल के रूप मे प्रयुक्त आदिम 'लेग-लिंग' से 'लकुटीश' का सम्वन्ध था।[२१]

राजस्थान की भाषा मे भीली तत्व के पश्चात् द्रविड़ तत्व मिलता है। द्रविडो का भूमध्य सागर के पूर्वी प्रान्तो से आगमन हुआ। यह धारणा अब अत्यधिक मान्य है। बलूचिस्तान की ब्राहूई भाषा मे द्रविड़ वर्तमान है, जो किसी समय उनके वहाँ होने का प्रमाण है। द्रविड़ भीलो के पश्चात् और आर्यों के पूर्व भारत मे आये और राजस्थान तथा पजाब मे फैले। इससे राजस्थान के भील पहाडो मे दवते चले गये। फिर आर्य प्रसार के कारण द्रविड भी दक्षिण की ओर उतर कर फैल गये, जो अब तमिल मलयालम, कन्नड, हुगेड, कोडगु, तुलु, तेलुगु, गोड आदि द्रविड परिवार की भाषाओ का प्रदेश है।

अब यह मत सर्वमान्य है कि द्रविड भी आर्यो के समान बाहर से आकर यहाँ वसे। ये लोग आर्यो से पहले ही पश्चिम से यहाँ आ चुके थे। वीलियम क्रूक ने अपने ग्रन्थ 'कास्ट्स् एण्ड ट्राइब्ज मे इस धारणा का प्रसार किया कि द्रविड़ लोग अफ्रिका महाद्वीप से भारत मे आये। इस विषय पर थर्सटन ने 'कास्ट्स् एण्ड ट्राइब्ज आफ साउथ इण्डिया' मे तथा रिसले ने 'द पीपुल आफ इन्डिया' मे विस्तृत व्याख्या करते हुए द्रविड़ और निग्रो-बन्टु परिवारो मे समानता स्थापित की। ए० एच० कीने ने इस धारणा को स्वीकार किया। इधर टोपीनार्ड ने द्रविडो का सम्बन्ध जाटो से जोडने की धारणा प्रस्तुत की। परन्तु विशप काडवेल (ई० १८५६) तथा प्रो० टी० पी० श्रीनिवास आयंगर की शोधो ने और मोहनजोदडो की सम्यता की खोद-शोध ने द्रविड़ पर नया प्रकाश डाला। इसके अनुसार द्रविड़ों का मूल स्थान भूमध्यसागर का पूर्वी प्रान्त निश्चित हो गया

१६—देखो—'लोकवार्त्ता', अप्रेल १६४६, वर्ष २, अक २ पृ० ८६— 'कुछ जनपदीय शब्दो की पहचान' वासुदेव शरण अग्रवाल।

२०—विशेष के लिये देखो—ओझा कृत 'उदयपुर राज्य का इतिहास', भाग १, पृ० ३३ और १२५।

२१—ऐसे और भी अनेक शब्द हैं जो इस जाति से सम्वन्ध रखते हैं और जिनका प्रभाव राजस्थानी तथा अन्य भाषाओ मे वर्तमान है; जैसे–कुछ शब्द–नारिकेल (नारेल), कदन, (केल), हरिद्रा (हलद्), वार्तिगण (वागण), अलाबु (फोलो)–विशेष के लिये देखो :–

(1) 'Pre-Aryan and Pre-Pravidian in India (Translated from French Airtcle of Sylarain Levi, Jean Przyluski and Jules Bloch) by Prabodh Chandra Bagchi.

(2) ('The Study of New Indo- Aryan' Journal of the Department letters Calcutta University 1937 P. 20)

और द्रविडो का सम्बन्ध मोहनजोदड़ो की सभ्यता से स्थापित होने लगा। भाषा के आधार पर इस सम्बन्व की पुष्टि की जाने लगी और नई शोधो तथा नये विचारो पर यह स्थापित किया गया कि द्रविड भाषाओ की आकृति मे सश्लेषी (Agglutinating) प्रवृत्ति यूराल—अल्टाइक भाषाओ के समान है।

अब द्रविड–तमिल शब्दो के प्राचीन रूपो की उपकल्पना (hypothesis) और व्युत्पत्ति की व्याख्या की जाने लगी। द्रविड शब्द के प्राचीन रूप* द्रमिज (*Dramiz) और द्रमिल (Dramila) की उपकल्पना कर यह स्थापित किया गया कि द्रविड लोगो का प्राचीन नाम* द्रमिज या* द्रमिल था। इसी प्रकार तमिल का प्राचीन रूप तमिज़ (tamiz) था।[२२] एशिया माइनर के लीसियन लोगो ने अपने शिलालेखो मे अपने को त्रिम्मलि (trmmli) कहा है। लीसियनो के पूर्व पुरुष प्राग्–हेलेनिक युग के क्रीटन लोगो के विषय मे हेरोडोटस ने लिखा है कि वे क्रीट से लीसिया मे अपना प्राचीन नाम 'तरमिलइ' (Termilai) साथ लेकर आये थे (१,१७३)। किन्तु फादर हेरास ने इस वृत्तान्त के केवल त्रिम्मलइ' शब्द को लेकर उन्हे क्रीट का निवासी बताकर 'त्रिम्मइल' और 'तमिल' मे सम्बन्ध स्थापना की खेचतान की है। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार एशिया माइनर के इन प्राचीन लीसियनो तथा प्राग्–हेलेनिक युग के क्रीटनो के नाम से ही द्रमिल, द्रमिड, द्रविड दमिल और तमिल (=तमिज) नाम भारत मे आये।[२३]

डा० चाटुर्ज्या के उक्त मत के आधार मे प्रवेश कर हम उसे कुछ विस्तारपूर्वक देखना चाहेगे। केरिया (Carea) के दक्षिण-पूर्व मे पहाडी प्रान्त लीसिया के लोगो को त्रमिलियन (Tramilians) कहते थे। हेरोडोटस ने उन्हे 'तरमीलियन' (Termilians) लिखा है। इसी प्रान्त के उत्तर पूर्व मे उस समय एक आदिम जाति (Tribe) वर्तमान थी जो मिलयन (Milyan) कहलाती थी। हेरोडोटस के अनुसार इन मिलयनो का पूर्व नाम सोल्यमी (Solymi) था और वे वहाँ के मूल निवासी थे। हेरोडोटस के वृत्तान्त के अनुसार 'तरमीलियन' लोग क्रीट (Crete) टापू से भाग कर आये थे। सरपेडोन (Serpadon) का उसके भाई मेनोस (Menos) के साथ होने वाले संघर्ष मे सरपेडोन इन लोगो के साथ भागा और लीसिया मे आकर शरण ली। हेरोडोटस के अनुसार लीसिया नाम लाइक्स (Lycus) से सम्बन्धित है। लाइक्स एक यूनानी दल का नेता था जो यूनान से निकाल दिया गया था और सरपेडोन के साथ साथ उसने भी इसी प्रान्त मे शरण ली[२४]। लाइकस का यूनान के साथ सम्बन्व होने के कारण यूनानी लोग उस देश को लीसिया कहते थे और लाइकस के साथियो को लीसियन। तरमीलियन शब्द मेरी समझ मे किसी मिश्रण का द्योतक

२२—इन नामो मे आने वाला अन्तिम 'ल्' का उच्चारण विचारणीय है। 'ल' एक द्रव्य ध्वनि है और जिह्वाग्र के प्रयोग से अनेक स्थानो से इसका उच्चारण होता है। आज तमिल मे तीन प्रकार ल्' का उच्चारण होता है। एक सामान्य वर्त्स्य 'ल्' दूसरा मूर्द्धन्य 'ल्' और तीसरा शुद्ध द्रव्य ल जिसके उच्चारण मे जिह्वा का अत्यन्त स्पर्श वर्त्स्य से होता है और वह अग्रेजी Z (ज्) जैसा सुनाई देता है। ऊपर जो 'ज्' लिखा गया है वह इसी ध्वनि का द्योतक है। इधर ल्, ल् का परिवर्तन 'र' और 'ड' मे भी होता है।

23—Indo-Aryan and Hindi—PP 39-40.

(24) Historian's History of the World Vol. II P.418.

है क्योकि यहाँ के लोग अपने को त्रमिलियन (Tramilian) या तरमीलियन कहते थे। स्पष्ट है उनमे तीन जातियो का समुदाय हो अथवा इस प्रान्त मे आने के पश्चात् लीसियन, क्रेटन और यहाँ के निवासी मिलयन, ये तीनो मिलकर त्रिमिलियन कहे जाने लगे हो। इसी प्रकार द्रमिल का सम्बन्ध क्रेटन और मिलयन के प्रथम मिश्रण के समय हुआ होगा।

अब हमे इस दृष्टि से भील और द्रविड सम्बन्ध पर विचार कर लेना चाहिये। भील लोग सम्भवतः इन्ही मिलयन लोगो के समुदाय के हैं जो क्रेटन के मिश्रण के पूर्व और पश्चात् भी अलग-अलग जुटो मे भारत मे आते रहे और समुद्र के किनारे-किनारे होते हुए मलय प्रदेश की ओर बढ गये और वहाँ से पूर्वी द्वीपसमूहों मे सामोआ (Samoa) द्वीप तक फैल गये। लीसिया मे ये मिलयन लोग सम्भवत काकेशिया की ओर से आये तब वे सोल्यमी (Solymi) कहलाते थे। भारत मे आते समय ये लोग वाडी, वीडु, मगरा आदि शब्द एशिया माइनर से लेकर आये और वहाँ के रीतिरिवाजो को भी अपने साथ लाये। इनके बाद मे आने वाले त्रमिल-द्रमिल (Tamil-Damil) का पथ प्रदर्शन इन्होने ही किया। ये लोग सब एक साथ न आकर क्रमश: अलग-अलग आये होगे— पहले मिल, फिर द्रमिल और अन्त मे त्रमिल। पहाड के अर्थ मे 'मगरा' और 'अर' शब्द इन्ही से सम्बन्धित है और उतने ही प्राचीन हैं, जितने ये। इन्ही मे से कई दल पूर्व मे और जिन मैदानो मे बसे वे 'मगहर', 'मगध' आदि नामो से प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर अरकान के पहाडी प्रान्त मे रहने वाली 'मग' जाति इन्ही से सम्बन्ध रखती है। इधर मिल (मिलयन) जो अरकान से दक्षिण मे बढे उनके नाम से मलयन, मलय आदि नाम पडे। उससे आगे पूर्वी देशो मे जो सबसे पहला दल पहुचा वह सोल्यमी (Solymi) नाम अपने साथ ले गया होगा, जो धीरे धीरे इन द्वीपो मे फैल गया। इन्ही 'मिल' लोगो का एक दल त्रमिल-द्रमिल के आगे-पीछे भारत के दक्षिण मे पहुचा, जो मलय प्रदेश कहा जाता है और जिनकी भाषा मलयाली है।

अब इस धारणा को भी हम विस्तारपूर्वक देख लें। भीलो को आग्नेयवशी मानने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि आग्नेय लोगो मे पूजा और आराधना जैसी कोई भावना नही थी जबकि भीलो मे आदि काल से 'लकुल' (लेक-लिग) की पूजा वर्त्तमान थी, जिसका विकास द्रविड-मिश्रण से शिवलिंग पूजा के रूप मे हुआ। शिवशक्ति पूजा की भावना एशिया माइनर की सभ्यता से समानता रखती है जिसका आरम्भिक रूप 'मिल' (मिलयन) लोग भारत मे लेकर आये और उसका परिवर्तित रूप कई वर्षो पीछे द्रविड़ लोगो ने लाकर दिया। शिव को पशुपति और शक्ति को उमा कहा गया है। एशिया माइनर के देवी-देवताओ के नामो मे इन नामो से साम्य रखने वाले नाम 'तेसुप-हेपित' (Tesup-Hepit=पशुपति) और 'मा-अत्तिस्' (Ma--Attis=उमा-शक्ति.) हैं। पशुपति और उमा शक्ति की कल्पना इसी आधार साम्य पर मानी गई है[२५]। ऋषभ तथा उसी से विकसित नाम ऋषभदेव भी इन्ही से सम्बन्ध रखता है। उसी प्रकार अनंत देवता की पूजा से भी इनका सम्बन्ध रहा है। इनकी राजस्थान मे पूजा भी होती है और इन विषयो की

(२५) विशेष के लिये देखो:—
"Protso-types of Shiva in Western Asia."—by Dr. Hema Chandra Ray Choudhuri-in the D.R. Bhandarkar volume pp, 301-304 1940 of the Indian Research Institute, Calcutta.

कथा-कहानियो मे भीलो का बराबर उल्लेख आता है। ऋषभ और अनत इजिप्टोफिनिशियन देवता Reehuf और Anat से साम्य रखते हैं, जो भीलो के साथ ही आये। अन्नदेवता दगोन् (Dagon) < दगन (dagan) इन्ही की भाषा का शब्द था जो दगोन्, >गोदन गोजन, गोजू, गोधूम् तथा दगन्, दृहन, धान आदि रूपो मे विकसित हुआ। बस्तियो के द्योतक शब्द वीड, वाड आदि समाज और शासन व्यवस्था सबधी शब्द पाल, पल्ल, पल्लवी[२६] विल धनुप वेल (∠वे-एल्व=भाला), वाल (∠वाल्व=तलवार) आदि शब्द भीलो की प्राचीन सभ्यता के द्योतक हैं और द्रविड भील मिश्रण की ओर सकेत करते हैं। 'मिलयन' और 'मलयालम्' मे जो साम्य है वह उस ओर इन्ही की शाखा के जाने का सकेत है।

'द्रमिल' और 'त्रमिल' के भारत मे आने पर उनका इस 'मिल' (मिलयन) जाति के साथ सम्पर्क और मिश्रण हुआ। मिश्रण का यह समय धातु युग था, जब 'मिल' लोग 'लकुल' की देवता के रूप मे पूर्ण प्रतिष्ठा कर उसकी पाषाण मूर्त्ति स्थापित कर चुके थे और धनुपबाण तथा भाले और कृपाण का प्रयोग करने लगे थे। इनके सम्पर्क और मिश्रण के बाद 'मिल' शब्द का रूपान्तर 'विल' हो गया जिसका प्रयोग द्रमिल-त्रमिल > द्रविड–तमिज इन धनुर्धारियो के लिये करते थे। दक्षिण मे जम जाने के बाद तमिल भाषा मे इस 'विल' शब्द का प्रयोग 'धनुप' के अर्थ मे रूढ हो गया[२७]। 'विल' की भाँति ही ये लोग 'पल्ली', 'वीडु' आदि अनेक भीली शब्द अपने आप ले गये, जिनका प्रयोग आज तक सभी द्रविड भाषाओ मे किसी न किसी रूप में होता है, और जो इस सम्पर्क और सम्बन्ध के द्योतक हैं। 'विल' शब्द की 'व्' ध्वनि मे महाप्राणत्व होकर 'भ्' होना आर्य-भाषा सम्पर्क का परिणाम है। इसी प्रकार 'ल्' मे द्वित्व होकर 'ल्ल्' होना प्राकृत काल मे द्रविड-उच्चारण के प्रभाव का परिणाम है। इस प्रकार 'मिल' से 'विल' और फिर 'भिल्ल' और आधुनिक 'भील' हुआ।

द्रविड और आर्य ध्वनि-सहति मे एक अन्तर यह है कि आर्य भाषाओ मे जहा महाप्राण ध्वनिया होती हैं वहा तमिल मे अल्पप्राण का ही प्रयोग होता है, क्योकि उसमे महाप्राण ध्वनियो का सर्वथा अभाव है। आरम्भिक सम्पर्क मे 'व' का आर्य 'भ' होने का यही कारण था। द्रविड-भील सम्पर्क और मिश्रण की ओर सकेत करने वाली अन्य प्रवृत्तियो मे मूर्द्धन्य ध्वनिया ट्, ठ्, ड्, (ड़), ढ् (ढ), ण् और ल् हैं जो दोनो मे समान रूप से और अनेक शब्दो मे थोडे से ध्वनि परिवर्तन से शब्द का मूल या समान अर्थ निकल आता है। आज भी दोनो भाषाओ मे ऐसे उदाहरण मिलेंगे। 'ल्' और मूर्द्धन्य 'ळ्', 'ड्' और 'ड़' ध्वनिया दोनों मे ही समान रूप से मिलती हैं। कही कही मूर्द्धन्य 'ळ्' का उच्चारण 'ड़' के समान होता हुआ 'र' मे परिवर्तित हो जाता है। प्राचीन तमिल 'ऴ्' का उच्चारण 'Zh' जैसा होता था। भीली तथा उससे प्रभावित युक्त राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र प्रदेशो मे आज भी यह उच्चारण वर्तमान है। भीली और तमिल च वर्गीय ध्वनिया भी इस सम्पर्क और मिश्रण के उदाहरण हैं। उच्चारण सम्बन्धी एक प्रमुख प्रवृत्ति शब्द को उका-

---

२६—तोलेमी (Ptalemy vii, 1, 66) ने पल्लवी को फुल्लितइ (quvvstas) लिखा है, जिससे कुछ विद्वानो इसका अर्थ 'पत्ते पहनने वाले (leafwearer, स० पल्लव=पत्ता) अर्थ किया है, जो अशुद्ध है। यह शब्द पल्लिवइ ∠ पल्लिपति से सम्बन्ध रखता है।

27) "Bhils—'Bowmeu' from Dravidian bil, a bow" Encyclopaedia Brittanica Vol II

पुलवन, पल्लवण, पल्डवण, पडवण, पड्वग्र, पड्वह, पड्वो, पडहो, बडवह,

बड्वो, भडवह, भडवो, बड, भड, भट, प्राकृत- भट्ट >आधु० भाट । ये सब चारण-भाटों की राजकीय परम्परा के उद्घाटक शब्द हैं । तमिल-'कट्टलै- पभक्कम' मेवाड मे प्रचलित 'भट्टक - पट्टक' ताज़ीम से सम्बन्धित है । इन शब्दो से सारी राजकीय सस्कृति के मूल आधार का चित्र प्रस्तुत हो जाता है ।

अब हमे कोल आदि जातियो और भीलो के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालना है । भील-कोलो को निषाद वर्गी कहकर दोनों मे पैतृक सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है । भीलो के पश्चिम से आने की धारणा प्रमाणित हो जाने के पश्चात् इस सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । निषाद को आग्नेय (Austric) मानकर उसका मूल स्थान हिन्द–चीन मे माना जाता है । डा० ग्रियर्सन ने कौल-मुन्डा भाषाओ को आसाम की मोन-ख्मेर जाति की खसी भाषा, भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के द्वीप समूहो की भाषाओ के साथ आग्नेय समूह (Austric group) मे लिया है । इस समूह मे भीली को सम्मिलित नही किया गया है । हम ऊपर बतला चुके है कि भीलों की यद्यपि अपनी कोई मूल भाषा नही रही और आज ये आर्य भाषा-राजस्थानी ही बोलते हैं, पर इनकी इस भाषा मे भी इनकी अपनी भाषा की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ और तत्व वर्त्तमान हैं, जिनका प्रभाव राजस्थानी की आधार-रचना मे दीख पड़ते हैं । ये प्रवृत्तिया और भाषा तत्व आग्नेय से सर्वथा भिन्न है । अत. भील को आग्नेय मे सम्मिलित करना उचित नही है । डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भीलो का जो आग्नेय कौल के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है वह भी प्रमाणभूत नही है। आग्नेय चाहे दक्षिण चीन से आया या उत्तरी हिन्द-चीन से अथवा भूमध्य सागर से, [३०] भील उस समूह के भीतर नही रखा जा सकता । यह बात ठीक हैं कि किसी समय सारे उत्तरी भारत-पजाव, राजस्थान तथा मध्यभारत और यहा तक कि दक्षिण मे भी आग्नेय लोगो ने अपने घर बसाये और राज्य स्थापित किये और अपनी सस्कृति, सभ्यता, ज्ञान और कला से इस देश को प्रभावित किया । चन्द्रकलाओ पर आधारित तिथियों के अनुसार दिवस–गणना इन्ही की देन मानी जाती है । इसी प्रकार बीस तक की सख्या को 'कौडी' मे गिनना इनकी विशेपता का एक प्रमुख अवशेष है । इनकी भाषा के अवशेष आज भी खस, कौल, मुंडा, सथाल, हो, भूमिज, कूर्कू, सवर, गदब आदि की बोलियो मे मिलते है ।

विशप काडवेल ने अपने द्रविड भाषाओ के तुलनात्मक व्याकरण मे आदि द्रविडों के सामाजिक और सास्कृतिक विकास की ओर सकेत करते हुए द्रविड भापाओ के दो वर्ग कर दिये है–एक अपरिमार्जित (Uncultivated) और दूसरा परिमार्जित (Cultivated) । इनके आधार पर द्रविड़ भाषाओ को इस प्रकार बाट दिया गया है ।

अपरिमार्जित	**परिमार्जित**
१. टोडा (Toda)	१. तमिल (Tamil)
२. कोटा (Kota)	२. मलयालम (Malyalam)

३०—Jean Przylusky तथा अन्य विद्वानो के मत, देखो सु० कु० चा० कृत 'भारत मे आर्य और अनार्य' पृ. ९

३ गोंड (Gond)
४. खोंद या कू (Khond or Ku)
५. ओरांव (Oraon)
६. राजमहल (Rajmahal)

३. तेलुगु (Telugu)
४. कन्नड (Kannad)
५. तुलु (Tulu)
६. कुडगू–कूर्ग (Kudgu-Koorg)

काडवेल ने इस सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करते हुए यह सकेत किया है कि द्रविड और कोल एक ही जाति की भाषाएँ है। ओरांव भाषा को होडसन (Hodgson) ने द्रविड़ और कोल के बीच की कडी माना। इस प्रकार हम देखते है कि द्रविड और कोलारियन परस्पर सम्बन्धित है। काडवेल ने जार्ज केम्पवेल द्वारा कोलारियन समुदाय मे सम्मिलित भाषाओ तथा होडसन द्वारा तमिल मे सम्मिलित हो, मुडा, कौल, शवर आदि भाषाओ को द्रविड भाषाओ की सूची मे नही लिया[31]। डा० चाटुर्ज्या कोल आदि को आग्नेय परिवार मे सम्मिलित करते हुए उनके साथ द्रविड आदि जातियो के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

नृतत्व (Anthropological) आधारो के अनुसार भारत के बाहर से आने वाली सात प्रमुख जातियो मे से पूर्व मे हिन्द–चीन–असम के मार्ग द्वारा आने वाली आग्नेय (Austric) जाति है, जो आर्यों द्वारा निषाद कही गई है। संस्कृत साहित्य मे भील का उतना प्राचीन उल्लेख नही मिलता जितना निषाद और कोल का मिलता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भील आर्य सम्पर्क मे बहुत पीछे और उस समय आये जब ये आग्नेय द्रविड आदि से जगलो मे धकेल दिये गये थे। आर्यभाषा संस्कृत का सीधा प्रभाव तो राजस्थान पर कभी पडा ही नही। प्राकृत प्रभाव भी बहुत देर से आया। शवर और भील नाम लगभग साथ साथ आते है। दोनो शिव के उपासक थे परन्तु शवर का प्रयोग भील के लिए नही हो सकता क्योकि दोनो नाम अलग अलग सुरक्षित है। यह सम्भव है कि शवर का सम्बन्ध किरात से रहा हो।

भील सम्बन्धी ऊपर दी गई कथाओ मे से एक कथा मे इनका राम के साथ सम्पर्क होने के सम्बन्ध मे है। सम्भवत: इसका आधार आर्यों के साथ प्रथम सम्पर्क रहा हो। उस समय निषाद और कोल[32] भी वर्तमान

(31) "Tuda Kota, Gond and ku, though rude and uncultivated, are undoubtedly to be regarded as essentially Dravidian dialects equally with the Tamil, Canarese and Telugu I feel some hesitation in placing in the same category the Rajmahal and Oraon, seeing that they appear to contain so large an admixture of roots and tongues, probably the Kolarian I venture, however, to classify them as in the main Dravidian The Oraon was considered by Mr Hodgson as a connecting link between Kol dialects and the distinctively Tamilian family"

—Caldwell · A Comparative Grammar of Dravidian Language–P.49.

३२–कोल और निषादो का जब अलग अलग उल्लेख मिलता है तो कोल को निषादो का वंशज मानना भी युक्ति सगत नही जान पडता। कोल-मुन्डा परिवार को आग्नेय मे सम्मिलित करने के सम्बन्ध मे भी अभी अभी आपत्ति उठाई गई है। विशप काडवेल ने तो इन्हे द्रविड परिवार मे लिया है। हगरी के एक विद्वान विलमोस हेवेजी (Vilmos Hevesy) ने इन्हे किसी अन्य परिवार की होने की ओर सकेत किया है। इसके यूराल–अल्ताई (Ural-Altai) श्रेणी की एक भाषा भारत मे आई है जिसका सम्बन्ध कोल–मुन्डा से है, आग्नेय समूह की भाषाओ से उसका कोई सम्बन्ध नही। इसका प्रयोजन उस प्रान्त को किसी जाति के भारत मे आने का है, जिसके वंशज कोल–मुन्डा हैं। यदि यह प्रमाणित हो जाता है और भील तथा कोल-मुन्डा मे किसी सम्बन्ध का प्रमाण मिल जाता है तो सामोआ (Samoa) द्वीप समूह की काकेशियस जाति तक यह सम्बन्ध रेखा स्पष्ट हो जायगी और भील की प्राचीनता स्थापित हो जायगी।

रान्त करने की है, जो अपभ्रंश की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। तेलुगु मे तो यह प्रवृत्ति एक प्रधान प्रवृत्ति है —

प्राचीन तमिल — अवन् (=वह)		कन्नड — अवणु = भीली — वणु (वण उस)	
„ „ — गुर्रम		तेलुगु — गुर्रमु = भीली — घोड़ु (= घोडो)	

भीली मे यह उकारान्त प्रवृत्ति वर्त्तमान है। राजस्थानी सर्वनाम 'अणी', (= इसने) 'वणी' (उणी=उसने) के मूल 'अण', 'वण', (उण), और तमिल 'अवन्' (तथा अवल् = यह) तथा उससे विकसित कन्नड 'अवणु' मे मौलिक समानता लगती है। 'अण' का मारवाडी रूप 'इण' है, जिससे हिन्दी 'इन' का विकास हुआ। इसी प्रकार 'उण' से हिन्दी 'उन' का विकास हुआ।[२८]

आर्यो के आगमन के समय उत्तर भारत मे द्रविड प्रभुत्व काफी फैला हुआ था। पजाब और राजस्थान में इनके अनेक राज्य थे। आर्य प्रसार से धीरे धीरे इनका ध्वस हुआ। इससे पूर्व द्रविडो ने भीलो के राज्यो का ध्वस किया। द्रविड तथा भीली मे कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। विशप काडवेल ने तमिल के जिन प्राचीन रूपो की जो खोज की थी उनसे कुछ इस प्रकार के उदाहरण यहा दिये जाते है और उनके समकक्ष उन भीली राजस्थानी रूपो को भी प्रस्तुत किया जाता है, जो इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देंगे.—

प्राचीन द्रविड़

को — ओ	= राजा	
को — ओ — विल	= राजा का घर	विल, वल = घर, जैसे देवल देवगृह, देखो—वीडु, वीडो आदि
कोट्टै	= राजा का सुरक्षित घर	कोट्ट, कोट = गढ, दुर्ग,
अर्न	= राजा का स्थान	रण, रुण, राणा, (रणभूमि, रणवास,)
नाट्टु, नाडु	= प्रदेश	वाडु, वाडो, वाड, वाडी स्थान, सीमा, प्रदेश
पुल्वन	= राजा का विरुद गायक या राजकवि	पडहो पडवो, वडवो=चारण, भाट, विरुद गायक, राज घोषणा करने वाला।
कट्टलै — पभक्कम	= राज्य सम्बन्धी, लोक—व्यवहार, कानून कायदे	झट्टक—पट्टक ताजीम=मेवाड के राजवश मे वह सर्वोच्च राजकीय सम्मान जो किसी महत्वपूर्ण सामन्त को विशेष सम्मान मे प्रदान किया जाता था।

२८—हिन्दी मे 'इन' तथा 'उन' सर्वनामो की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक अनुमान किये गये पर कोई अनुमान ठीक नही है। देखो—धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ २९२-२९४।

देखो 'लोकवार्त्ता' दिसम्बर १९४४ मे पृष्ठ ४४ पर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का लेख 'द्रविड़'

ऊर	= नगर	ऊर=नगर; जैसे नाग+ऊर=नागौर, वाग+ऊर=वागौर, खमरण+ऊर=खमणौर, जाल+ऊर=जालौर
बिल	= धनुष	विलॅ, बिलॅ, भिल, भिल्ल (=भील) वेल (देखो–आधु० वेलदार=भील
ए–एर	= हल	वे–एर (वेरवो, वेंरनो)=चीरना
वे–उं–ल्व	= वर्छा माला	वल्लव, वल्लम, बल्लम, भल्लम=भाला

कुछ अन्य द्रविड़–भीली शब्द:–

तमिल	– कुदिरै	–वाहन (घोडा)	भीली–कूतरी–भैरव का घोडा कुत्ता कूतर, कुत्तुल, तुतुल (बोली मे तू-तू),=देखो प्राकृत कुक्कुर, कुत्तुर, आधु० कुत्ता ।
कन्नड	– कुदुरे		
तमिल	– गुर्रम	–वाहन (घोडा)	भीली-टेघड़–भैरव का घोडा (कुत्ता) मिलाओ-राज० घोटडो (टेघड-घोटड) और स० घोटकः
तेलुगु	– गुर्रमु, गुरर		

और मिलाओ - राज० - घोटड >घोत्र, घुत्र, भीली - कुत्रु, कूतर, तमिल - कुतिरे, कन्नड - कुदुरे = प्राचीन मिश्री - हत्र् (htr) ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भीली-द्रविड भाषा तत्वो के गहन अध्ययन से इनकी प्राचीन भाषा और सस्कृत सम्बन्धी अनेक रहस्यो का उद्घाटन सम्भव है । राजस्थान मे द्रविड प्रभाव का कुछ आभास उपर्युक्त उदाहरणो से मिल जाता है । राजस्थान की राजकीय सम्कृनि स्पष्टत. भीली-द्रविड तत्वो से सम्बन्धित है और राजस्थानी भाषा के आधार मे भी वे तत्व वर्तमान हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । ऊपर दिये गये उदाहरणो से इसका थोडा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है प्राचीन द्रविड शब्दो 'कोट्टै' और 'अरन्' को लीजिये । इनके भीतर जो अर्थ है उसका तात्पर्य किसी दुर्ग और रणभूमि से है । दोनो का प्रयोग राजस्थान मे उसी अर्थ मे होता आया है । दूसरा शब्द 'पुल्वन' है, जिसका सम्बन्ध 'पल्लवी' (अधिपति या राजा) के साथ जुडा हुआ है । तमिल मे इस शब्द का अर्थ 'राज कवि' होता है । इसका राजस्थानी रूप पडहो>पडवो बराबर प्रयुक्त होता आया है [२९] । इसका आधुनिक राजस्थानी रूप 'बडवो' जो इसी जाति के परिवार विशेष के लिये आज भी बराबर प्रयुक्त होता है । इस शब्द के इन रूपो को मिलाने से यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा ।

२९—देखो हेमरतन कृत पदमरिण चउपई (वि० स० १६४५) :
आगलि पडहउ फिरतउ दीठ (६९) ।
पूछल लागा पहड विचार (७०) ।

निषादो के पश्चात् मगोल या किरात जाति ने ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी की ओर से भारत में प्रवेश किया। ये लोग पहले उत्तर और पूर्व मे भारत की पर्वतमालाओ मे फैले और धीरे धीरे पूरे उत्तर भारत–मध्यप्रदेश (गगा की उपत्यका) मध्य भारत, राजस्थान और सिन्ध मे जा बसे। आज ये लोग और इनकी भाषा केवल असम और हिमालय प्रान्त मे ही सीमित रह गई है। राजस्थान के किराडू (किरात कूप), लोहारू (–डू) आदि इनकी प्राचीन वस्तियो के द्योतक है। किरात लोग यहाँ आकर अन्य जातियो मे मिल गये और उनकी भाषा भी लुप्त हो गई। परन्तु राजस्थानी ध्वनि-सहति में किरात उच्चारण का प्रभाव अब भी कही कही दीख पडता है। किरात प्रवृत्ति निम्नलिखित स्थितियो मे देखी जाती है:–

(१) समस्त राजस्थान ट–वर्गीय ध्वनियो का उच्चारण स्थान संस्कृत ट–वर्गीय ध्वनियों के समान मूर्द्धन्य न होकर वर्त्स्य है।

(२) च–वर्गीय स्पर्श–सघर्षी ध्वनियो का स्थान तालव्य न होकर दन्तमूलीय है, जो भीली से सर्वथा भिन्न है।

(३) सकार के स्थान पर जहाँ हकार होता है, वहाँ हकार के स्थान पर अल्प अकार, कही लोप और कही अनुस्वार का आगम देखा जाता है; जैसे––

(क) 'स' के स्थान पर 'ह' का लोप;
रामसीग>रामीग

(ख) 'स' के स्थान अल्प अकार सास>हा ऽ, दिस>दि ऽ, वीस>वीऽ;
भैस>भैंऽ

(ग) 'स' के स्थान पर अनुस्वार,
पास>पाँ

२ आर्य प्रभाव :

राजस्थान पर आर्य भाषा का प्रभाव आर्यों के आने के वहुत ममय पश्चात् प्राकृत काल मे आरम्भ हुआ। अत: राजस्थानी पर सस्कृत (वैदिक) का सीघा प्रभाव नही आया। ऐसा लगता है कि वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण तक आर्य लोग राजस्थान की खोज नही कर पाये थे। वे इसके पश्चिम, उत्तर और पूर्व सीमाओ पर ही प्रसार कर रहे थे। ऋग्वेद की रचना के समय तो राजस्थान का अधिकतर भाग समुद्र मे था। सर्वप्रथम आर्य प्रभाव उत्तर-पूर्वी राजस्थान मे मत्स्य प्रदेश (आधुनिक जयपुर का एक भाग) मे मध्य प्रदेश के शूरसेन प्रदेश से सम्पर्क स्थापित होने पर वहाँ की बोली का पड़ा। यह उस समय की प्राकृत (शौरसेनी) थी।

आर्यों का मुख्य प्रसार आर्यावर्त (गन्धार से लेकर विदेह तक) में हुआ, जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसार आर्य भाषा के तीन मोटे रूप थे—(१) उदीच्य (२) मध्य और (३) प्राच्य। इनके भीतर राजस्थान की कोई स्थिति नही है। इन वैदिक संस्कृत के आगे चल कर तीन प्राकृत रूप हुए–(१) उदीच्य

प्राकृत, (२) मध्य देशी प्राकृत और (३) प्राच्य प्राकृत। उदीच्य प्राकृत का प्राचीनतम लिखित रूप गान्धार प्रान्त के शाहबाज गढी और मानसेरा के शिलालेखो मे मिलता है। (२) प्राच्य प्राकृत मागधी का एक रूप था।

राजस्थान के उत्तर पूर्व से उत्तर पश्चिम सीमाओ तक जो आर्य प्रभाव फैल रहा था उसमे प्राप्त शिलालेखो मे वैरठ और सौरठ के शिलालेख भी हैं। इनमे वैरड के शिलालेख की भाषा शुद्ध प्राकृत मानी गई है। परन्तु सौरठ के गिरनार वाले शिलालेख की भाषा वहाँ की बोली हैं। जिसमे कही कही प्राच्य प्राकृत के रूप आ गये है। इससे यह ज्ञात होता है कि जहाँ जहाँ प्राकृत प्रभाव फैला था वहाँ अशोक के ये शिलालेख प्राच्य प्राकृत मे खुदवाये थे, और जहाँ प्राकृत का प्रभाव नही था, वहाँ स्थानीय बोली में। इससे यह स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र का सम्पर्क उस समय तक पूर्व मे हो चुका था। परन्तु भाषा (प्राच्य) का उतना प्रभाव नही पडा था। इसी कारण वहा की बोली और निकटतम प्राकृत का प्रयोग इस लेख मे किया गया। सौरठ की इस प्राकृत और मध्य देश की प्राकृत मे मौलिक भेद था। मारवाड और सौरठ—जो विविध जातियो के प्रसार और सम्पर्क के कारण निकट आ चुके थे—की बोलियो पर जिस प्राकृत का प्रभाव पड़ा वह न तो मध्य देशी प्राकृत थी और न प्राच्य प्राकृत ही। इन पर उदीच्य प्राकृत का प्रभाव था, जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा पजाब से आया था। इसका कारण यह लगता है कि पश्चिम पजाब, सिन्धु, सौरठ और मारवाड की अधिकतर जातिया उस समय तक द्रविडभाषी अनार्य जातियाँ ही थी। इन्होने अपनी भाषा प्रवृत्ति के आधार पर ही आर्य भाषा (प्राकृत) को ग्रहण किया था। मारवाडी मे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ वर्तमान है जो इस प्रभाव की द्योतक हैं। उदाहरणार्थ गिरनार के शिलालेख की भाषा मे 'त्म' और 'त्व' को 'त्प' के रूप मे ग्रहण किया गया है :—

परिचजित्पा ∠ स० परित्यजित्वा
आरभित्पा ∠ स० आलभित्वा

यह उस बोली की एक विशेषता थी। इसी 'त्प' का आगे चलकर प्राकृत की सावर्ण्य प्रवृत्ति के कारण द्वित्व हो कर 'प्प' हुआ। इसी द्वित 'प्प' को उद्योतनसूरि (वि० स० ८३५) ने 'अप्पा तुप्पा भरिरे अह पेच्छइ मारुए तत्तो' कहकर उस समय की मारवाडी प्रवृत्ति के रूप मे उल्लेखित किया है। उदीच्य प्राकृत का प्रभाव इसमे एक अन्य उदाहरण से भी लक्षित होता है। वह है 'ल-कार' के स्थान पर 'र-कार' की प्रधानता जो 'आरभित्वा' और 'आलभित्वा' मे दृष्टिगोचर होती है।[३७] इसी प्रकार मारवाडी मे 'ष्ट' के मूर्द्धन्य 'ष' के स्थान पर दन्त्य 'स' की सीत्कार ध्वनि बडी स्पष्ट सुनाई पडती है, जो सम्भवत आर्य प्रभाव से पहले की परम्परा है। गिरनार के शिलालेख मे 'तिष्ठति' के प्राकृत रूप 'तिट्ठति' के स्थान पर उसका स्थानीय रूप 'तिस्टति' ही मिलता है। यह उस बोली की प्रबल प्रवृत्ति का द्योतक है। मारवाडी मे आज भी स्पष्ट और कष्ट के मूर्द्धन्य ष् के स्थान पर दन्त्य स् की सीत्कार ध्वनि बड़ी साफ सुन पडती है।

३७—उदीच्य प्राकृत मे तीन मुख्य विशेषताए थी—

(क) ईरानी के समान इसमे 'र' ध्वनि की प्रधानता थी और 'ल' ध्वनि का प्रयोग नही होता था।
(ख) महाप्राण 'घ', 'ध', 'भ' के अल्पप्राणत्व का लोप और केवल 'ह-कार' का प्रयोग।
(ग) मध्यग 'ड' (ड), 'ढ' (ढ), क्रम से 'ल्' और 'ल्ह' हो जाते थे।

थे। अतः निषाद को भीलो का आदि पुरुष मानना युक्ति सगत नही प्रतीत होता। कोल भाषा के कुछ शब्द वेदो की भाषा मे भी मिलते है जिससे निषादो से पूर्व उनका वर्तमान होना पाया जाता है[33]। इस आधार से भी सिद्ध है कि भील इन दोनो (निषाद–कोल) से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र जाति थी और कोल-मुडा परिवार से अलग थी।

भीली की प्राप्त मूल प्रवृत्तिया और मूल तत्वो के आधार पर कोरकु, सथाली, मुंडारी आदि जीवित भाषाओ के सम्बन्ध की खोज अपेक्षित है। राजस्थान मे कोल–मुंडा के कुछ अवशेष अवश्य मिलते है, जिससे यह तो मानना ही पडेगा कि ये लोग राजस्थान मे आये अवश्य और कही कही अपने अवशेष भी छोड़े। पर इनका प्रभाव भीलो पर कितना पडा यह विचारणीय है। कही कही इनके अवशेष 'कोली' और 'ओड़' जाति के रूप मे मिलते है। कोली बास का काम करते है और बीस बाँसा के गठ्ठे के लिये मुंडा शब्द 'कौड़ी' का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति 'ओड' मे भी है, जो मिट्टी खोदने का काम करते है। यह कहने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि राजस्थान की मुदड़ा (∠ मुडारी) जाति कितनी प्राचीन है और उसकी मुन्डा के साथ कोई परम्परा का सम्बन्ध है। इन लोगो के प्रभाव और प्रसार क्षेत्र गगातट, बगाल तथा उडीसा तक ही विशेष रूप मे रहे। द्रविडो का प्रभाव उत्तर–पश्चिम भारत तथा पश्चिम और दक्षिण मे अधिक रहा। इस प्रभाव के दो परिणाम हुए। एक तो पूर्व से कोल मुन्डा तथा निषादो का राजस्थान पर अधिक प्रभाव नही फैल सका।

दूसरा द्रविड ने भील पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इनमे पूजा की भावना एक समान थी ही; इस कारण इस मिश्रण से भील के 'लकुलीश' का रूप लकुटीश' हो गया और लकुटीश तथा लकुलीश एक ही देवता के दो नाम हुए। द्रविडो की शिवलिग पूजा का भी प्रभाव फैला।

२. आर्य–सपर्क और भाषा प्रवृत्तियां

आर्यो के आगमन और सम्पर्क के समय द्रविड–प्रभुत्व काफी प्रबल और विस्तृत था, जो मोहंजोदड़ो ओर हडप्पा के उद्घाटन से ज्ञात होता है। उस समय पजाब, राजस्थान, पश्चिम और उत्तर पश्चिम भारत, मध्य भारत और दक्षिण पर द्रविडो का प्रभाव था। भीलो की भाषा अब तक सीमित होकर दब चुकी थी अथवा द्रविड मे मिल चुकी थी। जो भी हो, भीलो की स्वतन्त्र भाषा, उनके विकास, राज्य और प्रभुत्व के अन्य अनेक अवशेषो के साथ द्रविड भाषा मे अवशेष वर्तमान हैं। द्रविड आर्य सम्पर्क के कारण जिस भाषा का विकास हुआ उसमे अन्तिम ध्वनि पर बल देने के कारण शब्दो मे व्यञ्जन द्वित्व की प्रवृत्ति का विकास हुआ जो आगे चलकर प्राकृत की प्रधान प्रवृत्ति हुई और अपभ्रंश के अन्त तक और फिर डिंगल मे भी बनी रही। द्रविड भाषा–भाषी और राजस्थान की भीली तथा भीली प्रभावित क्षेत्रो मे यह बल की प्रवृत्ति आज भी उच्चारण मे सुन पडती है। सस्कृत के अनेक शब्द इसी प्रवृत्ति से प्राकृत मे परिवर्तित हुए। आर्य–द्रविड सम्पर्क से अनेक शब्द एक–दूसरे की भाषाओ मे मिले। जो भीली द्रविड़ शब्द सस्कृत मे गये उनमे से कुछ नीचे दिये जाते है, ये वेद की भाषा मे भी मिलते हैं।

अणु, अरणि (सूर्य, अग्नि, चकमक का पत्थर–देखो राज० अरण्या पत्थर अथवा आरणी गाव और वहां मिलने वाले इस पत्थर के आधार पर यह नाम), कपि, कुर्मार (लुहार), कला, काल, कितव (धतूरा),

---

३३–देखो–'लोकवार्त्ता' दिसम्बर १९४४ पृ० १४६ सु० कु० चा 'द्रविड़'।

कूट (राज० कूड छल),[३४] कुणार, गण, नाना, पुण्, पुष्कर, पूजन, फन, बिल (छेद, छेदना, दो टुकड़े करना, देखो–ऊपर राज० वेरणो, (–वो)=चीरना), बीज, राशि, सायन्, अटवी, आडम्बर, खड्ग, तन्दुल (राज० तांदरया), मटची (ओला) , यनक्ष (चन्द्रमा), मल्ली (सान का पेड; देखो– राज० वल्ली, वलेंडी)[३५] ।

कुछ अवशेषों से ज्ञात होता है कि राजस्थान पर भी आग्नेय (Austric) कोल-मुन्डा जातियों का प्रभाव रहा है । राजस्थान के मध्य में भीलवाड़ा भीलों की उत्तर पूर्वी सीमा का द्योतक है । इसी के आस पास अनेक-ला अन्त वाले नामों की ग्रामीण बस्तियां हैं । यहीं से खैराड़ क्षेत्र की सीमा लगती है जहां की एक प्राचीन मीणा जाति बहुत प्रसिद्ध है। इसी प्रकार दक्षिण भीली प्रदेश में खैरवाड़ा ग्राम इनको दक्षिणी सीमा रही होगी । इनसे ज्ञात होता है कि किसी समय भीलों और मुन्डों की अलग अलग सीमाएं स्थापित हो गई होंगी । खैराडी बोली की भी अपनी अलग विशेषताएं हैं ।[३६] राजस्थानी की अनेक पिछड़ी जातियों में भील-नोमिया, कोली, ओड आदि जातियां हैं जो सम्भवत. आग्नेय परिवार की हैं । इनमें आज भी बीस तक गिनने की प्रथा है और बीस की संख्या के लिये 'कौडी' शब्द का प्रयोग किया जाता है । भीलों द्वारा वृक्षों में प्रेतात्मा का आरोप और उसकी पूजा सम्भवत: आग्नेय-भील मिश्रण का संकेत है । खैराड की मीणा जाति का सम्बन्ध भी सम्भवत. आग्नेय से होगा । भीलों को आग्नेय परिवार में विकसित मानने में सबसे बडी भाषा सम्बन्धी कठिनाई यह है कि आग्नेय परिवार की भाषाएं सर्व-प्रत्यय-प्रधान हैं, अर्थात् उनमें पुर-प्रत्यय, पर-प्रत्यय और अन्तर-प्रत्यय के द्वारा प्रधान रूप से वाक्य रचना होती है और उनके सयोग से व्याकरणिक सम्बन्ध सूचित किया जाता है ।

३४–(१) कपट वात कूडी केलवी (६५)
कीउ कूड वादिल्ल (५६१)] पदमणि चउपई (१६४५)

(२) राजस्थान से जो बजारे मध्य युग में व्यापार लेकर योरप गये वे जिप्सी कहलायें । उनकी भाषा में अब भी राजस्थानी तत्व वर्त्तमान है । इंगलैंड के जिप्सियो की भाषा में इस 'कूड' शब्द का प्रयोग देखिये :—

Dui Romani chals	=	दुइ रोमनी छैला
Were bitcheni	=	थे भेजाने (=भेजे गये थे)
Pawdle the bori pani	=	पल्ले बडे पानी (=पल्ले पार नदी के)
Plato for Koring	=	प्लाटो कूडने को (Koring=कूडना
Lacho for choring	=	लच्छो चोरने को
The purse of a great lady	=	किसी बडी स्त्री का पर्स ।

३५–'लोकवार्त्ता'–दिसम्बर १९४४ पृ० १४७–१४९–सु० कु० चा० 'द्रविड' ।

३६—खैराडी की विशेषता और उसके व्याकरण के लिये देखो—मेकेलिस्टर कृत 'जयपुरी डायलेक्टस्' पृ० ५२ तथा १२९ ।

इसी लेख में अन्य कई रूप हैं जो प्राकृत प्रभाव से मुक्त हैं; जैसे—'अस्ति' के स्थान पर 'अत्ति' न होकर 'अस्ति' का ही प्रयोग, जो 'सकार' के प्रबल आग्रह और अस्तित्व का प्रमाण है। इससे एक और तथ्य निकल आता है कि इस बोली में मूर्द्धन्य 'ष्' का अभाव था। शहबाजगढी और मानसेरा की लिपियों में जहाँ 'ष' का प्रयोग हुआ है वहाँ ऐसे स्थान पर इसमें 'न्' ही मिलता है—

गिरनार	—	सवे पासटा वसेवू ति।
शहबाजगढी	—	सव्रे प्रपड वसेयु —।
मानसेरा	—	सव्र पपड वसेयु —।
सस्कृत	—	सर्वे पाषडा' वसेयु इति।[38]

इसी प्रकार तालव्य 'श्' का भी अभाव दीख पड़ता है और उसके स्थान पर भी दत्य 'न्' का ही प्रयोग मिलता है—

गिरनार	—सयम	च	भावसुधि	च	इछति।
शहबाजगढी	—सयम		भवशुधि	च	इछति।
मानसेरा	—सयम		भवशुधि	च	इछंति।
सस्कृत	—सयम	(च)	भावशुद्धि	च	इच्छति॥[39]

इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रान्त में प्राकृत के प्रभाव के समय स्थानीय बोलियों की प्रवृत्तियाँ अत्यधिक प्रबल थी। कुछ अन्य और उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) संयुक्त व्यंजन की अस्वीकृति :

(क) च्च और च्छ. उचावचछंदो—स० उच्चावचछन्दा.
(हिन्दी—ऊँच नीच विचार से)
उचावचरागो—स० उच्चावचरागा:
(हिन्दी—ऊँच नीच राग से)

(ख) क्त : हिडभनिता —स० इदमीक्ता
(ग) द्ध : भाव सुधिता —स० भाव शुद्धिता

(२) क्ष के स्थान पर व्यंजन की प्रकृति के अनुसार 'ख', 'छ' और 'झ' —

(क) ष् के साथ 'ख' —[illegible]—स० [illegible]
(ख) ह् के साथ 'छ'—[illegible]—स० इदमीक्षा
[illegible]—स० [illegible]
(ग) [illegible] —[illegible] स० [illegible]

३८—देखो—[illegible]।

३९—[illegible] के स्थान पर [illegible] के उदाहरण [illegible]
[illegible]—स० [illegible],
[illegible] —स० [illegible]

(३) ज्ञ् और न्य् का उच्चारण ञ् के समान

कतञता	—स० कृतज्ञता
ञायासु	—स० न्यायासिपुः
अञानि	— स० अन्यानि

(४) लम्बे सयुक्ताक्षरो वाले शब्दो मे अक्षरलोप. कसति, कासति=करिष्यन्ति

इस प्रकार मारवाडी की रचना की आधार भूमि मे पश्चिमी प्रभाव ही प्रबल है। मध्यदेशीय प्राकृत का प्रभाव तो मारवाडी पर बहुत काल पीछे आया[४०]। पश्चिम पजाब, सिन्ध, गुजरात और मारवाड के निवासी अधिकतर द्रविड अनार्य थे। धीरे-धीरे ये आर्य भाषा और आर्य सत्ता को स्वीकार करते रहे थे। ये लोग जब आर्य भाषा का प्रयोग करने लगे तो उनकी भाषा-प्रवृत्तियाँ इस मिश्रित आर्य भाषा मे आ गई। आगे चलकर इसी ने पश्चिमी राजस्थानी की पृष्ठभूमि तैयार की।

दक्षिण राजस्थान मे मेवाड़ के एक बडे भाग पर भीलो का आधिपत्य था। यही कारण है कि इस भाग की बोली की कई प्रवृत्तियाँ मारवाडी से मेल नही खाती। इस ओर के लोग भील, आभीर, गूजर आदि थे, जिन पर आर्य भाषा का प्रभाव मालवा की ओर से होकर आया। इसी कारण मेवाडी और मालवी मे समानता होती है। शौरसेन से आने वाले आर्य प्रभाव ने पूर्व राजस्थानी और मालवा की ओर से आने वाले प्राकृत प्रभाव ने दक्षिण राजस्थानी की आधार भूमि प्रस्तुत की।

आर्य प्रसार के पश्चात् प्राकृत के प्रभाव से राजस्थानी की पृष्ठभूमि आरम्भ होने लगी। आर्य प्रभुत्व और प्रसार के कारण यद्यपि द्रविड दक्षिण की ओर उतर गये परन्तु उनमे से अनेक यहा भी बस रहे। इनके अनिश्चित अन्य अनेक जातिया जो सिन्धु तथा उत्तर पजाब से खदेडी गई वे भी राजस्थान मे बस गई। इन सब की बोलियो मे आर्य भाषा के मिश्रण ने एक नवीन भाषा की रचना मे योग दिया, जिससे राजस्थानी की पृष्ठभूमि आरम्भ होने लगी। प्राकृत की सावर्ण्य (Assimilation) ने आर्य भाषा और अनार्य शब्दो से राजस्थानी रूपान्तर करने मे प्रधान रूप से काम किया। भील–द्रविड राज्यो की सस्कृति के अवशेष चारण-भाटो (देखो ऊपर द्रविड पुल्वन,-राज० पडवो, बडवो आदि) ने अपनी भाषा की रचना मे इस प्रवृत्ति को नियमित रूप से अपनाया और आगे चलकर राजस्थानी मे द्वित वर्णवाली डिंगल शैली का विकास किया।

प्राकृत के लोक भाषा होने से उसका क्षेत्र व्यापक हो गया था। अनेक अनार्य जातिया इस आर्य भाषा का प्रयोग अपनी बोलियो का मिश्रण करके करती जा रही थी। राजस्थान की अनेक उद्योग व्यवसायी जातिया आर्यों के साथ सम्पर्क स्थापित कर चुकी थी। वे अपने उद्योग–व्यवसाय को लेकर आर्य परिवारो मे प्रवेश करने लगी थी। इन सभी जातियो के सम्पर्क, सम्बन्ध और मिश्रण तथा सयोग–व्यवहार से विकसित

४०—"मारवाड–गुजरात की मौलिक या प्राथमिक बोली, जिसका प्राचीनतम निदर्शन अशोक की गिरनार लिपि मे हमे मिलता है, मध्यदेश (शूरसेन अथवा अन्तर्वेद) की भाषा से नही निकली थी; पश्चिमी-पजाब तथा सिन्ध मे जो आर्य बोलिया स्थापित हुई थी, उनसे ज्यादा सम्पर्कित थी"। सु० कु० चा०-'राजस्थानी भाषा'-पृ० ५५।

एक नवीन सामाजिक व्यवस्था में भाषा का पोषण हो रहा था। प्रचलित आर्य भाषा में नई-नई भाषा-प्रवृत्तियों का समावेश हो रहा था। तत्सम शब्दो के अनेक तद्भव रूपान्तर हो रहे थे, अनार्य शब्दो को (-क प्रत्यय लगाकर सस्कृत किया जा रहा था (राज० घुत्र 7 घोत्र 7 घोटड 7 सं० घोटक) तो कही प्राकृत (राज० मिल 7 विल 7 भिल 7 प्रा० भिल्ल) । शब्दो को नये रूप मिल रहे थे। एक ही शब्द का उच्चारण विविध जातिया अपनी ध्वनि-सहृति और मुखसुख प्रवृत्ति के अनुसार कर रही थी, जिससे एक ही शब्द के अनेक रूप होने लगे थे[४१]। इस प्रकार इस आर्य-अनार्य सम्पर्क से प्राकृत भापा के रूप मे परिवर्तन स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। परिणामत· एक नवीन भाषा 'अपभ्र श' का विकास हुआ।

राजस्थान पर प्राकृत प्रभाव ई० पू० की सहस्राब्दि से लेकर ई० पू० की अन्तिम शताब्दी तक बना रहा। इस समय तक यहा आर्य प्रभावपूर्ण रूप से फैल गये थे। इसके साथ ही अपभ्र श का राजस्थानी रूप आरम्भ हो गया। इस रूप के विकास मे सहयोग देने वाले थे भील (भिल्ल), गौभील। (गौभिल्ल 7 गोहिल्ल), आभीर (अभिल्ल), गुर्जर, तथा कोल, मुन्डा और किरातो की सन्तानें एव चारण, पडवा, और भाट आदि। आर्यों के साथ इन जातियो के निकट सम्पर्क के कारण इनकी बोलिया भी अधिक प्रभावशाली हो रही थी। गोपालन के कार्य मे कुशल होने के कारण महाभारत के समय तक आभीर तो चातुवर्ण्य मे सम्मिलिन कर ही लिये गये थे। सम्भवत आभीर ही पहली जाति थी जिसने आर्य परिवार से सम्बन्ध स्थापित किया था। भीलो मे गाये चराने वाले आर्यों द्वारा गौभिल्ल (गौ+भिल्ल) कहलाये और आर्य वर्ण मे सम्मिलित होने पर आभीर (आर्य+भिल्ल=आ भिल्० 7 आभील 7 आभीर) कहलाये। आभीर जाति के मूल उद्गम के विषय मे जो अनेक कल्पनाएं की गई हैं वे सब निराधार है। वास्तव मे परिवार मे सम्मिलित किये गये भिल्ल ही आर्य+भिल्ल कहलाये। आर्य+भिल्ल का ही रूपान्तर आर्य-भिल्ल या आ-भिल्ल हुआ। आ-भील के 'ल्' का 'र्' मे परिवर्तन होना इस मत को और भी अधिक पुष्ट कर देता है। ऊपर हम बता चुके है कि आर्य प्रसार के कारण आर्य भाषा सस्कृत के उदीच्य, मध्य और प्राच्य ये तीन रूप हो चुके थे। उत्तर मे उदीच्य का प्रयोग होता था जिसमे 'ल्' का प्रयोग न होकर ईरानी के समान सर्वत्र 'र' का ही प्रयोग होता था। आभीर शब्द मे 'ल्' के स्थान पर 'र' का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि उत्तर मे ही आर्य-भील सयोग हुआ था। इस प्रकार अभीर भीलो की ही एक जाति थी। इन्ही की पेशेवर जाति गाय-बकरी चराने के कारण गूजर (गौ.+अज+चर=गौर्ज्जर, गुर्ज्जर, गूजर) कहलायी।

४१—(१) पतजलि ने अपने महाभाष्य मे (ई० पू० २००) इस उच्चारण की अनेकता की ओर संकेत किया है और 'गौ' शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप प्रस्तुत किये—"गौरित्यस्य शब्दस्या गावी गोणी गोपोत्तलिकेत्येवमादयोऽपभ्रशा.'—देखो कीलहार्न द्वारा सम्पादित 'महाभाष्य- पृ० २०

(२) परवर्ती प्राकृत ग्रन्थो मे तथा अनेक जैन सूत्रो मे इन शब्दो का प्रयोग होने लगा था।

(३) देखो, चण्ड कृत 'प्राकृत लक्षण' गौगावी २, १६

(४) देखो—सिद्धहेम व्याकरण 'गोणादय.—२, १७४।

३. भाषा के अनेक भेद और उसमें राजस्थान की स्थिति :

महाभारत के पश्चात् सामाजिक व्यवस्था विशृंखल हो गई थी। आर्य-अनार्य मिश्रण के कारण जातियाँ अपने कार्य और व्यवसाय के अनुसार महत्व प्राप्त करती जा रही थी। विविध जातियाँ अपने अपने टोल मे सगठित होकर अपनी अपनी बोलियो का प्रयोग करती थी। आभीरो के टोल तो महत्वपूर्ण हो ही गये थे परन्तु अभीरोक्ति ने भी आर्य भाषा प्राकृत के रूप को सर्वथा परिवर्तित कर दिया था, जो आगे चलकर अधिक महत्व प्राप्त कर लेने पर अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुई और उसमे साहित्य रचना होने लगी।

प्राकृत का अन्दर का ढाँचा किसी सीमा तक सर्वदेशीय बना रहा था, पर विविध बोलियो की विशेष प्रवृत्तियो के कारण छोटे मोटे जातिगत भेदो के साथ ही स्थानगत भेद हो गये थे। फिर भी इस ढाँचे पर विकसित एक सामान्य भाषा अवश्य बनी रही। यही प्रान्तीय भेदो के साथ सर्वमान्य थी। 'देश भाषा' का यह एक रूप था। उसमे ये प्रान्तीय रूप जुडे जा रहे थे। प्राकृत से भिन्न हो कर वह देश भाषा के रूप मे प्रचलित हुई। ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दी तक देशभाषा का यह रूप प्राकृत से पूर्णतः स्वतन्त्र हो चुका था। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र मे (ई० दूसरी शताब्दी) विविध वर्गों के पात्रो द्वारा प्रयुक्त भाषाओ मे सस्कृत और प्राकृत से सर्वथा भिन्न एक 'देशभाषा का भी उल्लेख किया है—

एवमेतत्तु विज्ञेय प्राकृत सस्कृत तथा ।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यानि देशभाषा प्रकल्पनम् ॥

यह देश के भिन्न भागो मे प्रान्तीय विशेषताओ के साथ बोली जाती थी। भरत ने इसी देश भाषा के सात रूपो का प्रान्तीकरण किया है—

१ बाह्लीका —पश्चिमी पजाब और उत्तरी पजाब की बोली
२. शौरसेनी —मध्य देश की बोली
३ आवन्ती —मालव प्रदेश की बोली
४. अर्धमागधी —कोसल की बोली
५. मागधी —मगध की बोली
६ प्राच्य —मगध से आगे के पूर्वी देशो की बोली
७ दाक्षिणात्य —गुजरात तथा दक्षिण राजस्थान की बोली (४२)

ऊपर आर्य भाषा सस्कृत के उदीच्य मध्य देशीय और प्राच्य—इन तीन भेदो का उल्लेख किया गया है। इन्ही के आधार पर प्राकृत के तीन भेदो का भी विकास हुआ, जिनमे अशोक की धर्म लिपियाँ उत्खनित है। इन्ही तीन प्राकृतो से विकसित देश भाषा के आर्य प्रसार के साथ साथ—ये सात प्रान्तीय रूप हो गये। बाह्लीका उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, पश्चिमी पजाब, काश्मीर आदि देशो मे बोली जाती थी, जिसका प्रभाव सिन्ध और कुछ कुछ उत्तर राजस्थान पर भी पडा था। इस भाषा का आधार उदीच्य ही

४२—मागध्यवन्तिजा प्राच्याशूरसेन्यर्धमागधी ।
बह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्त्तिता ॥

था। इस समय मध्य प्रदेश के दो रूप हो गये--पहला शौरसेनी, जो मध्य देश की प्रधान भाषा थी, और दूसरा आवन्ती जो मालव की बोली के रूप मे विकसित हुई। प्राच्य के इस समय तीन भेद हो गये--मागधी, अर्ध मागधी और प्राच्या (वग देश तक)। राजस्थान का उस समय कोई स्वतन्त्र इकाई के रूप मे विकास नही हुआ था। उसमे छोटे छोटे गणराज्य थे। परन्तु दाक्षिणात्या से गुजरात और दक्षिण राजस्थान की बोलियो से ही अर्थ है। दक्षिणात्या से दक्षिण की द्रविड भाषा से सम्बन्ध नही है, क्योकि उसने आर्यावर्त्त की भाषाओ का ही उल्लेख किया है। यहाँ तक कि आर्यावर्त्त की अन्य विभाषाओ के अन्तर्गत भी उसने द्रविड़ का उल्लेख किया है :—

शबराभीर चाण्डाल सचर द्रविडोड्रजा ।
हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता. ॥

इस प्रकार शवर, आभीर, चाण्डाल, चर, द्रविड, ओड्र (ओड) और हीन वनचर जातियों की बोलियो की सूचना हमे प्राप्त होती है। इसमे सभी जातियाँ राजस्थान मे पायी जाती है। इनके बीच द्रविड़ का उल्लेख होने से उपयुक्त भील-द्रविड सम्पर्क सम्बन्ध के तथ्य की पुष्टि हो जाती है। उसके अनुसार शवरो के अतिरिक्त व्याध और कोयला बनाने वाली जातियाँ, लकडी के यन्त्रो पर जीविकोपार्जन करने वाले सुथार (बढई) खाती (काष्टक यान्त्रिक) आदि शाबरी बोलते थे।[४३] वनचरो के साथ इनका सम्बन्ध होने के कारण ये लोग इनकी बोली 'वानौकसी' भी जानते थे। गाय, घोडे, भेड, बकरी और ऊंट चराने वाले (अभीर आदि) 'आभोरोक्ति' बोलते थे। शेप द्रविड आदि 'द्राविडी' बोलते थे।[४४]

इन प्रमुख जातियो का उल्लेख कर देने के पश्चात् उन अनार्य जातियो का भी उल्लेख कर दिया है जिनमे से अधिकतर जातियाँ राजस्थान मे बसी हुई थी। उस समय राजस्थान मे छोटे छोटे गणराज्य स्थापित हो चुके थे, जिनकी यही प्राकृत मिश्रित 'देशभाषा' थी। सम्भवतः यही समय था जब आर्य प्रभाव राजस्थान पर स्पष्ट रूप मे पूर्ण प्रसारित हो चुका था। उत्तर राजस्थान का बहुत बडा भाग बाह्लीका से प्रभावित था। उत्तर पूर्व का भाग मत्स्य महाभारत के समय मे ही आर्य प्रभाव मे आ चुका था। इस समय तक पूर्वी राजस्थान का बहुत बडा भाग 'शौरसेनी' से प्रभावित था। यहा किसी 'राजन्य जनपद' (क्षत्रप-जनपदसी) का शासन था। दक्षिण राजस्थान मे आर्य प्रभाव मालव की ओर से आया। ई० पू०

४३--शाबरी का कुछ राजस्थानी रूप : शाबर लोग मन्त्र फूंकने आदि मे बहुत प्रसिद्ध थे। इनके कुछ मन्त्र शारगधर पद्धति मे शारगधर ने सुरक्षित किये थे। उनमे से सिंह से रक्षा करने का यह मन्त्र देखिये--

'नन्दायणु पुत्त सायरिऊ पहारु मोरी रक्षा। कुक्कर जिम पु छी दुल्लावइ।
उडहइ पु छी पडहइ मुहि। जाह रे जाह। आठ साकला करि उर बधाउ।
बाघ,बाघिणि कऊं,मुह बधउ,। कलियाखिणि की दुहाई। महादेव की दुहाई।
महादेव की पूजा पाई। टालहि जई आणिली। विष देहि।'

--नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अंक-१ मे पृ० १७ पर 'गुलेरी' द्वारा प्रकाशित

४४--अङ्गारकाख्याधाना काष्ठयन्त्रो

की दूसरी शताब्दी मे 'शिवजनपद' की स्थापना हुई जिसकी राजधानी चित्तौड के पास 'मध्यमिका नगरी' (अब नगरी के नाम से प्रसिद्ध) थी। इसके सिक्के पर 'मझिमिकम्व शिवजन पदस' लिखा मिलता है।[४६] यह आर्य भाषा ही है। इसमे मध्यग-अ- (मझिमिका 7 मध्यमिका मे 'ध्य' का 'झ' के स्थान पर 'इ' उच्चारण करने की प्रवृत्ति आज तक वर्त्तमान है। इसके विपरीत मारवाडी मे शब्द के आरम्भिक अ-कार का इ-कार होता है।

४. देश-भाषा की विविध प्रवृत्तियो मे राजस्थानी प्रवृत्तिया :

भरत ने इसी देश भाषा की प्रान्तीय विशेषताओ का उल्लेख किया है। उसके अनुसार गगा और सागर के मध्य की भाषा (मध्य देश तथा पूर्व मे) ए-कार बहुला है। विन्ध्याचल और सागर के बीच वाले प्रदेशो की भाषा न-कार बहुला है। सुराष्ट्र, अवन्ति और वेत्रवती (वेतवा) के उत्तर के देशो की भाषा मे च-कार की प्रधानता है। चर्मण्वती (चम्बल) और उसके पार आबू तक के प्रान्तो मे ट-कार की बहुलता है। और हिमालय, सिन्धु और सौवीर के बीच अर्थात् शूरसेन, हिमालय का पहाडी भाग तथा उत्तर राजस्थान से लेकर सिन्धु तक के देशो मे उ-कार की बहुलता है। उक्त कथन मे राजस्थान मे तीन भाषा स्पष्ट रूप मे आ गई है।

(१) सौराष्ट्र से अवन्ति तक च-कार की विशेषता

(२) चम्बल से आबू के बीच ट-कार की विशेषता, और

(३) उत्तर राजस्थान मे उ-कार की बहुलता

स्पष्ट है कि दक्षिण राजस्थान मे भीली-किरात-द्रविड प्रभाव के कारण च-वर्गीय तथा ट-वर्गीय ध्वनियो मे उच्चारण आर्य ध्वनियो से भिन्न है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हम जो यह बतला चुके हैं कि उकारान्त प्रवृत्ति भीली, द्रविड तथा 'आभीरोक्ति' की प्रधान विशेषता थी। मथुरा से लेकर राजस्थान और गुजरात तक वही उकारान्त आज ओकारान्त हो गया है और इसका उकारान्त स्वरूप अपभ्र श से प्रभावित तेलुगु मे प्रबल रूप मे वर्तमान है।

अपभ्र श मे उकारान्त बहुलता के साथ व्याकरण के नपु सक के भेद को हटा देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। इसी कारण उसमे कही नपु सक का प्रयोग होता था और कही नही। इस प्रवृत्ति से दो बातें स्पष्ट होती हैं। इसमे एक वर्ग ऐसा था जो नपु सक के भेद को स्वीकार करता था। यह वर्ग विशेष रूप मे गुजरात-सौराष्ट्र वर्ग था, जिसका कुछ प्रभाव मारवाड पर भी था। दूसरा शेष राजस्थान का था जो नपु सक के भेद को हटा रहा था, इसलिये अनुस्वार का प्रयोग नही करता था। आगे चलकर जब पुरानी पश्चिमी राजस्थानी से गुजराती अलग हुई तो गुजराती मे नपु सक सुरक्षित रह गया और राजस्थानी से लुप्त हो गया।

४५-४६—देखो-नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ३, पृ० ३३४ पर ओझा० का लेख।

५. अपभ्रंश में राजस्थानी के मूलतत्व :

आभीरोक्ति से विकसित होकर अपभ्रंश देश की प्रधान भाषा हुई और उसमें साहित्य रचना होने लगी। अपभ्रंश के विकास और प्रसार का प्रधान श्रेय आभीरो तथा गुर्ज्जरो को दिया गया है। आभीरो तथा गुर्ज्जरो का प्रसार उत्तर मे सिन्धु और सरस्वती के तट से[४७] तथा सपादलक्ष[४८] की ओर से गुजरात और राजस्थान मे हुआ। पूर्व[४९] तथा दक्षिण[५०] तक उनके राज्य भी स्थापित थे। राजशेखर का 'पश्चिमेन अपभ्रंशिन. कवय' इस तथ्य का प्रमाण है कि गुजरात और राजस्थान मे अपभ्रंश काव्य का चरम विकास हुआ। अपभ्रंश काव्य के प्राप्त ग्रन्थो के द्वारा इस प्रमाण की पुष्टि भी होती है। इसी पश्चिमी या शौरसेन अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ। राजस्थानी का प्राचीनतम रूप पुरानी राजस्थानी के ग्रन्थो मे सुरक्षित है। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी[५१] को पुरानी हिन्दी भी कहा है।[५२] इसका कारण भी यही है कि हिन्दी के वर्तमान रूप की रचना मे पुरानी राजस्थानी का प्रबल आधार है। इसके कुछ उदाहरण ऊपर दिये भी जा चुके हैं।

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण मे एक अध्याय अपभ्रंश व्याकरण का भी दिया है। यहाँ उसी व्याकरण से कुछ ऐसे तत्वो को प्रस्तुत किया जा रहा है जो राजस्थानी के रचना-विकास के मूल मे प्राप्त होते हैं (कोष्ठको मे सूत्र-सख्या दी गई है)—

४७—विलसन् ने 'इन्डियन कास्ट' मे आभीरो के विषय मे लिखा है—'आरम्भ मे उल्लेख महाभारत मे शूद्र के साथ मिलता है, जो सिन्ध के तट पर निवास करते थे।' तोलोमी (Ptlomy) ने भी 'आबीरो' (आभीरो) को स्वीकृत किया है, जो अब भी आभीरो के सिन्ध, कच्छ और काठियावाड मे मिलते हैं और ग्वालो तथा खेती का कार्य करते हैं।'
रामायण, विष्णुपुराण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थो मे द्रविड, पुण्ड्र, शबर, बर्बर, यवन, गर्ग आदि के साथ आभीरो का भी उल्लेख मिलता है।

४८—(१) देखो—ग्रियर्सन का भाषा सर्वे जिल्द ९, भाग २, पृ० २ तथा ३२३.
(२) देखो—इन्डियन एन्टीक्वेरी १९११ मे डा० भण्डारकर का लेख 'फोरेन एलिमेन्ट इन दी हिन्दू पोप्यूलेशन' –पृ० १६.
(३) देखो—आर० ई० ए-थोवन कृत 'ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स् आफ बोम्बे' भूमिका पृ० २१.

४९—देखो—समुद्रगुप्त का इलाहाबाद का लेख।

५०—देखो—सवत् ३८७ का नासिक गुफा का शिलालेख जिसमे राजाशिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन अहीर का उल्लेख है।

५१—देखो—इन्डियन एन्टीक्वेरी १९१४ के अको मे तिस्सेतोरी कृत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी पर 'नोट्स'।

५२—देखो—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, अंक ४ मे 'गुलेरी' लेख 'पुरानी हिन्दी।'

(१) विभक्तियां ·

(क) राजस्थानी मे प्रथमा और सम्बोधन मे एक वचन पुलिंग आकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त सज्ञाए अपभ्रंश के समान (३३०) ही रहती हैं। परन्तु द्वितीया एक वचन पुल्लिग मे अपभ्रंश के अकारान्त (३३१) का आकारान्त हो गया है। अपभ्रश तृतीया के –ए (३३३), अनुस्वार तथा –ण (३४२ तथा ३४३), ०–हिं (३३३, ३४७) राजस्थानी काव्य मे सुरक्षित रहे हैं। अप० पचमी के –हे, –हु (३३६,–३४१, ३५२) तथा –हु (–हुँ (३३७, ३४१) काव्य मे तो सुरक्षित है, पर बोलियो मे –हु के स्थान पर –हु का ही प्रयोग होने लगा है। षष्ठी के –ह (३३६, ३४०), –हे (३५०) और –हु का प्रयोग केवल काव्य मे ही सीमित है। सप्तमी –इ, –ए (३३४), –हि (३४१, ३५२), –हु (३४०), –हि (३४७) काव्य मे प्रयुक्त होते रहे हैं। पर –इ का प्रयोग काव्य मे छन्द-बन्धन के कारण –ए के स्थान पर ही हुआ। बोलियो मे केवल –ए ही पाया जाता है। –ए का बहुवचन बोलियो मे –आँ हो गया है। सम्बोधन पुल्लिग –हो (३४६) का प्रयोग बोलियो मे भी होता है, परन्तु स्त्रीलिंग-हो (३४६) का प्रयोग केवल आदर सूचनार्थ ही होता है। स्त्रीलिंग –ए (३३०) का प्रयोग सर्वत्र होता आया है।

(२) सर्वनाम

(क) **निश्चयवाचक** अपभ्रंश एहो (३६२) के स्थान पर राजस्थानी मे यो (ओ), एइ (३६३) के स्थान पर ई; एह (३६२) के स्थान पर या (आ), ओइ (३६४) के स्थान पर ओ, वो, आय (३६५) के स्थान पर आ, आयइं (३६५) के स्थान पर ई, जासु-कासु (३५८) तथा जहे–कहे (३५८) के स्थान पर जी-की हो गये हैं।

(ख) **प्रश्नवाचक :** अपभ्रश 'काइ' और 'कवण' (३६७) पुरानी राजस्थानी मे तो ग्रहण किये गये है, परन्तु उसके पश्चात् 'काइ' तो मूल रूप मे ही बोलियो तक आया है और 'कवण' का विकसित रूप 'कुण' (कूण, कौण) प्रयुक्त होने लगा।

(ग) **पुरुष वाचक** अपभ्रश 'मइ' (३७७) राजस्थानी काव्य मे 'मिं' हो गया और 'मइ' तथा 'मिं' दोनो का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार अपभ्रश अम्हे-अम्हइ (३७६) का 'म्हे'; 'हउ' (३७५) का 'हु' तथा मूल रूप 'हउं' भी काव्य मे व्यवहृत होने लगे। इनमे 'म्हे' तो बोलियो तक चला आया पर 'हु' की परम्परा काव्य तक ही सीमित रही। हु के स्थान पर 'म्हु' का बोलियो मे विकास हुआ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष 'तुहु' (३६८) का 'थू' 'तुम्हे'–तुम्हइ' (३६९) का 'था-थें', तइं' (३७०) का 'थइ', 'तउ' (३७२) का 'थउ' रूप बोलियो मे विकसित हुए।

(३) क्रिया ·

(क) राजस्थानी मे अपभ्रश वर्तमान के प्रत्यय –उ (३८५), –हु (३८६), –हि (३८३). –हुं (३८४), –हिं (३८२) काव्य मे तो प्रयुक्त होते रहे हैं, परन्तु बोलियो मे –उं का –उ, –हु का –आ, –हिं तथा –हि का –ए, और –हु का –ओ हो गया है।

(ख) आज्ञार्थ मे अपभ्रश –इ, –उ, –ए (३८७) काव्य मे सुरक्षित है, परन्तु बोलियो मे 'सवके स्थान पर –अ का प्रयोग होता है।

(ग) भविष्यार्थ मे अपभ्रंश 'स्य' तथा 'स' (३८८) दोनो का प्रयोग काव्य मे होता है। इस प्रकार 'होस्यइ' और होसउ' दोनो रूप मिलते है। इसी के अन्य रूप 'होइस्यइ' (<भविष्यति), 'होइसइ' 'होसिइ', 'होइहि' (होइइ), 'होहिइ' (३८८), 'होवइ', 'होअइ', 'हुवइ', हुवै', 'हुवइ' आदि रूप भी प्रचलित हैं।

(४) रूप परिवर्तन

(क) अपभ्रंश मे जहाँ अनादि 'म्' सानुनासिक 'वँ' हो जाता है (३९७), वहाँ राजस्थानी मे मध्यग –म्–एव –वँ– दोनो का प्रयोग हुआ है, परन्तु अन्त्य –म् का परिवर्तित अनुनासिक –वँ आधुनिक रूप मे –उ हो गया है।

(ख) अन्त्य व्यजन से संयुक्त 'र्' जहाँ अपभ्रंश मे विकल्प से लोप होता है (३९८) वहाँ राजस्थानी मे भी यही प्रवृत्ति देखी जाती है।

(ग) अपभ्रंश 'जेहु', 'तेहु', 'एहु' (४०२) राजस्थानी मे काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इनके विकसित रूप 'जेहो', 'तेहो', 'केहो', 'एहो' भी मिलते हैं। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी से ये रूप गुजराती मे चले गये। राजस्थानी मे इनके स्थान पर अपभ्रंश 'जइस', 'तइस', 'कइस', अइस (४०३) से विकसित रूप 'जइसउ' (>जिसो, जसो, जस्यो), 'तइसउ' (>तिसो, तसो, तस्यो), 'कइसइ' (किसो, कसो, कस्यो) और 'अइसउ' (इसो, असो, अस्यो) रूप प्रयुक्त होते हैं।

(घ) अपभ्रंश के 'जेवडु-तेवडु' (४०७) के 'जेवडो-तेवडो' तथा एवडु-कवेडु' (४०८) के 'एवडो' केवडो' रूप पुरानी राजस्थानी तथा काव्य मे बराबर प्रयुक्त होते रहे है। मारवाडी मे इनके रूप क्रमशः 'जेडो', 'तेडो', 'एडो', 'केडो' विकसित हुए हैं। इसी प्रकार अपभ्रंश 'जेत्तुलो' तेत्तुलो' (४०७) के 'जितरो-तितरो, वितरो (जतरो-ततरो-वतरो) तथा एत्तुलो-केत्तुलो (४०८) के 'इतरो (अतरो)–कितरो (कतरो) राजस्थानी रूप विकसित हुए। आधुनिक मारवाडी मे इनके रूप क्रमश 'जित्तो' तित्तो' (वित्तो), 'इत्तो' 'कित्तो' हो गये।

(५) स्वार्थिक प्रत्यय :

सज्ञा मे लगने वाले अपभ्रंश स्वार्थिक प्रत्यय 'अ–डउ–डुल्ल–डो–डा' (४२९, ४३०, ४३१,४३२) के राजस्थानी मे टो, लो, डी, ली, ड्यो, ल्यो, डिओ (डियो), लिओ (लियो) रूप मिलते हैं।

(६) अपभ्रंश से राजस्थानी का पृथक्करण

इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश से राजस्थानी का पृथक्करण कब हुआ। एक भाषा के भीतर ही उससे विकसित होने वाली भाषा के बीज प्रस्फुटित हो जाते हैं और धीरे धीरे वह भाषा अपनी नवीन भाषा को पोषित करती हुई लुप्त हो जाती है। राजस्थानी की भी यही स्थिति देखी जाती है। अपभ्रंश ज्यों ज्यों लोक व्यवहार मे हटती गई त्यों त्यों राजस्थानी मे नव विकसित अंकुर भाषा मे स्थान प्राप्त करते रहे। इस प्रकार अपभ्रंश के अन्तिम युग की परिवर्तित भाषा मे प्राप्त साहित्य मे राजस्थानी भाषा के प्रारम्भिक रूप देख पड़ते हैं। ये रूप सम्भवतः विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे

आरम्भ हो गये होंगे, जब अपभ्रंश के क्षेत्र मे प्रान्तीय विशेषताए अकुरित होने लगी थी। इसका प्रमाण वि० स० ८३५ मे उद्योतनसूरि द्वारा रचित 'कुवलयमाला' कथा मे सग्रहित प्रान्तीय रूपो से मिलता है।[५४] परन्तु राजस्थानी का अधिक स्पष्ट रूप जिनदत्तसूरि कृत 'उपदेमरसायनसार' मे मिलता है।[५५]

अपभ्रंश से राजस्थानी के स्वरूप विकास की प्रधान प्रवृत्ति है। अपभ्रंश के द्वित्वर्णवाले शब्दो की अस्वीकृति और उनके स्थान पर नव विकसित रूपो की स्थापना। यह प्रवृत्ति निम्नलिखित रूपो मे पायी जाती है :—

५४—शौरसेन अपभ्रंश से प्रभावित क्षेत्र मे विकसित इन रूपो का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. मध्यदेश——णय-नीति-सन्धि-विग्गह-पडुए वहु जपि रे य पयतीए।
'तेरे मेरे आउ' त्ति जपि रे मझ देसे य ॥

२. अन्तर्वेद—कवि रे पिंगल नयणे भोजणकहमे तद् विण्णवा वारे।
'कित्तो किम्मो जिअ' जपि रे य अतवेते य ॥

३. टक्क——दक्खिण दाण पोरुपा विण्णाण दया विवज्जिय सरीरे।
'एह तेह' चवते टक्के उण पेच्छय कुमारो ॥

४. सिन्धु—सललितमिदु——मदपए गधव पिए सदेस गय चित्ते।
च्चउडय मे'- भणि रे सुहए- अह सेन्धवे दिट्ठे ॥

५. मरुदेस—वके जडे य जड्डे वहु मोई कठिण-पीण-थूणगे।
'अप्पा तुप्पा' भणि रे अह पेच्छइ मरुए तत्तो ॥

६. गुर्जर——घय लोलित पुट्ठगे धम्मपरे सन्धि-विग्गह णिउणे।
'णउरे भल्लउं' भणि रे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे ॥

७. लाट—ण्हाउलित्त-विलित्ते कय सीमते सुसोहिव सुगत्ते।
'आहम्ह काइ तुम्ह मित्तु' भणि रे अह पेच्छइ लाडे ॥

८. मालव—तणु-साम-मडह देहे कोवणए माण-जीविणो रोद्दे।
'भाउअ भइणी तुम्हे' भणि रे अह मालवे दिट्ठे ॥

विशेष के लिये देखो-'अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका पृ० ६१-६४।

५५——निम्नलिखित उदाहरण देखिये——

बेट्टा बेट्टी परिणाविज्जहिं। तेवि समाण धम्म घरि विज्जहिं ॥
विसम धम्म-घरि जइ विवाहइ। हो सम्मुत्तु सु निच्छइ वाहइ ॥
थोडइ घणि ससारइ कज्जइ। साइज्जइ सव्वइ सवज्जइ ॥
विहि धम्मत्थि अत्थु विविज्जइ। जेणु सु अप्पु निब्बुइ निज्जइ ॥
'उपदेसरसायनसार'—पृ० ६३-६४

(क) अपभ्र श के द्वित्व्यजन का लोप और उसके पूर्वस्थित स्वर का दीर्घीकरण:
अप० अज्ज 7 रा० आज; अप० कज्ज (४०६, ३) 7 रा० काज;
अप० भग्ग 7 रा० भाग, अप० घल्लइ (३३४,१) 7 रा० घालइ;
अप० अप्पणउ (३३७, १) 7 रा० आपणउं; अप० जज्जरउ
रा० जोजरउं, अप० वग्ग (३३०, ४) >रा० वाग।

(ख) अप० के द्वित्व्यंजन का लोप और उसके परवर्त्ती व्यजन-स्थित स्वर का दीर्घीकरण :
अप० ढोल्ल (३३०, १) 7 अप० ढोलो, अप० वहिल्ल (४१२) रा० वहिलो;
अप० हेल्लि (४२२) रा० हेली अप० अप्पणउ (३३७, १) >रा० अपाणो।

(ग) अप० के द्वित् व्यजन का लोप और उसके पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती स्वर मे कोई परिवर्त्तन नही
अप० नच्चाविउ (४२०, २,) रा० नचाविउ; अप० छोल्ल (३६५) >
रा० छोल; अप० झलक्क (३६५) >रा० झलक, अप० खुड्डुक्कइ (३६५) >
रा० खुडुकइ; अप० विट्टाल (४२२) >रा० विटाल।

(घ) अप० द्वित्व्यजन का लोप और उसके पूर्ववर्ती वर्ण का नासिक्यीकरण:—
खग्ग (३३०, ४०१) > रा० खग, अप० पहुच्चइ (४१६, १) > रा० पहुचइ।

(च) अप० के उन द्वित्व्यजन युक्त शब्दो की अस्वीकृति जिनके, उपर्युक्त नियमों के अनुसार शब्दार्थ विपर्यय होता हो। ऐसे शब्दो के स्थान पर सस्कृत तत्सम् या उनके राजस्थानी तद्भव रूपो की स्थापना :

इस प्रकार के शब्दो मे 'धम्म' से 'धाम' न होकर 'धर्म' अथवा 'धरम' शब्दो को मान्यता प्राप्त हुई। इसी प्रकार 'कर्म' के प्रा० 'कम्म' का 'काम' न होकर 'कर्म' या 'करम'। स्वर्ग के प्रा० 'सग्ग' का 'साग' न होकर स्वर्ग' वा 'सरग' आदि।

अन्य प्रवृत्तियो मे आदि 'ण' और मध्यम 'ण' का लोप; षष्ठी मे 'का-' की - के तथा 'रा-री-रे' का विकास; 'हन्तो' विभक्ति के विविध रूपो का सभी कारको मे प्रयोग और शब्द के प्रथम वर्ण के 'अकार' के स्थान पर 'इ-कार' की मान्यता उल्लेखनीय है, जिनसे अपभ्र श और राजस्थानी पृथकता स्थापित करने मे सहायता प्राप्त हो सकती है।

७. राजस्थानी की डिंगल शैली :

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ के विषय मे पिछले वर्षो मे अनेक विवाद चले। डा० तिस्सेतोरी से लेकर (१९१४) डा० मेनारिया (१९५०) तक अनेक कल्पनाएँ 'गवारू' से आरम्भ हुईं और 'डीग हाकने' मे समाप्त हुई। डा० तिस्सेतोरी ने डिगल का अर्थ अनियमित तथा गँवारू बतलाया; डा० हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी व्युत्पत्ति 'डगल' से मानी, तो किसी ने डिंगल मे 'डिम्भ+गल' की सन्धि का आरोप कर यह बतलाया कि जिसमे गले से डमरू आवाज् निकलती हो वह 'डिंगल' है। इसी प्रकार 'डिम्भ+गल=

डिंगल, डिंग्गी+गल=डिगल' आदि अनेक अनुमान प्रकाशित हुए[५६]। इस सम्बन्ध मे सबसे अन्तिम आविष्कार डा० मेनारिया ने 'डीग मारने का किया'। उनका कथन है कि डिंगल की व्युत्पत्ति 'डीग मारने से' है, क्योकि इसी भाषा मे अत्युक्ति और अनुरञ्जनापूर्ण साहित्य मिलता है[५७]। इस व्युत्पत्ति की अत्यधिक टीका होने पर डा० मेनारिया ने इस कल्पना को और आगे को खीचा और अपनी पुस्तक ''राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे 'डींग' शब्द के साथ ल्' प्रत्यय जोडकर उसको 'डींगल' बनाया तथा 'डिंगल' और 'डीगल' मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 'ड्' के साथ आने वाले ह्रस्व इ-कार और दीर्घ ई-कार की बडी विचित्र व्याख्या करते हुए दीर्घ ईकार का ह्रस्व इ-कार कर देने का वर्णन किया है।[५८]

डिंगल के विषय मे मैंने एक अलग लेख प्रकाशित कर दिया है[५९] और यहा ऊपर भी बतला चुका हूँ कि यह चारण-भाट आदि राज्याश्रित कवियो के काव्य की एक भाषा शैली है। यह भी बतलाया जा चुका है कि प्राचीन द्रविड शब्द 'पुल्वन' और राजस्थानी पडवो-वडवों अपने मूल मे एक ही रूप और एक ही अर्थ रखते है।' इस प्रकार ये लोग राजस्थान मे आर्य प्रभाव के पूर्व किसी राजकीय परम्परा से सम्बन्धित हैं। प्राचीन भीली द्रविड शब्द के 'पुल्वन' के समान ही 'डिंगल' शब्द भी पडवो, वडवो, भाट ढाढी आदि विरूद-गायक जातियो मे से किसी एक जाति के लिये प्रयुक्त होता था। प्राचीन सस्कृत कोषो मे इस शब्द का 'डिंगर' रूप भी मिलता है। 'डिंगर' का अर्थ मोनियर वीलियम्स ने अपने सस्कृत कोष मे पृ० ४३० पर अमरसिंह, हलायुध, हेमचन्द्र आदि के कोषो के आधार पर धूर्त्त, दास, सेवक, गाने बजाने वाला दिया है। हलायुध के कोष मे यह शब्द मिलता है और उसने यही अर्थ दिया है। डिंगल मे ल' के स्थान पर सस्कृत कोष मे 'र' का प्रयोग ऊपर उल्लिखित उदीच्य सस्कृत की प्रवृत्ति है। अत डिंगल और डिंगर एक ही अर्थ के द्योतक हैं और चारण-भाटो के काव्य की एक विकसित परम्परा से सम्बद्ध हैं।

ऊपर हम यह भी बता चुके है कि राजस्थान मे आर्य भाषा का प्रभाव प्राकृत काल मे आरम्भ हुआ था। उस समय दो भाषाओ के सयोग और विलीनीकरण का कार्य चल रहा था। अनार्य शब्दो का आर्यीकरण हो रहा था। द्वितवर्ण की प्रवृत्ति इसमे प्रधान रूप से सक्रिय थी, जिसको चारण-भाटो ने अपनी काव्य-भाषा मे नियमित रूप से ग्रहण किया। यही प्रवृत्ति डिंगल की परम्परा मे एक प्रधान विशेषता हो गई। इसी प्रकार उस काल की अन्य विशेषताए भी इस काव्य भाषा मे विशेष स्थान प्राप्त कर गई। जिससे राजस्थानी की यह भाषा-शैली विकसित हुई और वीर-गाथा काव्य के लिये मान्य होकर डिंगल कहलायी। डिंगल की भाषागत विशेषताए नीचे दी जाती हैं :—

---

५६ इन सभी प्रकार के मतो का विस्तार पूर्वक उल्लेख श्री नरोत्तमदास स्वामी ने अपने एक निबन्ध मे किया जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के किसी अ क मे प्रकाशित है-वह अ क अब अप्राप्य है।

५७ देखो—मेनारिया कृत 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा'।

५८ देखो—मेनारिया कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृ २०-२१

५९ देखो—हिन्दी अनुशीलन वर्ष ८, अक ३, पृ० ९० पर मेरा लेख 'डिंगल भाषा'।

(क) डिंगल भाषा की प्रमुख विशेषता उसके शब्द चयन की है, जिसमे द्वितवर्णों की प्रधानता रहती है। ये द्वितवर्ण दो प्रकार के होते हैं; एक नो प्राकृत और अपभ्रंश मे आये हुए रूपो के आधार पर स्वीकृत; जैसे-मग्ग, खग्ग आदि, दूसरे अनुकरण पर बनाये हुए; जैसे सहज्जि, उछल्लि, मेल्लि आदि।

(ख) अनुनासिकता की प्रधानता। डिंगल मे पाचो अनुनासिको का प्रयोग मान्य है परन्तु उच्चारण मे 'ञ' का उच्चारण नही होता और आदि 'ण्' का बहुत कम प्रयोग होता है।

(ग) युद्ध-वर्णन मे दृश्य का साक्षात्कार कराने के लिये सानुप्रासता, सानुनासिकता और ध्वनि प्रतीको का प्रयोग, जैसे—सानुप्रासता· चलचलिय, मलमलिय, दलदलिय आदि; सानुनासिकता। चमकि, टमकि; ध्वनि-प्रतीकत : ढमढमइ ढोल नीसाण ·· ·· ····· ।

(घ) भाषा मे युद्ध-जनित कर्कशता लाने के लिये ट-वर्गीय ध्वनियो का प्रयोग।

(ड) व्याकरण के रूपो मे प्राचीन सर्वनामो 'अम्हि', 'अम्हा', 'अम्हीणो', 'तुम्ह', तुम्हा' आदि; तथा विभक्तियो मे 'ह', 'हदा', तणउ', 'तणाह', चा-ची आदि; और क्रिया मे इय, आदि प्रत्ययो वाली क्रियाओ का प्रयोग।

निमाड़ी भाषा और उसका क्षेत्र विस्तार

निमाड़ और उसकी सीमा :

हिन्दुस्तान के नक्शे मे विन्ध्य और सतपुडा के बीच मे जो भू-भाग वसा है, वह निमाड के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे शासन व्यवस्था की दृष्टि से यह दो भागो मे विभाजित रहा है। एक पूर्वी निमाड तथा दूसरा पश्चिमी निमाड। लेकिन रहन-सहन, रीति-रिवाज, आव-हवा, भाव-भाषा और सस्कृति की दृष्टि से दोनो एक और अभिन्न हैं।

भौगोलिक सीमा की दृष्टि से उत्तर मे विन्ध्याचल, दक्षिण मे सतपुडा, पूर्व मे छोटी तवा नदी और पश्चिम मे हरिणफाल के पास सुदूर धारा और बडवानी को लेकर इसकी सीमायें बनती हैं। यह एक सयोग की बात है कि उत्तर दक्षिण मे यदि दो पर्वत सजग प्रहरी की तरह इसके दो किनारो पर खड़े हैं तो पूर्व और पश्चिम मे दो नदिया जिसकी सीमा-रक्षा करती आयी हैं। अन्य भाषा-भाषी प्रान्तो की दृष्टि से उत्तर मे मालवा, दक्षिण मे खानदेश, पूर्व मे होशगाबाद और पश्चिम मे सुदूर गुजरात को इसकी सीमायें छूती हैं।

कुछ लोग निमाड और मालवा को एक ही सीमा मे गिनते चलते हैं। लेकिन वास्तव मे मालवा यदि नर्मदा के उत्तर मे फैला है, तो निमाड नर्मदा के दक्षिण मे पूर्व और पश्चिम की ओर फैलते हुये सुदूर खानदेश तक चला गया है। डाक्टर यदुनाथ सरकार के मत और मालवे की एक लोकोक्ति से भी जिसकी पुष्टि होती है। डाक्टर यदुनाथ सरकार ने (इडिया एण्ड औरगजेब) मे मालवा की सीमा के सम्बन्ध मे स्पष्ट लिखा है कि—स्थूल रूप से दक्षिण मे नर्मदा नदी, पूर्व मे वेतवा, एव उत्तर पश्चिम मे चम्बल नदी प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थी। एक लोकोक्ति के अनुसार भी दक्षिण मालवे की सीमा नर्मदा तक ही मानी जाती है। उसके शब्द हैं—

'इत चम्बल उत वेतवा, मालव सीम सुजान,
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरो पहिचान।'

समूचे निमाड़ की जनसख्या करीब १२ लाख और क्षेत्रफल १० हजार वर्ग मील है।

नाम :

जहा तक इसके नाम का सम्बन्ध है, ऐसा अनुमान है कि यह उत्तर भारत व दक्षिण भारत का सन्धि-स्थल होने से आर्य और अनार्यों की मिश्रित भूमि रहा होगा और इसी नाते इसका नाम 'निमार्य (नीम आर्य) पड़ा होगा। 'नीम' का अर्थ भी निमाड़ी मे आधा होता है। इसी निमार्य का बदलते बदलते निमार और निमाड हो जाना स्वाभाविक है।

इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि निमाड मालवे से नीचे की ओर बसा है। मालवे से निमाड की ओर आने मे निरन्तर नीचे की ओर उतरना होता है। इस तरह 'निम्नगामी' होने से जिसका

नाम 'निमानी' और उससे बदल कर 'निमारी' और 'निमाडी' हो गया होगा। पहले की अपेक्षा यह दूसरा कारण प्रामाणिक व उचित भी प्रतीत होता है।

प्राचीन इतिहास :

प्राचीन इतिहास की खोज करने से पता चलता है कि सुदूर रामायण काल मे (ई० पूर्व १६०० के)[1] यहा पर 'माहिष्मती' (आधुनिक महेश्वर) को राजधानी के रूप मे लेकर एक सशक्त राज्य स्थापित था। महेश्वर को हैहयवशी राजा सहस्त्राजु न एव चेदीवशी के राजा शिशुपाल की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। वाल्मीकि रामायण मे हैहयवशीय सहस्त्राजु न को 'अजु नो जयन्ता श्रेष्ठो माहिष्मत्या पति प्रभो' अर्थात माहिष्मती नगरी का राजा महा विजयी अजु न ऐसा लिखा है[2] जिस रावण ने कुबेर, यम और वरुण को भी जीत लिया था उसे सहस्त्राजु न ने महेश्वर मे पराजित किया था।

कुछ लोगो ने आधुनिक मान्धाता को माहिष्मती दर्शाया है। लेकिन यह सर्वथा निराधार है। सहस्त्राजु न ने जहा अपने सहस्त्रो हाथो से नर्मदा को रोका था और जहा से नर्मदा का जल सहस्त्रो हाथो मे से होकर बहा था, वह स्थान आज भी महेश्वर मे सहस्त्रधारा के नाम से प्रसिद्ध है। वाल्मीकि रामायण मे भी सहस्त्रधारा के निकट ही, सहस्त्राजु न और रामायण मे युद्ध होना पाया जाता है।

श्री शातिकुमार नानुराम व्यास ने भी श्री नन्दलाल दे की (जाग्रफीकल डिक्शनरी आफ एन-सिए ट एण्ड मिडिवल इ ण्डिया) के आधार पर इ दौर से ४० मील दूर दक्षिण मे नर्मदा तट स्थित महेश्वर को ही माहिष्मती दर्शाया है।[3]

कहते हैं हवा वंश के राजा माधाता के तीसरे पुत्र मुचकु द ने महेश्वर को वसाया था। उसने पारिमात्र और ऋक्षपर्वतों के बीच नर्वदा किनारे एक नगर बसाया था और उसे दुर्ग के समान चारो ओर से सुरक्षित किया था।[4] वही आधुनिक महेश्वर है। बाद मे हैहयवशीय राजा माहिष्मत ने उसे जीत कर उसका नाम 'माहिष्मती' रखा। पश्चात् सहस्त्राजु न ने कर्कोटक नागो से युद्ध कर अनूप देश पर कब्जा कर लिया था और माहिष्मती को अपनी राजधानी बनाया था।[5]

प्राचीन राज व्यवस्था का जिक्र करते हुये श्री बालचन्द्र जैन ने लिखा है, 'उस काल मे मध्य प्रदेश का बहुत सा हिस्सा 'दण्डकारण्य' कहलाता था। उसके पूर्वी भाग मे कौशल, दक्षिण कौशल या महाकौशल का राज्य स्थित था जिसे अब छत्तीसगढ कहते है। उत्तरीय जिले 'महिष-मण्डल' और 'डाहल-मण्डल' मे विभाजित थे। महिषमण्डल की राजधानी निमाड मे 'माहिष्मती' मे थी और 'डाहल-मण्डल' की राजधानी जबलपुर के निकट 'त्रिपुरी' मे।[6]

१—पुराण विशेषज्ञ-पार्जिटर-सस्कृत और उसका साहित्य
२—वाल्मीकि रामायण (उत्तर काण्ड-सर्ग २२ श्लोक २)
३—श्री शातिकुमार नानुराम व्यास (रामायण कालीन समाज) पृष्ठ ३१०।
४—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ) इतिहास पुरातत्व खण्ड पृष्ठ ६
५—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ६)
६—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ ३

जिसके बाद महाभारत-काल मे भी युधिष्ठिर के द्वारा आयोजित राजसूय-यज्ञ की सफलता के लिये भीमसेन द्वारा विजित देशो के वर्णन मे चेदीवश के राजा शिशुपाल की राजधानी 'माहिष्मती' मे ही होना पाया जाता है। इसी सम्बन्ध मे श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है--'अनेको देशो को जीतने के बाद भीम ने चेदी के राजा शिशुपाल की ओर मुह मोडा जिसे वश मे लाने के लिये युधिष्ठिर की विशेष आज्ञा थी। चेदी जनपद नर्मदा के किनारे फैला हुआ था और माहिष्मती उसकी राजधानी थी।[७]

महाभारत के नलोपाख्यान मे जुये मे हारे हुये निषध राजा नल द्वारा दमयन्ती के साथ वन मे पहुचने पर नल ने दमयन्ती को अपने मैके जाने का आग्रह करते हुये जो तीन मार्ग बताये थे, उसमे से एक निमाड मे से होकर गया था। वे ही तीनो मार्ग आज भी भारतीय रेलपथ ने लिये है। [८]

महाभारत के पश्चात् परीक्षित भारतवर्ष के सम्राट बने। उनके समय से ही कलियुग का आरम्भ होना पाया जाता है। उसके बाद जनमेजय ने राज्य लिया। इस समय अवन्ति के राज्य मे मालवा, निमाड तथा मध्य प्रदेश के लगे हुये हिस्से मिले थे। अवन्ति राज्य पर अभी हैहयवशी लोग राज्य कर रहे थे।

बौद्ध-ग्रन्थ अगुतर निकाय, जैन-ग्रन्थ भगवती सूत्र या व्याख्या प्रज्ञप्ति तथा अन्य ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व ६०० के लगभग उत्तर भारत मे सोलह महाजन पद राज्य स्थापित थे। जिनमे मगध, कौशल और अवन्ति, दूसरो की अपेक्षा अधिक सुसगठित एव शक्तिशाली थे। मध्य प्रदेश का कुछ हिस्सा अवन्ति महाजनपद के अन्तर्गत था। जिसकी राजधानी 'माहिष्मती' थी।[९]

लेखो और शिलालेखो के आधार पर ईसा की पहली और दूसरी सदी से जिस जनपद का 'अनूप' नाम पाया जाता है, ईस्वी सन् १२४ मे गौतमी पुत्र सतकर्णी ने नहपाना नामक नरेश से जो प्रदेश अपने अधिकार मे लिया, उसमे अकारा (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के साथ अनूप (निमाड) का भी उल्लेख है।

इससे भी पहले कण्व और सुग के राज्य को नष्ट करके आन्ध्र के राजा सियुवत सतवाहन ने मालवा और निमाड मे अपना राज्य स्थापित कर लिया था और उसका पराभव कनिष्क के कुशल साम्राज्य के प्रतिनिधि महाक्षेत्र से रुद्रदमन ने किया था। इस इतिहास का उल्लेख गिरनार के ईस्वी सन् १५० मे जिस शिलालेख मे हुआ है, उसमे भी इस प्रदेश का नाम 'अनूप' दिया गया है। [१०]

मुगल काल मे भी निमाड की एक स्वतन्त्र राज्य के रूप मे प्रतिष्ठा थी। इस सम्बन्ध मे श्री प्रयागदत्त शुक्ल ने लिखा है-'तुगलक वश के समय मुसलमानी भारत कई स्वतन्त्र राज्यों मे विभक्त हो गया था। इन प्रान्तीय राज्यो में निमाड भी एक था[११] इस तरह सुदूर प्राचीनकाल से निमाड और निमाडी का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

७—श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (भारत सावित्री पृ० १३९)

८—श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (भारत सावित्री पृ० २१६)

९—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ) पृ० १०।

१०—श्री सत्यदेव विद्यालकार (मध्य भारत जनपदीय अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ ७७

११—श्री प्रयागदत्त शुक्ल (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ७१)।

जीवन और संस्कृति :

किसी भी भाषा को वहा के जीवन और सस्कृति से अलग नही किया जा सकता और इस दृष्टि से निमाड मे नर्मदा का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस तरह गगा के किनारे भारतीय सभ्यता पनपी है, उसी तरह नर्मदा को निमाड की सस्कृति के निर्माण का श्रेय रहा है। वह आत्मा के सगीत की तरह इसके मध्य से प्रवाहमान है। गगा को ज्ञान का रूप माना गया है क्योकि उसके किनारे ऋषियो ने ज्ञान की उपलब्धि की और यमुना को प्रेम का प्रतीक माना जाता है क्योकि उसके किनारे भक्ति का सगम प्रयाग मे हुआ। नर्मदा भी एक विशेष भावना का प्रतीक है—और वह है तपस्या व आनन्द की भावना। इसके किनारे ऋषियो ने तपस्या के द्वारा आनन्द की प्राप्ति की है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच मे बहने के कारण यह उत्तर की आर्य व दक्षिण की द्रविड सस्कृति का भी सन्देश वहन करती है।[१२]

यहा की ऊबड-खाबड जमीन के बीच मे भी लहलहाने वाली खेती, अमाडी की भाजी व जुवार की रोटी से पुष्ट होने वाले जीवन और झुलसा देने वाली गरमी के बीच भी मुस्कराने वाले पलाश के फूल से मानो एक ही सदेश गूज रहा है—तपस्या का आनन्द।

जब मै निमाड की बात सोचता हूं तो मेरी आखो मे ऊची-नीची घाटियो के बीच बसे छोटे-छोटे गाव, गाव से लगे जुवार-तुवर के खेतो की मस्तानी खुशबू और उन सबके बीच घुटने तक ऊची धोती पर महज एक कुरता और अगरखा लटकाये हुये भोले भाले किसान का चेहरा तैरने लगता है।

यहाँ की उबड-खाबड जमीन और उसके चेहरे मे कितना साम्य रहा है। यहा की जमीन की तरह यहा का जानपद जन मटमैला-गेहुआ रग लिये होते हैं। हल की नोक से जमीन की छाती पर उभरे हुये ढेलो की तरह उनके चेहरो पर सदियो का दुख-दर्द आसानी से पढा जा सकता है। उसने इतने कष्ट सहे हैं कि कष्टो को मुस्कगा कर पार कर जाना उसके सस्कारो मे बिंध गया है। स्वभावतः वह अत्यन्त मेहनती और सहनशील रहा है। दुख का पहाड आ जाये या सुख की क्षीण रेखा, वह सदा मुस्कराता है और अकेले रह जाने पर भी अपनी राह चलना नही छोडता।

जिस तरह कठोर पर्वत अपने हृदय मे नदियो के उद्गम को छिपाये रहता है ऐसे ही ये ऊपर से कठोर दिखने वाले मनुष्य सदियो से अपने अन्दर लोक साहित्य की परम्परा को जिन्दा रखे हुये है। इनके पास सभा के नही श्रम के गीत हैं जिन्हे ये हल चलाते व मजदूरी करते समय भी गाते आये हैं। इनके पास रग-मच के नही, वरन खुले मैदानो मे जन साधारण के बीच खेलने योग्य प्रहसन है जिन्हें ये बिना किसी बाह्याडबरो के भाव-प्रदर्शन और विचार-दर्शन के जरिये खेलते आये हैं। इनके पास पुस्तक की नही, वरन जीवन की लोक कथाये हैं जिन्हे ये पीढी-दर पीढी सुनाते आये हैं और हैं ऐसी लोक-कहावते जिनमे इनके सदियो का ज्ञान व अनुभव गुथे हुये हैं।

निमाड़ी भाषा और उसका स्वरूप

किसी भी राष्ट्र की भाषा के दो स्वरूप होते है। एक राष्ट्र भाषा और दूसरा वहा के विभिन्न जनपदो मे प्रचलित लोक-भाषायें। राष्ट्र भाषा समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। राजकीय दृष्टि से

१२—श्री आचार्य क्षिति मोहन सेन के भाषण से।

विभाजित प्रान्तो को समग्र राष्ट्रीयता के एक सूत्र मे पिरोये रखने का श्रेय भी उसे ही होता है। उसे लेकर ही राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण होता है और इस तरह किसी विश्व मान्य भाषा के सहारे प्रान्त और राष्ट्रो मे विभाजित सम्पूर्ण मानवीय जगत, वसुदेव कुटुम्व की तरह समीप आता जाता है। लेकिन लोक-भाषायें इन सबकी जड मे अन्तर्निहित वह शक्ति है जिसे लेकर ही राष्ट्र भाषा समृद्ध होती है। वे राष्ट्रीय इतिहास के नही, वरन मानवीय जीवन की निर्माता होती है। उनके सहारे ही हम कोल-संस्कृति और लोक-जीवन का दर्शन कर सकते हैं। इस तरह भिन्न भिन्न व्यक्तियो, जनपदो और प्रान्तों को लेकर राष्ट्र भाषा बनती है, उसी तरह विविधता मे सुन्दरता और एकता की तरह लोक-भाषाओ से राष्ट्र-भाषा समृद्ध होती है और उसका स्वरूप निखरता आया है। निमाडी निमाड जिले की ग्राम जनता द्वारा बोली जाने वाली ऐसी ही एक लोक-भाषा है। समूचे निमाड पर जिसका एक छत्र आधिपत्य है।

यह मुख्यतः उत्तर मे मालवे की सीमा को छूते हुये नर्मदा के आस-पास, ओंकारेश्वर, मण्डलेश्वर, महेश्वर, मध्य मे खरगोन, पश्चिम मे जोबट, अलीराजपुर, धार और वडवानी, तथा पूर्व मे होशंगाबाद के नजदीक हरदा और हरसूद को लेकर दक्षिण मे सुदूर खण्डवा और बुरहानपुर के आस पास खान देश की सीमा तक बोली जाती है।

आदर्श निमाडी के केन्द्र खण्डवा और खरगोन रहे हैं। इसके बोलने वालो की संख्या लगभग ५ लाख है।

लिपि और उच्चारण :

निमाडी भाषा के कुछ शब्दो की लिखावट और उच्चारण मे फर्क रहा है। यदि इसकी ओर ध्यान नही दिया जावे तो निमाडी भाषा को ठीक ढंग से पढा नही जा सकता और उसका अर्थ भी गलत होने की सम्भावना रहती है। जैसे निमाड के कुछ शब्द हैं—

मख, तुख, जेम, ओम।

देखने मे ये सीधे-साधे दो अक्षरी शब्द हैं लेकिन इनके निमाडी स्वरूप में प्रत्येक के साथ अन्त मे 'अ' का लोप है, और इनके उच्चारण मे अन्तिम अक्षर पर जोर दिया जाता है। यथा—

मख्अ, तुखअ्, जेमअ्, ओमअ्।

लिखावट और उच्चारण में समन्वय साधनें की दृष्टि से मैने जिसके लिये संस्कृत के ऽ शब्द का प्रयोग किया हैं। इससे सारी कठिनाई हल हो जाती है और साथ ही शब्द का सही स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये निमाडी लोक-गीत की एक पंक्ति को 'लीजिये'—

।। जेम सर ओम सारजो ।।

इसमे इसको वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नही हो पाया है क्योंकि जैसी लिखावट है वैसा ही उच्चारण होगा—'जेम सर ओम सारजो'। लेकिन इसका सही निमाडी स्वरूप हैं—'जेमअ्, सरअ्, ओमअ्, सारजो।' अतएव विशुद्ध निमाडी लिपि की दृष्टि से यह यों लिखा जावेगा—

(१) जेम ऽ (२) सर ऽ (३) ओम ऽ (४) सारजो।

लक्षण—निमाड़ी मे 'ल' की जगह 'ळ' का उपयोग बहुतायत से होता है यथा 'माळा —'माला', 'ताळा'—'ताला', 'नाळा'— 'नाला', 'काळा' —'काला', केळ—'केल', 'कोयळ'—'कोयल' 'उजेला'— 'अजालो' आदि।

(१) 'है' की जगह गुजराती भाषा की 'छे' क्रिया का उपयोग अधिकतर होता है। यथा—क्या है= काई छे ? कौन है = कुण छे ? कैसा है = कसो छे ?

(३) इसमे न' शब्द जब प्रथमाक्षर के रूप मे आता है तो यह बदल कर 'ल' हो जाता है और जब अन्तिम अक्षर के रूप मे आता है तो वह बदल कर 'ण' हो जाता है। यथा—प्रथमाक्षर के रूप मे— नीम 'लीम'। नमक—'लोण'। निंबू—'लिंबू'। अन्तिम अक्षर के रूप मे जैसे–वहन—'बहेण'। आगन— 'आगणो'। जामुन—'जामुण'।

(४) कर्मकारक की अभिव्यक्ति में 'को' के स्थान पर 'ख' का उपयोग होता है। यथा, मुझको– 'मखऽ'। तुमको—'तुमखऽ'। उनको—'उनखऽ'।

(५) सहायक क्रिया मे 'है' के स्थान पर 'ज' का उपयोग होता है। यथा, चलता है—'चलज्'। दौडता है— दौडज्' खाता है—'खावज्'।

(६) इसमे कर्ताकारक की विभक्ति 'ने' के स्थान पर बहुधा 'न' का और बहुवचन मे 'नन्' का उपयोग होता है। यथा, आदमी ने—'आदमीन्ऽ' आदमियो ने—'आदमी ननऽ'। पक्षी ने—'पक्षी नऽ'। पक्षियों ने—'पक्षीननऽ'।

(७) इसके सर्वनाम है—'हुऊ', तू और 'ऊ'।

क्रिया मे, एक वचन मे, तीनो कालो मे जिसका स्वरूप होगा—

वर्तमान काल—हुऊं चलू ज्। तू चलज्। ऊ चलज्।

भूतकाल—हुऊ चल्यो। तू चल्यो। ऊ चल्यो।

भविष्यकाल—हुऊ चलू गा। तू चलऽगा। ऊ चलऽगा।

(८) इसके कुछ शब्दो मे अनुस्वार का लोप हो जाता है। यथा, दात—'दात' मा—'माय'। हंसना—'हसना।'

सीमावर्ती भाषायें

उत्तर मे मालवीय, पश्चिम मे गुजराती, दक्षिण मे खानदेशी और पूर्व मे होशगाबादी इसकी सीमावर्ती भाषायें रही हैं। शब्दो का आदान प्रदान किसी भी जीवित भाषा का लक्षण होता है। इस दृष्टि से जैसा कि सभी भाषाओ के साथ होता है, निमाड़ी पर भी उसकी सीमावर्ती भाषाओ का असर रहा है।

निमाड़ी व गुजराती

निमाड के पश्चिम से गुजरात की सीमा लगी होने के कारण निमाड और गुजरात के बीच काफी सम्बन्ध रहे है। निमाड़ के ग्रामो मे 'गुजराती' नामक एक खेतिहर जाति बसी है। यद्यपि यह अब निमाड़

से आत्मसात् हो चुकी है। लेकिन इसके नाम से इसके गुजरात से आने का पता चलता है। निमाड मे 'नागर' जाति के भी गुजरात से सास्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। निमाड मे रहने वाली 'लाड' जाति गुजरात में रहने वाले 'लाड' लोगो से सम्बन्धित रही है। ये भी गुजरात से आये होगे ऐसा प्रतीत होता है। राजपुर वडवानी मे 'मेघवाल' नामक एक जाति वसी है। यह यहा सौराष्ट्र से आकर वसी है। इनके रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि सव पर सौराष्ट्रीय सस्कृति आज भी विद्यमान है।

निमाड के एक गनगौर गीत मे रनु के यहा सौराष्ट्र से आने का जिक्र है, देखिये गीत की पक्तिया हैं—

थारो काई काई रूप वखाणू रनुवाई,
सोरठ देश से आई ओ ॥

अर्थ है—हे रनु तुम्हारे किन किन स्वरूपो का वर्णन किया जाये, तुम सौराष्ट्र देश से जो आई हो।

श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मत से रादनी देवी की पूजा गुजरात-सौराष्ट्र मे भी प्रचलित थी। वहा उसकी चौदहवी सदी तक की मूर्तिया पाई गई हैं। एक मूर्ति के लेख मे उसे श्री सावादित्य की देवी श्री रनादेवी कहा गया है। सौराष्ट्र के पोरवन्दर के समीप वगवादर और किन्दरखेडा मे रन्नादेवी या रादलदेवी के मदिर है। वस्तुत. यह रादनी देवी गुप्तकाल से पहिले ईरानी शको के साथ गुजरात-सौराष्ट्र मे लाई गई थी जिसा कि निमाडो लोक गीत मे कहा गया है गुजरात सौराष्ट्र मे राणादे या रादलमा की पूजा सन्तान-प्राप्ति के लिये की जाती है। अर्वाचीन गुजराती साहित्य मे भी रणादेव के भजन पाये जाते हैं।[१]

गुजराती की तरह ही निमाडी मे भी 'घै" क्रिया तो कुछ इस कदर प्रयोग मे लाई जाती है कि दो निमाडी भाषियो की रेल मे बातचीत सुनकर अपरिचितो को उनके गुजराती भाषा होने का शक होने लगता है।

देखिये निमाडी और गुजराती भाषा के निम्न दो लोक गीतो मे कितना साम्य रहा है.—

गुजराती

जी रे चादो तो निर्मल नीर,
तारो क्यारे ऊगशे।
ऊगशे रे पाछली सी रात,
मोतीडा घणा झूलशे ॥[२]

निमाडी

चन्द्रमा निरमई रात,
तारो कवअ् ऊगसे,
तारो ऊगसे पाछली रात,
पडोसेण जागसे ॥[३]

---

(१) जनपद-बनारस (पृष्ठ ९१-९२ ता० १-१-५३)
(२) व
(३) निमाडी लोकगीत (रामनारायण उपाध्याय) पृष्ठ ५९

एक और गीत है:—

गुजराती

पान सरखी रे हूं तो पातलई रे,
मने बीड़लो वालई लई जावऽरे ।
एलायची सरखी रे हूँ तो मघु मघु रे,
मने दाढ मां घाली ने लई जाव रे ॥[४]

निमाड़ी

पान सरीखी पातलई रे,
चोल ई मऽ छिप जाय रे ।
इलायची, सरीखी महेकणई रे,
बटुवा मंऽ छिप जाय रे ॥[५]

साथ ही गुजराती और निमाड़ के इन शब्दो का साम्य भी देखिये ।

निमाड़ी	गुजराती	हिन्दी अर्थ
स्यालो	शियालो	जाडा
उढालो	उनालो	गरमी
आगणो	आगणु	आगन
मुक्को	मुक्की	घूसा
अगलई	आगली	अगुली
फलई	फली	फली
जाडो	जाडुं	मोटा
घाघरो	घाघरो	लहगा
शहेर	शहेर	शहर
महेल	महेल	महल
सेरी	शेरी	गली

निमाड़ी और मराठी

निमाड़ के दक्षिण मे मराठी भाषी प्रान्त लगा होने से निमाडी मे मराठी के भी कुछ शब्द आ मिले हैं, लेकिन इनकी सख्या इतनी कम रही है कि निमाडी भाषा सहज ही इन्हे आत्मसात् कर चुकी है । निमाड़ी में 'ल' की जगह 'ल़' का प्रयोग भी मराठी से ही आया प्रतीत होता है ।

निमाड़ी और मालवी ।

निमाडी और मालवी मे जितना साम्य है उतना और किसी भाषा मे नही है । जिस तरह इन दोनो भू-भागो की सीमा एक दूसरे से गले लिपटी हैं, उसी तरह यहा की भाषाये भी एक दूसरी से कुछ इस कदर मिलती हैं मानो दो बहिनें परस्पर गले मिल रही हो ।

(४) सम्मेलन पत्रिका, लोक सस्कृति अक, सवत २०१० पृष्ठ १८६
(५) जब निमाड़ गाता है (रामनारायण उपाध्याय) पृष्ठ ६२ ।

निमाड के उत्तर मे मालवे की सीमा लगी होने से वहा पर निमाड़ी मालवी से प्रभावित होकर बोली जाती है। इसमे निमाड के 'तुमख' को 'तमख', काई—'कई', कहू—'कू', वहा—'वा', जवअ्—को 'जद', और नही को 'नी' कर देने से निमाडी सहज ही मालवी से प्रभावित हो उठती है। देखिये—निमाडी का एक लोकगीत मालवी प्रभावित क्षेत्र मे पहुचकर किस कदर बदल उठा है। निमाड़ी गीत की पक्तियां है :—

सरग भवन्ति हो गिरधरनी, एक सदेसो लई जाओ।
सरग का अमुक दाजी खअ् यो कहेजो, तुम घर अमुक को व्याय ॥
जेमअ् सरअ् ओमअ् सारजो, हमरो तो आवणो नी होय।
जडी दिया वज्र किवाड़, अग्गल जडी लुहा की जी ॥[1]

इसका मालवी प्रभावित स्वरूप है —

सरग भवन्ति को गिरधरनी, एक सदेशो लई जावो।
सरग का अमुक दाजी से यूं कीजो, तम घर अमुक को याय ॥
जेमअ् सरअ् ओमअ् सारजो, हमरो तो आवणो नी होय।
जडी दया वजर कवाड़, अग्गल जडी लुआ की जी ॥

इसमे रेखाकित शब्द निमाडी से मालवी प्रभावित हो उठे हैं। इसी तरह निमाडी भाषा मे प्रचलित सिंगाजी का एक गीत देखिये:—

(२) अजमत मारी काई कहूं सिंगाजी तुम्हारी, झावुआ देश बहादरसिंग राजा।
अरे वहां गई बाजू ख फेरी, जहाजवान न तुमखअ् सुमर्‌यो, अरे वहा डूबत जहाज उबारी[2]

इसी का मालवी से प्रभावित स्वरूप है —

(३) अजमत मारी कई कूं सिंगाजी, तमारी झावुआ देस वां बादरसिंह राजा।
अरे वां गई बाजू ने फेरी, झाजवान ने तमखअ् सुमर्‌या, अरे वां डूबी झाज उबारी।[3]

इसमे रेखाकित शब्द निमाडी से मालवी प्रभावित हो उठे है। इसी सीमावर्ती भाषाओ के प्रभाव के आधार पर कुछ लोग निमाडी को मालवी की उपभाषा गिनते चलते हैं लेकिन वास्तव मे दोनो भाषाओ का अपना अपना स्वतन्त्र स्वरूप और उच्चारण रहा है। एक ओर मालवी जहा अपने वहां की गहर गभीर जमीन और सौन्दर्यप्रिय लोगो की अत्यन्त ही मृदु, कोमल और कमनीय भाषा है, वही दूसरी ओर निमाडी अपने यहा की ऊबड-खाबड जमीन और कठोर परिश्रमी लोगो की अत्यन्त ही प्रखर, तेजस्वी और सुस्पष्ट भाषा है। उच्चारण की दृष्टि मे मालवी जहा हर बात मे लचीलापन लिये होती है, वहा निमाडी साफ सीधी बात करने की अभ्यस्त रही है।

---

(१) निमाडी लोकगीत (रामनारायण उपाध्याय)
(२) लेखक द्वारा सग्रहित गीतो की पाडु लिपि
(३) श्री श्याम परमार (नई दुनिया) २१-६-५३

आश्मकी, चेदी और आंवती

महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने पाणिनी-कालीन बोलियो का उल्लेख करते हुये लिखा है कि 'पाणिनी-काल' मे सारे उत्तरी भारत की एक बोली नही थी। वरन् अलग अलग जनपदो की अलग अलग भाषायें थी। पश्चात् पाली काल मे उत्तरी भारत सोलह जनपदो मे बटा हुआ था जिनकी अपनी अपनी बोलिया रही होगी जिनके नाम निम्न थे:—

[१] अंगिका [२] मागधी [३] कांशिका [४] कौशली [५] व्रजिका [६] मल्लिका [७] चेदिका [८] वात्सी [९] कौरवी [१०] पाचाली [११] मात्सी [१२] सौरसेनी [१३] आश्मकी [१४] आवती [१५] गाधारी [१६] काम्बोजी।

इसमे आपने आश्मकी, आवती और चेदिका का अलग अलग उल्लेख करते हुये उनके स्थान पर आज क्रमशः निमाडी, मालवी और बघेली-बुंदेली को प्रचलित माना है।[1]

इसमे इतना तो स्पष्ट है कि निमाडी और मालवी परस्पर एक दूसरे की उपभाषायें नहीं, वरन् प्राचीन काल से विभिन्न जनपदो की समकक्ष भाषायें रही हैं। और सुदर रामायण काल मे महेश्वर को राजधानी के रूप मे लेकर नर्मदा और ताप्ती की सीमाओं से दिये निमाड़ का अपना स्वतत्र अस्तित्व रहा हैं।

(१) सम्मेलन पत्रिका आश्विन २०११।

JAINA ICONOGRAPHY—A brief survey

Introductory :

Prehistoric sites in India have not yielded as yet any definite clue to the existence of Jainism A few seals from Mohen-Jo-Daro showing human figures standing in a posture analogous to the free-standing meditative pose *(kāvotsārga mudrā)* of the Tīrthankaras [1] or the seal generally acknowledged as representing S'iva as Yogī (in the meditative attitude) cannot in the present state of uncertainty of the meaning of the pictoscript symobols, be definitely used to attest to the antiquity of Jaina art or ritual.

Jaina traditions ascribe the first twenty-two Tīrthankaras [2] of this age to a period covering millions of years before Christ, but modern criticism accepts only the last two—Pāras 'vanatha (250 years before Mahavīra's Nirvana) and Varddhamana (Māhavīra died about 527 B C. according to traditions and about 467 B. C. according to some modern scholars)—as real historical personages

The mutilated red-stone statuette from Harappa, though surprisingly analogous n style to the Mauryan-Polished-stone-torso of a Jina, obtained from Lohanipur, near Patna in Bihar, has, in addition, two circular depressions on shoulder-fronts, unlike any other Jina-icon known hitherto and could better be regarded as representing an ancient Yaksa [3] The Harappan statuette being a surface find it is difficult to assign a date to it

The Origin of Image Worship in Jainism, may, on the basis of available archaeological evidence, be assigned to *at least* the Mauryan age, c 3rd century B C,

---

1 Marshall, Sir John, *Mohen-Jo-Daro and the Indus Valley Civilisation*, Vol III, pl xii, 13, 14, 16, 18, 19, 22

Jain, Kamta Prasad, in *Modern Review*, August 1932, pp 152 regards some of these seals as representing Jinas (Tīrthankaras)

2 The Jainas believe that 24 Tirthankaras lived in this *Avasarpini* era, an equal number lived in the preceeding era (आरा) called *Utsarpinī*, and the same number will be born in the forth-coming *Utsarpini* ara. For the Jaina conception of these Evolutionary and Involutionary eras, see Jaina, J. C , Outlines of Jainism

Also Nahar, *Epitome of Jainism*

3 Marshall, op cit , Vol I pl x. a-d For the Lohanipur torso see, Jayaswal K P,, *Journal of the Bihar & Orissa Research Society*, vol XXIII part 1, pl. i-iv and Banerji-Shastri, in *ibid* , vol. XXVI 2 120 8 ff.

the age of Samprati, the grandson of Asoka, who is reputed in Jaina tradition to have been converted to Jainism and who is said to have given much royal support to the monks of this faith. The evidence of Lohanipur statue does support it.

So far as literary evidence is concerned, we have to weigh it with great caution since the available texts of the Jaina Canonical works are said to have been following the text of the second council at Valabhi which met in the latter half of the fifth century A D. There are a few references to worship of images and relics and shrines of the Arhats (Tirthankaras) by gods and men, and these may be at least as old as the Mathura council (which met in the beginning of the fourth century A D.) and even older.

But there are reasons to believe that attempts were made to worship an image (verily a portrait statue) of Mahavira, even during his life-time. This portrait statue of sandalwood was supposed to have been prepared, when Mahavîra was meditating in his own palace, about a year prior to the final renunciation. So this statue showed a crown, some ornaments and a lower garment on the person of Mahavîra. Being a life-time portrait statue, it was known as *Jivantasvāmi-pratim* , that is the "Imagie fashioned during the life-time of the Lord." All later images of this iconographic type then can be known as *Jivantasvāmi-pratimā*.

The original portrait statue was worshipped by the queen of Uddayana, king of Vitabhaya-pattana, (in Sindhu-Saurvira land) and later by Pradyota of Ujjain The image used to be taken out in Chariot on a certain day at Vidisa and during this *ratha-yatrā*, Samprati the grandson of Asoka, was converted to Jain faith by Ārya Suhasti. References to this image and the *ratha—yātrā* are found in texts like the Vasudevahindi, the Āvaśyaka-cūrṇi etc. The old bronzes of Jivantasvāmi, one inscribed and datable to c. 550 A. D., and the other partly mutilated with pedestal (and possibly the inscription on it) lost, but somewhat earlier in age, were discovered in the Akota hoard. The tradition of Jivantasvámi images is, therefore, fairly old and it is not impossible that one or more portraits of Mahāvira were made during his life-time. But regular worship of images and shrines of Tirthankaras may be some what later, though not later than the age of the Lohanipur torso. [1]

Nowhere it is said that Mahavira visited a Jain shrine or worshipped images of (earlier) Tirthankaras, like Parsvanatha or Ṛsabhanatha Mahavira is always reported to have stayed in Yaksa-ayatanas, Yaksa-Caityas Pūrnabhadra Caitya and so on [2]

---

1. For further details and discussion on Jivantaswami Images see Shah, U. P., *A Unique Image of Jivantaswami* Journal of the Oriental Institute, Baroda Vol 1, no 1 pp 72 ff and plates and Shah U. P, life-time Sandalwood Image of Mahavira, Journal of the Oriental Institute, Vol. I no 4, pp. 358 ff, Shah U. P.,—*Some More Jivantaswami Images, Journal of Indian Museum*

2. For further discussion on Caitya, Stupa etc worship in Jainism, see, Shah U. P, *Studies in Jaina Art*, (Banaras 1955), pp 43-121.

The Jain Image, as suggested elsewhere by us,[1] has for its model or prototype, the ancient Yaksa statues It was also suggested that the mode of worship of the ancient Yaksa–Naga cult has largely influenced the worship in Jainism The close similarity of the Jain (Tîrthankara) and the Buddha image, and fact that both Jainism and Buddhism are heterodox cults, which protested against the Vedic Brahmanical priestly cult, shows that Buddhism could easily have been influenced by the worship of the Yaksa and the Tirthañkara images

That the earliest known Buddha–image hails from Gandhara is a mere accident as suggested by Kramrisch[2] and does not preclude the possiblity of another earlier image being discovered in the land of Buddha's birth, as a product of the Native Indian School of Art Jayaswal's discovery of a Mauryan torso of a standing Jina figure from Lohanipur proves, on the one hand, the authenticity of Jaina traditions, on the image worship, and. on the other hand, the existence in Magadha of an earlier model for the Jina and Buddha images of early Christian centuries[3] The Jina-image definitely preceded the Buddha-image as a cult-object.

Lohanipur is a continuation of the Mauryan sites at Kumrahar and Bulandibag near Patna Along with this highly polished torso were revealed, from the foundations of a square temple (8 ft 10 in X 8 ft 10 in), a large quantity of Mauryan bricks, a worn silver punch-marked coin and another but unpolished and later torso of a Jina in the Kàyotsarga pose.

Evidence of Jina sculptures from the Kankàli Tilà[4] (Mathura) and adjoining sites, shows prevalence of the Stùpa-worship in Jainism, from at least the second century B C The Jinã stūpa, which once existed on the site of Kankali Tila, is regarded as a stūpa of Spar'svanātha, the seventh Tirthankara, but as I have shown elsewhere, it was very probably the stūpa of Pars'vanatha who flourished 250 years before Máhavira's Nirvana in 527, according to Jaina traditions The antiquities from the site, discovered so far, date from about first century B. C and suggest that the stūpa was enlarged, repaired and adorned with sculptures in the early centuries of the Christian era.[5]

---

1. Shah, U P, *Yaksa Worship in Early Jaina Literature, Journal of the Oriental Institue, Baroda,* Vol III (1953) No 1 pp 55–71, especially, p. 66.
2. Kramrisch, S'ella, *Indian Sculpture*, p 40. Also sec, remarks of U. P Shah in Journal of the Oriental Inst, Vol No. 4 pp. 358–368.
3. Also see, Shah, U P, *Origin of the Buddha Image*, Journal of the Oriental Institute, Vol. XIV, nos 3–4.
4. Smith Vincent, *Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura* (referred to as JS)
5. *Studies in Jaina Art* (Banaras, 1955), pp 11–12 and ft. notes

Antiquities from the site attest to the existence amongst he Jainas, of the worship of the stūpa. the Caitya-tree, the Dharma-cakra, the Āyāgapatas (Tablets of Homage), the auspicious symbols like the Svastika, the Wheel of Law, the Nandyā-varta diagram, the Powder box (Varddhamanaka), the S'rivatsa-mark, Pair of Fishes (Minā-yugala), the full-blown lotus (Padma) the Mirror (Darpana) and so on. [1] Since Images of Tirthankaras of the Kusana age from Mathura, represented both in the standing and the sitting attitude show no trace of drapery, they clearly suggest that even though, the Digambara and S'vetambara schism had come into being in the first or second century A. D , the final crisis, in the differentiation of Tirthankara icons had not yet taken place. Hence the evidence of art from Mathura refers to Jain worship common to both the sects in the first three centuries of the Christian era. [2] The earliest known Jina image with a lower garment hails from Akota. It is a bronze image of Risabhanatha in the Kayotsarga standing pose can be assigned to c. 450-500 A D 3A. It must be remembered that in the Digambara tradition no drapery is shown on the person of Tirthankara

Tirthankaras :

Images of the twenty-four Tirthankaras had no recognizing symbols (cognizance-Lāñchhanas), upto the end of the Kushana period, A Jina was identified only with the help of his name given in the votive inscription on the pedestal. During the Kusana period at Mathura, we find evidence of the worship of only a few Tirthankaras, namely, Rishabnatha, Neminatha, Pars'vanatha and Mahavira [4] The famous image of Arhat Nandyāvarta is dated in the year 49 or 79 [5] This inscription, recently correctly read by K. D Bajpai shows that it refers to the worship of Munisuvrata (the twentieth Jina) rather than Aranātha as thought of earlier. Thus the list of (24) Tirthankaras was possibly already evolved or was being enlarged in the age of this sculpture, in the second or third century A. D.[6]

It is interesting to note that in the Jain Kalpasūtra lives of only four Jinas—Rishabhanātha, Neminātha, Pārs'vanātha and Mahavira are described in detail and

---

1. Smith, *Op cit*, different plates
2. For a detailed discussion on the subjects of differentiation of icons in the two sects, see, Shah, U P., Age of Differentiation of the S'vetambara and Digambara Images, etc., published in the Bulletin of the Prince of Wales Museum, Vol I no. I. with plates.

3 A Shah, U. P. Akota Bronzes, p 26, figs 8a, 8b

4 See Luders' List of *Early Brahmi Inscriptions in Northern India* published as appendix to the different nos. of the *Epigraphia Indica*, Vol X.

5. *Epigraphia Indica* Vol II *Jaina Incriptions from Mathura*, Inscr no. 20.

6 Bajpai, K D *Tirthankara Muni-Suvrata in an Inscribed Mathura Sculpture in Lucknow Museum, Journal of the U. P Historical Society*, Vol. xxiv–xxv (1951–52), pp 219-220.

it is very likely that only these four lives formed the subject matter of the original text A glance at the stylised summary treatment of the remaining Tirthankaras lends doubt to their antiquity and would suggest later additions, especially because the view seems to obtain support from the absence of images of twenty (out of the twenty-four Tirthankaras) at the Kankali Tila, Mathura. It would seem that details regarding the other Tirthankaras were added towards the close of the Kusana period or before the Mathuri vacana (council at Mathura) took place under the chairmanship of Arya Skandila (c 300-320 A D)[1] It may incidentally be noted that while the nineteenth Jina Mallinatha was a female according to the S've sect, he was a male according to the Dig belief

The Kalpasūtra mentions no cognizance for any of the Trtihankaras. The Āvayśaka-Niryukati at one place only incidentally refers to the cognizance of Rshanatha (the first Jina), in a context which explains the names of the twenty-four Tirthankaras.[2]

Cognizances are not mentioned in the ancient lists of atis'ayas or supernatural attributes of a Jina[3] Of the thirty-four atis'ayas, eight are regarded as the Maha-Prātiharyas (chief attendant attributes) which are figured on sculptures and in paintings of a Tīrthankara These eight are–the As'oka-tree, scattering of flowers by gods, heavenly music, fly-whisks, lion-seat, prabha-mandala (halo), heavenly drum-beating, and divine umbrella[4] A critical study of all the texts, giving lists of atis'ayas and a comparison with all available early sculptures suggest that the list of the eight Mahāprātiharyas took its final shape probably towards the close of the Gupta age.

---

1 For the age etc of the different councils, see Muni Kalyanavijaya's, Vira Nirvana Samvat, aur Jaina Kālagananā, in Hindi Belief in 24 Jinas is however known to Bhagavati Sūtra, 16 5

2 See Avas'yaka Niryukti, vv 1080 ff For the various epithets and account etc of Rsabha, see, Avas'yaka Curni, p 131 ff, Vasudevahindi, pp 157, 185 Jacobi, Jaina Sutras, *S B E*, Vol XXII, pp 217 ff Trisastis'alakapurusa charitra, Vol I, *Padmacharitra* of Ravisena, 4 pp 566 ff and *Adipurana* of Jinasena

3 See Samavāyānga stra, sutra 34 pp 59–60 Abhidhana-cintāmani, 1 57-64 Tiloyapannatti of Yativrsabha, 4 verses 896 ff

4. According to the Dig verse—

श्रशोकवृक्ष सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासन च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्र सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

For a similar S'vetambar list see Pravacana-sāroddhāra, verse 440, Aupapatika sutra, su. 31, pp 68-69, For a discussion an Astamangals, see, Shah, U P, *Studies in Jaina Art*, pp. 109-112 For a List of Atis'ayas, acc to Digambar tradition, see, Jaina, C. R, *Outline of Jainism*, pp 129-130

Later sculptures or paintings of the Tirthankaras, show further elaboration in the details of the parikara or paraphernelia attendant upon a Jina, which seems to date from the early mediaeval period. [1]

The lāñchanas or cognizances of Jinas are not found in known Digambara or S'vetambara texts upto c 7 th–8th centuries A D. But in art their first appearance is known from a sculpture of Nemìnàtha on the Vaibhāragiri, Rajgir, having an inscription in Gupta characters referring to Chandragupta (Chandragupta II according to R. P. Chanda). Here a conch is placed on each side of the Cakra–purusa in the centre of the pedestal. [2]

But the lists were not finalised in the Gupta age and a post–Gupta sculpture from the same site, representing Pārs'vanātha or Supārs'vanatha, shows an elephant on each side of the dharmacakra in the centre of the pedestal, which is not the symbol of either of them and which is the symbol of Ajitanatha in both the sects. A comparison of the S'vetambara and Digambara lists of the lañchhanas shows a few differences and the origin of the lāñchhanas may therefore better be placed in the age of the final crisis between the two sects (Digambara and S'vetambara) which as I have suggested elsewhere took place in the age of the last Valabhi-vacanā in 473 A. D.

Tīrthankaras are said to be of different complexions, namely, white, golden, red, black or dark-blue. The complexions and the lāñchhanas help us to identify the various Tirthankaras in Jaina images or paintings. Rsabhanatha is further identified on account of the hair-locks falling on his shoulders, for, while the other Jinas plucked out all the hair, the first Jina, at the special request of Indra, allowed the back-hair (falling on shoulders) to remain. as they looked very beautiful.

Iconography of Rsabhanātha is especially noteworthy. His names Ādinatha or Rsabhanatha his lañchhaña the bull, and his bull-faced attendant Yaksa Gomukha resembling the S'aivite Nandikes'vara or Nandi (Bull) are closely analogous to the conception of S'iva with the bull as his vahana. Like S'iva, Rsabhanātha is sometimes represented with a big jatā overhead. (see figures 35, 36, 37 in Studies in Jaina Art)

A table, showing the complexions and cognizances of the various Jinas according to both the traditions is attached herewith. [3]

---

1. For a full description of the parikara, see, Ācāradinakara, II, p 205. Vāstusāra of Thakkara Feru, pp. 93 ff.

2. Archaeological Survey of India, Annual Report for 1925-1926, pl. LVI G, pp 125-26. *Studies in Jaina Art* fig. 15.

3. For S'vet lists, see, Abhidhana Cintamani, 1, 49, p. 17. For Dig lists see Pratisthāsāroddhāra, Tiloyapannatti, etc.

Tirthankaras of this Age.

No.	Tirthankara	Complexion [1]	Cognizance[2]
1.	Rsabhanātha	Golden	Bull
2.	Ajitanatha	Golden	Elephant
3.	Sambhavanātha	Golden	Horse
4.	Abhinandana	Golden	Monkey
5.	Sumatinātha	Golden	Krauñca (S've) Koka (Dig)
6.	Padmaprabha	Red	Lotus
7.	Supars'vanātha	Golden (S've) Harita or Greenish (Dig)	Svastika (S've)[3] Nandyavarta (TP.)
8	Candraprabha	White	Crescent moon
9	Puspadanta (Suvidhinātha)	White	Crocodile
10.	S'ītalanātha	Golden	S'rivatsa (S've.) Svastika (TP)[4]
11.	S'reyamsanatha	Golden	Khadgi (S've) Ganda (Dig)
12.	Vasupujya	Red	Buffalo
13.	Vimalanatha	Golden	Boar
14.	Anantanatha	Golden	S'yena or falcon (S've.) Sāhi (? TP) [5] or Bear
15.	Dharmanatha	Golden	Vajra
16.	S'āntinātha	Golden	Deer
17.	Kunthunatha	Golden	Goat
18.	Aranatha	Golden	Nandyāvarta (S've) Tagara-kusuma (TP)[6] Fish (Dig.)
19.	Mallinātha	Dark-blue (Nila) S've.	Water-jar
20.	Munisuvrata	Black (S've) (Nila) (Dig)	Tortoise
21.	Naminatha	Golden	Blue-lotus
22.	Neminatha	Black (S've) Nila (Dig)	Conch
23.	Pārs'vanātha	Dark-Blue. (Nila) S've.	Snake
24.	Mahāvira	Golden	Lion

1. *Abhidhāna Cintāmani*, 1 49, p 17, and *Tiloyapannatti*, 4 588-89 p 217.
2. *Abhidhana Cintamani*, 1 47-48, p 17, and *Tiloyapannatti*, 4.604-05, p 209.
3. *Svastika* acc to *Pratisthasarodhara*, p 9 v 78
4. *S'ridruma* acc to *Pratisthasaroddhara*, p 9 v 78.
5. *Sedhika acc* to *ibid*, p 9 v 78
6. *Tagarm*, *ibid*, v 79, p 9.

Panchaparamesthins and S'alākapuruṣas :

The Tîrthankaras are the supreme objects of veneration, classified as the Devádhidevas by Acarya Hemachandra in his Abhidhana Cintamani. Enjoying the same high reverence are the Pancha-Paramesthins, or the Five Supreme Ones-namely, the Arhat,, the Siddha, the Ācarya, the Ūpadhyāya and the Sadhu.[1] The first two are liberated souls, but the Arhats are placed first as they are embodied souls, some of whom even establish the Tirtha, constitued of the sādhu, sādhvi, s'rāvaka and s'ravika The Siddhas are liberated souls who live in a disembodied state and reside on the Siddha-s'ilā on top of the whole universe Representations in paintings of Jinas after attainment of Nirvāna show them as seated on the Siddha-s'ila of crescent shape [2] Worship of the Pancha-Paramesthins is very old and a later elaboration of the concept is obtained in the popular worship of the Siddha-chakra (fi. 85 of studies in Jain Art) or the Nava-Devata (fi 77 of studies in Jaina Art) in the S'vetambara and Digambara rituals respectively. [3] Earlier texts refer to Pañcha-Paramesthins only and the inclusion of the four more *Padas* or dignitaries in the above mentioned diagrams probably does not antedate c 9th century A D The earliest available reference to Siddha-Chakra diagram, so far known, is from Hemachandra's own commentary (called Brihat-nyāsa) on his famous grammar S'abdānus'asana

The worship of the Five Supreme Ones is impersonal. It is the aggregate of qualities of these souls that is remembered and venerated rather than the individuals. By saluting the Paramesthins, a worshipper suggests to his mind the qualities of the Arhats, Siddha, Acarya, Upadhyaya or Sadhu which the mind gradually begins to follow and ultimately achieves the stage attained by the Siddhas.

But the Devadhidevas are not Creators of the Universe and the other Paramesthins are not their associates in the act of creation or dissolution. The Jaina Divinity-The perfect Being-The Siddha or the Arhat- as a type is an ideal to all the aspirants on the spiritual path A pious Jaina is not expected to worship his deity in the hope of obtaining some worldly gains as gifts from the God. For the Tirthankara is

1 For Pañcha-Parameṣhṭhins, see, Jaini, J L, *Outlines of Jainism* Nahar, *Epitome of Jainism.*

2 For Kalpa-Sutra miniatures representing this and other scenes, see, Brown, W Norman, *Miniature Paintings of the Kalpa-Sutra* and Muni Punyavijaya, *Pavitra Kalpa-Sutra.* The Paintings chiefly refer to the *Pancha-Kalyanakas* (Five Auspicious Events) in the life of a Jina. The conception of such events obtains parallel in the Buddhist representations of chief auspicious events in the life of Buddha.

3 For a discussion on the Siddha-Chakra and the Nava-Devata, see, Shah, U P, *Siddha-Chakra, Bulletin of the Baroda Museum,* Vol 3 pp *25th.* Also see, Shah, U. P., *Varddhamana-Vidya-Pata,* Vol. IX (194), fig 2 on pl. facing p 44 Shah, U. P., *Studies in Jaina Art.* 97-103 for a fuller discussion on *Siddha-Chakra* and *Nava-Devata.*

unattached, freed from all the bondages of karma. whether good or bad. The worshipper simply meditates on the virtues of the Divinity so that they may manifest in the worshipper himself The Perfect souls and souls striving towards perfection, are Great souls, the S'alakapurusas as the Jainas call them.

This in essence is Hero worship or Apostle worship and as such, great souls, both ascetic and non-ascetic came to be especially revered. Lives of great souls became the favourite theme of Jaina Puranas. Such S'alkapurusas were the 24 Tirthankaras + 12 Cakravartins + 9 Baladevas + 9 Vasudevas = 54 Mahapurusas. Later texts speak of 63 S'alākāpurusas by counting nine Prati-Vāsudevas (enemies of Vasudevas) amongst the Great souls [1]

Four Classes of Gods, Kulakaras and other Deities :

The Sthananga sutra and other Jaina canons classify gods into four main groups, namely the Bhavanavāsis, the Vyantaras or the Vānamantaras, the Jyotiskas and the Vimanavāsis These are again subdivided into several groups with Indras, Lokapālas, Queens of these and so on.

The classification, acknowledged by both the sects though not without slight differences, is a very old tradition, but these are after all deities of a secondary nature in the Jaina Pantheon [1]

But there were other Great souls. The Jainas also evolved a conception of Kulakaras like the Manus of Hindu mythology. They were 14 according to the Digambaras and 7 according to the S'vetambaras

Every sect draws its pantheon from the ancient deities worshipped by the masses and adopts them in a manner suitable to the new environment and doctrines Such for example was the worship of the deities whose shrines existed in the days of Mahavira and whose images and festivals are referred to in the Jaina Āgama literature They include Indra, Rudra, Skanda, Mukunda, Vasudeva, Vais'ramana (or Kubera), Yaksa, Bhutas, Naga, Pis'aca, trees etc , Lokapalas and so on

---

1 For on account and paintings of these S'alakapurusas, see, Muni Punyavijaya and Shah, U, P, *Some Painted Wooden Book-Covers from W India, Western Indian Art (Special issue of Journal of Indian Society of Oriental* Art (1965-66), pp 34 ff, esp pp 36-38, and plates XXIV-XXV, and p 43, Table I for Tirthankaras, their Complexion and cognizances, and Table II, p 44 for the different S'alakapurusas, acc to S've traditions For Dig tradition of S'alakapurusas see, Ramachandran, T N, Tiruparuttikunram and its Temples, pp. 219 ff

1 For details regarding these classes, see Kierfel, Kosmographic Der Inder section on Cosmographic Der Jaina Tiloypannatti, Samgrahani Sutra, Bunler, The Indian Sect of the Jainas, Ramachandran, T. N, Tiruparuttikunram and its Temples, pp. 185 ff.

Indra, the great Vedic deity was assigned the role of a principal attendant of the Jina or the Buddha by the Jainas and the Buddhists. Most of the other deities of the list were deities worshipped by the common man, the masses, and were not necessarily derived from Vedic priestly cult.

Skanda, the Commander of Gods in Hindu mythology is the commander of the infantry of the Jaina Indra. But the goatfaced Naigames'in who was associated in ancient times with procreation of children as -Nejamesa was also worshipped by Jainas (cf. Gajasukumara adhyayana of Antagadadasao).[1]

Sarasvati or Srutadevata-the Goddess of Learning :

Amongst other ancient Jaina deities may be mentioned S'rutadevata or Sarasvati, the Goddess of Learning and S'ri-Laksmi, the Goddess of Abundance and Beauty. An early image of the former is obtained from the Kankali Tila, Mathura and shows her seated with upright legs and carrying the lotus and the book The peculiar posture of the goddess is not without any significance. For, according to the Ācaranga sūtra, Mahavira himself obtained knowledge while he was sitting with knees held up *(ukkurudiae Janu)* in the *godohika asana*, i. e. the posture adopted while milking a cow. Sarasvati in this image, is therefore, seated in an asana associated with the attainment of Kevala jñana by Mahavira.[2]

Later images of Sarasvati show her as having two, four & eight and even twenty-four arms. The four-armed variety is the most common and the goddess generally carries, the vina, and the book in two hands and showing the amirtaghata (purna-kalas'a, and the lotus or the varada mudra in two others. The swan is generally shown as her vahana.[3]

Bahubali, the elder son of the first Tirthankara Rsabhanatha is very popular amongst the Digambaras and colossal statues of Bahubali (also known as Gommates'vara) are found at S'ravana Belgola, Karkal and Venur in the South, in the Mysore State. The conception of the rigorous penances practised by Bahubali is comparable with the penances of Valmiki, around both of them, plants grew and creatures crawled on their bodies. Images of Bahubali show him nude, standing in the Kayotsarga posture, and engrossed in meditation, with creepers and reptiles entwining his legs

1. For an exhaustive account of this deity, see, Shah, U p , *Harinegamesin*, *JISOA*, vol XIX (1952-53) pp. 19-40 and plates.
2 Dated in the year 54, the image was the gift of a smith Gova, See Smith Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura, pl. XCIX , pp 56 ff Also see, Acharanga sutra, 2. 15 24-25, SBE. Acharanga Sutra, (transl.) p. 201
3 Shah U. P., Iconography of the Jaina Goddess Sarasvati, Journal of the University of Bombay X (1941)

Images of Bahubali are hardly found in S'vetambara temples.[1] They are however found in the Jaina Caves at Ellora and Aihole, in several sites in the South at Kalugumalai etc. and in Digambara shrines

Rituals of both the sects include invocation and worship of the Parents of the Jinas Sculptural representations of them are very rare, though relief slabs showing Mothers alone of the twenty-four Tirthankaras, each holding a child on her lap, are known A ceiling in one of the shrines at Kumbharia however contains representations of the 24 Parents along with labels inscribed below them A type of sculptures, showing princely figures of a male and a female standing or sititting by the side of each other and holding a child each, with a few more playing children shown on the pedestal, deserves special consideration Some of these' sculptures are also accompanied by a yaksha and a yaksini figure on the sides of the pedestal In such cases the main figures cannot be regarded as Yaksa and Yaksini Every sculpture of this type has an image of a Jina on top of the tree under which the pair is sitting or standing I have therefore tentatively suggested that these sculptures might have represented Parents of the different Jinas Such sculptures have been mainly found from various sites in Central and Eastern India, especially sites like Khajuraho and the Devagadh fort [2]

Images of Jaina monks are also found in temples of both sects Usually they have inscriptions of pedestals giving the name of the monk represented Figures of monks of the Digambara sect are nude while those of the S've sect show a lower and an upper garment Often there is figure of *Sthapanacarya* [3] in front of these monks who carry a book in one hand and show the *vyakhyana mudra* with the other A disciple monk is sometimes shown in front of the acarya.

Ganadharas are Jaina monks, being direct disciples of Tirthankaras, and hold the highest position of respect among Jaina monks and nuns Sculptures of Ganadharas like Pundarika and Gautama, the chief direct disciples of the first and the last Tirthankaras respectively, are sometimes installed in special cells in Jaina shrines

Sarasvati or S'ruta-Devata—The Goddess of learning

Two goddesses enjoyed unquestionable popularity in the past, one is Laksmi, Padma or S'ri, the goddess of wealth, beauty and abundance, the other is Sarasvati, the goddess of learning Wealth and learning the two primary needs of humanity, valued

---

1 For a fuller account of Bahubali see, Shah, U P, *Bahubali, Bulletin of the Prince of Wales Museum* no 4, pp 32-39, with plates.

2 For a detailed discussion with photographs, see, Shah, U. P., *Parents of the Jinas, Bulletin of the Prince of Wales Museum*, no 5, pp 24-32 with plates,

3 For *sthapanacarya*, see, Shah, U P *Studies in Jaina Art*, pp 113-115

as such from remote past in India, were idealised in the forms of deities and widely worshipped.

The Mother-goddess conception is of hoary antiquity, both in India and outside Amongst deified natural phenomena and objects, we find, in Vedic age, a group which includes, Sarasvati, Ap-devatas, rivers, and Sindhu. Amongst deified abstract qualities and objects connected with sacrifice, we find Sarasvati or Vak group which includes Vak or Sarasvati, Gauri, Sasaparni, Ila (as speech) and Bharati. Rivers are youthful goddesses, amongst whom Sarasvati and Sindhu are the most famous in Vedic age. Sarasvati who receives the warmest homage in Vedic literature, amongst goddesses and amongst mothers, is so mighty and great that even gods are said to approach her on bent knees (RV. VII. 95. 4). As a river she is called seven-sistered and is invoked to preserve sacrifice. Residence on her banks is desired by the Aryan people.

She is the instructress of men and creatrix of good speech (RV. I. 3. 10-12) and is addressed as Sunrta devi (RV I. 40 3) As a sacrificial goddess she is closely associated with Ila, Mahi and Bharati (RV. V 5. 8, IX. 5 8, X 74 8, X 110 8), all the three being explained by Sayana as different forms of speech Gauri is identified with Vak or speech (RV. I, 164. 41) Sarasvati is the creatrix of truthful speech, instructress of gods and men, and inspirer of knowledge (RV. I. 3 11-12).

Once the sanctity of the Vedic river Sarasvati was established, she soon took the foremost place amongst rivers From Vedic times, whiteness and purity came to be associated with the river and it is not improbable that the whiteness of the goddess of learning came by transference from the river itself [1]

Gradually Sarasvati came to be identified with the speech-the speech or mantras chanted on her banks, with the speech of the Madhyadesa. She came to be equated with Divine Wisdom-the Prajnaparamita of the Buddhists The river association, so obtrusive in the Vedic Samhitas, and sometimes in the Brahmanas, gradually recedes into background and the concept of the deity comes to the forefront. Sarasvati soon becomes the Mother of the Vedas, the dispenser of all wisdom, the foremost of the Mothers, the best of the rivers and the greatest of all goddesses Very soon she became the presiding deity of fine arts, especially music, dance and song

Not only was Sarasvati herself approached for prosperity (Aitareya Brahmana, II. 1. 4; Vaj Sam 31. 37) but she and Laksmi were often invoked together

Seal no. 18 found at Bhita[2] contains a figure of a vase *(bhadraghata)* on pedestal. Below it is written in characters of the Gupta period, the name Sarasvati. J. N. Banerji

1. Bhattacharya, Haridas, *Sarasvati, The Goddess of learning, K B Pathak Commemoration Volume p 36*
2 *A S I A R 1911-12, p 50,* pl XVII

has also referred to a round seal from Rajghat, with pot and foliage motif and Gupta legend 'S'ri Sarasvata'[1]

Coomaraswamy suggested the relation of the full-jar (purna-ghata), signifying abundance, with that of fertility, of which the lotus was another symbol. Sarasvati bestows vitality and offspring (RV. II. 41. 17) and is associated with deities who assist procreation (RV. X 184 2).

It is interesting to note that the lotus and the water-pot. along with the book signifying knowledge and sacred lore, are the earliest symbols known of Sarasvati in Indian Iconography. The earliest available image of Sarasvati, dating from the Kusana period and hailing from Mathura, belongs to the Jaina faith. It shows the goddess with her right hand raised up from the elbow and carrying something (now mutilated and lost but) whose end seems to suggest that it was a lotus with a stalk, and holding the book with her left hand On two sides are attendants one of whom is holding a water-pot. the purna-ghata [2]

That Sarasvati held a lotus in her right hand in this image, is further inferred by a beautiful bronze from Vasantagadh hoard, where the symbol is well preserved and where again we find two purna-ghatas placed on the pedestal on two sides of the goddess. The image dates from c. seventh century.[3] This early iconographic form of Sarasvati was popular amongst the Jainas as can be seen from the fact that two more bronze of Sarasvati with the lotus and the book in her hands are also found from the Akota Hoard [4]

In Jainism, the goddess of learning is named variously as Sarasvati, S'rutdevata, S'arada. Bharati, Bhasa, Vak-devata, Vagisvari, Vani and Brahmi[5] She is regarded as the superintending deity of knowledge and learning As S'rutadevata, she presides over the S'ruta or the preaching of the Tirthankaras and the Kevalins. The twelve principal canonical texts-the dvadasangas are regarded as the different limbs of the S'rutedevata

The antiquity of her worship in Jainism is established from literary references found in the Bhagavati sutra, the Mahanisitha sutra, the Dvadasaranayacakra, the Pancasaka (of Haribhadra suri), etc , and the famous Mathura image of the Kusana age

---

1 Banerji, J N , *Development of Hindu Iconographs*, pp 197-198

2 Shah, UP , *Iconography of the Jaina Goddess Sarasvati, Journal of the Univerity of Bombay*, Sept , 1941 198 f, fig 1 Smith, VA , *The Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura*, pp 55-57, pl XCIX.

3 Shah, U p , *Bronze Hoard from Vasantagadh, Lalitkala*, no 1, pp. 55 ff , fig 15

4 Sah, U P., *Akota Bronzes*, figs 18, 33, 37.

5 *Abhidhana-Cintamani*, 2 155 and comm of Hemacandra on the same.

The dhyanas of this goddess mostly describe a two-armed, a four-armed or a multi-armed form. In art, however, we also find six-armed and eight-armed varieties of Sarasvati images. She is white in complexion and rests on a lotus seat. When two-armed, she carries the lotus and the book.

The Vajra-Sarada of the Buddhists holds the same symbols; the Sita-Prajnaparamita of the Buddhists does the same. Prajnaparamita, the embodiment of Mahayana Scripture of the same name, symbolised knowledge.

Munisundar suri (15th century A.D.) describes Sarasvati as holding the vina and the book in her two hands and riding the swan. A sculpture on a pillar in the famous big Jaina temple at Ranakpur shows Sarasvati standing and playing on the vina with both the hands. The swan vehicle is shown near her right foot.

The Buddhist Vajravina-Sarasvati also holds the vina with both the hands. In Hindu Iconography, Sarasvati and Laksmi are shown accompanying Visnu as his consorts. In such cases, Sarasvati carries the vina with both hands. Even when she is replaced by Pusti, Pusti also carries the vina with two hands.

According to the Digambara writer S'ubhacandra, Sarasvati has the peacock-vahana and holds the rosary and the book in her two hands.

In the Sarasvati-kalpa ascribed to the S've writer Bappabhatti suri (c. 8th century A D), Sarasvati is invoked as white in complexion and four-armed, carrying the vina, the book, the rosary of pearls, and the white lotus. In this variety, she has the swan as her vahana.

Bappabhatti gives one more form of Vagdevi showing the *varada*, the *abhaya*, the book and the lotus.

According to the Digambara writer Ekasamdhi, Vani is white, sits on the lotus, and shows the jnana mudra, the rosary, the *abhaya* and the book in her four hands. Mallisena and Arhaddasa (both Digambara) describe the same form and add that she has the peacock as her vahana. Pandit Asadhara (Digambara) refers to her peacock vehicle but does not describe her symbols.

Two sculptures of six-armed variety of Sarasvati are known from Luna Vasahi, Abu, one with almost all symbols mutilated and another showing the lotus in two upper hands, the Jnana mudra with two middle ones, and holding the rosary and the *kamandalu in* the two lower hands. The swan is shown as her vahana.

An eight-armed form of a dancing Sarasvati is identified on the west wall of the S've. Jaina temple of Ajitanatha at Taranga (North Gujarat). Here the goddess shows the book, the rosary and the *varada mudra* in three right hands, and the lotus, the noose and the *varada* in three left ones Symbols of the remaining two hands are mutilated.

A large variety of Sarasvati is known from literature and art. This shows the great popularity of this ancient goddess amongst the Jainas.

S're-Laksmi The Goddess of Beauty and Abundance

Long ago, in *Eastern Art* Vol I (pp. 175 ff) Coomaraswamy discussed the Early Indian Iconography of S'ri-Laksmi which was later followed by an excellent long paper, by Dr Moti Chandra, on "*Our Lady of Beauty and Abundance, Padma-S'ri,*" in *Shri Jawaharlal Nehru Abhinandana Grantha* The cult of S'ri-Laksmi, as shown by Moti Chandra, was closely connected with the ancient Mother-goddess cult represented in old terracotta figurines and stone-rings Moti Chandra has also shown her association with sky-going horse, *makara*, and cupid (Kamadeva, whose ensign is *makara*) In the Rgvedic times, she indicated importance, splendour and adornment, something pleasing to the eye The word Laksmi is used in the sense of auspicious or pleasant quality In the S'ri-sukta, S'ri and Laksmi are denomination of the same goddess who is said to be sitting or standing on the lotus *(Padma-sthita)* According to this sukta, S'ri is awakened by the roar of elephants, bathed by the elephants with golden pitchers Mother S'ri is lotus-faced, lotus-born, and darling of Visnu

S'ri-Laksmi in the Epics is a concrete goddess with full iconographic significance She bears on her hand a *makara* as an auspicious mark, and is the mother of Kamadeva Shi is *padmalaya* and *padmahasta.*

S'ri-Laksmi retains her auspicious character in Jainism. The lustration or *abhiseka* of S'ri has been reckoned amongst the fourteen[1] auspicious dreams seen by a would-be Tirthankara's mother The Pritidana referred to in Jaina canonical texts included images of the goddesses S'ri, Hri, Dhrti, Laksmi, Kirti, and Buddhi. In Jaina texts on cosmography S'ri and Laksmi are said to live on lotuses of extraordinary magnitude in the lakes Padma-draha and Pundarika-draha respectively, thus emphasing S'ri-Laksmi's association with the waters and the lotus

When accompanied by elephants pouring water on her, S'ri-Laksmi is generally called Gaja-Laksmi, and two-armed as well as four-armed forms of this goddess are available in Jaina temples She usually carries the lotus in two hands, and the rosary and the pot in the padmasana. She is popular amongst both the Jaina sects

Yaksas and Yaksinis[2]

The Yakasa cult is very ancient in India References to Ceiyas like the Gunasila-Ceiya, Purnabhadra-Ce, Bahuputrika-Ce, etc in the Jaina Canonical texts are significant. The commentators rightly interpret them as shrines of yaksas (yaksa-ayatana)

---

1 Fourteen amongst the S'vetambaras, Sixteen amongst the Digambaras

2 Yaksa workship in Ancient India has been discussed by Dr Coomarswamy in his Yaksas I and II, *Yaksa worship in Early Jaina Literature has* been discussed by Umakant Shah in *Journal of the Oriental Institute, Vol III no 1.* Dr Motichandra's recent contribution on Yaksa worship, published in Bulletin of the Prince of Wales Museum, no 3 throws some more light on the problem

and the word Jakhayayana is not unknown to the canons[1]. Purnabhadra and Manibhadra are well known as ancient yaksas.

Mahavira stayed in such shrines. The Aupapatika sutra gives a detailed description of the Purnabhadra Caitya, calling it ancient (porana) and visited by many persons Mahavira, obviously selected for his stay shrines of cults which were not following the vedic rituals and were, therefore non-vedic, or heterodox and possibly not-Aryan in origin. The description of the Purnabhadra Caitya refers to a Prthivi-s'ila-patta, soft to touch and shining like mirror, which I regard as referring to a highly polished N B. P. terracotta plaque. Excavations at Kosam and Vaisali have demonstrated the existence of the N.B.P. ware in the sixth century B C Thus the description of the Purnabhadra shrine visited by Mahavira is authentic and preserves genuine old tradition,[2]

We should, therefore, have no hesitation in regarding these Prthvi-silapatas (of the Purnabhadra-Chaitya description) as precursors of the Jain ayagapatas from Mathura dating from C. 1st cent B C.–1st Cent A D

It is but natural that when the pantheon began growing the Jainas thought of introduction a yaksa and a yaksi, as attendants *S'asana Devatas*, who protect the samgha of a particular Jina The attendants obtained a place on the pedestal of a Jina-Image itself

Firstly a pair common to all the twenty four Tirthankars was introduced. The yaksa carried a citron and a money-bag and resembled Kubera or Jambhala. The Yaksi two-armed, carrying a mango-bunch and a child. and having the lion as her vahana (mount) had as her protypes Nonaia Nana (of the Kushana coins), Durga and Hariti.

In Jaina iconography, before the Gupta age, or more correctly before the end of the fifth century A D, we do not find any attendant Yaksi accompanying any Tirthankara, nor do we find separate sculptures of any Sasanadevata which can with confidence be assigned to a period before c 500 A. D.

Tirthankara sculptures which can be definitely assigned to the Gupta age are very few. A headless statue of Mahavira in the Lucknow Museum, inscribed and dated in the Gupta year 113, is perhaps the only known Jaina sculpture of the Gupta age, bearing a date, discoverd hitherto. It does not show the Sasandadevatas on the pedestal Some finer specimens like J 104 and C 181, in the same Museum, or B 6 & B 33 in Mathura Museum, though not inscribed, can be assigned to the Gupta age or late Gupta age on the evidence of style.

A seated figure of Neminatha on the Vaibhara hill, Rajgir, published by R. P. Chanda, *A. S I Ann. Rep. for 1925–26*, pp. 125 ff.pl lvi.d, bears a fragmentary inscription, in Gupta characters, referring to Chandra Gupta (the second). This is the earliest

1. Shah, U. P. *Studies in Jaina Art pp*
2. For a detailed discussion, see, *Studies in Jaina Art.*

specimen assignable to a fairly accurate date, showing the introduction of the cognizance of a Jina, but has no figures of Sasanadevatas.

None of the Tirthankara sculptures of the Kusāna period show on their pedestals either the recognizing symbols of Jinas or the Yaksa pair, even though Yaksa Kubera or a two-armed Yaksi, a prototype of Ambika, were probably known and worshipped separately as Yaksa-deva or Yaksi-devi but not as an attendant (Yaksa) or a Sasana-devata.

The Agama texts are silent about attendant Yaksa pairs. Even the Kalpasutra which could have referred to them is completely silent about Sasandevatas and the lanchanas of Jinas. Negative evidence is generally inconclusive, but since both literature and archaeology have hitherto not produced any evidence to the contrary, one can safely assume that the Sasandevatas were not evolved before c. 500 A D.

An interesting beautiful bronze of standing Rsabhanatha, discovered from Akota, is perhaps the earliest known Jaina image which shows Sasanadevatas accompanying a Tirthankara.

The inscription on the back of the images reads, "Om devadharmh=yam niv (r) ti kule Jinabhadra Vachanacharyyasya," and is written in the Brahmi script of c 550 A D. Since on the evidence of Kahavali, Vachanacharya, Divakara, Ksamasramana Vadi etc, are ekarthavaci terms, Jinabhadra Vacanacarya of the inscription can be identified with Jinabhadra Gani Ksamasramana.

Now, in this bronze we find a Kubera-like Yaksa and a two-armed Ambika shown as attendant Yaksa and Yaksi of Rsabhanatha I have shown elsewhere that at Ellora, and other places we find only this Yaksa pair In sculptures and bronzes, at least upto about the end of the ninth oentury A D., we find only this pair I have also shown that the pair accompanies several Tirthankaras like Rsabhanatha, Parsvanatha and Mahavira, even though in later literature and art, the Kubera-like Yaksa and Ambika are Sasanadevatas of Neminatha only It is quite clear that before circa ninth century A D,, the different pairs of Sasanadevatas were not evolved or at least they were not popular.

The period of transition from the Gupta age to the middle ages, i e from the end of the sixth century A D. to c 11th century A D is a period of new impetus to Tantrism in all the three main Indian sects, namely, Hinduism, Buddhism and Jainism. This brought into existence worship of new deities and additions to the existing number of iconographic varieties of old ones. The new activity continued even up to at least the thirteenth century A. D. which period (6th-7th to 13th century A. D.) has witnessed temple-building activity on a large scale all over India The earlier simplicity of forms in architecture and sculpture was replaced by complex forms overloaded with ornamental details Gods and Goddesses who had two or four arms multiplied so much so that we have conceptions of deties like the thousand-arm Avalokitēsvara [1]

The different sects vied with one another in the race for multiplication of their respective pantheons and mystifying their rituals with complex details. Jainism, which has shown greater conservatism than other sects in preserving their *ācāra-vidhi*, was also obliged to introduce new deities (though, of course, subordinate to the Tirthankaras), or to compose Tantric works like the Jvālinī-kalpa or the Bhairava-Padmāvati-Kalpa. The Achāra-Dinakara of Vardhamāna Suri is a product of this spirit, and was composed in 1468 V. S. (1411 A. D.) Th Nirvānakalikā composed by another Pādalipta in C. 1000–1025 A. D., in the mediaeval period but ascribed to the earlier Pādalipta-suri, and the Pratisthāsārodhara of Âsādhara were also composed under this influence.

It was in the beginning of this transitional age that the first Yaksa-pair Kubera-like Yaksa whom I propose to address tentatively as Sarvānubhuti invoked in the Panca-Prati-kramana, and two-armed Ambika made their first appearance as the attendant Yaksa pair *par-excellence*, common to all the Tirthankaras. Early specimens of Ambika, hitherto known, came from the Meguti temple, Aihole, in the Dharwar district,[2] Mahudi on the Sabarmati, North Gujarat,[3] Dhānk in Saurashtra,[4] or on sculptures numbered B. 78 and B. 75 in the Mathura Museum.[5] But these belonged to an age not earlier than the seventh century A. D. The discovery of the Akota hoard pushed back the introduction of Ambika Yaksi in Jainism to at least the sixth century A. D. as evidenced by a bronze of Ambika with an inscription assignable to C 550–600 A. D., and by the bronze of Rsabhanatha installed by Jinabhadra,[6] discussed above, both the bronzes belonging to the Akota hoard. The earliest descriptions of the two-armed Ambika known hitherto, came from the Caturvimsatikā of Bappabhatti Suri[7] (c. 800–895 V. S.) and the Harivamsha[8] of Jinasena (783 A. D.). Jinasena also refers to Apraticakra in the same verse in which Ambika is referred to. But since Apraticakrā is known as a Vidyadevi in ancient Jaina texts, it is not certain that in the age of

---

1. See प्रतिक्रमण सूत्र with प्रबोधटीका, Vol, III P 170 Also cf. U.P. Shah, '*A female Chaurie-Bearer From Akota, Bulletin of the Prince of Wales Museum*, no 1.
2. Cousens, H., *Chalukyan Architecture*, Pl IV. The sculpture is assignable to the seventh century A. D
3. *Annual Report, Department of Archaeology, Baroda State 1939*, pp. 6 ff, and plates.
4. H. D. Sankalia, '*Earliest Jain Sculpture in Kathiawar*' *Journal of the Royal Asiatic Society, London*, July 1939, pp. 426 ff. In an article in the *Jain Satya Prakasa* (Gujarat, Ahemedabad), Vol. IV, nos 1–2, Dr. Sankalia tries to give them an early age, but the reliefs are certainly not eariler then c. 7th century A. D.
5. Vogel's *Catalogue of Sculptures in the Mathura Museum*. A seventh century relief is also found at Chitral in the old Travancore State (now Kerala), see, *Buddha and Jaina Vestiges in the Travancore State, Travancore Archaeological Series* II part 9, pp 115 ff, pl. V. fig 2
5. *Journal of Indian Museums*, Vol. VIII pp. 50 ff., fig.

6a See U.P. Shah, *Akota Bronzes*, fig. 11

7. *Caturvimsatika*, ed. by H.R. Kapadia pl 143, 162
8. *Harivamsa*, (M.D Granthamala, Bombay) Vol II, Sarga 66, v 44.

Harivamsa, Cakresvari was already introduced as the Śāsana-Yaksi of Rsabhanatha. There is no sculpture of this age showing Cakresvari as the attendant Yaksi of Rsabhadeva.

Earlier references to Ambika come from the Lalitavistarātikā of Haribhadra Suri An Amba-Kusmandi Vidya has been referred to by the same writer in his tika on the Avasyakaniryukti, V 931, (p. 411). In both these cases, however, neither the vahana nor the symbols are described.

But a still earlier reference is from a Ms. of Visesavasyaka-Mahabhasya with Ksamasramana-Mahattariya- tika recently discovered by Agamaprabhakara Muni Shri Punyavijayaji which seems to settle the age of the introduction of Ambika Yaksi This Ksamasramana-Mahattariya-tika gives the following reference on folio 226·—

यस्मिन्मन्त्रदेवता स्त्री सा विद्या अम्बाकूष्माण्डयादि ।

Here Amba-Kusmandi is referred to as a Vidya. But since we do not find Amba or Kusmandi in the list of the sixteen chief Vidyas, it is very likely that this refers to the Vidya-Sadhana of the same goddess Ambika which accompanied the different Tirthankaras and which later came to be worshipped as the Sasanadevata of Neminatha

Thus we obtain both literary and archaeological evidence for Ambika, assignable to the sixth century A. D. No earlier evidence is known hitherto. It is also interesting to note that both these evidences are associated with Jinabhadra Gani Ksamasramana We might therefore, safely say that Ambika Yaksi was introduced in Jaina worship sometimes in the sixth century A. D or at the earliest in c 500 A D. It is not possible to push back this upper limit of the introduction of Ambika in the present stage of our knowledge, since all Tirthankara sculptures assignable to an age prior to c 500 A D. do not show any attendent Yaksa pair nor do we find any loose sculptures of Ambika which can be placed before c. 500 A D

But when were the 24 Yaksas and Yaksinis introduced ? The earliest list of these sasanadevatas is obtained from the Abhidhana-Cintamani of Hemacandra and their iconographic forms are given in *the Trisastisaakapuruscaritra of the same writer.* The Nirvanakalika of Padalipta, ascribed to the famous Padaliptacharya of c 2nd century A D, also gives such lists. As the Pravacanasarodhara-tika (V S 1248) refers to it, the lower limit for Nirvanakalika is 1191 A D. The work however seems to have been been composed in the eleventh or twelth century A. D. The colophon shows that the author belonged to the Vidyadhara-kula and the work was composed by Padalipta, grandpupil of Sangamasimha, A Sangamasidhamuni died by fasting on Mt Satrunjaya and his pupil installed an image of Pundarika Ganadhara in his teacher's memory in V S 1064 A Sangamasimha composed a hymn which referred to the Vimala Vasahi

---

1 वैयावृत्यकराणा प्रवचनार्थं व्यापृतभावाना यदाम्बाकूष्माण्डी–आदीना शान्तिकराणा । Lalitavistara, p, 60,

at Abu, erected in V. S. 1088 The teacher of the author of Nirvanakalika was possibly one of these two Sangamasimhas. The treatment of the different sections of Nirvanakalika, e. g., the Ekasitipadavastu. shows that the work belongs to an age of Brahmanical influence in the Jina Tantra. The work is assignable to c 1000—1025 A. D.

The Prākrit text kahāvalī is supposed to be a work of one Bhadresvara Sūri who lived in the 12th century A D. But the language of this work betrays peculiarities of the language of the churṇis. I have shown in a separate article in Jaina Satya Prakāsa, Vol. XVII. no 4 (January, 1959), pp. 90–91, that the work is earlier than the 12th century A. D. In this work, in the Sthavirāvalī portion, we find :—

जो उण मल्लवाई व पुव्वगयावगाही खमापहाणो समणो सो खमासमणो नाम जहा आसी सपयं देवलोअ गओ जिणभद्दि (इ) गणि खमासमणो त्ति रयियाइं च तेण विसेसावस्सय-विसेसणवई-सत्थाणि जेसु केवलनाणदसणवियारावसरे पयडियाभिप्पाओ सिद्धसेन दिवायरो ।

Thus the author of Kahā valī cannot be far removed in from Jinabhadra Gaṇi amasramaṇa by about six centuries, if he talks of Jinabhadra as one who was lately (recently or better 'now') dead. Jinabhadra being very famous, at the most an author writing about a couple of centuries later can use the word sāmpratam (now') for him. This would mean that Kahāvalī was originally composed in a period not later than the eighth century A. D.

This work refers to the Sāsanadevatas in the portions dealing with the lives of the different Tīrthaṅkaras. This would show that in c. 8th century A. D., the twenty four different Śāsanadevatās were already introduced in Jaina worship. Archaeological evidence known hitlerto does not support the conclusion. No sculpture from any part of India assignable to this age shows the different Yaksis, or Yaksiṇīs The only early sets of the different Yaksīs, known hitherto, come from the Navamuni cave, Orissa, and the Temple No 12, Devagadh fort Madhya Pradesh. The Navamuni cave is assigned to the ninth century A. D. and the reliefs probably belong to the same age or are slightly later The Devagadh set bears inscribed labels, the characters of which are roughly assigned to c. 9th–10th century A. D We might, therefore, say that the earliest known archaeological evidence for the 24 different Yaksis does not date prior to the ninth century A. D.

If the passages of the Kahāvali, referring to different Sāsanadevatas are genuine, then either we accept that the Śāsanadevatās were introduced in c. 8th century A. D. or that the Kahavalī dated from the 9th rather than the 8th century A. D , we might arrive at a tentative compromise by assigning Kahāvalī to c. 800 A. D.

It must however be acknowledged that the different Yaksīs did not become popular in temple worship before c. 1000 A. D. and even later. This is proved by the fact that on a number of pedestals of Tīrthaṅkara sculptures in the different cells at Delvada, Mt Abu, and in the Jaina shriness at Kumbharia, we find Ambika (2 or 4

armed) and 2 or 4 armed Yaksa, either like Kubera, (Sarvānubhuti) or evolved from the form of Kubera This is in fact a stage in the evolution of the worship of twenty four different Śasanadevatās. The practice lingered on even after Hemacandra (who refers to quite different forms) as proved by the archaaeological evidence of Abu and Kumbharia noted above.

At Devagadh the following stages are marked: One replaced the old Yakṣī (Ambika) for Tīrthaṅkaras other than Neminātha and inserted a two-armed Yaksī showing *abhaya (or varada) mudra* and a pot or a citron ; the other was the evolution of all the twentyfour different Yakṣīs with a different iconography and new names as in Temple no. 12. In this set some forms are of better workmanship than others Each Yaksī is represented as standing on a separate slab, and above her is a figure of a Jina whose Śāsanadevatā she is supposed to be. Names of the Jina as well as his Yaksī are of the same age as the sculptures since it is difficult to assign a roughly accurate date either to the sculptures or to the Devanagarī characters of the labels, the characters being in a stage of evolution which still awaits scientific palaeographical study. But they may tentatively be regarded as of the same age, c. 950 A D. or a little earlier.

The Tiloyapannatti gives a list of twentyfour Yaksis, the names being different from the lists of the Devagadh set or of the Pratisthasarodhara. The age of this portion of the Tiloyapannatti is uncertain and the list is probably later than the time of the original Tiloyapannatti The reference to Balacandra Saiddhantika in Tiloyapannatti, also suggests the same thing.

The following comparative tables showing names of the twenty four Yaksis according Devagadh Temple 12 set (DT). Tiloyapannatti (TP), Pratisthasaroddhara (PS), and Hemacandra 's Trisastisalakapurusacaritra (HT) may be useful :—

Jaina	DT	TP	PS	HT
1. Rsabhanatha	Cakresvari	Cakresvari	Cakresvari	Cakresvari
2. Ajitanatha	—	Rohini	Rohini	Ajita
3 Sambhava.	—	Prajnapti	Prajnapti or Namra	Duritari
4. Abhinandana	Sarasvati	Vajrasrn-khala	Vajrasrn-khala or Duritari	Kaliga
5 Sumati.	—	Vairankusi	Khadgavara or Mohini	Mahakali
6. Padmaprabha	Sulocana	Apraticakra	—	Syama
7. Suparsva	—	Purusadatta	Kali or Manavi	Santa
8 Candra-prabha	Sumalini	Manovega	Jvalini	Bhrukuti
9. Puspadanta	Bahurupi	Kali	Mahakali-Bhrukuti	Sutaraka

Sr No	Jaina	DT	TP	PS	HT
10.	Śitala ₒ	Śrıyadevı	Jvālāmalinı	Māhavi or Cāmuṇdā	Aśokā
11	Śreyāmsa ₒ	Vahnı-Devı	Mahākālì	Gauri or Gomedhakì	Mānavì
12.	Vāsupūjya	Abhogarohinì	Gaurì	Gandhārì or Vınyurhmālınì	Caṅḍā
13,	Vimala ₒ	Sulakṣana	Gandhārì	Vairotì Vıdyādevi	Viditā
14	Ananta ₒ	Anantavıryā	Vairotyā	Anantamāli Kumbhını	Aṅkuśā
15	Dharma ₒ	Surakṣıta	Anantamatì	Mānasì-Phrabhartā	Kundarpā
16	Śāntı ₒ	Śrıyadevı or Anantavìryā	Mānasì	Mnhāmānasì-Kandarpa	Nırvāṅì
17	Kunthu ₒ	Arakarabhı(?)	Mahāmānasì	Jayā-Gandhārinì	Balā
18	Ara ₒ	T arādevı	Jayā	Tarāxati-Kālì	Dhārınì
19.	Mallı	Bhìmādevi	Vıjaya	Aparājitā-	Vairotyā (Dharpna-prıyā)
20	Munisuvrata	—	Aparājıtā	Bahurūpınt-Sugandhıni	Naradattd
21.	Namı ₒ	—	Bahurūpınì	Cāmudā Kusumamolıni	Gandharì
22	Nemı ₒ	Ambāyikā	Kuṣmāṅdınì	Āmra-Kus-māṅdını	Ambıkā
23.	Pārśva	Padmāvati	Padmā	Padmāvatì	Padmāvatì
24.	Mahāvìra	Aparājıtā	Sıddhāyınì	Sıddhāyinì	Sıddhāyikā.

It may be noted that in the above table Hemachandra represents the Savetmbara tradıtıon, the rest represent Digambara traditıons.

At Pıthaura, Nagod State, ıs a shrıne of Pattanı-devi, where the godeess Ambıka ıs accompanıed by small fıgures of the other 23 Yaksınis on the three sıdes, The names of these Yaksınıs are [1] – Bahurupını, Cāmuṅdā, Sarasvatì, Padmavatì, Vijayā, Aparājltā. Mahamanası, Anantamati, Gandhārī, Mānasī, Jvālāmālınī, Bhausı ? Vajraśrnkhalā, Bhānujā (?), Bahını (?) Obvıously, the small ınscrıbed labels

1. Annual Report, Western Cırcle, Arch Survey of Indıa, for the year endıng 1920.

could not be read properly, but the list seems to be generally akin to the list af Tiloyapannatti which seems to present a stage between the Deogarh set and the Pratisthāsāroddhāra. At Deograh, a four-armed loose sculpture of Yaksi Sarasvatī and another of Sumālinī are also obtained. Since both are dated in the year 1070 A D, it may be presumed that the Deogarh Temple No 12 set is earliear than 1070 A D The list of Yaksas and Yaksinis given by the TP cannot be assigned to the orignnal TP as suggested by by the learned editor. The original text has definitedly undergone certain additions and its evidence has to be treated with caution.

Literary traditions of both these sects, show that by c. 12th century A,D,, the lists of the varioes Yaksinis were finalised in both the Jaina sects

It is noteworthy that in the Digambara lists of Āsādhara and others, names of some of the Yaksinis seem to have been borrowed from the sixteen principal Vidyadevis since the lists of Vidyadevis are earlier in age, the above conclusion is inevitable

The evolution of the iconography yakshi Padmavatī a snake-goddess is equally interesting. Firstly, in all early representations of Pars'vanatha, before c. 900 A D, she hardly figures as the yaksī of this Jina. Along with Dharanendra, she is known as a snake-deity standing and adoring Pars,vanatha or holding an umbrella over the head of Pars'vanatha Scenes of attack *(upasarga)* by Kamatha on Pars'vantha during the latter's meditation, are very popular in the Deccan in the Jaina caves at Elura, Dharas'iva, etc, and even further south at Chitharal, Vallimalai, Kalugumalai and so on. In all these representations, Dharanendra is shown as protecting Pars'vanatha with his snake-hoods and adoring him, along with his queen Padmavatī It is indeed surprising to find that in the canonical lists of chief Queens of Dharanendra the name of Padmavatī is not mentioned at all It is, therefore, difficult to label this attendant queen of Dharanendra as Padmavatī in the representations at Elura etc (She may be Vairotya)

Vairotya the thirteenth Jaina Mahavidya is an earlier Jaina snake-goddess Lists of Mahavidyas are definitely earlier than the hitherto known lists of the 24 different Jain Yaksas and Yaksinis and the ancient Jaina monk Ārya Nandila is associated with the worship of Vairotya in Jaina traditions Very probably, the snake-goddess in the Elura relief was known as Vairotya

Padmavatī gradually replaced Vairotya in popular worship during the mediaeval period from c 1000 A D Next to Ambika, she is the most popular yaksī and a snake-diety, but her role in the Jaina Tantra is greater than that of the Ambika Tantric texts like the Bhairava-Padmavatī-kalpa, Adbhuta-Padmavatī-kalpa etc, were composed Four-armed, she usually carries, the lotus, the goad, the noose, etc and rides on a composite mythical animal called Kukkuta-Sarpa

Cakres'varī, the yaksinī of the first Tīrthankara Rsabhanatha is also a later goddess, for in all earlier representations, atendating c. 900 A.D , it is Ambika who figures as the yaksini of Rsabhanatha and all other Tīrthankaras (cf. the image installed by Jinabhadra Vacanacarya from the Akota Hoard. Her iconography shows close similarity with that of the Hindu Vaisnavī, Cakres'vari Yaksi invariably carries the *Cakra* and shows in the other arms, the conch, the *varada mudra* the disc, etc. Like Vaisnavī she rides on the eagle.

It is often difficult to differentiate between images of Cakres'varī the Yakshī and Cakres'varī or Apraticakrā the Vidyadevī, if the goddess is not accompained by the figure of a Jina (either on her crown or above the pedestal). Apraticakrā, the Vidyadevī is earlier in origin than the yaksī of the same type.

Siddhayika replaced Ambika as the Yaksī of Mahavira, during the process in which separate yaksas and yaksinīs were evolved for each Jina. Though she is regarded as one of the four principal yaksinīs, she could not become so popular as the other three yaksinīs. namely Cakresvarī, Padmavatī and Ambika. In the sve. traditions, Siddhayika usually shows the book, the Vina, the abhaya or varada and citron in her four hands and rides the lion. In the Digambara tradition she shows the book and the varada or abhaya when two-armed. The lion is her vahana.

Alist of the later yaksas of the 24 Tīrthankaras, according to the Śvetambara and Digambara traditions, is attached herewith Space does not permit us to refer the iconographic pecularities of each of these deities. It may however be noted that names of some of these yaksas are interesting. Gomukha, the cow-faced yaksa of Rsabhanatha has his parallel in Nandī or Nandikesvara, the mount and attendant of the Hindu Śiva There are Jaina yaksas like the Sanmukha-yaksa, the Brahma-yaksa, the Catur-mukha-yaksa, the Īs'vara-yaksa and so on which obviously betray later attempts to placate Hindu gods in Jaina worship.

Tirthankara :	Yaksa (S've) :	Yaksa (Dig)
1. Rsabhanatha	Gomukha	Gomukha
2. Ajitanatha	Mahayaksa	Mahayaksa
3. Sambhavanatna	Trimukha	Trimukha
4 Abhinandana	Yaksesvara or Īsvara	Yaksesvara
5. Sumatinatha	Tumburu	Tumburu
6. Padmaprabha	Kusuma	Kusuma or Puspa
7. Suparsvanatha	Matanga	Matanga or Varanandi
8 Csndraprabha	Vijaya	Śyama or Vijya
9. Suvidhinatha	Ajita	Ajita
10. Sītalanatha	Brahma or Brahmā	Brahma or Brahmesvara

11. S'reyamsanatha	Isvara or Manuja or Yaksaraja	Isvara
12 Vasupujya	Kumara	Kumara
13. Vimalanatha	Saṇmukha	Saṇmukha or Caturmukha or Karttikeya
14 Anantanatha	Patala	Patala
15 Dharmanatha	Kinnara	Kinnnara
16 Śantinatha	Garuda	Garuda or Kimppurusa
17. Kunthunatha	Gandharva	Gandharva
18. Aranatha	Yaksendra	Khendra or Jaya
19 Mallinatha	Kubera	Kubera
20. Muenisuvrata	Varuna	Varuna
21. Naminatha	Bhrukuti	Bhrukti or Vidyatprabha
22. Neminatha	Gomedha	Gomedha or Sarvanha
23. Pars'vanatha	Parsva or Manuja	Pars'va or Dharana
24. Tahavira	Matanga	Matanga

Gomukha, the yaksa of the first Tirthaṇkara Rsabhanath, is cow-faced and reminds us of Nandi the vahana of Śiva Rsabhanatha himself is sometimes shown with a jata overhead of hair-locks falling on shoulders from the back and in such cases he obtains comparison with the Hindu Siva who is Nandi-vahana. In his two-armed variety Gomukha carries the cirton and the bag in the Digambara and the Śvetambara traditions and rides the elephant When four-armed, he shows symbols like the varada, the rosary, the cirton, and the goad Sometimes the rosary and the citron are replaced by the goad and the money-bag The vahana is generally the elephant but occassionally the bull also In the Digambara tradition, the symbols of the four-armed variety are generally the lotus, the cirton, the money-bag, and the *abhaya or varada mudra,* while bull is more common as his vahana.

Gomedha, the yaksa of Nemnatha, is generally six-armed and rides on the man according to Śvetambara and Digambara texts, but the latter also refer to a four-armed variety with the elephant vehicle

The Yaksa of Parsvanatha usually rides on the tortoise vehicle and shows the cirton and the money-bag when two armed, in both the traditions, When four-armed, he shows symbols like, the snake, the citron, the *nakula* and the snake or the mace in the Śvetambaro traditions, and shows symbols like the snake, the snake, the noose, and the *varada* or the goad, the noose, the *abhaya* and the citron in his four arms according to the Digambara traditions, He often has one or more snake-hoods overhead He is called Parsva in the Śve tradition and Dharana in the Dig tradition

The yakṣa of Mahāvira rides the elephant and is generally two-armed in both the sects. He shows the citron and *nakula* or the staff according to the Śvetāmbara tradition and the fruit or the pot and the *varada* or the *abhaya* in the Digambara tradition He is sometimes represented four-armed or six-armed amongst the Digambaras, and shows the *anajli-mudra* or carries the *dharma-cakra* with two hands

Since Rsabhanatha, Neminātha, Pārśvanātha and Mahavira are amongst the more popular Tīrthaṅkaras in Jaina worship we have given here some details of the iconography of their yakṣas and yakṣinis

It may be noted that over and above these yaksas, worshipped as attendants of the Tirthankaras, yaksa Vaisramaṇa or Kubera as one of the Lokapalas of Śakra, presiding over the northern quarter, also finds a place in the Jaina pantheon and worship

Comparisions of the different Jaina yakṣas and yaksinis with some deities of the Buddhist and Hindu pantheon would be highly interesting. It will be seen that the Jaina lists contain names which are distinctly Hindu, for example, Brahma-Yaksa. Nandi, Kumara, Saṇmukha, Varuna Īsvara, Chaṇda, Chānmuṇḍa, Kali, Mahakali and Gaurī, The iconography, however, as described in the Jaina and Hindu texts, often differs, but the borrowings are unmistakable Sometimes the Hindu name is retained, sometimes the Hindu iconographical traits with a different name are marked out. In the latter type of borrowing, sometimes both the Hindus and the Jainas might have borrowed or evolved a form from the earlier common heritage of gods and goddesses worshiped in India. Since the Jaina lists are comparatively later, the couclusion that in some of the above cases the Jainas have borrowed from the Hindus, is justified.

Of Buddhist influence we have a few cases only, in Taradevī, Vajrasrnkhala and Vajrankusa, etc.

Why was this borrowing done? To obtain a following, to attract the people into its fold, a sect had to show the superiority of its deities over the deities of the other sects. Mahayana Buddhism did this by showing their gods trampling over or riding the Hindu gods, the Jainas were not so cruel or discourteous and they were satisfied with assigning a subordinate position to the Hindu deities by making them yaksas and attendant yaksas and yaksinis. It is impossible for a sect to gather strength without incorporating in one form or the other the beliefs and practices of the masses Sometimes this process is not deliberate but is the inevitable result of the human tendency to continue older beliefs and practices. The Jainas, as the march of history through the ages shows us, had to meet strong Śaivite opposition which made it necessary for them to show the superiority over those of the Hindus Sometimes

the Tirthankara was to be practically the same as the highest divinity of the other faith, for example, Rsabhanatha was hailed as Isana, Vamadeva, Tatpurusa or Aghora as has been done by the author of the Adipurana in the 8th century A. D The Vedic Indra was assigned the function of celebrating the different *Kalyanakas* (Auspicious events of the Tirthanakaras.) But the idea of an Indra as a ruler of gods was extended and as many as sixty-four Indras grew up among whom Isanendra is noteworthy, Sakra or Saudhramendra is clearly the Vedic Sahasraksa Indra while the description of Isanendra shows that he is none else than Siva At a later stage the Bhairavas and Yoginis and even Ganesa came to be included in Jaina worship

The Sixteen Jaina Mahavidyas :

The sixteen Mahavidyas form a group of Tantric goddesses worshipped both by the Savetambara and Digambara Jaina sects Jaina traditions speak of as many as 48,000 vidyas out of which sixteen are reported to be the chief ones, Texts providing the *Sadhana-vidhi* of each of these sixteen vidyas are not yet traced, though Sandhanavidhis for a few are known, but belief in Mahavidyas seems to be ancient.

Both the Buddhist and the Jaina sources demonstrate the popularity of spells, magic, mantras, vidyas, science of divination, supernatural powers etc in the time of Buddha and Mahavira, Alms obtained through the supernatural powers of mantra and vidya are prohibited for monks, in the Jaina canonical texts. These texts refer to vidyas like *antaddhani*, *utpatani*, *jangoli-vijja* (against snake-bites and poisons), the *matanga-vidya* (for telling past history) and so on Varddhamana-vidya, still popular, is an ancient Vidya, of which *Sadhana-vidhis* are available

The Nisitha-Bhasya refers to two vidyas namely, *Gauri* and *Gandhari*, which according to the Brhat-Kalpa-Bhasya are *Matanga Vidyas*

The earliest known Jaina accounts of the origin and worship of Vidyadevis and Vidyadharas are available in the Vasundevahindi (c 400 A D.),[1] and in the Paumacariyam of Vimalasuri, Elaborate accounts of Nami and Vinami founding two groups Vidyadhara cities on the slopes of Vaitadhya mountain are also available in the Avasyaka-curni and the Avasyakatika of Haribhadra suri, in the Caupanna maha-purisa-cariyam (868 A D.) of Silanka, the Trisastisalakapurasacaritra of Hamcandra (c 1100-1167 A D), in Digambara work Harivamsa of Jinasen (783—4 A D.) and so on. There were sixteen clans or groups of Vidyadharas named after the classes of vidyas they possessed Hemacandra's list of sixteen classes of Vidyas practically agrees with the earlier list given by Sanghadasa gani in his Vasudevahindi According to the Vasudevahindi, the vidyas originally belonged to the Gandharvas and the Pannagas and included vidyas like Maha-Rohini, Pannati

1, For a detailed discussion on this see, Shah, U P , *Iconography of the sixteen Jaina Mahavidyas, Journal of the Indian Society of Oriental Art*, Vol, XV, pp 114-177

(Prajanapti), Gori (Gauri), Vijjumukhi (Vidyutmukhi), Mahajala (Mahajavala); Bahurupa, and so on

In the Harivamsa it is stated that of the Vidyādharas, the following eight classes, namely, Manus. Mānavas, Kausikas, Gaurikas, Gandharvas, Bhumitundakas Mūlaviryās and Śaṅkukas belonged to the Aryas, Adityas or Gandharvas while the other eight, namely, the Mātaṅga, the Paṇduka, the Kāla, the Śvapāka, the Parvata the Vamśālaya, the Paṇdumūla and the Vṛksamūla classes belonged to the Daityas, the Pannagas or the Mātaṅgas.[1] This is important as it suggests a new line of investigation into the origin and development of certain Tantric practices and deities in India.

Besides the lists of the sixteen classes of Vidyādharas, the author of the Harivamśa gives a list of Mahā vidyās and states that the following vidyās. belonging to the above-mentioned sixteen classes, are assigned the chief position amongst all vidyās · Prajnāpti, Rohini, Aṅgariṇi, Mahā-Gauri, Gauri, Mahāśvetā, Māyuri, Ārya-Kuṣmaṇdā-devi, Acyutā. Āryavati, Gandhari, Nirvṛtiḥ, Bhadra-Kali, Maha-Kali, Kāli, Kalamukhi [2]

The list is important in as much as, besides being one of the earliest known complete lists of the sixteen vidyās available to us, it differs largely from the somewhat later lists supplied by writers of both the sects. According to these later traditions, the sixteen Mahāvidyās are : (1) Rohini, (2) Prajnapti, (3) Vajraśṛnkhalā, (4) Vajrānkuśā, (5) Cakresvari, (S've) or Jambūnadā (Dig.), (6) Naradattā or Puruṣadattā, (7) Kāli, (8) Mahā-Kāli (9) Gauri, (10) Gandhāri, (11) Sarvāstra-Mahājvālā (S've.) Jvālāmukhi (Dig) (12) Mānavi, (13) Vairotyā (S've.) Vairoti (Dig), (14) Acchuptā (S'Ve) Acyuta (Dig), (15) Mānasi and (16) Mahā-Mānasi [3]

As yet hardly any sculptures or paintings of Mahā-vidyas in the Digambara tradition have been brought to light but future explorations are likely to be rewarded with success Amongst the S'vetāmbaras, a very valuable set of sixteen Mahāvidyās is preserved in the dome of the beautiful Sabhāmandapa of the Vimala Vasahi, Delvada, Mt Abu This Sabhamandapa was built by Pṛthvipala, a minister of Kumārapāla, in c V S 1204=c. 1147 A D[4] The set of Vidyādevis in the Sabhāmaṇdapa of the Lūnavasahi is incomplete and a few of the sculptures are modern crude copies of some old mutilated ones A palm-leaf ms of seven different texts bound in one volume, preserved in the Jaina Bhandāra at Chhāni near Baroda

1. *Harivamśa* of Jinasena, 22 vv. 56-60.
2. *Harivamśa*, 22 vv. 61-66
3. *Adhidhāna-Cintāmaṇi*, 2. 152-154; *Pratisṭhāsāroddhāra*, p 56, vv. 33-36
4. For some photographs of Vidyādevis in Vimala Vasahi, etc. see. Shah, U. P , *Studies in Jaina Art*, figs, and *Iconography of the Sixteen Jaina Mahāvidyās*, *Journal of the Indian Society of Oriental Art*, Vol. XV, pl XIII-XVI.

contains miniature paintings of the sixteen Mahā-Vidyās, besides those of Sarasvatī, Ambika, S'rī-Lakṣmī, Brahma-Śanti-yakṣa and Kapardī-yakṣa. The manuscript is assigned to a date sometime after 1245 A. D on account of a reference to Vijayasena sūri on one of its folios [1]

It is difficult to go into detailed iconographic study of these Mahā-vidyās in this short survey. But below are given the vahanas of each of these goddesses in both the sects, also are given wherever possible one or more chief distinguishing symbols which are almost invariably associated with each of these goddesses Such symbols may help one to identify an image or a painting of the deity even though the number of arms and other symbols may vary. It may however be noted that they have been introduced here as chief distinguishing symbols on the basis of our own study of texts and images but there is no text specifically calling them chief distinguishing symbols.

Rohiṇī in the S've tradition is generally white in complexion, rides the cow, is four-armed and carries the bow and the arrow and the conch which seem to be her chief symbols Her fourth hand shows the varada or the rosary.

In the Dig. tradition, Rohiṇī has the lotus as her vāhana, and carries the Kalaśa, the conch, the lotus and the fruit or shows the spear, the lotus, the varada, mudrā and the fruit in her four hands

Six-armed, eight-armed or multi-armed (more than eight, i e, 12 or 16 arms and so on) varieties of forms of Rohiṇī are also known. It may he noted that the S've text Nirvaṇakalika refers to multi-armed forms of all the sixteen vidyādevis. This may be remembered even though we do not repeat this in the case of all goddesses.

Prajñapti, red in complexion, in the S've tradition is two-armed, four-armed, six-armed, or multi armed and has the peacock as her vāhana. The *Śakti* seems to be her chief distinguishing symbol Two-armed, she carries the lotus and the *Śakti* in S've. tradition. When four-armed, she shows the *Śakti*, the *Rukkuta*, the *varada* or the trident and the *abhaya* or the citron In one case she shows the *vajra* the *vara* the *varada* and the fruit in the S've. tradition.

In the Dig. tradition, two-armed Prajnapti, dark-blue in complexion shows the sword and the disc and rides the horse. When four-armed, she shows the disc, the conch, the *khadga* and the *varda* and rides the horse

Obviously, Prajñapti of the S've. tradition has close similarity with Kaumārī,

1 For illustrations of all these miniatures, see, S. M. Nawab, *Jaina Citrakalpadruma*, Vol. I., figures 16-36.

the Śakti of Kumāra or Skanda-Kārttikeya. Worship of Prajñapti is very old since it has been referred to in the Vasudevahiṇḍi (c. 400 A. D), the Bṛhat-kalpa-bhāsya, the Ādipurāṇa etc. and seems to have been associated with the power of change of form. Her name suggests that originally she was propitiated for obtaining supernatural cognition.

Vajraśṛṅkhalā, the third Mahāvidyā, carries a chain of vajras, an adamantine chain, which is her chief recognition symbol She sits on the lotus and is either two-armed, four-armed or multi-armed, She usually carries the chain with both hands, in both the traditions, In the Dig. tradition, her vāhana is the elephant and she sometimes shows the *vajra* in both the hands. In the S've, tradition she sometimes holds the chain and the club When four-armed, she usually shows the chain in two hands and the lotus and the *varada*, or the rosary and the mace, or the *varada* and the citron in the remaining two hands in S've. tradition, and in the Dig tradition her symbols are : the chain, the conch, the lotus and the citron.

In Vajrayāna Buddhism, Vjraśṛṅkhalā is an emanation of Amoghasiddhi and carries the Vajraśṛnkhalā

The fourth Mahāvidyā, called Vajrānkuśī is so called because she carries the *vajra* (thunderbolt) and the *aṅkuśa* (goad), which are her chief recognition symbols in both the traditions The elephant is her vāhana. She is either two-armed, four-armed, six-armed or multi-armed. In all varieties of forms, the *vajra* and the *aṅkuśa* are mostly common, the other two symbols being the lotus, or the *varada* and the citron or the *kalaśa*

Both Vajraśṛṅkhalā and Vajrānkuśī is seem to have been influenced by Buddhist goddesses of the same name. Vajrāṅkuśī accompanies Vajratāra in Buddhism. She is also the gate-keeper of the Lokanātha-maṇḍala. In Buddhist inconography, *vajrāṅkuśa* usually signifies *vajra* surmounted by *aṅkuśa*. The *vajra* and *ankuśa* symbols of the Jaina Vajrāṅkuśī also have a parallel in those of Rambhā, a form of Gaurī according to the Rūpamaṇḍana, and of the Mātṛka Aindrī, the female energy of Indra, as described in the Devīpurāṇa.

The fifth Mahāvidyā is known as Cakreśvarī or Apraticakra. in the S've, tradition, but in the Dig, sect, Jāmbūnādā holding altogether different symbols is the fifth Vidyadevī

The chief distinguishing symbols of Apraticakra are the *cakra* (discus), and her eagle vehicle. In very rare cases she has the man vehicle. When two-armed she carries the *cakra* in each hand, when four-armed, she either shows the *cakra* in two hands and the *varada* or the rosary and the citron or the conch in the two other hands.

Sometimes it is difficult to distinguish between Cakreśvarī the Vidyādevī and Cakreśvarī the Yakṣī of Ṛṣabhanātha, if the goddess is not shown as S'āsanadevatā accompanying an image of the first Tīrthaṅkara. The iconography of the Cakreśvarī-Vidyā may be compared with that of the Brahmanical goddess Vaiṣṇavī who also holds the *cakra* and has the eagle as her vāhana.

Jāmbūnadā (Dig.) holds the sword and the spear when two-armed, or the sword, the spear, the lotus and the citron when four-armed. The peacock is her vāhana,

The sixth Mahā-Vidyā is called Naradattā or Maha-Puruṣadattā or Puruṣadattā by both the sects In the Digambara pantheon, the yakṣī of Sumatinātha is known by the same name

Two-armed, Purusadattā-Vidyā, holds the sword and the shield. Her fierce laughter and dazzling beauty of form are emphasised, She has the buffalo-vāhana

In the Digambara tradition,, however, she holds the *vajra* and the lotus and rides a ruddy goose *(cakravāka)*,

When four-armed, she shows, in the S'vé. tradition, the *varada* or the *abhaya*, the sword, the citron and the shield The sword and the shield seem to be her chief distinguishing symbols But in the Digambara tradition, she carries the *vajra*, the lotus, the conch and the fruit

The Mahā-Puruṣadattā of S've. iconography, with four or more arms, seems to be an ancient goddess, said to be have been propitiated by Ārya Khapuṭācārya (c. 2nd century A. D.) according to Haribhadra Sūri She offers comparison with the Brahmanical Durgā-Mahisamarddinī who is associated with the buffalo and carries the sword and the shield Durgā and Kātyāyanī are two very ancient popular Indian goddesses who are also referred to in the Jaina Anuyogadvāra-sūtra and its cūrṇi

Kālī, the seventh Mahāvidyā of both the sects, sits on the lotus, carries the club and the rosary and is dark or blue in complexion according to the S've. tradition, but in the Digambara worship, she is golden holds the pestle and the sword and rides the deer When four-armed, she also shows the *abhaya* and the *vajra* in the S've tradition while in the Digambara tradition she shows the pestle, the sword, the lotus and the fruit Thus the mace and the pestle seem to be her recognition symbols in the S'vetambara and the Digambara traditions respectively

Mahākālī is invoked as the eighth Mahā-Vidyā In the S've pantheon,

1 *Anuyogadvārā-sūtra*, 20 f, and *cūrṇi*, on it pp 24-25, *Anuyogadvāra-sūtra* is said to have been composed by Arya Rakṣita, in c 600 years after Mahāvīras Nirvān

she has a man as her vāhana, while the bell seems to be her chief recognition symbol. Four-armed and dark in complexion, she shows the *vajra* the fruit, the bell and the rosary.

In the Digambara tradition, she holds the bow, the fruit, the *khadga* and the arrow and rides the fabulous animal called Śarabha (or sometimes the *aṣṭāpada*).

The S've Mahā-Kālī may be compared with Kālī of the Brahmanical Pantheon who is black in colour and below whose feet is shown the body of S'iva. An image of Mahākālī from a Jaina temple at Patan (N. Gujarat) actually represents her human vāhana lying prostrate below her left leg

The eighth Mahā-Vidyā is called Gaurī by both the sects. White or golden in complexion and of a voluminous form, she has the all gator as her vahana and carries the lotus which seems to be her chief symbol. She is either two-armed or four-armed or multi-armed. When four-armed, in the S've. tradition, she rides the *godha* (or sometimes the bull) and shows the pestle, the *varada mudra*, the rosary and the lotus In the Digambara worship, she carries the lotus in one or more hands, whether two-armed or four-armed.

The Jaina Gaurī is similar to the Brahmanical Gaurī in name as well as in form the lotus and the godhā vāhana seem to be chief distinguishing symbols of the Brahmanical Gaurī and her different forms like Umā and Sāvitrī as described in the Rūpamaṇḍana

The Jainas were more generous than the Buddhists in their treatment Hindu deities. since the Brahmanical Gaurī,Hari-Hara and other deities received scant courtsey in Buddhist worship We find Gaurī under the feet of the Buddhist god Trailokyavijaya, alonng with her consort S'iva.[1]

Gaurī is one of the four ancient Mahāvidyās known in Jaina traditions recorded by Jinadāsa Mahattara and Haribhadra Sūri Gaurī and Gāndhārī are also referred to in the Bṛhat-Kalpa-Bhāṣya. According to NiSitha Bhāsya, Gaurì and Gāndhārī are Mātaṅgavidyās Mataṅgī, Cāndālī, Gaurī and Gāndhārī could have been originally borrowed from cults of non-Aryan Indian masses The second Jaina canonical text known as the Sūtrakṛtāṅga-sūtra includes Kaliṅgī, Damilī, Gaurī, Gāndhārī, S'vapākī, Vetālī and others amongst sinful sciences *(pāpaśruta)*

The tenth Mahāvidyā is known as Gāndhārī and a commentarry on S'obhana-stuti says that Gāndhārī is so called because she was born in Gandhara in a previous birth.

1. Bhattacharya, *Benoytosh*, *Elements of Buddhist Iconography* (first ed) pp. 146 ff.

In the S'vetāmbara tradition, Gāndhārī, darkblue in complexion, sits on the lotus and holds the pestle and the *vajra* when two-armed But in Dig. worship, she rides the tortoise, is dark-blue in complexion, and holds the disc and the sword in her hands. She holds the disc in all the hands. when four-armed, in one Digambara tradition In S've worship, however, four-armed Gāndhārī, usually carries the pestle and the *vajra* in two hands while the other two hands show the *varada*, or the citron

The eleventh Mahāvidyā is variously known as Jvālā, Mahājvālā, Jvalanāyudha, Sarvastra-Mahā-Jvālā, Jvālā-Mālinī in both sects Hemacandra says that she is called Sarvāstra-Mahā-Jvālā because large flames of fire issue from all her weapons Both the sects however do not agree regarding the symbols, form and vāhana of this goddess, However her popularity and the common name in both traditions are noteworthy.

Indranandī, a Digambara monk, composed in S'aka 861=939 A.D.; a Sanskrit Tantric work called Jvālinī-Kalpa, which, according to him, was bassed on an earlier text of Helācārya The worship of this goddess is however still earlier in Jainism, since Sanghadāsa gani (c. 400 A D) refers to a vidyā called Mahā-Jvālinī or Jvālā-vatī and describes her as *Sarva vidya-chedinī* (i e powerful enough to uproot all rival vidyās), This explains the terrific appearance and nature of the goddess. It may also be noted that Indranandī addresses her as the yakṣī In Digambara worship Jvālinī is also the name of the Yaksi of the Tīrthaṅkara Candraprabha,

Jvālāmālinī is worshipped as two-armed, four-armed, eight-armed or multi-armed In the Digambara tradition we have reference to an eight-armed form only. Jvālā or the fire-flame seems to be her chief recognition mark

Two-armed Jvala is white, rides the cat and carries the 'fire-brand in both the hands

Four-armed Mahā-Jvālā rides the cat or the goose or the lion, while in the eight-armed Digambara form she rides the buffalo When four-armed, she holds the serpent in each of the four hands, or the fire in two hands and the rosary (or *varada mudra*) and the citron in the other two When eight-armed, she shows the bow, the shield, the sword, the disc and other symbols not specified in the text.

The Buddhist Ekajatā, an emanation of Aksobhya may be compared with this Jain deity Ekajatā of twenty-four arms is addressed as Vidyut-Jvālā-karāli and carries fierce weapons A goddess Jvālā-mālini is included in the list of the sixteen Nityās in the Brahmanical Kaula-Tantras

Mānavi, the twelth Vidyādevi, has the tree as her chief recognition symbol in the S've traditions, and rests on the lotus Both the traditions have two-armed

and four-armed forms. But in the Digambara tradition, two-armed Mānavi rides the hog and carries the fish and the trident.

Four-armed Mānavi is dark, sits on the lotus and shows the varada, the pāśa or the tree, the rosary and the tree, or the rosary, the lotus, the *varada* and the pot in the S've. tradition and the fish, the sword, and the trident and in the Digambara tradition where the hog is her vāhana. The fish seems to be her chief symbol in the Digambara tradition

Varirotyā, the thirteenth Vidyādevī according to both the sects, is a snake-deity, who was probably more popular in earlier times but whose popularity waned with the gradual rise in popularity of another snake-goddess Padmāvatī, the yakṣiṇi of Tirthankara Pārs'vānātha A Varirotyā-stotra ascribed to an ancient monk Ārya Nandila (c 2nd Century A D) is published

When two-armed, she carries the snake and the sword, shines with snake-ornaments and is dark in colour She generally has one or three snake-hoods over head, and rides the cobra. The snake, the sword and the shield seem to be her chief symbols, when four-armed, in S've. worship. The fourth hand shows the *varada* or the rosary. In the Digambara tradition, she rides the lion and carries the snake in four hands

The fourteenth Vidyādevì is called Acchuptā or Acyutā by the S'vetāmbaras and Acyutā by the Digambaras. She rides the horse. When two-armed, she shows the sword and the bow, in the S've. tradition, and the sword in one hand in the Dig. tradition. When four-armed she shows the arrow, the bow and the sword and the shield (or *varada* and citron) usually in S've. tradition, and the *vajra* in four hands in Digambara tradition. The bow and the arrow seem to be her chief symbol with the S'vetāmbaras.

Mānasī, the fifteenth Mahāvidyā in both the traditions, is golden, rides the swan, and carries the *vajra* in each of her two hands in S'vetāmbara worship. According to Bappabhatti Sūri, she holds the burning *heti* in her hand (or hands). Another tradition refers to her as holding the trident and the rosary. According to the Digambaras, two-armed *Mānasī* is red, has the snake-vāhana and shows both the hands folded in adoration and worship.

When four-armed, she shows the *vajra*, the *vajra* (or *vajra-ghantā*) or the lotus and the *varada* and the rosary usually in S'vetāmbara traditions and the rosary and two folded hands in the Digambara tradition

The *vajra* seems to be her chief symbol in S'vetāmbara worship.

The last Mahāvidyā is called Mahā-Mānasì by both sects. She is said to ride the lion and carry the sword, according to S'obhana Muni who possibly refers to a two-armed form of S'vetāmbara tradition.

When four-armed, she rides the lion and generally shows the sword, the

shield, the kundika (gourd or water-pot) and the jewel or the *varada mudra* in her hands in S'vetāmbara tradition and the *varada*, the rosary, the gourd and the garland in Digambara tradition. Sometimes her two hands are shown folded in the Digambara tradition

The foregoing discussion shows the popularity of Vidyādevīs in the Jaina Tantric worship. In most cases, names of Digambara yakṣīs are identical with those of the Vidyādevis, but the Mahā-Vidyās, are known from earlier text-traditions, and are, therefore, earlier than the different yakṣiṇīs.

The S'vetāmbara text Nirvanakalikā describes a multi-armed form of each f the Mahā-Vidyās and refers to a special Mudrās for each of them Names of these Mudrās would seem to suggest to modern students, the chief recognition symbol of each of them It may be noted here that the chief recognition symbols noted by us in the above discussion are not mentioned as such by Jaina writers but we have drawn these tentative conclusions from our study of Jaina texts and images [1]

It is not proper to associate these Vidyā-devīs with the Goddess of (Learning (Sarasvati or S'rutadevatā) because of the name Vidya-devata given to them. There is no textual support to this view of some modern scholars

Mediaeval Jaina ritual at least had incorporated worship of the eight Dikpālas, the nine Planets and the eight Mātṛkās well known to Brahamanical iconography. Figures of planets are often found on pedestals of Tīrthankara images in Western India and on two sides of the Tīrthaṅkara in several sculptures from Eastern India. Figures of Mātṛkās are very rare though they find a place in Jaina rituals. These gods and goddesses had been popular amongst the masses of India and the different principal religious sects of India had to introduce them to please the laity Ksetrapāla, the Guardian of the ksetra (land or place) is another such Indian deity of long standing who also finds a place in Jaina worship [2]

The Brahmaśānti-Yakṣa (S've) or the Brahma Yaksa (Dig) and the Kaparddi Yakṣa (S've) deserve special notice as they seem to be Jaina versions of the Hindu Brahmā (as S've, Brahmaśānti) or Śātsā (as Dig Brahma Yaksa) and Siva-Sūlapāni-Kaparddī (as S've Kaparddi Yakṣa) [3] Brahma-Śānti usually wears a beard, a jaṭā-mukuta a sacred-thread and sandals, and carries the rosary, the staff or the laddle, the *Kuṇḍika* and the *Chatra* (umbrella) in his four hands The swan is generally shown as his vahana Sometimes he has the bull vehicle

1 For a more detailed study of these goddesses, see, Shah, U. P., *Iconography of the sixteen Maha-Vidyas, Journal of the Indian Society of Oriental Art*, Vol. XV pp. 114-177, and Shah, U P, *A peep into History of Tantra in Early Jaina Literature, Bharata Kaumudi*, Vol 11. pp 839 ff

2 See Shah, U P, Studies in Jaina Art, Fig 47

3 For a detailed study please refer to Shah U. P *Brahma-Śānti and Kaparddi-Yaksa*, Journal of *M. S University of Baroda*, Vol. VII. No *Matan* the 1958), pp 59-72, with plates.

An Introduction to the Iconography of the JAIN GODDESS PADMAVATI

European researches on the symbolism of the serpent resulted in connecting it with the Sun, Time or Eternity. From its connection with the sun-spirit, it came to signify enlightenment and creation. But while there is general agreement in accepting the order in the symbolic objects adored by man, as given by Gen. Forlong in his "Rivers of Life", wherein the serpent comes the third, the Tree and the Phallic preceding in order, there is reason to doubt the theory that 'gods and men transformed themselves into trees, plants or beasts'[1]. It is rather that the process was quite the reverse and the ancient thinkers found in the quick movement, spiritedness etc , e. g., in the serpent, a reflection of the dynamicity of human life, its ideas of growth and expansion. Subsequently, human thought tried to assimilate such objects, sensate or insensate, as were met with readily and could attract, their attention as the embodiment and source of life and its essence.

The tradition of serpent-worship in India is very old being traceable to the *Atharvaveda*, *nay*, even to some obscure passages in the *Ṛgveda* itself.[2] The word 'sarpa' occurs only once in the Rgveda and that the tenth *maṇḍala* of the *Samhitā*[3]. Although there is much doubt as to the meaning of the term, the word '*ahi*' meaning

---

1. C. S. Wake - *Serpent Worship*, p. 6.
2. Rgveda - x. 189. 1-3—
   Ayaṁ gauh prsnirakramidasadanmātaram purah pitrraṁ ca prāyantsvah etc. of Sāyaṇa on the above Sūkta : *ayaṁgauriti trcamastatrtṁsat Sūktam* I *gāyatram* I *sarparājni nāma ṛṣikā saiva devatā sūryo veti tathā cānukrāntam āyaṁ gauh sarparājnyātmadaivatam sauryam veti* .. .. *yadā tvidam suktam sarparājnyā ātmastutih tadā sūryātmanā stūyata ityavagantavyam.*
   The term Sarparàjñi has no direct connection with the snakes and according to Sàyana Sarparajñi was to be identified with the Earth-goddess or the Sun-god. Mahidhara, another commentator, however, goes so far as to suggest that she was none else than Kadrū, the serpent-mother, in the form of the earth.
   Cf. Śatapatha Bràhmana II. pp. 28-9. See, also, N. K Bhattasali—*Iconography of Buddhist* and *Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum*. p. 212 ff.
3. Rv. X. 16, 6

a serpent is comparatively more frequent in these portions of the text. The most conspicous feature of this tradition is that earliest reference to the serpent in the Rgveda is in the form of the enemy of Indra. *Ahi* or *Ahi budhnya* of the Rgveda is but another, and perhaps milder form of the great enemy of Indra, viz., Vrtra, the serpent. This demoniac feature of the serpent was later in the Brāhmaṇas[1] and the Sūtras metamorphosed into the semi-divine character attributed to it when it is classed with Gandharva etc. It is here also that we meet with the term *Nāga* for the first time, attended with anthrohomorphic features It is also noteworthy that both in the Saṁhitās and Sūtras it is the virile male energy that is embodied in the enemy of Indra, called Ahi. The transformation of the masculine personality into the feminine was the achievement of the epic writers with whom the serpent was the embodiment of the principle of creation and preservation. It is perhaps because of this that the tradition in its later phase centres round the worship of a female deity as the serpent goddess. The name 'Sarpa' in the masculine finds mention in some verses in the *Vājasaneya saṁhitā* of the White Yajnrveda where according to the commentator Mahidhra, it means just a heavenly or a terrestrial or even an atmospheric 'abode'[2].

In the epic age which, of course, had a big gap after the Vedic, extending over several centuries this tradition and the cult assumed a shape which pervaded the entire mythological setting of Āryāvarta of the time The snake-sacrifice of Janamejaya is a major episode in the drama of entire heroic poetry that had grown up round the Kuru-battle. Although we have in Vāsuki, the king of the serpents, we see in his sister Jaratkāru, the serpent goddess in the making. Vasuki's sister Jaratkāru and wife of the sage of the same name was the mother of Astika and this latter conception was responsible for the important position she came to occupy in Hindu mythology as the pressiding deity over the serpent spirits But the person that actually had been endowed with the power of curing snakebite was Kaśyapa It is again, Kadrū that is associated with the serpents as their mother. It seems therefore, that the mythological ideologies, as current in the epic developed in a modifed form in later ages and emerged in the Purāṇas in a new light. Thus the female serpent-Goddesss Manasā as we find in the *Brahmavaivorta Purāna* the earliest *Pūrāṇa* to mention her, is ideologically a combination of the

---

1 The higher creation is divided into the following classes : gods, men, Gandharvas, Apsarasas, Sarpas, and Manes Cf. *Aitareya Bràhmana* III 31. 5

2 Wh Yv ch 13 Kundika 6-8—*'naamośtu sarpebhyo ve ke ca' prthivimanu ye antarikse ye divi tebhyah sarpebhyo namah* etc On the above Mahidhara says *ime vai lokah sarpāh iti surteh sarpaśabdena lokà ucyante*

above personal features [1] While *Kadrū* is conceived as the wife of the sage Kaśyapa, the Primordial male creation, Mānasā came to be regarded as the daughter of Siva in later mythology, Siva of course, being the energy to whom the destruction of the Universe is attributed Thus although in a stotra in the *Bhavisya Purāna* we have the assertion that she is mind-born one of Kaśyapa, her origin from the seed of Śiva has also found much favour with the puranites. The above two concepts, again, were reconciled greatly in the *Brahmavaivarta Purāna* where she is called the mind-born of Kasyapa and the spiritual daughter of Siva.[2] In the Pauranic age the serpent-chief Sesa is sometimes associated or identical with Balarama who is represented as having a serpent-wreath and a club in hand [3] In medieval sculptures, too, images of Balarama are found bearing the canopy of a seven-hooded serpent.[4]

The conception of Manasa or Padma as a serpent Goddess, is, however, a very late development, The lotus symbol was primarily associated with the Goddess of wealth, Laksmi. The images of certain other Vishnuite gods and goddesses also exhibit the same symbol The mythological account of Narayana himself having a lotus-stalk rising up from his navel is certainly not very early, and it was at first the Lokapita Prajapati Brahma that was lotus-seated In art too, such representation can not go further than the 5th or the 6th century A. D [5] The name Padmā is certainly reminiscent of her intimate association with the lotus [6]

---

1. The Dhyana in the *Tithitattvatīkā* definitely identifies Jaratkāru with the serpent-goddess Manasā, although in earliar mythology Jaratkāru has nothing to claim the status of serpent-deity. The description of serpent-ornaments, of her holding a pair of Nāgas in her two hands, makes it clear that the reference is to the serpent goddess who is further called Āstikamātā which latter epithet, on the other hand, makes her identical with Jaratkāru
   Cf Hemāmbhojanibhāṁ lasadvisadharālaṁkāra saṁśobhitām Smerāsyām parito mahoragaganaih samsevyamānāṁsadā I Devīmāstikamātaram śiśusutāṁ āpīnatungastanīm Hastāmbhojayugena nāga-yugalam sambibhratīmāśraye II
2. *Brahmavaivarta Purāna, Prakrti khandam, ch* 45, *v* 2—*ct Kanyā sa ca Bhagavāti kāsyapasyā ca mānasī Teneyam Manasā devī manasā yā ca divyati 2,* also, *Śiva-Śisyā ca sā devī tena Śaivīti kīrtitā. 8*
3. *Mahābhārata,* XIII 147, 54 ff.
4. The figure from Bodoh in Gwalior, of Balarāma, belonging to the medieval period is canopied by a sevenhooded serpent. *Vide,* pl XVIII—*A guide to the Archa ological Museum at Gwalior*
5. A. K Coomaraswamy : *Elements of Buddhist Iconography,* P 68.
6. It is interesting to note that as many as nine of the 15 Manasā images preserved in the Varendra Research Society, have been collected from a tank called Padumshahar in Dist. Rajshahi, *vide,* Cat., Varendra Research Society, p 30

In the Purāṇa literature, at least in its later phase, Padmā, as mentioned along with Sarasvatī, the Goddess of Learning, has no other significance than that of Lakṣmī, the Goddess of Wealth [1] Indeed; the commonest *dhyāna* of the goddess makes her ride on a swan.[2] the popular *vāhana* of Sarasvatī. The fact of her attaining the knowledge of Brahmā in the form of the Earth, as already mentioned above, bespeaks of this connection with Brahmāṇī or Sarasvatī.

The Buddhists too knew of the serpent-goddess under the name *Jāṅguli* She is perhaps the nearest approach iconographically speaking, to the Jaina Goddess Padmāvatī. Jāṅguli as the snake-Goddess emanates from Akṣobhya, the 2nd Dhyāni Buddha, Like Padmāvatī she is the Goddess curing snake-bites and also preventing it. According to a Saṅgīti in the *Sādhanamālā*, Jāṅguli is as old as Buddha Himself who is said to have given to Ananda the secret mantra for her worship It is worthy of note that Jāṅguli has been called in the *Sādhanamālā*, a Tārā i. e., a variety of the latter [3] It is indeed curious that Janguli should be so called in Buddhist tradition also We know, of the eight kinds of "fear" which are dispelled by Tārā, to which fact she owes her name, the fear from serpent is one.[4] That Padmāvatī is but the same goddess in Jaina pantheon as Tārā is in the Buddhist, is also stated clearly in the *Padmāvatīstotram* [5] We know, however, that the group of goddess going by the name of Tārā is generally an emanation of Amoghasiddhi In the *Sādhanamālā* Amoghasiddhi, the 4th or according to the Nepalese Buddhists, the 5th Dhyāni Buddha, has for his *vāhana*, a pair of Garudas Although according to the Pauranic mythology, Garuda and the serpents are mutually intolerant of each other,

---

1. *Agni Purāṇa*, XLII. 7-8
   cf. *Nairrtyāmambikām sthāpya Vāyavye tu Sarasvatīm Padmāmaise Vāsudevam madhye Nārāyanañca vā* etc.
2. *Bhaviṣya Purāṇa*—
   cf. *Hamsārūdhamudārāmarunitavasanāni sarvadām sarvadaiva.*
3. B. Bhattacharyya . *Indian Buddhist Iconography*, p 185, also, Foucher . *E'tude Sur l' Iconographie Bouddhique de l' Inde, p 89*
4. The writer owes this suggestion to the kindness of Dr J N Banerjee, M A., Ph D, Lecturer, Calcutta University, who has drawn his attention to this current etymology of Tārā We should also note that Jāṅgulika came to mean poison-curer in general in later lexicons. See, *Amarakosa*, *Pātālavarga*, 11
5. Cf. Tārā tvam Sugatāgame Bhagavatī Gaurīti Śaivāgame Vajrā Kaulikasāsane Jinamate Padmāvatī viśrutā. Gāyatrī Srutaśālinām Prakrtirityuktāsi Sāmkhyāyane Mātar-Bhāratī kim prabhūtabhanitairvyāptam samastam tvayā, 19

Ms. No 27 in the Buddieedass Temple Collection, cf also, Tārā mānavimarddinī Bhagavatī Devī ca Padmāvatī 27. *Ibid*, Also App V, *Bhairavā-Padmāvatī-kalpa*, P 28.

their close relation, too, can hardly be denied. In fact, notwithstanding the description in the *Sādhanamālā* representations of Amoghasiddhi have been found wherein a sevenhooded serpent forms the back-ground of the main image, in the form of an umbrella [1] The number of the hoods is very significant. It bears close resemblance to the representation of Pārśvanātha who must have either three, seven or eleven hoods as his canopy. These numbers are to be the distinguishing features in recognising a figure of Pārśvanātha as distinct from those of Supārśvanātha whose canopy of serpent-hood must be either 1, 5 or 9 hoods [2]

The name Jānguli of the Buddhist goddess most probably suggests her popular origin, as the goddess of the forest-sides or more properly a rural goddess.

Janguli as a snake goddess curing snake-bite or preventing it, is not, however, altogether unknown to the Jains Reference to her in their literature are numerous It is not unlikely too, that apart from the conception of Padmāvati, Jānguli had an important place in Jaina mythology. A ms. dated sam 1546 i e, 1489 A D from Jesalmere mentions,[3] her name as a snake-goddess.[4] Buddhist Tantricism came to have any perceptible influence on Indian mind not before the 8th cent. of the Christian era On the evidence of Tāranātha on which the above conclusion is based, it was the 7th and the 8th centuries which saw the emergence of Tantricism in India specially in eastern parts thereof, notably Bengal. Tantricism which is characterised by the worship of female energy is further said to have been diffused through such cults as Sahaja=Yāna which found its first exponent in Lakṣmīdevi, daughter of Indrabhūti, who, according to a Tibetan tradition, flourished about the eighth cent. A D [5] The feminine spirit as the presiding deity over the snakes is the product of this Tantricism and her form as conceived in Buddhist ritualistic texts had not altogether failed to leave its mark on the other Indian religious sects The text referred to above is said to have been composed in Sam. 1352 or 1295 A D by Jinaprabha Suri [6] Thus it is clear that as early as the 13th cent A D and most certainly a few centuries earlier the Buddhist serpent goddess Jānguli was

1. B. Bhattacharyya : *Indian Buddhist Iconography*, p 5. pl VIII c
2 B C. Bhattacharyya : *Jaina Iconography*, pp 60 & 82.
3 Compare the *ms*. in the Buddreedass Temple Collection
4 Cf *Durdāntasabdikmmanyadarpasarpaika-Jānguli. Nityam jagarti jihvagre visesavidusāmiyam.* 2
5 For a detailed discussion, see, *Indian Buddhist Iconography*, introduction, p XXVI.
6 Cf. *Paksesu sakti sasibhrnmita-vikramābde dhātryonkite*
haratithau puri yoginīnām
Kātantrabibhrama iha vyatanista tīkāmapraudhadhīrapi
Jinaprabhasūriretām 2

also familiar to the Jaina writers although as a distinct goddess in any definite iconic orm she was not known to the latter The form of Janguli as a deity appearing along with the central figure of Khadiravani Tārā is best illustrated in a miniature painting on a 9th cent. ms. of *Pañcavim-Śatisahasrikā Projnāpāramita* preserved in the Museum and Picture Gallery, Baroda. The figure of Janguli on the right is two-handed and has a canopy of five hoods of a serpent with a halo at the back. The left hand holds a serpent while the right hand seems to hold a *vajra*. Her seat appears to be a coiled serpent [1] What, however, is the iconographic form of Jānguli in Jainism is not very clear either in the texts or in any extant image thereof.

We may also draw the attention of scholars to the fact that the conception of Padmā or Visaharī as being accompanied by the Eight principal Nāgas, regarded as her sons, as given in the *Padma purana* of Vijaya Gupta as also the *Bhvaisya Purana*,[2] has found an exact counterpart in the conception of Śuklā Kurukullā, a Goddess emanating from Dhyāni Buddha Amitābha, who has been described as a being attended on by the Eight Nāgas,—Ananta, Vāsuki. Taksaka, Karkotaka, Padma, Mahāpadma, Śānkhapāla and Kulikā, each having a distinct colour of its own [3] The names of these Eight Nagas tally[4] exactly with the names given in the *Tithitatva* of Raghunanda [5] The names of the Eight Nāgas also tally with those given in X 14 of *Bhairva-Padmavatīkalpa*. The iconographic descriptions of these Eigth Nagas are given as follows in X, 15-16 of the *Bhairava-Padmavatikalpa* of Mallisena [6] Vāsuki and Sànkha, born of kṣatriya clan are of red colour, Karkota and Padma born of Sūdra clan are black in colour. Ananta and Kulīka of the Brahmin clan possess white colour like the moon-stone and Taksaka and Mahāpadma of the Vaiśya clan have yellow colour. In fact, the mutual influence of the Buddhist

1 See the ms exhibited at the Picture Gallery, Baroda State Museum, Baroda

2 Cf *Astānāgasahita mā esa Padmapuràna* (3rd Ed. by Pearymohan Dasgupta), P. 2, and *Vandèham sàstanàgàmurukucayugalàm yaginim kàmarūpàm-Bhavisya Puràna.*

3 *Indian Bud hist Iconography*, p 56

4 A slight difference in the names of Eight Nâgas is, however, to be noticed in the *Adbhuta-Padmāvatī-kolpa*, IV, 49. cf. Vāgvījakasritattvadyāntanamah syustanantavāsukinau' Taksaka-Karkotaka-Kamala-Mahākamala-Sankha-Kulijayāstadadhah

5 *Tithitatva*, (Ed. by Mathuranath Sarma), O 135.

6 Compare the present writer's article on the date of the *Bhairava-Padmāvati-kalpa* in the *Indian Culture*, Vol XI, No 4. The date according to the calculations made therein based on synchronisms with other works of Mallisena, who was a Digambara Jain writer, falls sometime in the second quarter of the 11th cent. A. D.

Kurukulla and Jaina Padmavati ıs very prominent as the *Bhiarva-Paadmavatlpa* itself mentions Kurukullā ın X. 41.[1]

We may, however, dıscuss here as to whether these Nāgas are really nothıng other than water-symbols as has been supposed by Coomaraswamy No doubt the names of some of these so called Nāgas, go to strengthen the above view, yet ıt ıs very sıgnıficant that Padmā as the Goddess of Wealth and Prosperity, being identical with the deıty known as Śrı, most naturally had the *ādhāra* or constituent elements ın the accepted eight kınds of treasures of *nidhıs* in the shape of Padma, Mahāpadma, Makara, Kacchapa, Mukunda, Nīla, Nanda and Śankha. It also stands to reason to suppose that the *nidhıs* came to be ıdentıfıed with serpents because of the fact that the prıncıpal kınds of snakes had each a specıal variety of jewel on ıts hood, and that the snakes beıng residents of the nether regıons were aptly consıdered the carriers of them from out of waters, the ocean or *ratnakara* as ıt ıs signıficantly known.[2] The transformatıon, thus, of the wealth-goddess Laxmī into Padmā, the serpent goddess, entailed a necessary change of the eight kinds of treasures ınto the eıght kınds of Nagas or serpents, and we know Goddess Laxmı was born out of the ocean, the abode of both the *nıdhıs* or treasures and the serpents

As a serpent Goddess Padmavati is perhaps the most popular figure in the Jaına pantheon. From a study of the general descrıptıon and the list of the boons conferred by her, one can easily recognise in her the most homely of Jaına goddesses. Even at a stage of development of her personalıty into an ındependent deity from the status of the Śāsanadevi of Pārśvanātha, we are constantly reminded of the fact of her origin, although a study of the numerous *stotras* in her honour and the elaborate system of rıtual that had grown up round her worshıp as also the varied objects prayed for and apparently she was capable of bestowing on the devotee, leaves but lıttle doubt about the ımportant posıtıon as an independent and influential goddess, she had risen to occupy in the Jaina pantheon.

In order to make a study of the ıconography of Padmavati or any other god or goddess ıt is ımperatıve to make an investıgation about her affılıatıon to any of the Hıghest Dıvınıtıes of the mythology concerned It ıs interestıng, however, that ın the case of Padmāvatı, she has been most systematıcally affılıated to one or other of the Hıgher Divinıties eıther ın Brahmanısm, Buddhısm or ın Jaınısm Not only

1. *Bhaırava-Padmāvatī*-Kalpa, X. 41.

2 Cf. Padmını nāma yā vıdyā Laksmīstasyādhıdevatā Tadādhārasca nidhayastān me nıgadatah śrņu Tatra Padma-Mahapadmau tathı Makara Kacchapau Mukunda-Nīlau Nandasca Sankhascaıvāstamo nidhīh—*Sabdakalpadruma* quoting from Bharata, cf. also,

J. N. Banerjı : *The Development of Hindu Iconography*, p. 116, fn. 1.

that there is ideological similarity among all these Higher Divinities to whom the serpent goddess is affiliated in all the three principal religious systems of India We have already discussed to some extent the connection of Jānguli and Suklā Kurukullā with Aksobhya and Amitābha whose emanations they are taken to be and are often represented in art as bearing their effigies on the aureole behind or on the crest. (Reference may also be made in this connection to an inscription of the 2nd cent. B. C. which mentions an apsaras Padmavati as being an attendance on the Buddha after his enlightenment. The inscription was found on one of the Barhut gateways in Central India. The name Padmāvatı, further, as that of the capital cities of Nāga kings who flourished in the 3rd cent A D, is also significant. It is mentioned in the *Vishnu-Purāna* and the entire scene of the play *Malatimādhava* by Bhavabhuti is laid in that city.[1]) The connection of the eight Nāgas as attendants on Amitābha, the Dhyāni Buddha for Sukta Kurukullā is also to be compared with the conception according to which Padmāvatı is attended on by the same Eight Nāgas, both according to the Brahmanic and the Jain mythology[2] In the *Padmapurana*, cited above, whose date according to data given in the text itself falls sometime in the latter half of the 15th cent A. D.[3] says that Padmāvatı was the daughter of Hara[4] The dhyāna of Manasā or Padmā as given in the Bhavisya Purāna calls her Mahesā (of *Devim Padmām Mahesām sàśadharavadanam* etc.) in the *Padmāvatistotram* of the Jains too, Padmāvati is called a 'Maha-Bhairvi' which speaks of her connection with the Saiva mythology, Bhairava being a name for Śiva The iconographic details, according to the epics, of Hara wherein He is connected with a serpent coil are too wellknown to need mention here This conception of Padmāvatı as the daughter of Hara has a close similarity in the conception, in Jaina mythology, of Padmāvatı as the Yaksini of Parāvanātha who has a seven-hooded serpent as a canopy In Buddhist ideology, too, as we have already noticed, Amoghasiddhi as the sire of Tārā, who has been compared with Padmāvatı ,has sevenhooded serpent as his canopy The number seven of the hoods of the serpent forming the canopy is indeed very significant Although more easily connected

---

1. The site of Padmavatı,' by M. B Garde, A. S I, Ann Rep. 1915-16, pp. 104-5.
2 See, ante, also, *Padmapurāna*, p 2 and *Bhavisya Purāṇa*, also *Bhairava-Padmavati-kalpa*, X: 14
3 Cf. Rtu-sūnya-veda-sası-parimıta śak Sulatān Hosen sāha nrpatitılak
-*Pdmapurāṇa* p 4
The date however is disputed Another ms. of the same text has : Rtuśasıvedaśası which gives a date 1416 Sak.(1494 A D,) as opposed to 1406 Sak (1484 A D) given in the verse quoted above
4 Cf *Harsite prthivīte nāmila Hara-sutā Āsanacāpıyā vase Devī Harer duhitā*
--*Ibid*, p 2

with the Saiva-myths, Pārśvanethā in order to be given the prominence he deserves in Jain faith, has been endowed with this seven-hooded canopy, for, in the Hindu tradition the exalted form of Visnu has the seven-headed heavenly Nāga unlike the earthly Cobra of Śiva. This shows, if anything, that while the Jain assimilates the Saiva character in regard to the general myths about serpentdeities and their worship, yet it can not do away with the conception of the celestial seven-headed Sesa when any consideration for an exalted form of a deity and its imagery was taken up.[1]

It is interesting, however, to note that according to a Digambara tradition the icon of Padmāvati is to have on her crest the effigy of the Lord of the serpents The Svetāmbara text *Bhairova-Podmāvatikalpa* of Mallisena thus gives a description of the goddess

Pannagādhipaśekharām vipulārunāmbujavistarām Kurutoragavāhanāmarunaprabhām kamalānanām Tryambakām varadānkusayatapasadivyaphalankitām Cintayet kamalāvatīm japatām satām phaladāyinim II 12

Although, we know, it is usual in Buddhist iconography, to represent the figure of the Sire, on the head, crown or the aureole at their back, of their emanations, in Jain iconography it is the figure of the Lord of the serpents Dharanendra, who has been conceived of as the consort of Padmavati,[2] and not Pārśvnāth that is to be represented on the sekhara of the image of Padmāvati *Sasanadevatam* as emanations of the respective Tirthankaras seem to be a later development in Jain mythology These were originally the principal converts, male and female, who as zealous defenders of the faith were to be associated with each Tīrthankara with

1 For a detailed discussion about the origin and development of the serpent-cult the reader is referred to serpent-worship. vide. C S. Wake, *The origin of Serpent worship*, ch. III, pp. 81 ff Here the author has also given a summary of the arguments by R Brown, who contends that the serpent-worship has a closer connection with solar mythology. Vide, R. Brown *The Great Dionysiak Myth*, 1878, ii 66

For a discussion of the number of hoods in the canopy, see *infra*

2 Cf. *Pdmāvatī pātu phanīndra-patnī*, 28.
--*Padmavati-stotram*, loc. cit.

The 'Pannagdhipa' referred to in the above verse may as well and more consistently refer to Pārśvanātha who is primarily the duty of serpents (Pannaga) This is also in consonance with the numerous representations of the serpent-goddess Padmvati shown with the effigy of Pārśvantha on the crest or on the aureole On the other hand no image or painting of Padmāvati is found with Dharanendra shown on the crest or the aureole.

whom some mythological stories or legends are related to connect them. The *Pravacanasaroddhara* telling of the character of a Yaksa only lays down that they are none but sincere adherents to the faith. The *Pratisthākalpa* says thar a *śāsanadevatā* is one that upholds the knowledge preached by Jina.[1] The *Ācāradinakara* of Vardhamāna Sūri characterises Yaksas as those that maintained and guarded the Śrī Sangha of the Jains [2] We may draw attention to the Gaṇadhara-cult in Jainism. With somewhat similar, if not the same, zeal Gaṇadharas, the main converts to the faith and the principal disciples, are offered worship and much in the same way as the Śasandevas represented in art. Thus Gautama, the Gaṇadhra of Mahāvira is offered worship in connection with the worship of Pārśvanātha and Padmāvati [3]

A Yaksa, however, came to be regarded as an emanation of the particular Tirthankara to whom one was attached as his Śāsanadeva. By about the 11th cent A D this was firmly established as we find in the *Nirvaṇakalika* of Pādalipta Sūri mention of the Yakṣas as emanations of the Tirthankaras [4] It is, however, to be borne in mind that the name Yaksa as originally used in connection with the *śāsaṇadevatas* of the Tirthankaras, came gradually to signify a higher status than its more commonplace use does. We may refer here to the *kāya*-theory of the Buddhists who adopting the principle of the *Tri-kāya* suppose that each Buddha has a three-fold *kaya* or body i e, aspect. In virtue of these 'aspects' or natures there are three distinct manifestations or existences of each Buddha on earth, in Nirvāṇa and in the heavens respectively. These aspects are '*Nirmāṇa-kaya*' or the body of Tranformation' which is according to some scholars a magical' body or an illusion,[5] *Dharma-kayā* or state or body of essential purity, and *Sambhoga-kāya* or body of supreme Happiness These three states of existence are characterised by practical Bodhi, essential Bodhi and reflected Bodhi, respectively And this *kāya*-theory is responsible for regarding the Mānushi-Buddha as an emanation from the Dhyāni-Buddha For the Dhyāni-Buddha as an embodiment of absolute purity

---

1 Cf *Yā Pātuśāsanam Jainam sadyah pratyūhanāsini* bhūyātśāsandevatā-quoted in Jaina Iconography, p 92.

2 Cf Ye kevale suragane milite Jinägre Śrisamgharaksanavicakṣanatām vidadhyuh. Yaksāsta eva paramarddhivivrddhibhāja āyāntu santahrdayā Jina-pūjanetra --*Ācāradinakara*, p 173.

3 Cf Om Hrīm aim śrī Śrī-Gautamaganarājāya svāhā --*Bhairava-Padmāvati-kalpa*, App. VIII. p 56.

4 *Nirvāṇakalikā* (Ed, by M. B. Zaveri), P. 34

5 M Dela Vallee Paussin : *The Three Bodies of a Buddha* (J. R. A. S G. B I, October, 1906)

THE TEMPLE OF MAHAVIRA AT AHAR

Ahar (Āhaḍ), Āghāṭa of the Medieaval times, was the capital of the Guhilas of Mewar (Mevāḍa i. e. Medapāṭa) since the middle of tenth century when Allaṭa is said to have transferred his seat from Nagada (Nagahrda)[1] Ahar acted as the hub of architectural activities in Mewar for a full quarter of a century. It seems to have lost its importance soon after A. D 980 around which date Guhila Śaktiku māra suffered reverses at the hands of Paramāra Muñja of Dhārā

The three decades in question must have been very brilliant for Ahar as attested by the ruins and fragments of some of the splendid temples of the Medapāta school of Mahā-Gurajara style of Western Indian temple architecture. The Visnu Temple (the so called Meerā's Temple) has been dwelt upon by R C. Agrawal *(Arts Asiatique, Tome XI 1965, F2)* the remaining Brahmanical and four Jaina temples are being studied by Prakash Bapna of Government Museum, Udaipur. I have, for the purpose of this felecitation volume dedicated to Muni Jinavijaya, selected for discussion the Temple of Mahāvira (now going by the name of Kesariyāji) as a tribute on my part to the services rendered to the fields of Indology and Indian Archaeology by the great Muni.

The Temple under reference is one of the two northerly oriented Jaina temples situated to the south of Viṣṇu Temple across the causeway leading to the main bazar of the town

The Temple stands on a high Jagatī (terrace) now thoroughly renovated except at the main, southern entrance. The two Devakulikās (chapels) flanking the storied Valīnaka (portal), though old, do not belong to the complex of the Jaina temple, They were transferred, possibly in late 15th century (during the time of Mahārānā Rājamalla) from their original location near the Brahmanical kuṇḍa and re-erected here The doorframe of the portal is of the same later period, being a substitution for the original one, the engaged pillars flanking the doorframe are, however, as old as, and formed the integral part of the original temple located up inside

The Temple comprises the Mūlaprāsāda (Shrine proper, Gūdhamandapa (closed Hall), Mukhamandapa (vestibule), the Rangamaṇḍapa (Dancing Hall) and two Bhadra-prāsādas attached to the either transept of the Rangamaṇḍapa.

---

1 This tradition, however, needs confirmation

The Mūlaprāsāda is *tri-aṅga* on plan and thus possesses *bhadra* (central offset), karna (principal corner) and *atiratha* (juxta-buttress) as the proliferations (Fig. 1).

In its elevational part, it consists of Kamada class of pītha possessing a *bhitta* (plainth), *jadyakumbha* (inverted cyma recta), *karnikā* (knife edged moulding) and *grāsā pattika* (band of *kīrttimukhās*).

The *kumba* (pitcher) of the *vedibandha* of the *mandovara* (wall proper) shows the figure of cakresvatī (south), Vairotyā (west) and (?) Sarasvatī (North). On each of the remaining *kumbha* faces is carved a bold *ardharatna* (half diamond) on the *janghā* (frieze) of the *mandovara* are carved fine figures of *apsarases* (heavenly damsels), *vyālas* and Dikpālas (Fig. 2 and 3)[2]. Some of the Dikpāla figures, particularly yama and Nirrti are masterpieces of Mahā-Gurjara style known in Western India. The fine lotus-bearing *apsaras* on the south *bhadra* (Fig. 2) has been labelled as Padmāvati The deep niches on the *bhadra* which once sheltered Jina images, are vacant, two are even pierced through.

Above the *udgama* pediment of the *jaṅghā* comes a wide *śirsapattikā* (topmost band) harbouring figures of seated and standing Jinas and vidyādevis in the recesses (Fig 2 and 3). Above this band, at each *bhadra* comes *vidyādhara-māla* (band bearing daemons) while corresponding part at *karna* as well as *pratiratha* shows a plain, square complex *bharanī* (capital). Above this comes the crowning, double course of *kantha*-and *varandikā* (eve-cornice). In the *jaṅghā*-of the *kapili* (which connects the Gudhamandapa is found, besides *vyālas*, the figure of Dikpala Varuna on the West and Iśāna on the corresponding position on the east-face.

The Gūdhamandapa has, on the *kumbha* faces the figures of Vidyādevis and yaksis such Ambikā, Saraswati etc on the west and Cakresvari, Prajñapti an unidentified goddess on the east The *bhadra* niches of the *jaṅghā* show Saraswati on the west (Fig 4) and Cakreśvari on the east, (Fig. 5), on the [illegible] *kṣaya*, flanked by *apsarases* and *vyāla* is the figure of [illegible] on the west (Fig. 6) and standing kāyotsarga Jina on the east (Fig. 7).

date of the image of Cakresvari The presence of Jivantasvāmi indicates that the temple was dedicated to Jina Mahāvira.

The pillars of the Mukhamaṇdapa are simple. The pilasters inside the Gūdhamaṇḍapa, the doorframe, as well as the image call for no special remarks The large magnificent *parikara* (frame) with two bold lions flanking the edge-wise *dharmacakr* is certainly old

The *śikhara* over the Mūlaprāsāda is new The Gūdhamaṇḍapa has likewise lost its original superstructure The Raṅgamaṇḍapa and the two Bhadraprāsadās are of later age, possibly of late fifteenth century

The Temple has an *entourage* of Devakulikās around the Raṅgamaṇḍapa. Except one illustrated in Fig. 8, none are contemporary with the Mulaprāsāda Its decorative details closely agree with those on the Mūlaprāsāda. Dikpālas, *apsaras* and *Vyāls* feature here also. A seated Jina figure graces the *bhadra* niche

As for the date of the Mūlaprāsāda and the last-noted Devakulikā late tenth century seems a most plausible guess The Dikpālas with two-arms, the *vyālas* in *salilāntras* (recessioned corners), the ture *śirsapattikā*, the square, complex, *bharṇi* and the absence of *kutacchādya* (ribbed aning) a top the *mndovara* are features characteristical of that age The presence of *karṇikà* in the *pitha*, *ardharatna* on the *kumbha*-faces, and the general suavity of the figure sculptures indicate that the dawn of eleventh century is not far, and the temple is younger only by a few years than the Visṇu Temple. Belonging thus with the group of temples of the transition age, few and far between in existance as far as known, it holds a significant position in the history of temple architecture in Western India.

स्वयंभू कृत : 'रिट्ठणेमि चरिउ' मांथी पच्चीश देश्य शब्दो

जेम जेम वधु प्रमाणमां अने वधु जूनुं प्राकृत अपभ्रंश साहित्य सुलभ थतुं जाय छे तेम तेम प्राकृत-अपभ्रंशना शब्दो अने प्रयोगो पर वधु प्रकाश पडतो जाय छे । [हेमचन्द्राचार्ये नोंधेली देश्य सामग्रीनी स्पष्टता थती जाय छे,] तेम पूर्व प्रकाशित ग्रंथोमाना विरल के संदिग्ध प्रयोगो समझाता जाये छे ।

अही उपलब्धमा प्राचीनतम कही शकाय तेवा अपभ्रंश महाकवि स्वयंभूदेवना अद्यावधि अप्रकाशित 'रिट्ठणेमिचरिउ' के 'हरिवंशपुराण' अे बृहत् काव्यना शरुआतना दस बार अध्यायमाथी थोडाक प्रयोगो विशे नोंध आपु छु । आमाटे भांडारकर प्राच्य विद्या मंदिरनी हस्त प्रत संग्रहनी अेक हस्त प्रतनो उपयोग कर्यो छे । प्रतनो उपयोग करवा देवा माटे हु ते संस्थानो ऋणी छु ।

१. अवकख 'चिंता'

जन्म्या पछी शिशु कृष्णने 'पूतना वगेरे दुष्ट सत्त्वोने सीधा करवा केटला दिवस राह जोवी पडशे ?' अेवी चिंतामा ऊंघ नथी आवती । अे रीतनी कल्पना करता कवि कहे छे

कण्हहो नी सामग्गि–अवकख अे
निद्दण अेइ रणंगण–कंख से
(५–१–१)

'रणसंग्राम झंखता कृष्णने युद्धनी सामग्री न होवानी चिंतामा निद्रा नथी आवती ।'

स्वयंभूना 'पउमचरिउ' मा पण आ शब्दनो अेक प्रयोग छे । सीताने आश्वासन आपता विभीषण समभावपूर्वक तेनी ओळख पूछे छेते प्रसंगनी अेक पंक्ति आ प्रमाणे छे :

कासु धीय कहि को तुम्हहं पइ
अवख वहंतु विहीसणु जंपइ
(४२–१–२)

'कहे तु कोनी पुत्री छे ? तारो पति कोण छे ?' सचिंत जाने तो विभीषण पूछ्यु । टिप्पणमा 'अवख वहतु' नो अर्थ 'चिन्तावान्' करेलो छे । 'अवकख' उपरथी देश्य 'अवयक्ख्, 'अवक्ख्' (=जोवू, देखभाल करवी) अेना उपरथी आ शब्द थयानी संभावना छे । सरखावो 'भाळवू' अने 'संभाळवू' ।

२. कूडागार 'खडकलो'

प्राकृत कोशोमा 'कूडागार' नो 'शिखरना आकारनु घर' के 'शिखर उपरनु घर' अेवा अेवा अर्थ आपेला छे । पण रिट्ठ० मा 'उपर शिखर के टोच नीकळी होय ने नीचे करे तो खडकलो' अेवा अर्थमां ते मळे छे :

वहु इंधण कूडागार किय, मंचारिम महिहर णाइँ थिय
(७–१२–१)

'इधण खडकीने अनेक ढग करवा मा आव्या—जाणे के जगम पर्वतो आवीने ऊभा ।'

३. खेमाखेमि　'साम सामे क्षेम कुशलनी पूछ परछ'

थोवतरि जादव नहिं जि आय
अवरुप्परु खेमाखेमि जाय
(१६–१२–५)

'टु क समयमा यादवो त्याज आवी पहोच्या । अरस परस क्षेमकुशल पुछ्या' ।

स, 'क्षेम', प्रा, 'खेम', उपरथी

'हत्था हत्थि' वगेरेनी जेम द्विरुक्ती प्रयोग 'खेमाखेमि' 'कुसलाकुसलि' पण वपरायो छे ।

४. 'खोल्लडउ'　'कूवो'

भरवाडनी भू पडो के कूवा जेवा अर्थमा आ नवो शब्द छे । दे ना (२,७४) मा 'बुखल्ल' शब्द 'कुटी' ना अर्थमा तथा प्राकृतकोशमा 'खोल्लि' शब्द 'कोटर' ना अर्थमा छे । गुजराती 'खोलडु' 'खोरडु' अने 'खोली' आनी साथे सकलायेला जणाय छे । अर्थ वदलायो छे, 'खोरडु ' हवे 'घर' उपरान्त 'छापरा' नो अर्थ पण घरावे छे । नीचेनी उकटणमा मथुरा नगरीना घरोनी साथे गोकुलना 'खोल्लड' नो विरोध छे । प्रसग कृष्णनी उपस्थिति ने कारणे गोकुलनी धन्यता अने शोभानो अने मथुरानी निस्तेजप्रणानो छे

खोल्लडइ वि गोट्ठे मणेहरइ
महु रहे रोवंति णाइं घरंइ (४–१३–६)

'नेसमा कूवा पण मनोहर लागता हता, ज्यारे मथुरामा घरो पण जाणे के रोता हता' ।

टर्नरना भारतीय आर्यना तुलनात्मक कोशमा 'खोल्ल' 'खोल' अने 'खोर' माँथी आवेला भारतीय शब्दोमा 'ऊडो खाडो 'पोलाण', 'वखोल', 'कोतर', 'गुफा' अेवो अर्थ मुख्य छे । (जुओ सख्याक ३९४३, ३९४६)

५ चडिल्ल　'वालद'

दे ना. ३, २ मा 'चडिल' सस्कृत आने 'चदिल' देश्य गण्या छे । अही मु डन माथे आवेला नावीने प्रद्युम्न घमकावी, मू डीने काढी मूके छे । ते प्रसग छे —

'सो चडिल्लु कुमार तज्जिऊ,
मु डिय, डेण सिरेण विसज्जिऊ (१२–१२–२)

'कुमार ते वालद ने धमकाव्यो अने माथु मु डाने काढी मूक्यो' ।

६. छुध हीर　'चन्द्र'

दे ना ३, ३८ मा 'वालक' अने 'चद्र' ना अर्थ मा 'छुवहीर' नोधाओ छे । अने पुष्पदत मा तथा 'पउम चरिउ' मा पण ते मले छे । नानो 'हीरो' 'हीरलो' अेवा यौगिक अर्थ उपर थी आलाक्षणिक अर्थ रूढ वन्यो छे ।

(जुवो स्टडिज इन हेमचन्द्र गु देशीनाममाला, १९६६ सख्याक २००)

कांतिल्लु णिअच्छिअे छुधहीरि (७–६–१)

'(स्वप्न मा) चन्द्र जोयो तेथी (जन्मनारो पुत्र) क्रातिमान थशे'।

छण छुधहीर छवि छाय मुहिय (१३–७–३)

'पूनम ना चद्रनी काति जेवा काति धरायता मुख वाली'।

७. झल झलाव् 'छलकाववु' 'उभराववु'

प्राकृत कोश 'झलहलिय' शब्द 'सायर' साथे वपरायानु नोध छे। अर्थ 'क्षुब्धता' करता उभराइ ऊठवानो जाणाय छे। पाछलना सस्कृत मा 'झल जगुला' आख मा आपता झल झलिया ना अर्थ माछे तेमा पण आखो उभराया नो भाव छे। नीचे नी पक्ति मा कृष्णे फू केला शखनो घोर शब्द वर्णवता तेथी सागर पण छलकाइ ऊठ्या अेवु कह्यू छे —

झल गुलाविय सयल विसायर (९–१०–७)

'बधा सागरो ने पण ऊभरावी दीधा'

८. लघुतावाचक 'ड' प्रत्यय

स्वयभू मा 'ड' प्रत्यय अनिवार्यपणे तुच्छ तानोज भाव दर्शाववा वपरायो छे। 'पउमचरिउ' मा अेक बे उदाहरण छे। रिट्ठ० माथी नीचेना जुओ

विज्जाहरि तुहुं णव बहुडिय हे

किह णमिय सवत्ति हे लहुडिय हे। (१०–६–३)

'तु विद्याधरी होवा छता ताराथी नानकडी अने नव वधू अेवी तारी सपत्नीने केम नमन करयू?

(सत्यभामा ने उद्देशीने रूकिमणीना सबध मा आ कृष्णनी उक्ति छे)

अे पछीनी पक्ति मा 'तणुतणुयडिय' – 'कृश अने शुकुमार शरीर वाली अेवो प्रयोग छ।

उपर ५ ४ नीचे आपेला उद्धरणमा 'मु डियडेण' अे प्रयोग भी पण 'ड' प्रत्यय तुच्छकार वाचक वाचक छे। अने तेज प्रमाणे ते 'खोल्लड' मा पण छे।

९. डिक्करूय 'छोकरू'

'दीकरो' ना मूल साथे सकलायेण आ शब्द मा प्राशस्त्य वाचक 'रूय' प्रत्यय उपर थी थयेले 'रूय' प्राकृत प्राप्त नामो मा (वच्छरुप, पड्डरूप) तथा गुजराती 'भाडरू', 'छोरू', 'वाछरू 'अेरू', वगेरे मा मले छे। मराठी 'लेकरू' अही नोधेला शब्दनी घणो नजीक छे।

कंदिउ सेट्ठिहिं विहडप्फडेंहिं

डिक्करुयइं खद्धइं मक्कडेंहिं (१३–१०–९)

'शेठीओ आक्रद करता हाफलाफफला बोलता आव्या के अमारा छोकरा ने माकडाओअे फाड़ी खाधा'

(संदर्भ आवे कुंडिनपुर मा गोतानी माया थी सर्जेली परेशानी नो छे)

१०. थुड्डु किय 'रोप थी मो चडी जवु'

दे ना ५, २१ मा थोडाक रोष थी मुख सकोचाइ जवु । अेवा अर्थमा नोंधायो छे । नीचेनी पक्ति मा थयेलो तेनो प्रयोग आ अर्थनु तेमज जोडणीनु समर्थन करे छे :

महुराहिउ तहिं काले थुड्डु किउ (५–११–४)
'ते वेला मथुरापति कंसनु मो चडी गयु'

११ दुवालि 'तोफान, अटकचाळा, आडाई, अलवीतराइ' ।

आअेहिं दुवालिहिं मत्तु तुहुं
दिढ वंदणम्मि जिह मत्तगउ (१–११–४५)

'आवा अटकचाळाने कारणे तु मातेला हाथीनी जेम दृढ बंधन पाम्यो छे' ।

तिहिं मि दुवालि अे विणु न पवत्तइ (५–११–६)

'त्या (दूर वनमा) पण (कृष्ण) अटकचाळा कर्या विना रहेता नथी' ।

पट्टणि अेम करतु दुवालिउ (११–५–७)

'अे प्रमाणे नगर मा तोफानो करतो' (प्रद्युम्नकुमार

पुष्पदतना महापुराण मा पण आ अर्थ मा शब्द वपरायो छे जुओ (८५–१०–६, ८५-२४-१४, ८५–१३–३, ८८–८–७, छेल्ला स्थान उपरना टिप्पण मा तेनो 'आलीगारपणु' अेवो जूनी गुजराती मा अर्थ आपेलो छे । 'अलगारीपणा' नो आ मूळ अर्थ छे । 'आलि' करवी अेटले 'मस्ती तोफान' करवा, 'दु+आलि'='दुवालि' । भरतेश्वर बाहुबलि रासमा 'आलि करइ अपार तु' अेम आवे छे । पृथ्वीचद्र चरित मा हाथीनी मस्ती माटे ते वपरायो छे महापुराण' मा ८५–२४–१४ उपर ना टिप्पण मा तेनो अर्थ 'गुलाई' आप्यो छे ते 'गोलापणु' 'लुच्चाई' अेटले के 'अलवीतराइ' होवानु समजाय छे ।

१२ पडद्ध 'अत्यत आसक्त'

वुच्चइ वम्महेण कुलजाइ विसुद्धी
णरवइ तुम्ह सुय चडाल पडद्धी (१३-७-घत्ता)

'मन्मथे (=प्रद्युम्ने कह्यु "हे राजा, विशुद्ध कुल अने जाति वाळी तारी पुत्री चडाल ने हळी गई छे") ।

स० 'प्रगृद्ध' उपरथी ने थयो छे । गुजराती 'पेधवु' ना मूलमा आज शब्द छे अर्थ वदलायो छे ।

१३. पलक्क 'लपट'

कावि गोवि रस सग पलक्की (५-१० ७)

'कोइक गोपी रस लपट बनी गई' । 'प्राकृतकोशे' 'कुमारपाल प्रतिबोध' माथी 'विसयपलक्कओ' नोंध्यु छे, अने धाहिल कृत पउमसिरिचरिउ' मा भ्रष्ट चरित्र नारी ने 'पलक्किया' कही छे ।

१४. पाण 'बल'

घणु खरू 'विज्जा पाण' = विद्याबल' अेवा रूपे वपरायो छे

जे वम्महु मारहु भणिविगय
ते विज्जापाणइ सयल हय (११-११-७)

'मन्मथ (प्रद्युम्न) ने अेम मारीशु, अेम कही ने गया ते बधाने तेणे विद्यावले मारी नाख्या'।

अेव भणेवि कुमारू संचल्लिउ विज्जपाणें
दीसइ णहयले जंनु णं रावणु पुष्फविमाणे (१८-१-धत्ता)

'एम कहीने कुमार विद्यावले ऊपड्यो, आकाश मार्गे जतो ते पुष्पविमान मा रावण जतो होय तेवो लागतो हतो।

'पउमचरिउ' १९–७–११४ अने ३८–१७–३ मा पण आज अर्थ मा 'विज्जापाणअे' 'विज्जा पाणे हिं' मले छे।

जूनी गुजराती मा 'प्राण' शब्द 'वल' 'शक्ति' 'सामर्थ्य' ना अर्थ मा जाणीतो छे। अर्वाचीन गुजराती प्रयोग 'पराणे'='बलपूर्वक' 'अनिच्छाअे' तोमाथी ज आवेलो छे।

१५. भगवइ 'दुर्गा'

अवहरिउ केण हरि भगवइ हे ७-२-४)
'कोणे भगवती ना (दुर्गा) ना सिंह नु हरण करयु ?'

कोशमा 'भगवइ' नो आ अर्थ नथी नोधायो।

१६ भद्दिओ 'विष्णु'

पूयण पण्हुवति भोसावइ
भद्दिउ भीम भिउडि दरिसावइ (५-५-८)

'धवरावती पूतना विवशथवा लासी सामे विष्णु (=कृष्ण) भयकर भ्रकुटि देखाडवा लाग्या'।

दे ना ६,१०० मा तथा सिद्धहेम ८–२–१७४ 'भट्टिओ' अेवो शब्द विष्णुना अर्थमा अपायेलो छे। पण शुद्ध रूप 'भद्दिओ' होवानु जणाय छे। अने दे ना मा 'भद्दिओ' पाठातर मा नोधायु छे। पाइअसद्दमहण्णवो' माँ आपेलु 'भट्ठिअ' मुद्रण दोष छे।

१७. मूयसू 'मंगु करवु'

वम्महेण मूयसेवि मुक्की (११-६-७)

'दुर्योधननी राणी जलविमाला ने प्रद्युम्ने (विद्यावले) मूगी करीने छोडी दीधी'।

सरखावो 'मूअत्त' 'मूअत्तण' (दे ना ६-१३७) = मूकअने प्राकृतकोशमा सेतुबध माथी टाकेलु 'मूअल्लइअ', 'मूअल्लिय' – मूगु बनेलु।

१८. मोट्टियार 'नवजुवान'

मोट्टियारु ण घडियउ वज्जे (१४-१३–५)

'जाणे के वज्रे घडेलो नवजुवान होय तेवो'

(वाल भीमनु शरीर आघातो वच्चे पण अक्षत रह्यु तेने अनुलक्षीने)'

पुष्पदतना महापुराणमा 'मोट्टियार' शब्द वपरायो छे। मारवाडी मा तथा उत्तर गुजरात नी बोली मा ते प्रचलित छे।

'मोट्टय' ने अधिकता दर्शक 'यर' प्रत्यय लागत ने 'मोट्टय्यर' उपर थी 'मोट्टयार' (जेम 'पियर' उपर थी 'पियार') अने पछी यकारनी असर नीचे 'मोट्टियार' थयु छे।

१६. लेहड 'लुब्ध'

'परणरवर सयर सिर लेहडु (६-६-४)

'युद्धमा शत्रु वीरोना शिर लेवा मा लुब्ध—तत्पर'

(कृष्ण ना रथनु वर्णन)

दे ना ७, २५ मा 'लेहड' नोधायो छे, 'लिह' चाटवु माथे सवद्ध जणाय छे।

२०. बधणार 'बधन'

आखेहि दुवालिहि पत्तु तुहु

दिढ बधणार निह मत्तगउ (१-११-४, ५)

'आवा उद्धत तोफानोथी तु मत्त बनेला हाथीना जेम दृढ वधन पाम्यो छे।

'पउम चरिउ' मा पण आ वपरायो छे '

णिग्गउ इवइण वधणारु हणुवत हो (५३-३-१०)

'इन्द्रजित वहार नास्यो—जाणे के हनुमान नु बधन'।

'पउमचरिउ' ना शब्द कोशमा मे तेनो 'वधनकर्ता' अेवो अर्थ करचो छे तेनी आधी शुद्धि थाय छे।

'को गुणेहि न पावि उ बंधणारू' अेवी पक्ति पण अपभ्रंश कायम पाच्यानु स्मरण छे। अर्थ छे 'गुणेथी कोण बधन पामतु नथी ?' अही गुण उपर श्लेष छे।

२१. वालाहिय 'धरो, ह्रद'

जउण वालाहिय हो अगाहहो

णद गावे लहु कमलइ आणहि (५-१३-२, ३)

'यमुनाना अगाध धारा माथी हे नदगोप सत्वर कमलो लावी आप'।

'पउमचरिउ' १४-१०-५ मा नर्मदा नदी ने 'वालाहिप' निद्रा थी सूतेली कही छे। त्या, कदाच आज अर्थ छे।'

२२ विप्याले 'वच्चे', 'वचाल'

तिहि तेहेअे काले पडिउवयार भावगयउ

सेण्णहे विप्याले मिलियउ हरि कुल देवयउ (७-११-धत्ता)

'ते समये प्रत्युपसर करवानी वृत्तिवाली कृष्ण नी कुलदेवताओ सैन्यनी वच्चे आवीने मली'।

रस्ता 'वच्चे' 'मध्यमा' अेवा अर्थ मा अपभ्रंशमा 'विच्चि' नोंधायो छे। (सिद्ध हेम, ८-४-४२१)
'आल' प्रत्यय लागीने थयेला 'विच्चाल' माथी गुजराती 'वचाल' आव्यु' छे।

२३. सत्तावी संजोयण 'चन्द्र'

सत्तावी सजोनण मुहिय हे
वासहो ससहो परासर दुहियहे (१-४-५)

व्यास नी बहेन अने पराशरनी पुत्र चद्रमुखी (सुभद्रानु)

दे ना ८-२२ मा आशब्द नोंधायो छे। 'पउमचरिउ' ४१-४-३ मा पण आ शब्द वपरायो छे। 'सत्यावीश नक्षत्रो प्रत्ये जोनार' अेवा यौगिक अर्थ मा रूढार्थ बन्यो छै।

२४. साहुलिय 'शाखा'

ण णवतरु अहिणव साहुलिय
करपल्लव णह कुसुमावलिय (७-१-८)

'जाणे के कर पल्लव अने नख कुसुम थी युक्त अेवी नवीन तरुनी अभिनव शाखाओ'।

दे. ना ८-५२ मा 'साहुली' ना अन्य अर्थोनी साथे 'शाखा' अने 'भुज' अर्थ पण आपेला छै। सिद्धहेम ८-२-१३४ मा पण शाखाना अर्थ मा ते आपेलो छे।

२५ हेवाइयउ 'कोप्यो'

मगहारिउ तो हेवाइयउ (७-२-१)

'अेटले मगधराज (=जरासंध) कोप्यो'।

'पउमचरिउ' मा 'हेवाइउ' २०-८-२, ५६-१०-६, ७४-४-१, ८२-११-४ शब्दनो टिप्पण मा 'गर्वनीत' 'वृद्धि प्रात, अेवो अर्थ आप्यो छे। सस्कृत 'हेवाक' 'हेवाकिन्' अने गुजराती 'हेवायो' नी साथे तेनो सबध होवानु जणाय छे। अही नोंधेलो शब्द 'पउमचरिउ' मा मलता 'वेहाविद्दउ' (८६-१, ७-५-६ वगेरे) ने अर्थ दष्ट अे मलतो छे। तेनो अर्थ 'कोपातुर' थाय छे, अने दे ना ७-६५ मा 'वेहकिअ' शब्द रोपाविष्ट' ना अर्थ मा आप्यो छे। अहींनु 'हेवाइय' अे प्रत्यय थी 'वेहाइय' उपर थी थयु होय।

वितण्डा

कथा (बे पक्षो वच्चेनी चर्चा) ना त्रण प्रकार न्याय सूत्रकारे गणाव्या छे-वाद, जल्प, अने वितण्डा। वादना अधिकारी वीतराग होय छे, तेओ सत्यनिर्णयार्थ वादकरे छे, हार-जीतनो सवाल तेमने मन खास महत्वनो नथी। वादमा पक्ष अनेप्रति-पक्ष सामसामा रजू करवा मा आवे छे अने प्रमाण अने तर्क तेमा छल, जाति अने निग्रह स्थान जेवी युक्तिओनो उपयोग थायतो पण समान पणे तो नही ज (प्रमाण तर्कसाधनोपालम्भे सिद्धान्तविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न पक्ष प्रतिपक्षपरिग्रहो वाद न्यायसूत्र १-२-१) जल्पनी पद्धति पण वाद जेवीज छे, तेमा पण प्रमाण अने तर्क द्वारा स्वपक्षनु खडन करवानो प्रयत्न करवामा आवे छे, पण तेमा विरोधीनो पराभव करवानु मुख्य प्रयोजन होइ छल, जाति अने निग्रह स्थाननो समान पणे उपयोग थाय छे। (यथोक्तोपपन्नछलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भी जल्प —न्यायसूत्र १-२-२) तेज जल्प प्रतिपक्षनी स्थापना विनानो होय तो वितण्डा बने छे। ज्यारे चर्चा मा उतरेलो अेक-वादी पोताना मतनु स्थापन करतो ज नथी, मात्र प्रतिवादीना मतनु खडन खंडन कर्या करे छे त्यारे ते वितण्डा करे छे अेम कहेवाय छे (स प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा—न्यायसूत्र १-२-३)। आना पर भाष्य करता वात्स्यायन स्पष्टता करे छे के वैताण्डिकने पण पोतानोपक्ष तो होय ज छे, केवल ते तेनु स्थापन करवा प्रवृत्तथतोनथी अने थेती ज सूत्रकारे वितण्डा प्रतिपक्षहीन छे अेम न कहे ना प्रतिपक्षस्थापनाहीन छे अेम कह्यु छे। उद्योतकर अने वाचस्पति पण समत तथा स्पष्टता करे छे के आमा वैताण्डिक नो अेवो आशय होय छे के विरोधीना मत के पक्षनु खडन करवाथी पोतानो पक्ष पोतानी मेले सिद्ध थइ जशे, वैताण्डिकनो पोतानो पक्ष होय ज छे पण तेनु प्रतिपक्षना खडन थी स्वतन्त्रपणे स्थापन करवामा आवतु न थी।

उद्द्योतकरे अेक मत नोध्यो छे जे प्रमाणे वितण्डानु लक्षण 'दूषण मात्र' हतु। उद्द्योत करे आको प्रतिषेध कर्यो छे कारण के वैताण्डिकने पण जेनु खडन करवानु छे ते पक्ष, अे पक्षनी विपर्य-यात्मकता, प्रतिवादी अने वादी तरीके पोते आटली हकीकतो तो स्वीकारवीज रही अने दूषणमात्र अेटलु लक्षण होय तो आनी उपपत्ति थती न थी। (जुओ न्यायवार्तिक, पृ १६३, तात्पर्य टीका, पृ ३३०)। पण चरक सहिता (पृ २२५) मा पण वितण्डानु 'परपक्षे दोषवचनमात्रमेव' अेवु लक्षण आप्यु छे तेथी अेम कही शकाय के वितण्डा अे दूषण मात्र जे अेवी परपरा होवी जोइअे।

वितण्डाति पद्धतिनो जेमा उपयोग करवामा आव्यो छे तेवा ग्रन्थो नो अभ्यास करता जणाय छे के आ वैताण्डिको केवल दोषदर्शी नथी पण सूक्ष्म विचारक छे जेमने कोई ज्ञाननु प्रामाण्य मान्य

नथी अने तेथी तेमने पोतानो कोई मत के वाद न थी। विरोधीनु खडन करता जा दलीलीनो ग्रे डपयोग करे छे तेमाम कदाच कोई जूदा मत के पक्षनो सीधो के ग्राडकतरो स्वीकार थतो होय तो पण ग्रा वैतान्डिकने ग्रभिप्रेत तो न थी ज। कोई ग्रामतनी स्थापना करवा प्रवृत्त थाय तो ग्रेज वैताण्डिक ग्रेनु खंडन करवा तत्पर बने ग्रने त्यारे ग्रे ग्रेनाथी विरुद्ध मतनो स्वीकार करतो जणाय। जयराशिभट्टना तत्वोपप्लवसिंह पर दृष्टिपात करता ग्रा सहेजे समजाय छे। सत्कार्य वादनु खडन करता वैताण्डिकने ग्रसत्कार्यवाद मान्य छे ग्रेम लागे पण ग्रेज वैताण्डिक ग्रसत्कार्य वादनु पण खडन करे छे, ग्रनेत्यारे तेने सत्कार्यवाद मान्य होय ग्रेवु' लागे छे। वास्तवमा तेने ग्रेक पण मान्य नथी ग्रने प्रतीत्य समुत्पाद के विवर्त-वाद के कोई पणवाद मान्य न थी। तेने प्रमाणिक पणे ग्रेम लागे छे के कोई ज्ञान ने प्रमाण भूत मानी शकाय तेम न थी। तेथी कोई वाद ते शी रीते स्थायी शके के स्वीकारी शके। प्रमेयनी स्थापना प्रमाण पर ग्राधारित छे ग्रने प्रमाणनु साचु लक्षण ग्रापी शकाय तो ज प्रमाणनी स्थापना थई शके पण प्रमाणनु कोई पण लक्षण दोष रहित (—तर्कशास्त्रने मान्य सिद्धान्तो प्रमाणे पण) जणातु नथी तेथी प्रमेयनी स्थापना शक्य बनतो न थी। ग्रा सजोग मा परम तत्व ग्रगे के बीजु पण कशु कहेवु शक्य न थी। बधा लौकिक ग्रने शास्त्रीय व्यवहार ग्रविचारित रमणीय चाले छे [सल्लक्षणनिबधन मानव्यवस्थानम्, मान-निवन्धना च मेयस्थिति, तदभावे तयो सद्व्यवहार विपयत्व कथ [स्वयमेव] '—तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ १, तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेपु ग्रविचारित-रमणीया सर्वेव्यवहारा घटन्ते—पृ १२५

वितण्डा-पद्धतिनो स्वीकार सजय वेलट्ठिपुत्र (बुद्धना समकालीन), जयराशिभट्ट (८वी सदी), माध्यमिको ग्रने श्रीहर्ष (१२वी सदी) जेवा ग्रद्वैत वेदान्तीग्रोनी विचार-सरणि ग्रने प्रतिपादन मा जोवा मले छे, ग्रा लोको केवल दोषदर्शी हता ग्रने सूक्ष्म विचारक न होता ग्रेम तो कोई कही शके तेम नथी। तेथी ग्रापणे मानवा प्रेराईसे छीग्रे के वितण्डानु प्रतिपारन जे रीते न्याय-ग्र थोमा करवामा ग्राव्यु छे ते पूरतु नथी ग्रने उद्द्योतकर, वाचस्पति वगेरे ग्रे वितण्डानु साचु रहस्य पकड्यु न थी। जयत जेवा पासेथी यहा ग्रा परत्वे वधारे विवरण प्राप्त थतु न थी। पण उदयने (१०वी सदी) पोतानी परिशुद्धि मा सानातनिना मतनो उल्लेख कर्यो छे जे प्रमाणे कथा चतुर्विध छे कारण के वितण्डा वे प्रकारनी छे—तेमावाद के जल्पना लक्षणो होय ग्रे ग्रनुसार। [प्रौढगौड नैयायिक मते चतस्त्र कथा। 'स प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा' (न्यायसूत्र १-२-३) इन्यत्र जल्पवद् वादस्यापि परामर्शात्। पुरुपाभिप्रायानुरोधेन चतुर्थोदाहरणस्यापि उपपत्ते रीति सानातनि—परिशुद्धि १ २ १—History of Navya Nyaya in Mithila, P 1 —दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, दरभगा, १९५८—मा थी उद्धृत)। शकर मिश्रे (१६वी सदी) पण वादि विनोद (पृ २) मा ग्रा मत नो उल्लेख कर्यो छे। सानातनिने मते वादी वादना लक्षण जेमा छे तेथी कथा (चर्चा) मा पोताना कोई पक्षनु स्थापन कर्या विना पर पक्षनु खडन मात्र करे ग्रे शक्य छे ज। न्याय परिशुद्धिमा वेकटनाथे (१३वी सदी) पण वितण्डाना वे प्रकार छे—वादी वीतराग के विजिगीपु होय ग्रे प्रमाणे—तेवा मत नो उल्लेख कर्यो छे, जो के वेकटनाथ पोते ग्रा मतनी साथे समत थता नथी कारण के सत्यनिर्णयनी भखना वालो वीतराग प्रतिपक्षना खडन मात्र थी सतुष्ट न ज थाय। तेने तो जेने ग्रगे चर्चा थई रही छे ग्रे वस्तुना स्वरूपनो प्रतीति इष्ट छे (के चिन्, वितण्डायामपि वीतराग-विजिगीपुभेदाद् भेदमाहु—न्यायपरिशुद्धि, पृ १९९)। दूपणमात्र वितण्डा, परपक्षे दोपवचनमात्रमेव—ग्रे लक्षणो तो प्रापणे जोया ज छे। तेथी ग्रेवु मानवानी प्रेरणा थाय छे के ग्रावा लक्षणो प्राचीन काल

की मलता होय अने बीजु बाजुग्रे वितण्डा पद्धति थी प्रवृत्त थनार उच्च कक्षाना चिन्तकोना ग्र थो ज्ञेय तो बधा वैताण्डिक केवल दोषदर्शी न होइ शके । तेमने बीजो पण ग्रेक प्रकार होवो जोइग्रे—सूक्ष्म विचारक (Critical Philosophers) कही शकाय तेवा ग्रोनो । वीतराग वैताण्डिक तत्त्वोपप्लववादी चिन्तक होइ शके, जेने Sceptic कही शकाय । तेने ज्ञाननु प्रामाण्य मान्य न थी अने तेथी ते कोई मतनु स्थापन करी शकतो न थी । जयराशिभट्ट ग्रावा चिन्तक छे । ग्रावाज बीजा केटलाक चिन्तक ने ग्रेम लागे छे के लौकिक प्रमाणो थी परम ज्ञाननी प्राप्ति शक्य न थी । माध्यमिको अने श्री हर्ष वगेरे अद्वैत वेदान्ती ग्रो ग्रा कोटिना चिंतको छे । ते ग्रो परम तत्त्व स्वीकारे छे पण तेनु स्थापन लौकिक प्रमाणो थी शक्य न थी तेवी तेमनी दृढ मान्यता छे । तत्त्व जेवु छे तेवु लौकिक प्रमाणो थी ज्ञान थई शकतु न थी अने जेनु ज्ञात थाय छे तेवु ते होइ शके नही कारण के ग्रा प्रमाणोनी ग्रापसी मान्यताज दोष रहित न थी । परा प्रज्ञा थी तेनो साक्षात्कार थइ शके पण लोकिक रीते ते ज्ञाननी प्राप्ति के ग्रे तत्त्वनु विवरण शक्य न थी । बीजु बाजुग्रो जयराशि जेवा तत्त्वोपप्लववादी कोइज ज्ञाननी सत्यता स्वीकारता न थी अने तेथी कोई तत्त्व विषे कशु कहेवा तैयार न थी ।

वितण्डानो व्यवहार मा उपयोग सामा पक्ष ने फटकारवा माटे, भूडो कार्ढ़ी नाखवा माटेज मोटे भागे थतो होय छे । पोतानी व्यवस्थित रजूग्रात कर्या सिवाय सामेनो माणस जे बोले तेनु खडन करव ते वितण्डा । वितण्डानो ग्राज अर्थ न्यायना ग्र थामा उतरी ग्राव्यो छे । प्रमाणिक पणे वितण्डानो ग्राश्रय लेनार बहु ग्रोछा होवा ने कारणे ग्रा पासु लगभग भुलाइ गयु धर्मकीर्ति जेवा बौद्ध नैयायिक अने अकलक हेमचद्राचार्य वगेरे जैन नैयायिको वितण्डाने कथानो प्रकार मानना तैयार न थी कारण के ग्रेक पक्ष ने तेमा कोइ मतज होतो न थी (जुबो वाद न्याय, पृ ७२, न्याय-विनिश्चय २-२८२-३८४, प्रमाणमीमासा २–१–३) । चरक सहितामावाद–(विगृह्य कथा) ना बे प्रकार गणाव्यां छे–जल्प अने वितण्डा–प्रतिपक्ष रजू करवामा ग्रावे के न ग्रावे ते अनुसार । अने दूषणमात्र जेवा लक्षणो सही रजू करेला ग्रभिप्रायनु समर्थन करवामा काइक अशे मदद रूप थाय छे । सानातनि ग्रे वितण्डाना बे प्रकार मान्य राखेला तेथी विशेष समर्थन मले छे । ते सिवाय वितण्डाना ग्रा पासा अगे न्याय-ग्र थोमा भाग्येज कशी सामग्री मले छे ।

पोतानो पक्ष न होवानु कारण ग्रे पण होइ शके के कोइ ज्ञाननु प्रामाण्य सिद्ध करी शकातु न थी तेथी कोइ तत्त्व विषे वास्तवमा कशु जाणी शकाय सही, अथवा तो परम तत्त्व लौकिक प्रमाणोनी मर्यादानी बहार छे तेथी तेने विषे लौकिक प्रमाणो द्वारा कशु प्रतिपादन करी शकातु न थी, अने लौकिक प्रमाणो द्वारा जे ज्ञान प्राप्त थइ शके छे ते तेमने अभ्युपगमो प्रमाणे पण दोष रहित छे ग्रेम तो न ज कहेवाय । साम पोतानो पक्ष न होवानु प्रामाणिक कारण होइ ने केटलाक चितको ग्रे वितण्डा–पद्धतिनो ग्राश्रय लीधो । वितण्डानि ग्रा कक्षानो भाग्येज कोई नैयायिक विचार करचो । नैयायिको ग्रेनो कोइ पण चर्चा मा बे पक्ष होय, वगेरे वगेरे—ग्रे निश्चित चोकठा मा रही ने ज विवेचन करचु अने वाद प्रकारनी वीतरागनी वितण्डा स्वीकारनारनो अवाज ग्राघोघाटमा डुली गयो । तेम छता तत्त्वोपप्लवसिंह जेवा ग्र थोनी पद्धति समजवामा अने तेमना कर्तानु मूल्याकन करवामा ग्रा मदद रूप थाय छे ।

भारतीय कला के मुख्य तत्त्व

भारतीय कला भारतवर्ष के विचार धर्म, तत्वज्ञान और सस्कृति का दर्पण है। भारतीय जन जीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। यहा के लोगो का रहन-सहन कैसा था, उनके भाव क्या थे, देवतत्व के विषय मे उन्होने क्या सोचा था, उनकी पूजाविधि कैसी थी और पचभूतो के धरातल पर उन्होने कितना निर्माण किया था इसका अच्छा लेखा--जोखा भारतीय कला मे सुरक्षित है। वास्तु, शिल्प, मूर्तिया, चित्र, कास्य प्रतिमा, मृद्‌भाजन, दतकर्म, काष्ठ कर्म, मणिकर्म, स्वर्णरजत कर्म, वस्त्र आदि के रूप मे भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा मे पायी जाती है। देश के प्रत्येक भाग मे कला के निर्माण की ध्वनि सुनाई पडती है। एक युग से दूसरे युग मे कलात्मक के केन्द्र दिशा--दिशाओ मे छिटकते रहे, किंतु यह विविध सामग्री समुदित रूप से भारतीय कला के ही अन्तर्गत है।

भारतीय कला को दीर्घकालीन रूप सत्र कहना उचित है, जिसमे देश के प्रत्येक भू भाग मे अपना अर्घ्य अर्पित किया है। इस रूप समृद्धि मे अनेक जातियो ने भाग लिया है, किन्तु इसकी मूल प्रेरणा और अर्थव्यजना मुख्यत भारतीय ही है। जब भारतीय सस्कृति का प्रसार समुद्र पार और पर्वतो के उस पार हुआ तब भारतीय कला के रूप और उसके अर्थ भी उन २ देशो मे बद्ध मूल हुए। सुभाग्य से वह सामग्री आज भी अधिकाश मे सुरक्षित है। और भारतीय कला के यश -प्रवाह की कथा कहती है। द्वीपान्तर या हिंदेशिया से लेकर मरु-चीन या मध्य-एशिया तक का विशाल भू-खण्ड भारतीय कला की मेघवृष्टि से उत्पन्न फुहारो से भर गया। वह आन्दोलन कितना गम्भीर और बलिष्ठ था। इससे आज भी आश्चर्य होता है। भारतीय कला के सपूर्ण ब्यौरेवार अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय धर्म, दर्शन और सस्कृति के साथ मिलाकर उसे देखा जाय। जिसकी सामग्री वेद, पुराण, काव्य, पिटक, आगम आदि नानाविध भारतीय साहित्य मे पायी जाती है।

तिथि-क्रम –

कला की यह सामग्री देश और काल दोनो मे महा विस्तृत है। इसका आरम्भ सिधु उपत्यका मे तृतीय सहस्राब्दि ईस्वी पूर्व से होता है और लगभग ५ सहस्त्र वर्षो तक इसका इतिहास पाया जाता है। इस तिथि-क्रम का लगभग सुनिश्चित आधार इस प्रकार है।

१. सिंधु सभ्यता की कला – लगभग २५०० – १५०० ई० पू०

२ वैदिक सभ्यता – लगभग २००० – १००० ई० पू०

३. महाजनपद युग – लगभग १२०० – ६०० ई० पू०

४ शैशुनाग नन्द युग – लगभग ६००– ३२६ ई० पू०

५ मौर्य युग ——लगभग – ३२५ – १८४ ई० पू०

६ शुग काल – लगभग १८४ – ७२ ई० पू०

७ काराव वश – लगभग – ७२ – २७ ई० पू०

८ वाहूलोक – यवन और भद्रक यवन – लगभग २५० – १५० ई० पू०

९ शहरात शक – लगभग प्रथम ई० पूर्व – ३९० ई०

१० सातवाहन वश – लगभग २०० ई० पू० — २०० ई०

११ शक कुषाण – लगभग ८० ई० पू०—दूसरी शती ई०

१२ आन्ध्र देश का इक्ष्वाकुवश—तीसरी शती ईस्वी

१३ गुप्त युग –लगभग ३१९ ई० —६०० ई०

१४ चालुक्य युग – लगभग — ५५० ई० – ६४२ ई०

१५ राष्ट्रकूट युग—लगभग ७५३ ई०—९७३ ई०

१६ पल्लव वश—लगभग ६०० ई०–७५० ई०

१७ चोल युग—लगभग ९००–१०५३ ई०

१८ पाड्य वश – लगभग १२५१ ई०—१३१० ई०

१९ होयसल वंश — १२–१३ वी शती

२० विजयनगर वश – लगभग १३३६–१५६५ ई०

२१ उडीसा के गग और केसरी वंश — ११वी से १३वी शती

२२ मगध का पाल और वगाल का सेनवश — लगभग ९वी से १२वी शती

२३ गुर्जर प्रतिहार वश — ७५०–९५० ई०

२४ चन्देल वश—९००–१००० ई०

२५ गाहडवाल—१०८५–१२०० ई०

२६ सोलकी वश – ७६५–१२०० ई०

कला के आदोलन एक समय जन्म लेकर फूलते फलते और वृद्धि को प्राप्त होते है। जल तरगो की भाति वे अपना वेग दूसरे युग की प्रेरणाओ को सौप कर विलीन हो जाते है। कला के तिथि-क्रम को इसी उदार भाव से देखना चाहिए। राजाओ के छत्र या नृपावली के पर्यवसान के साथ कला का प्रवाह ठप्प नही हो जाता। ऊपर जिस तिथि–क्रम का उल्लेख है, उसमे सिंधु घाटी से लेकर नन्द युग वश के पूर्व तक भारतीय कला का आद्य युग है। तदुपरान्त मौर्य काल से हर्ष के समय तक उसका मध्य युग है, जो उसके समुदीर्ण यौवन का युग है। इसके भी दो भाग हो जाते है। एक के अन्तर्गत मौर्य, शुग, कराव और पूर्व सात-वाहन युग की महान कला कृतिया है। इस पूर्व युग मे कला के अकुर भिन्न २ प्रदेशो मे उठाव ले रहे थे। सारनाथ, भरहुत, साची, बोधगया, अमरावती, भाजा, उसी के रूप है। इस

युग के उत्तरार्थ मे प्रथम शती ईस्वी से लेकर लगभग ७वी शती तक अर्थात् कनिष्क से हर्ष तक की कला-कृतिया आती है। यह भारतीय कला का आद्य युग है इसमे कला की प्रौढता राष्ट्रीय स्तर पर देश के चारो खूटो मे फैल जाती है। उसका वाह्य रूप और भीतरी अर्थ दोनो राष्ट्र सम्मत स्तर पर मान्यता प्राप्त करते है और न केवल स्वदेश मे किंतु विदेशो मे भी भारतीय कला का प्रभविष्णु रूप व्याप्त हो जाता है। इन ७०० वर्षो मे भारतवर्ष मे कला, साहित्य, दर्शन और जीवन का सर्वोच्च विकास हुआ और जनता के मन मे इस प्रकार की धारणा वनी – न भारत सम वर्ष पृथिव्यामस्ति भो द्विजा –यह कथन वहुत अशो मे सत्य था। उस युग मे भारत, चीन, ईरान और रोम इन चारो का एकाधिपत्य साम्राज्य था और इनके शासक जगदेकनाथ समझे जाते थे। किन्तु इनमे भी भारत की श्री समस्त जम्बूद्वीप मे सर्वोपरि थी।

हर्ष युग के वाद भारतीय कला का चरम युग आता है, जिसे मध्य काल (७००–१२००) भी कहते हैं। उसके भी २ भाग है—पूर्व मध्यकाल (७००–९०० ई०) और उत्तर मध्यकाल (९००-१२०० ई०)। काल के इस दीर्घ पथ पर भारतीय कला के सतत और दृढ पदचिन्ह महान् कृतियो के रूप मे हमारे सामने है, मानो सौन्दर्य का कोई विराट् देवता पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण चारो दिशाओ मे चला हो और अपने पीछे नाना प्रकार की शिल्प, वास्तु, चित्रादि सामग्री भरता गया हो। इस कला की कथा एक ओर सरल है क्योकि उसमे एक सूत्र पिरोया हुआ है। दूसरी ओर जटिल है क्योकि उसके ताने बाने मे नानाविध तन्तुओ का समावेश है। भारतीय कला के पारखी इतिहासवेत्ता को चाहिए कि जहा जो स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय सदर्भ वितान, रूप, शैली, अलकरण, प्रभाव और अर्थ है उनको अलग पहचान कर उनकी व्याख्या करें।

प्राप्ति स्थान

प्राप्ति स्थान और तिथि क्रम ये दोनो कला वस्तु के अध्ययन मे सहायक होते हैं। इनका आधार प्रख्यात्मक होता है और सावधानी से प्राप्ति स्थान सम्वन्धी सूचना का सग्रह करना चाहिए। अधिकाश अवशेपो और वस्तुओ के प्राप्ति स्थान विदित होते है। उनके द्वारा कला की वस्तुओ का सदर्भ सुविज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाषाण प्रतिमाओ और वास्तु खडो के लिए पत्थर की जाति और रङ्ग से ही उनसे सदर्भ का सकेत मिलता है। उदाहरण के लिए सिंधु घाटी मे कीर–थर पहाडी की खदानो का सफेद खडिया पत्थर या मौलाभाटा काम मे लाया जाता था। मौर्य कला के लिए चुनार की खदानो का हल्के गुलावी रङ्ग का ठोस वलुआ पत्थर काम मे लाया गया। मथुरा कला मे मजीठी रग का चितीदार बलुहा पत्थर जो सीकरी, वयाना आदि स्थानो मे मिलता है प्रयुक्त किया गया। गन्धार कला मे नीली झलक का सलेटी या पपडिया या परतहा तिलकुट पत्थर काम मे लाया जाता था। गुप्त-काल मे स्थानीय लत्छौह या मयवरी पत्थर का प्रयोग होता था। पाल युग मे काले या गहरे नीले रङ्ग का नयावाल तेलिया पत्थर नीलापन, (Black Basalt) काम मे लाया गया। चालुक्य कला मे पीले रग का बलुहा पत्थर काम मे आता था। अमरावती और नागार्दिनीकुडा आदि के स्तूपो मे विशेप प्रकार का श्वेत खडिया पत्थर (Limestone) काम मे आता था, जिसे वहा की भापा मे अमृत शिला कहते है और जो हमारे यहा के सगमरमर से मिलता है। इसी प्रकार उड़ीसा के मंदिरो मे राजा

रानिया या मुगना (Crcrite) पत्थर, कहीं कुडथा (Granite) और कही डुसरिया पत्थर (Late rite) और कही सेल खडी या सगजराहत (Alabaster) और कही सगमरमर (सस्कृत मुक्ता शैल) काम मे लाया गया। इस प्रकार भिन्न २ पत्थरो की चाल से कलात्मक सामग्री के स्थानीय भेदो का निर्पेक्ष मिल जाता है।

काल निर्धारण

वस्तुओ का काल निर्धारण प्राय उत्कीर्ण लेखो के आधार पर किया जाता है। जैसे स्तूप, मदिर, शिलापट्ट या मन्दिर की चौकी पर उत्कीर्ण लेख सम्बधित सामग्री के काल की सूचना देता है। इस साक्षी के अभाव मे शैली ही समय का संकेत बताती है। पुरातत्व की खुदाई मे प्राप्त सामग्री को जैसे लेख, मुद्रा, मृतपात्र, खिलौने को पूर्वापरीय स्तरो के आधार पर जाच कर उनका समय निश्चित करते है। कला सामग्री के बहिरङ्ग अध्ययन का उद्देश्य उसकी ऐतिहासिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि का अवधारण करना है जिसके लिए प्राप्ति-स्थान, समय और शैली इन तीनो के परिचय की आवश्यकता होती है।

अर्थ-व्यजना

कलात्मक वस्तु की वहिरग परीक्षा हमे उस विंदु पर ले जाती है, जहा उसकी अतरग परीक्षा वा अर्थ की व्याख्या आरम्भ होती है। प्रत्येक कला वस्तु किसी मनोगत भाव का स्थूल प्रतीक है। अतएव सच्चे कला पारखी की रुचि कला द्वारा भाव या अर्थ की व्यजना मे है। भारतीय सौंदर्य शास्त्र के अनुसार कला और काव्य के ४ तत्व या अग माने गए है — १ रस, २ अर्थ, ३ छन्द, और ४ शब्द (काव्य के लिए) या रूप (कला के लिए)।

रस

रस कला की आत्मा है। यह अध्यात्म गुण है जिसमे कृति का स्थायी मूल्य निहित रहता है। इसे मौलिक, आवश्यक और अनकर्य दिव्य गुण कहना चाहिए, जो प्रत्येक सच्ची काव्य कृति या कला कृति मे पाया जाता है। मनुष्य का मन भावो का समुद्र है। भावो की समष्टि से ही रस का उदय होता है। मनुष्य के मन मे जो नाना भाव जन्म लेते हैं, उन्हे ही कला और काव्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। काव्य के पडित आलंकारिको के अनुसार काव्य मे ८ या ९ रस माने गए है, जिनके पृथक्-पृथक् भाव है। कला कृति से रसिक के मन मे भावो का उद्वेग होता है। कवि और कलाकार सर्वप्रथम अपने मानस मे रस या भाव विशेष की आराधना करते है और फिर उसे शब्द या रूप के द्वारा स्थूल या इंद्रिय गाही माध्यम से व्यक्त करते है।

अर्थ

मन मे रस का स्मरण होने पर कवि और कलाकार उस अर्थ या विपय को चुनते है जिसके द्वारा रस या भाव स्फुटित होते हैं। अर्थ का अभिप्राय वर्ण या आलेख्य गत विषय से है। भारतीय कला की अर्थ-संपत्ति के अ तर्गत नाना देव और देवियो का विस्तार है, जो विश्व की दिव्य और भौतिक शक्तियो के प्रतीक है। इन देव-देवियो के विषय मे वेदो और पुराणो मे अनेक महाख्यान हैं। उनका उद्देश्य ज्योति और तम, सत और असत, अमृत और मृत्यु के द्वन्द्व की व्याख्या करना है। प्राचीन

परिभाषा मे इस द्वन्द्व को देवासुर कहा गया है, अर्थात् देवो और असुरा के शाश्वत सग्राम की परिकल्पना से सग्राम इतिहास की काल विजडित घटनाये नही। किंतु दिव्य भावो की नित्य लीलाये है, जो देश और काल मे सदा और सर्वत्र घटित होती है। बुद्ध, महावीर आदि महापुरुष और इन्द्र, शिव, विष्णुकुमार आदि देव प्रकाश और सत्य के प्रतीक है। इसके विपरीत वृत, मार महिष, त्रिपुरासुर और तारकासुर असत या अन्धकार के प्रतीक है। अर्थ ही कला का सच्चा चक्षु है। प्रत्येक कला की कृति के ललाट पर उसकी अर्थ लिपि अकित रहती है। उसे उसी प्रकार पढना चाहिए जिस प्रकार की अर्थ-वत्ता के लिए उसके निर्माताओ ने उसे लिखा था। भारतीय कला के सास्कृतिक उद्देश्य के ज्ञान के लिए उसके अर्थ का परिचय का ज्ञान अत्यावश्यक है। अर्थ की जिज्ञासा हमे कला के प्रतीकात्मक स्वरूप के समीप ले जाती है। जैसे चक्रपूर्ण घट, स्वास्तिक, पद्म, श्री लक्ष्मी, अष्ट मगल अथवा अष्टोत्तर शत मगल चिन्ह एवं गरुड नाग, यक्ष आदि कला के प्रतीकों द्वारा अर्थ की प्रतीक कला सम्बन्धी अध्ययन का समीचीन क्षेत्र है।

द्वन्द्व

पुराणो मे कहा है कि यह विश्व की रचना द्वन्द्व सृष्टि है। इसके मूल मे एक विराट द्वन्द्व ताल, लय, या मात्रा है। उसी द्वन्द्व से सौन्दर्य तत्व के लिए आवश्यक सामन्जस्य और सपुञ्जन एव सन्तुलन एव समति का निर्धारण किया जाता है। अतएव भारतीय कला की आवश्यक अंग ताल मान है। विश्व की प्रतीक वस्तु प्रमाण सुनियत है। वही कलाकार के लिए प्रमाण या नमूना बनती है। जिसे वह ध्यान की शक्ति से चित्त मे उतारता है और फिर वह अंकन लेखन या वर्णन मे लाता है।

रूप या शब्द

कला का चौथा अग भाव को भौतिक धरातल पर लाना है। इसे काव्य के लिए शब्द और कला के लिए रूप कहते हैं। शिल्प, चित्र, वास्तु को व्यक्त करने के माध्यम अलग है, किंतु वे सब भावो के मूर्त्त रूप हैं। उनकी भाषा प्रत्यक्ष होती है, और वे इंद्रियो के माध्यम से मन पर प्रभाव डालते हैं। कला के इस तत्व चतुष्टय के सम्बन्ध मे गोस्वामी जी का अर्थ सघानान् वर्णानाम् रसानम् द्वन्द्वसामपि यह स्मरणीय है।

चित्त का महत्व

मनोभाव और कला के बाह्य रूप इन दोनो को जोडने वाला माध्यम कला है। मन के भाव को अधिकतम सौन्दर्य के साथ मूर्त्त रूप मे प्रकट करना ही कला है। कला के द्वारा मनोभावों की छाप भौतिक पदार्थों पर अंकित की जाती है। इसी विशेषता के कारण कला मानवीय हृदय के इतनी निकट होती है। जो कुछ मन मे है वह कला मे आता है किंतु सर्वातिशायी सौन्दर्य गुण के साथ जैसे मधुर संगीत से श्रोत्र वैसे ही रूप से नेत्र तृप्त होते है और वे भाव हृदय मे पहुँच कर विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म रस को उल्लास करते हैं। सच्चा कला पारखी रसिक, सहृदय या विचक्षण कला के सौरभ का ढेर तक अनुभव करता है और उसके अमृत आनन्द का पान करता रहता है। इस प्रकार कला की सौन्दर्य से मुग्ध हो जाने की जो मानसी शक्ति है उसे ही संवेग कहते हैं।

सच्ची कला के एक शाश्वत रूप सत्र है। उसका सौन्दर्य छीजता नही। उसके लावण्य की ध्वनि फिर २ कर मन मे आती है। समस्त कला मानसी शिल्प है, किंतु वह देव शिल्प की अनुकृति है। कलाकार के हृदय मे जो देवी प्रेरणा आती है वही शब्द और रूप एव अर्थ को दिव्य सौन्दर्य से प्लावित कर देती है।

अलकरण

भारतीय कला अलकरण प्रधान है। आरम्भ से ही कलाकारो ने अपनी कृतियो का अनेक भाति अलकरणो से सज्जित करने मे रुचि ली। अलंकरण साज-सज्जा के अभिप्राय तीन प्रकार के हैं-१, रेखाकृति (प्रधान), २—पत्तवल्लरी प्रधान, और ३—ईहामृग या कल्पना प्रसूत पशु-पक्षियो की आकृतिया इन अभिप्रायो के मूल रूप प्राकृतिक जगत से लिए गए है किंतु कलाकारो ने अपनी कल्पना के वल पर उन्हे अनेक रूपो मे विकसित किया है। कही गौण आकृति के रूप मे, कही मूल अर्चा या प्रतिभा को चारो ओर से सुमज्जित करने के लिए, कही रिक्त स्थान को रूपाकृति से भर देने के लिए अलंकरणो का विधान किया गया है जिनका उद्देश्य कला मे सौन्दर्य की अभिवृद्धि है। किंतु शोभा के अतिरिक्त अभिप्रायों के दो उद्देश्य और थे, एक तो आरक्षा के या मगल के लिए —दूसरे विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए इन अलकरणो को भारतीय परीभाषा मे मागल्य चिन्ह कहा गया है और उनकी रचना का द्विविध उद्देश्य माना है—शोभनार्थ एव आरक्षार्थ। शोभा या सौन्दर्य का उद्देश्य तो स्पष्ट ही है। आरक्षा का तात्पर्य है अमगल या अशुभ से मुक्ति। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र के अनुसार शून्य या रिक्त स्थान मे असुरो का वासा हो जाता है किंतु यदि वृहादिक आवास या देव गृह मे मागलिक चिन्ह लिखे जाय तो दवीश्री और रक्षा स्थान मे अवतीर्ण होती है। स्वस्तिक पूर्ण घट या कमल का फुल्ला (पदुमक) को जव हम देखते है तो उनसे नाना प्रकार के मागलिक अर्थ मन मे भर जाते है। इस प्रकार के मागलिक चिन्ह अनेक है वे सव भगवान की विभूतियो के कलात्मक रूप है। उनमे से इच्छा अनुसार एक या अनेक का वरण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक गज चिन्ह इन्द्र के श्वेत ऐरावत के द्योतक है, अश्व उच्चैश्रवा अश्व का प्रतीक है जो समुद्र मथने से उत्पन्न हुआ था और स्वर्ग लोक का मागलिक पशु है। सूर्य ही तो वह विराट् अश्व है जो काल या सवत्सर के रूप मे सवके जीवन मे प्रविष्ट है। जव हम गौ का अलंकरण उत्कीर्ण करते है तो उस देव अदिति सज्ञक देव माना के दर्शन करते है जिसे वेदो मे गौ कहा गया है। ऐसे ही नर रूप मे गौ वहवृपम है जो इन्द्र या रुद्र का रूप है। इस प्रकार भारतीय कला के सुन्दर अभिप्राय धर्म और संस्कृति की पृष्ठभूमि मे सार्थक है। गुप्त युग मे लता की सरल और पेचीदी आकृतिया वनाने की वहुत प्रथा थी। उनके कई अच्छे नमूने घमेख स्तूप के आच्छादन शिला पट्टो पर सुरक्षित हैं। एक मूल से उठ कर लताओ के प्रतान पेचक वनाते हुए कही से कही जा मिलते हैं। एव वल्लरियो का वह विखरा हुआ किंतु सश्लिष्ट रूप नेत्रो को अत्यन्त प्रिय लगता है। उनसे कला को नयी रमणीयता प्राप्त होती है। इस प्रकार की पत्र रचना से उत्कीर्ण एक शिलापट्ट का भी वहुत महत्व समझना चाहिए। इसका मूल भाव यही था कि प्रकृति की जो विराट् प्राणात्मक रचना पद्धति है उसी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पशु-पक्षी, वृक्ष और फल फूल यक्ष, वामन, कुब्जक, मनुपादि हैं। सच्चा मनुष्य जीवन वही है जो इन सव मे रुचि लेता है। वाणभट्ट ने लिखा है कि रानी विलासवती के प्रसूति ग्रह की भित्तियां को पत्र लताओं की मागलिक आकृतियो मे भर दिया गया था जिन पर दृष्टि डालने से रानी के नेत्रो को सुख
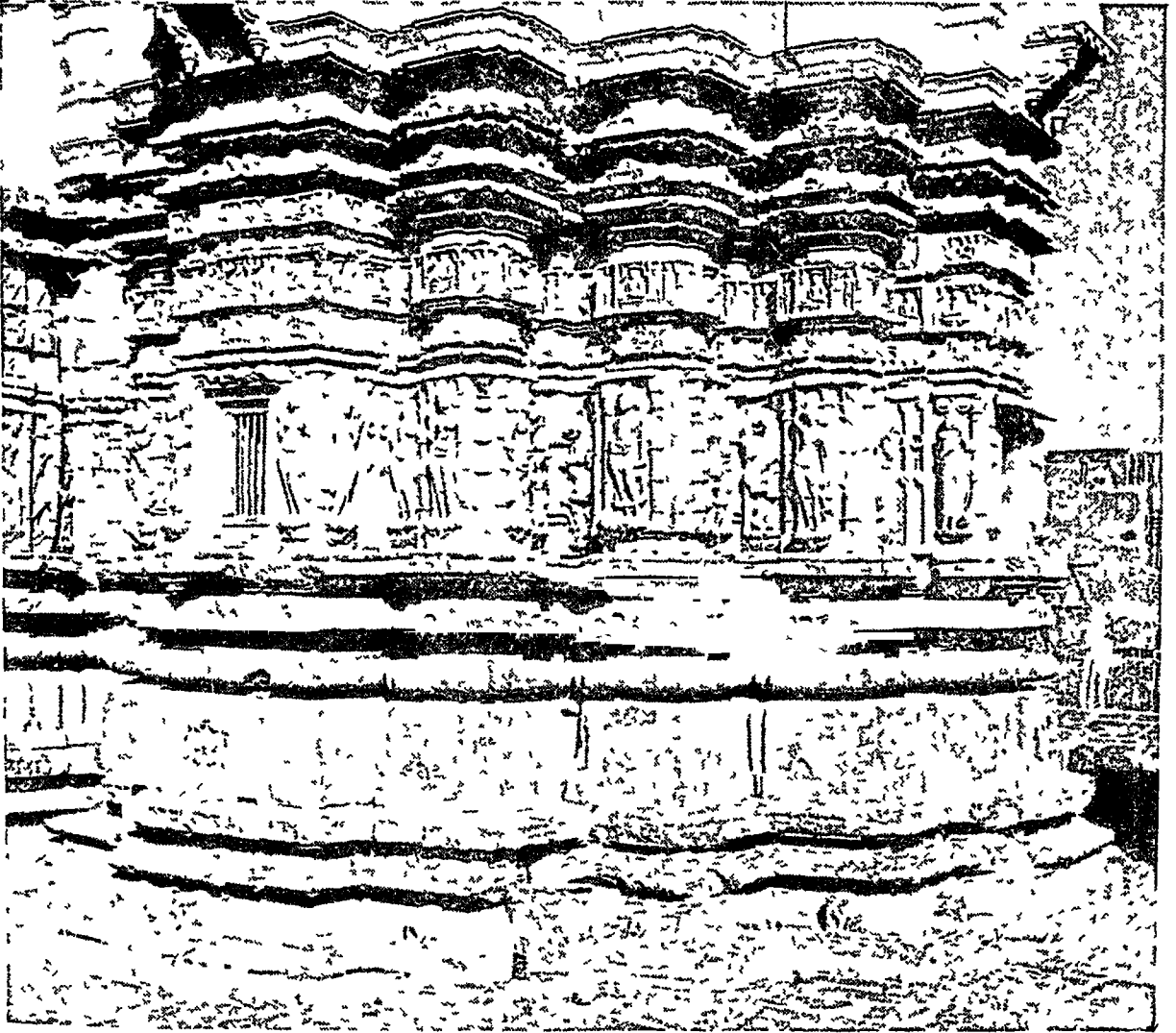
The Mūlaprāsāda (fig 1) pp 231
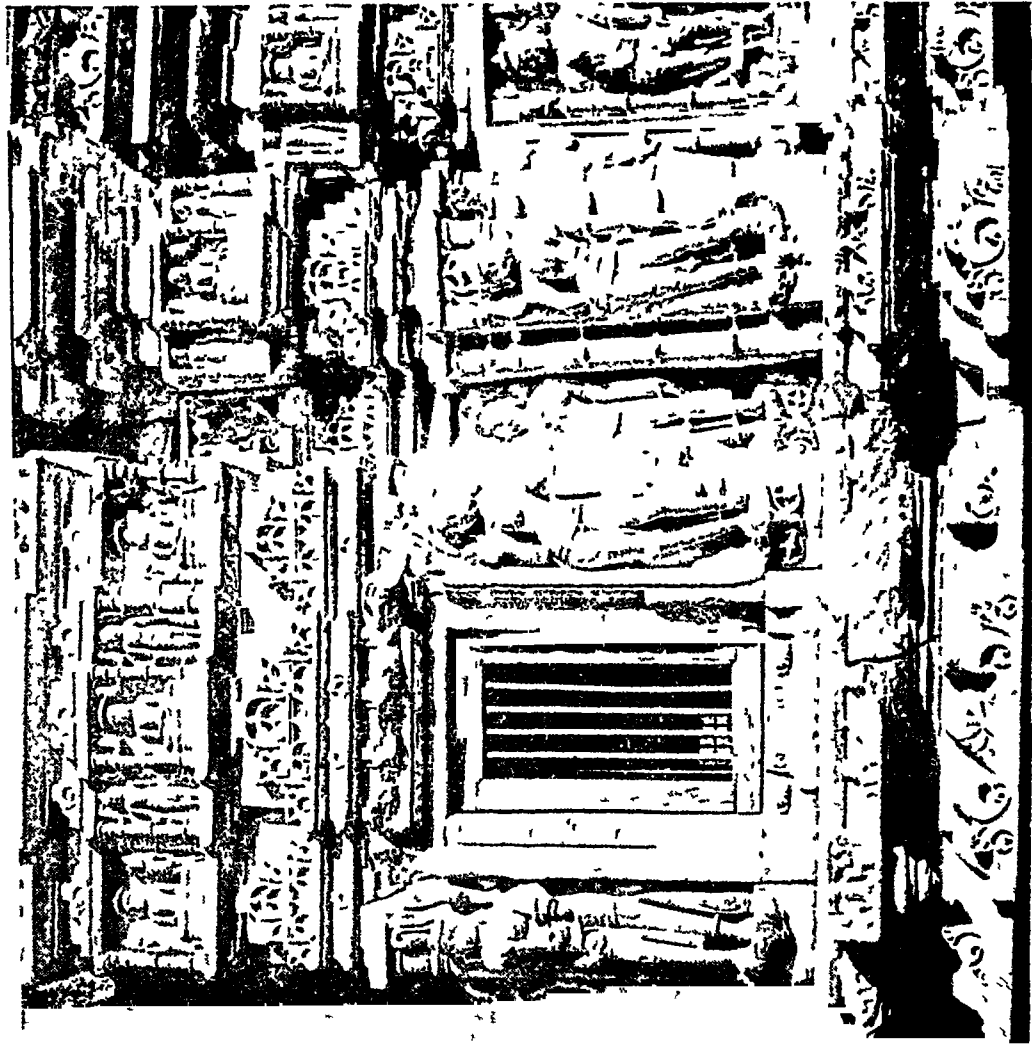
The Mūlaprāsāda—South wall (fig 2) pp 231

The Mulaprāsāda—South West part of the wall (fig. 3) pp 231

Saraswatı, western Bhādrā Gūdhamandapa (fıg 4) pp. 231
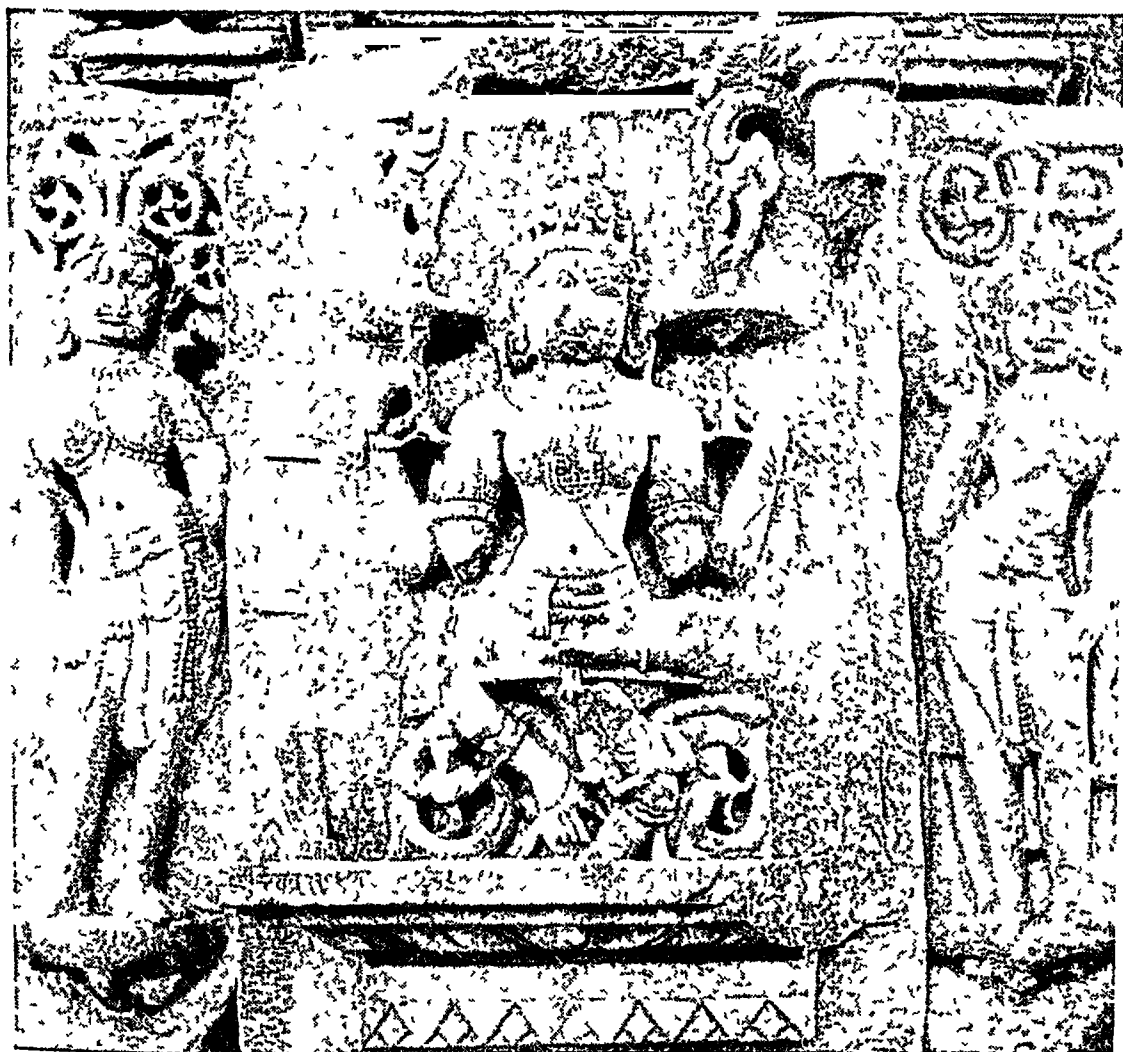
Cakreśvarī—east Bhadra S1106 (fig 5) pp 231

Jivantswāmi Mahāvira, front karna, west Gūdhamaṇdapa (fig. 6) pp 231
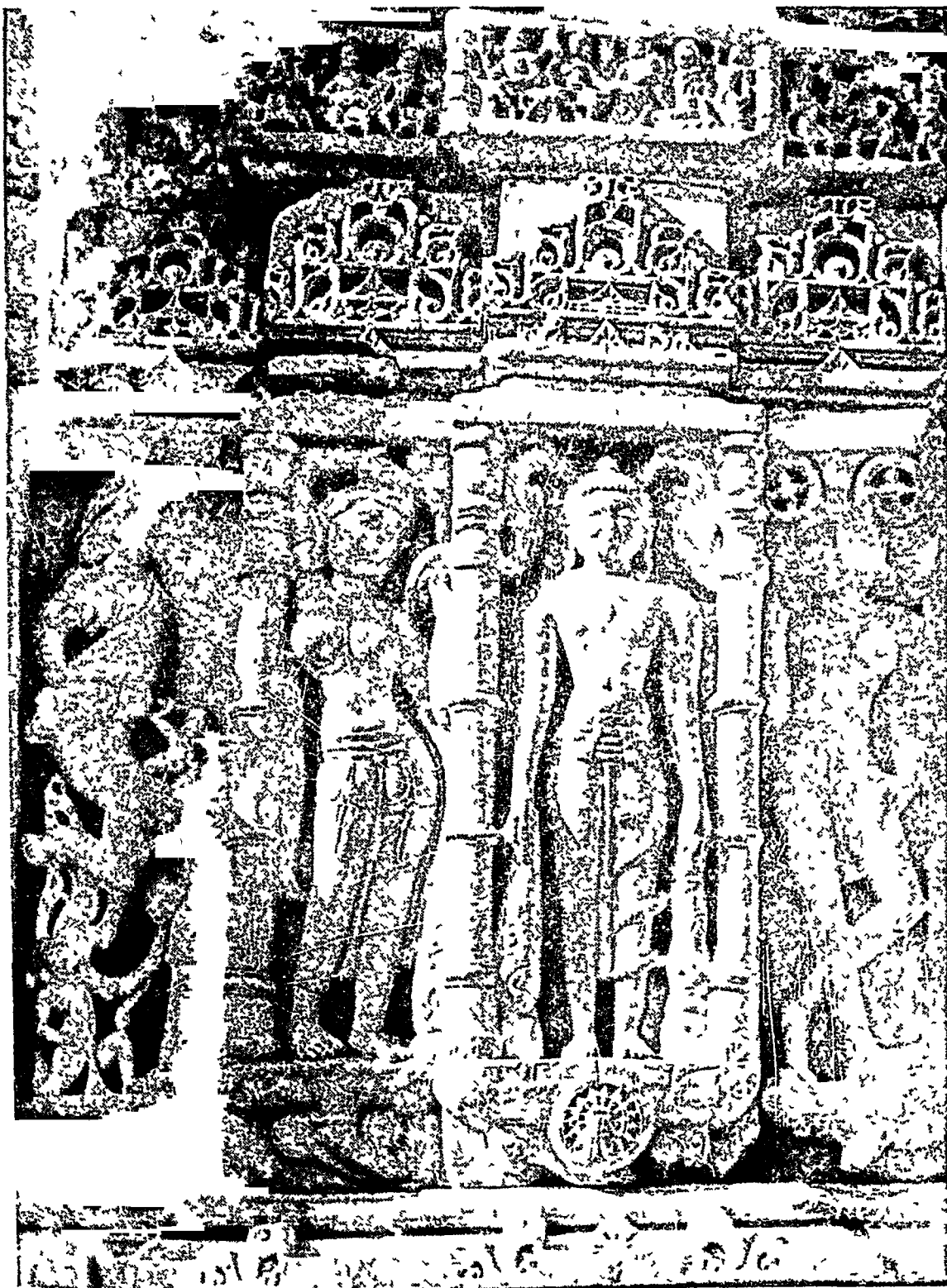
Standing Kāyotsarga, Jina front karna east
Gūdhamaṇḍapa (fig. 7) pp. 231

Devakulıkas around the Rangamandapa (fıg 8) pp. 232

मिलता था और जिनके द्वारा आसुरीशून्यता से उसकी रक्षा होती थी। गुप्तकालीन कला शिल्प, चित्र और स्थापत्य इस प्रकार के अलकरणो से बहुत भरी हुई है। कुषाण काल की कला ईहामृग या विकृताकृति पशुओ से भरी हुई है क्योकि इस प्रकार के ऐंठे गेंठे शरीर वाले पशुओ मे शको को स्वय बहुत रुची थी।

सांस्कृतिक जीवन

भारतीय कला की एक विशेषता उसमे अकित सास्कृतिक जीवन की सामग्री है। राजा और दोनो के जीवन का ही खुल कर चित्रण किया गया है। कला मानो साहित्यिक वर्णनोकी व्याख्या प्रस्तुत करती है। कोई चाहे तो कला की सामग्री से ही भारतीय जीवन और रहन-सहन का इतिहास लिख सकता है। भारतीय वेश-भूषा, केश विन्यास, आभूषण, शयनासन, आदि की सामग्री चित्र शिल्प आदि मे मिलती है। छोटी मिट्टी की मूर्तिया भी इस विषय मे सहायक हैं। उनमे तो सामान्य जनता को भी स्थान मिला है। भरहूत, साची, अमरावती नागार्जुनी कु डा आदि के महान स्तूपो पर मानो जनता के जीवन की शत साहस्त्री संहिता ही मानो लिखी हुई है। भारतीय कला सदा जीवन को साथ ले कर चली है। अतएव उसमे सम सामयिक जन जीवन का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

धार्मिक जीवन

देश मे समय-समय पर जो महान् धार्मिक आदोलन हुए है और जिन्होने लोक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है उनसे भी कला को प्रेरणा मिली और उनकी कथा कला के मूर्त्त रूपो मे सुरक्षित हुई है। उस विषय मे कला की सामग्री कही तो साहित्य से भी अधिक सहायक है। यक्षो और नागो का बहुत अच्छा परिचय भरहुत, साची और मथुरा की कला मे मिलता है। इसी प्रकार उत्तर कुरु के विषय मे जो लोक विश्वास था उसका भी उत्साहपूर्ण अकन भाजा, भरहुत, साची आदि मे हुआ है। मिथुन, कल्पवृक्ष, कल्पलता आदि अलकरण उसी से सम्बन्धित है जिनका वर्णन जातक, रामायण, महाभारत आदि मे पाया है। दुकूल वस्त्र, पनसाकृति पात्रो मे भरा हुआ उत्तम मधु, आम्राकृति पात्रो मे भरा हुआ लाक्षा रस, सिर, कान, ग्रीवा, बाहु और पैरो के आभूषण एव, स्त्री पुरुषो की मिथुक मूर्तिया—सबका जन्म कल्प वृक्ष और कल्प लताओ से दिखाया गया है। वस्तुत प्रत्येक व्यक्ति का समस्त जीवन ही एक कल्प वृक्ष है जिसकी छाया मे वह अपनी इच्छा के अनुसार फूलता फलता है। प्रत्येक का मन ही महान् कल्प वृक्ष है, कल्पना या सकल्प जिसका सुन्दर रस है।

कला के प्रतीकात्मक विषय

भारतीय कला के जो वर्ण्य विषय है वस्तुत उनका महत्व सबसे अधिक है। उनमे भारतीय जीवन और विचारो की व्याख्या ही मिलती है। भारतीय जीवन की पूरी छाप कला पर पडी है। इसकी एक विशेषता तो यह थी कि सामान्य जनता के धार्मिक विश्वास कला मे बुद्ध, महावीर, शिव और विष्णु के उच्चतर धर्मों के साथ मिलकर परिग्रहीत हुए है। कोई भी धर्म जनता के विश्वासो से इतना ऊपर नही उठ गया कि उनमे आकाश पाताल का अन्तर हो जाय और वे एक दूसरे से अलग जा पडे। भारतीय धर्म की पूरी बारहखडी मे एक ओर बुद्ध, रुद्रशिव या नारायण विष्णु का तत्वज्ञान भी है और दूसरी ओर उन अनेक देवताओ की पूजा मान्यता भी है जो माताभूमि से सम्बन्धित थे और भय, व्रत या यात्रा

कहे गए है, जैसे यक्खमह, नागमह यूकमह, नदीमह, सागरमय, वनुर्मह चन्दमह, सुरुज मह, इन्द्रमह, खन्दमह (स्कन्द) रुद्दमह, रुक्खमह, चेतीयमह, ग्रादि । देवपूजा के ये प्रकार जैसे लोक मे थे वैसे ही कला मे भी अपनाए गए । इस प्रकार महाजन और सामान्य जन दोनो की धार्मिक मान्यताओ का समादर भारतीय कलाओ मे हुआ ।

बुद्ध

ऐतिहासिक गौतम बुद्ध का जीवन जैसा भी तथ्यात्मक रहा हो कला मे लोकोत्तर बुद्ध का जीवन ही लिया गया है और उसका घनिष्ट सम्बन्ध उन प्रतीको से था जो मानवीय अर्थो से ऊपर दिव्य अर्थों की ओर सकेत करते है । उदाहरण के लिये तुषित स्वर्ग से बुद्ध की अवक्रान्ति, श्वेत हस्ती के रूप मे माया देवी को स्वप्न और गर्भ प्रवेश । माता की कुक्षि से तिरश्चीर्ण जन्म, सप्त पद, नन्दोपनन्द नागो द्वारा प्रथम स्नान, चतुर्महारादिक देवो द्वारा चार पातो को लेकर बुद्ध का एक पात्र वनाना, अग्नि और जल सम्बन्धी प्रतिहार्य या चमत्कार का प्रदर्शन, नल गिरि नामक मत्त हस्ती का दमन, सहस्त्र बुद्धात्मक रूप का प्रदर्शन त्रिपरिवर्त, द्वादशाकार धार्म्य धर्मचक्र का प्रवर्तन, सहस्त्रत्रिश देवो के स्वर्ग मे माता को धर्मोपदेश, और सोने, चादी और तावे की सीढियो से पुन पृथ्वी पर आना इत्यादि ये कला के अकन बुद्ध के स्वरूप के विषय मे प्रतीकात्मक कल्पना प्रस्तुत करते हैं जिमका सम्बन्ध ऐतिहासिक बुद्ध से न हो कर लोकोत्तर अर्थात् बुद्ध के दिव्य स्वरुप से है ।

शिव

सिंधुघाटी से लेकर ऐतिहासिक युगो तक लिंग विग्रह या पुरुष विग्रह के रूप मे शिव का अकन पाया जाता है । इन दोनो का विशेप अर्थ भारतीय धर्म और तत्वज्ञान के साथ जुडा हुआ है । एक ओर लोक वार्त्ता मे प्रचलित शिव के स्वरुपो को ग्रहण किया गया किन्तु दूसरी ओर उनके साथ नये-नय अर्थो को जोडकर उन्हे धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे नयी प्रतिष्ठा दी गई । तत्व का चिन्तन करने वाले आचार्य और कलाकार, दोनो ने प्रति पूर्वक समान उद्देश्य की पूर्ति की । उदाहरण के लिए कला मे शिव के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—पशुपति, अर्धनारीश्वर, नटराज कामान्तक, गगाधर, हरिहर, यमान्तक, चन्द्रशेखर, योगेश्वर, नन्दीश्वर, उमामहेश्वर, ज्योतिर्लिंग, रावणानुग्रह पचब्रह्म, दक्षिणामूर्ति, अष्टमूर्ति, एकादशरुद्र, मृग—व्याध, मृत्युन्जय आदि । कला के इन रूपो की व्याख्या भारतीय धर्म तत्व मे प्राप्त होती है और यदि ठीक प्रकार से देखाजाय तो कला और धर्म का एक ही स्रोत जान पडता है ।

देव

भारतीय कला देवतत्त्व के चरणो मे एक समर्पण है । यूप, स्तूप एव प्रासाध्य देवगृह मे सर्वत्र देवता निवास करते हैं । स्तूप एवं यूप का ऊपरी भाग ये तीनो देवसदन है । रूपो मे भेद होने पर भी अर्थ एक ही है । एक ही देवतत्व अनेक देव और सिद्ध योनियो के रूप मे प्रकट होता है । गन्धर्व, अप्सरा कुम्भाण्ड, नाग, यक्ष, नदी देवता सिद्ध विद्याधर आदि जितने जंतर देवता है सब एक ही महान् देव के विभिन्न रूप है ।

रूप और अर्थ की एकता

भारतीय कला के अध्ययन के कई दृष्टिकोण हो सकते है, जैसे पुरातत्व गत सन्दर्भ का

निश्चय, निर्माण की विधि, शैली, तिथिक्रम, सास्कृतिक पृष्ठभूमि, और सर्वोपरि उस कला वस्तु का प्रतीकात्मक अर्थ जैसे प्लेटो के सौन्दर्यतत्व मे, वैसे ही भारतीय सौन्दर्यतत्व मे भी कला का सर्वोपरि महत्व है। बाह्य रुप का भी निजी महत्व है किन्तु वह भावो की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। रूप को शरीर कहा जाय अर्थ कला का प्राण है। कालिदास ने शब्द या रूप को जगन्माता और अर्थ को जगत्पिता कह कर कला की सर्वाधिक अभ्यर्थना की है—

वागर्थाविव सम्पृतौ। वागर्थप्रतित्तये जगत पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।

जो जगत के माता पिता है वे ही कला के अर्थ और रूप के जनक जननी है। अर्थ अमूर्त्त लोक का और रुप मर्त्य जगत का प्रतिनिधि है। दोनो ही भगवान् विष्णु के दो रूप है। एक परम रूप और दूसरे को विश्व रूप कहा गया है। (विष्णु पुराण ६।७।५४) समस्त विश्व के नाना पदार्थों के मूल मे अर्थतत्व ही नियामक है जिसे भावना कहते हैं अर्थात् मनुष्यो के हृदय मे जो मनोभाव रहते है वे ही कला और साहित्य मे मूर्त्त होते है। यह भावना तीन प्रकार की होती है—

(१) ब्रह्म भावना—जिसका तात्पर्य है विश्वात्मक परम एक और अभिन्न मनोभाव जो ब्रह्म के समान निरपेक्ष और सर्वोपरि है। वही तो सब रसो और मनोभावो का मूल स्रोत है।

(२) कर्मभावना—उच्चतम देवो से लेकर मनुष्य एव इतर प्राणियो तक के जो प्राकृत मनोभाव है वे इसके अतर्गत आते है।

उभय भावना :—

इसमे विश्वात्मक ब्रह्म तत्व और मानुषी कर्म इन दोनो का सयोग आवश्यक है। केवल कर्मभावना पर्याप्त नही है। यदि कला की सीमा वही तक हो तो कला का सोता सूख जायेगा। और वह चित्रो के समाजन निर्जीव ठठरी रह जायेगी। कला प्राणवन्त तभी बनती है जब उसके रूपात्मक पार्थिव शरीर मे भावात्मक देवाश प्रवेश करता है। कलात्मक रूप मे भावात्मक देव की प्रतिष्ठा ही कला की सच्ची प्राण प्रतिष्ठा है। मानुषी कर्म के साथ ब्रह्म ज्ञान के सम्मिलन से ही राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, बनते हैं जो कला के सच्चे आराध्य हैं।

कला के रूपो के मूल मे छिपे हुए सूक्ष्म अर्थ का परिचय प्राप्त करने से कला की सौन्दर्यानुभूति पूर्ण और गम्भीर बनती है यही भारतीय मत है। अध्यात्म के विना केवल सौन्दर्य या चारुतत्व सौभाग्य विहीन है। उस अवस्था मे कला की स्थिति उस स्त्री के समान है जो अपना पति न पा सकी हो। केवल रूप को कवि ने निन्दित कहा है किन्तु अध्यात्म अर्थ के साथ वही पूजनीय बन जाता है जैसे विश्वरूपो के भीतर जो भगवान का अध्यात्म रूप है उसीके ध्यान से आत्मशुद्धि होती है। जैसे अग्नि घर मे प्रविष्ट होकर उसे दग्ध कर देता है वैसे ही कला के आधार से चित्त मे जो भाव अनुप्राणित या या प्रेरित होते है उनसे मन का मैल हट जाता है—

तद् रूप विश्वरूपस्य तस्य योग युजानृप, चिन्त्यमात्य विशुद्धयर्थ सर्व किल्विप नाशनम्।
यथाग्नि रुद्धत शिख कक्षदहति सानिल, तथा चितस्थितोविष्णु योगिना सर्व किल्विपम् ॥
(विष्णु पुराण ६।७।७३–७४

कला कार और रसिक दोनो केवल ध्यान और मगन की शक्ति से ही कला की चारुता का पूरा फल प्राप्त कर सकते है। प्रत्येक मूर्ति का आदि अन्त धार्मिक या आध्यात्मिक अभिव्यक्ति मे है अर्थात् वह देवतत्व की प्रतीक मात्र है।

भारतीय मूर्तिकला में त्रिविक्रम

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षयन्ति भुवनानि विश्वा ।
य इद दीर्घ प्रयत सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभि ।।
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथ्वीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ।।

ऋग्वेद, १ १५४, २–४

बालिणो बाम्राबन्धे चोज्जणिउ पम्रंडतो ।
सुरसत्थ कम्राणन्दो वामन रूवो हरि ज ग्रइ ।।

गाथा सप्तशती, ६

सृष्टि, पालन और सहार प्राणि–जगत् के आधारभूत तत्त्व है। हिन्दु धर्म मे त्रिदेवो की कल्पना इन्ही तत्त्वो पर आधारित है। ब्रह्मा सृष्टि के, विष्णु पालन के तथा महेश अथवा रुद्र सहार के देवता है।[1] किन्तु वास्तव मे जिस अभूतपूर्व देव की 'ब्रह्मा, विष्णु, शिव' रूप शक्तिया है, वह भगवान् विष्णु का परम पद है

शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णु—शिवात्मिका ।
भवन्त्यभूतपूर्वस्य तद् विष्णोः परमपदम् ।।

विष्णु पुराण, १, ६, ५६

ब्रह्मा की पूजा प्रारम्भिक काल मे विशेष प्रचलित थी, किन्तु आगे चलकर यह समाप्त-प्राय हो गई।[2] विष्णु और शिव की पूजा सम्पूर्ण भारत मे अब भी होती है। विष्णु के दशावतार तो सर्वत्र

---

१. ब्रह्मत्वे सृजते विश्व स्थितौ पालयते पुन ।
रुद्र रूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्य त्रिमूर्तये ।।

विष्णु पुराण, १, १६, ६६

२ ब्रह्मा का प्राचीन एव प्रसिद्ध मन्दिर पुष्कर (अजमेर) तीर्थ मे है। वहाँ अब भी उनके सम्मान मे प्रतिवर्ष कार्त्तिक पूर्णिमा पर एक विशाल मेला लगता है। ब्रह्मा के प्राचीन मन्दिर एव मूर्तियो के लिए देखे बडोदा म्यूजियम की पत्रिका, ५, १६ ४७–८, पृ० ११-२१; मरुभारती, पिलानी, जनवरी, १६५५, पृ० ८५, ८६ ।

प्रसिद्ध है।[3] भगवान् विष्णु के पाचवे अर्थात् वामन अवतार की कथा का विस्तृत वर्णन वामन,[4] भागवत, ब्रह्म, पद्म, स्कन्द, तथा हरिवंश आदि पुराणो मे मिलता है।

पुराणो की इन कथाओ के अनुसार भक्त प्रहलाद के पौत्र तथा विरोचन के पुत्र राजा वलि ने देवताओ के राजा इन्द्र को परास्त कर राज्य से खदेड दिया। इससे दु खी होकर इन्द्र की माता अदिति ने विष्णु से प्रार्थना की, कि वही स्वय उनके पुत्र के रूप मे जन्म लेकर वलि का दमन करे और स्वर्ग का ऐश्वर्यशाली साम्राज्य इन्द्र को दिलवाए। विष्णु ने अदिति की प्रार्थना स्वीकार की और उसके पुत्र के रूप मे जन्म लिया।

एक समय जब वलि यज्ञ करा रहा था, विष्णु उसके ऐश्वर्य की समाप्ति के लिए कपट से बौने (वामन) ब्रह्मचारी का रूप धारण कर उसकी यज्ञशाला मे जा पहुचे

विधाय मूर्ति कपटेन वामनी,
स्वय बलिध्वसिविडम्बिनीभयम्।

नैषध चरित, १ १२४

असुरो के गुरु शुक्राचार्य को अपनी ज्ञान शक्ति से विदित हो गया कि यह वामन 'हरि' के अतिरिक्त अन्य कोई नही है। अत उन्होने वलि को सलाह दी कि वह किसी भी प्रकार का दान वामन को न दे। शुक्राचार्य ने कहा, "हे विरोचन के पुत्र (वलि), यह स्वय भगवान् विष्णु है जिसने देवताओ के कार्य की सिद्धि के लिए कश्यप और अदिति से जन्म लिया है। अनर्थ को बिना ध्यान मे रखे हुए जो तुमने इसे दान देने की प्रतिज्ञा की है, वह राक्षसो के लिए ठीक नही है। यह बहुत बुरा हुआ कि कपट से वटु का रूप धारण करने वाला विष्णु तेरा स्थान, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज, यश और विद्या को छीनकर इन्द्र को देगा। सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करने वाला शरीर बनाकर यह तीन चरणो मे सब लोको का लघन करेगा। विष्णु को सर्वस्व देकर हे मूर्ख, तू कैसे कार्य चलाएगा? यह पृथ्वी को एक पग से, दूसरे से स्वर्ग और आकाश को अपने महान् शरीर से लघन करेगा, तो तीसरे पग के लिए स्थान ही कहा होगा?"[5]

---

३ भगवान् किस उद्देश्य से अवतार लेते हैं, इसका उत्तर स्वय कृष्ण ने गीता मे दिया है

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

श्रीमद्भगवद्गीता, ४, ८।

४ वामन की जन्म कथा के विस्तृत विवरण हेतु देखें, वामन पुराण, अध्याय ३१।

५. एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुरव्यय.।
कश्यपाददितेर्जातो देवाना कार्यसाधक ॥
प्रतिश्रुत त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनय: ॥
एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रिय तेजो यश श्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरि ॥
त्रिभिक्रमैरिमाँल्लोकान् विश्वकाय. क्रमिष्यति।
सर्वस्व विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्य से कथम्॥
क्रमतो गाँ पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभो।
रव च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गति ॥

भागवत पुराण, ८, १९, ३०-३४।

इस सलाह के अनुसार कार्य न करने पर शुक्राचार्य ने क्रोधवश सत्य–प्रतिज्ञ वलि को शाप भी दिया

एवमश्रद्धित शिष्यमनादेशकर गुरु ।
शशाप दैवप्रहित सत्यसन्ध मनस्विनम् ।।

भागवत पुराण, ८, २०, १४।

परन्तु वलि अपने विचार पर दृढ रहा । उसने कहा कि यज्ञ के समय यदि कोई उसका सिर भी दान मे मागे तो देने मे उसे लेशमात्र हिचकचाहट न होगी । गोविन्द दान मागे तो इससे वढकर वात क्या होगी ? मैने तो अन्य (सामान्य) याचको को भी मागने पर ना नही की है

यज्ञेऽस्मिन्यदि यज्ञेशो याचते माँ जनार्दन. ।
निजमूर्द्धानमप्यस्मै दास्याम्येवाविचारितम् ।।
स मे वक्ष्यति देहीति गोविन्द किमतो धिकम् ।
नास्तीर्ति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम् ।।

वामन पुराण, ३१, २३-२५

इस दान की महत्ता को भी स्पष्ट रूप मे प्रकट करते हुए राजा ने कहा, 'यदि दान रूपी इस श्रेष्ठ वीज को नारायण के हाथो मे वो दिया जाये तो उससे सहस्त्रगुनी फल–निष्पत्ति होगी

तद्वीजवर दान वीज पतति चेद् गुरो ।
जनार्दने महापात्रे कि न प्राप्त स्ततो मया ।।

वामन पुराण, ३१. ३० ।

अत वलि ने उनका स्वागत किया और उनसे यज्ञ मे दान स्वरूप मनचाही वस्तु मागने को कहा । परन्तु वामन ने अत्यन्त चातुर्य से तीन पग थोडी सी भूमि की याचना की और शेष सब स्वर्ण, धन तथा रत्नादि याचको को देने की सलाह दी

तस्मात्त्वत्तो महीमीषद् वृणेह वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम ।।

भागवत स्कन्ध, ८, १९, १६

ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम् ।
सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्य प्रदीयताम ।।

वामन पुराण, ३३, ४६

दान की पूर्ति के हेतु जैसे ही वलि ने कमण्डलु से सकल्प जल वामन के हाथ पर डाला, वैसे ही वामन ने विराट रूप धारण कर[६] अपना सर्वदेव मय रूप प्रदर्शित किया

६ वामनादणुतमादनु जीयास्त्व त्रिविक्रमतनेमृतदिक्क ।

नैषध चरित, २१, ६५

पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूदवामनः।
सर्वदेवमय रूप दर्शयामास तत्क्षणात् ॥

वामन पुराण, ३१, ५३

प्रथम पग मे भगवान् ने समस्त भूलोक नाप लिया तथा दूसरे मे त्रिविष्टप।[७] बलि ने तीन पग भूमि देने का वचन दिया था। किन्तु नारायण के तीसरे पग को नापने के लिए अब कुछ शेष न बचा था

क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभ शरीरेण दिशश्च बाहुभि:।
पद द्वितीय क्रमतस्त्रिविष्टप न वै तृतीयाय तनीयमण्वपि ॥

भागवत, ८, २०, ३३–३४

राजा बलि अब अपनी सब धन सम्पत्ति आदि दे देने के पश्चात् बन्दी बन गया

दत्वा सर्वं धनं मुग्धो बन्धन लब्धवान्बलि ॥

नैषधचरित, १७, ८१

वरुण पाश से बधकर अब उसमे हिलने की भी सामर्थ्य न रही

अद्य यावदपि येन निबद्धौ
न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ।

नैषध चरित, ५, १३०

इसी समय ऋक्षराज जाम्बवान् ने उस विराट रूपी त्रिविक्रम की पदक्षिणा कर चारो दिशाओ मे उनकी जय घोषणा की

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजव ।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥

भागवत, ८, २१, ८

कुछ शेष न देखकर अब बलि ने अपने सिर को ही अन्तिम पग से नापने का निवेदन किया। उसके पास अपना वचन सत्य करने के लिए अब यही उपाय था

यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीक सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृत तन्नभवेत् प्रलम्भन पदं तृतीय कुरु शीर्ष्णि मेनिजम् ॥

भागवत ८, २२, २

—बलि के यह शब्द सुनकर त्रिविक्रम अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपना तीसरा पग उसके सिर पर रखकर त्रिविक्रम ने बलि को असुरो का राजा बनाया और उसे पाताल लोक मे भेज दिया।

इस प्रकार असुरो के राजा बलि से उसका साम्राज्य छीन और इन्द्र को वापस दिलाकर वामन ने माता अदिति को प्रसन्न किया

---

७. हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं। नैषध चरित, १, ७०

जित्वा लोकत्रयं कृत्स्न हत्वा चासुरपुंगवान् ।
पुरदराय त्रैलोक्यं ददौ विष्णुरुरुक्रम. ।।

वामन पुराण, ३१, ७०

उपर्युक्त वर्णित कथा को प्राचीन भारतीय कलाकारो ने अत्यन्त सुन्दरता से पाषाण प्रतिमाओ के माध्यम से दर्शाया है । भारत का कोई ऐसा भाग नही है जो इस कथा से प्रभावित न हुआ हो । यह कथा दो प्रकार की प्रतिमाओ से प्रदर्शित है । इनमे प्रथम (मायावटु) वामन की है । इसमे भगवान् विष्णु को विभिन्न आयुध लिए एक बौने वैदिक ब्रह्मचारी के रूप मे दिखाया गया है । इसका हमने अन्य स्थान पर वर्णन किया है देखे (चित्र १) ।[८] द्वितीय प्रकार की मूर्तियाँ (विश्वरूप) त्रिविक्रम की है, जिसमे उनका एक पैर आकाश नापने के लिए ऊपर उठा है ।[९]

त्रिविक्रम की प्रारम्भिक प्रतिमाओ मे पवाया (मध्यप्रदेश) से प्राप्त गुप्त कालीन मूर्ति अत्यधिक खण्डित होने पर भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है (देखे चित्र २) ।[१०] दाहिने भाग पर दान की पूर्ति के लिए सकल्प जल देने का दृश्य बना है । बाई ओर अष्टभुजी त्रिविक्रम बाए पैर से आकाश नापते दिखाए गए है । यह भाग अब बहुत कुछ नष्ट हो चुका है । उसी प्रदेश के घुसाई नामक स्थान से प्राप्त उत्तर गुप्त कालीन एक अष्टभुजी प्रतिमा गदा, खड्ग, चक्र, ढाल, धनुष, तथा शख आदि आयुध लिए है । (देखें चित्र ३) उपर्युक्त प्रतिमा की भाति ही इसमे त्रिविक्रम आकाश नापते उत्कीर्ण किए गए है । इसी फलक पर नीचे की ओर बलि छत्रधारी वामन को दान दे रहे है । इस प्रकार एक ही फलक पर वामनावतार की दो घटनाए प्रदर्शित है । रायपुर (मध्यप्रदेश) से प्राप्त त्रिविक्रम मे उठे हुए पैर के नीचे आदिशेष का चित्रण किया मिलता है जो हाथ जोडे बैठा हुआ है ।[११]

स्थान और काल भेद के कारण त्रिविक्रम प्रतिमाओ मे भी भिन्नता मिलती है । मध्यकाल के आगमन के साथ साथ अष्टभुजी प्रतिमाओ की अपेक्षा चतुर्भुजी प्रतिमाए अधिक प्रचलित हो गई । इस

---

८. राष्ट्रीय सग्रहालय मे मध्यकालीन राजस्थानी प्रस्तर प्रतिमाएं, मरूभारती, पिलानी, अक्तूवर, १९६४, पृ० ८६–८७

९. द्रष्टव्य. वृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमार· प्रत्येत्याहवम ।

ऋगवेद, १, १५५, ६

स्थलेषु मायावटु वामनोऽव्यात् त्रिविक्रम· खेऽवतु विश्वरूप: ।

भागवत, ६, ८, १३

वामन इति त्रिविक्रममभिदधति दशावतारविद. ।

आर्यासप्तशती, ६०

१० त्रिविक्रम की गुप्त कालीन अन्य प्रतिमाओ के लिए देखें डा० अग्रवाल, केटेलोग ऑफ दी ब्रह्मनिकल इमेजेज इन मथुरा आर्ट १९५१, पृ० ८ तथा वार्षिक रिपोर्ट, मथुरा संग्रहालय, १९३६-३७ चित्र II/२.

११ गोपीनाथ राव, हिन्दू आर्इकनोग्रफी, पृ० १६६, चित्र XLVIII.
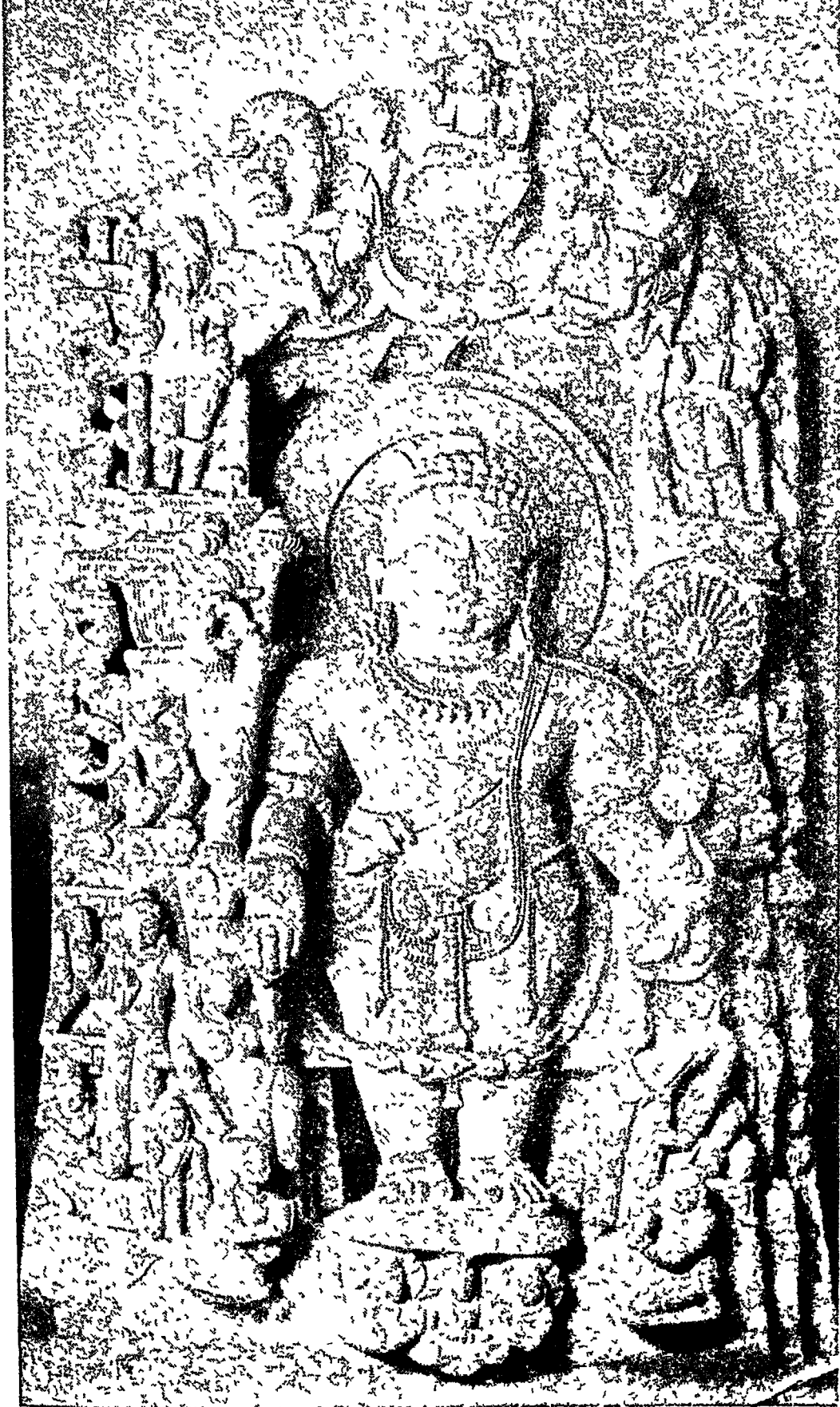
वामन ब्रह्मचारी के रूप में भगवान विष्णु चित्र–१, पृष्ठ २५६

पवाया से प्राप्त गुप्तकालीन मूर्ति

चित्र-२, पृष्ठ २५६
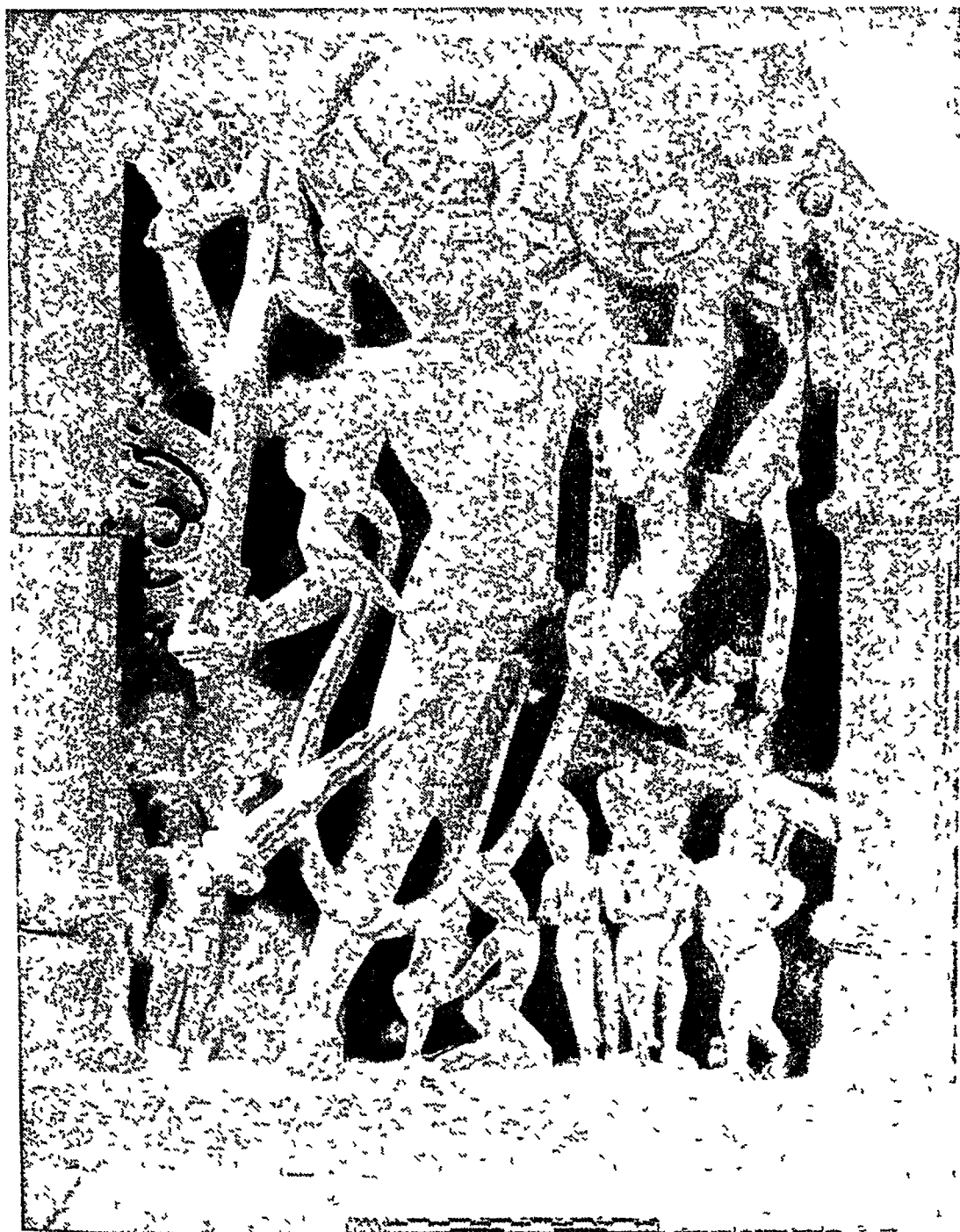
घुसाई से प्राप्त अष्टभुजी त्रिविक्रम की प्रतिमा चित्र–३, पृष्ठ २५६

ओसियां के विष्णु मन्दिर में चतुर्भुजी त्रिविक्रम

चित्र–४, पृष्ठ २५७

काशीपुर (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त प्रतिहार कालीन त्रिविक्रम

चित्र–५, पृ० २५८

महाबलीपुरम् की त्रिविक्रम प्रतिमा

चित्र–६, पृ० २५६

मैसूर में हलेबिड के होयसलेश्वर मंदिर की त्रिविक्रम प्रतिमा — चित्र–३, पृ० २५६

पाल तथा सेन कालीन त्रिविक्रम की प्रतिमा

लेख मे वर्णित निम्नलिखित उत्तरी भारत की मध्यकालीन कुछ प्रतिमाओ से यह बात पूर्णतया स्पष्ट होगी।[१२]

मन्डोर (राजस्थान) से प्राप्त एव जोधपुर सग्रहालय मे सुरक्षित प्रतिमा पर एक साथ छत्र-धारी वामन तथा त्रिविक्रम प्रदर्शित मिलते है।[१३] राजस्थान से प्राप्त एक अन्य त्रिविक्रम प्रतिमा का वर्णन एवं चित्रण गोपीनाथ राव ने प्रस्तुत किया है। प्रतिमा इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता मे है। त्रिविक्रम के उठे बाए पैर के ऊपर ब्रह्मा पद्मासन पर विराजमान है। दाहिने पैर के समीप वीणाधारिणी देवी खडी हैं और सामने गरुड शुक्राचार्य पर झपटता सा प्रतीत होता है।[१४] विलास तथा अटू से प्राप्त त्रिविक्रम की अन्य मूर्तिया कोटा सग्रहालय मे देखी जा सकती है।

मन्दिरो की नगरी ओसिया (जोधपुर)[१५] मे स्थित विष्णु मन्दिर के पीछे की दीवार पर चतुर्भुजी त्रिविक्रम की भव्य प्रतिमा निर्मित है।[१६] ऐसी ही एक अन्य प्रतिमा 'माता का मन्दिर' पर भी देखी जा सकती है।[१७] यही के सूर्य मन्दिर १ पर बनी चतुर्भुजी मूर्ति मे राक्षस नमुचि भगवान् का दाहिना पैर पकडे प्रदर्शित है और बांया पैर ऊपर उठा है! सामने निचले भाग पर बलि द्वारा वामन को दान देने का दृश्य अंकित है (चित्र ४)। त्रिविक्रम की एक प्रतिमा बुचकला के प्रसिद्ध पार्वती मन्दिर के एक आले मे विद्यमान है। चित्तौडगढ के कुम्भ स्वामी मन्दिर पर भी त्रिविक्रम की एक प्रतिमा बनी है।[१७] अ कसरा (गुजरात) मे स्थित विष्णु के एक देवालय की विभिन्न ताको मे गरुडासीन लक्ष्मी नारायण, वराह आदि मूर्तियो के साथ त्रिविक्रम की भी एक खण्डित मूर्ति विद्यमान है।[१८]

भुवनेश्वर (उडीसा) के अनन्त वासुदेव मन्दिर के उत्तरी ओर के एक आले मे त्रिविक्रम का चित्रण प्राप्त है।[१९] यही के प्रसिद्ध लिंगराज मन्दिर के चारो ओर निर्मित छोटे छोटे देवालयो मे अन्य देवी-देवताओ के साथ त्रिविक्रम की भी प्रतिमा मिलती है।[२०]

कुरुक्षेत्र (पजाब) से त्रिविक्रम की एक महत्वपूर्ण मूर्ति उपलब्ध है। इसमे वे चक्र पुरुष तथा शख पुरुष नामक आयुध-पुरुषो सहित खडे है। नीचे दोनो ओर लक्ष्मी और भूमि है। किनारो पर नाग

---

१२. शिवराममूर्ति, सी०, ज्योग्रेफिकल एण्ड क्रोनोलोजिकल फेक्टर्स इन इण्डियन आईक्नोग्राफी, ऐन्शियन्ट इन्डिया, जनवरी, १९५०, न० ६, पृ० ४१

१३. ऐनुअल रिपोर्ट, अर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, १९०९–१०, पृ० ९७

१४. एलीमेन्ट्स ऑफ हिन्दु आईक्नोग्राफी, I, 1, पृ० १६४, चित्र, LII, 1

१५ ओसियां के देवालयो मे त्रिविक्रम के चित्रण के लिए देखें ऐ० रि० आ० सर्वे ऑफ इन्डिया, १९०८–०९, पृ–११३

१६. आ० स० ऑफ इन्डिया, फोटो एल्बम, राजस्थान, चित्र न० १२८१/५८

१७. व्ही, चित्र नं० १२५३/५८ १७ अ०, व्ही, २२६१/५५

१८. मजूमदार, ए० के०, चालुक्याज् ऑफ गुजरात, पृ० ३८१

१९. दी उड़ीसा हिस्टोरिकल जर्नल, १९६२, X, न० ४, पृ० ७१

२०. बैनर्जी, आर० डी०, हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, II, पृ० ३६४

नागिन का चित्रण है। मस्तक के दोनों ओर ब्रह्मा, शिव तथा गजारूढ इन्द्र है। प्रतिमा के ऊपरी भाग मे एक पक्ति मे सप्तऋषि विराजमान है।[२१]

काशीपुर(उत्तरप्रदेश)से प्राप्त प्रतिहारकालीन त्रिविक्रम को मूर्तिकार ने शिल्परत्न के अनुसार दाहिने पैर से आकाश नापते चित्रित किया है। उनके हाथो मे क्रमश पद्म, गदा, और चक्र हैं। नीचे वाले बाये हाथ मे, जो खण्डित हो गया है, सम्भवत शख ही था।[२२] त्रिविक्रम के ऊपर उठे पैर के नीचे का दृश्य दो भागो मे बना है—प्रथम मे मुकुटधारी राजा बलि[२३] छत्रधारी वामन के दाहिने हाथ मे कमण्डलु से जल गिरा रहे है। बलि के इस कार्य से असन्तुष्ट शुक्राचार्य वही मुह फेरे खडे हैं। इनके शरीर पर धारण किया हुआ वस्त्रयज्ञोपवीत स्पष्ट है। दूसरे भाग मे वामन के पीछे बलि को पाश से बाधे एक सेवक बना है। मूर्ति पर्याप्त रूप से सुन्दर है (चित्र ५)।[२४]

दीनाजपुर से प्राप्त विष्णु (त्रिविक्रम) की एक अन्य प्रतिमा मूर्तिकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। यहा वे साप के सात फणो के नीचे खडे है तथा गदा व चक्र पूर्ण विकसित कमलो पर प्रदर्शित है। डा० जे० एन० बैनर्जी के विचार मे यह विष्णु प्रतिमा महायानी प्रभाव से प्रभावित है,[२५] क्योकि इन आयुधो को कमल पर रखने का तरीका मञ्जुश्री और सिंहनाद लोकेश्वर की प्रतिमाओ की भाति है।

उपर्युक्त वर्णित घुसाईं, ओसिया, काशीपुर आदि स्थानों से प्राप्त प्रतिमाओ मे त्रिविक्रम के ऊपर उठे पैर के ऊपर एक विचित्र मुखाकृति (grinning face) मिलती है। यह विद्वानो मे काफी विवाद का विषय रहा है। गोपीनाथ राव ने वराहपुराण को उद्धृत करते समय विचार व्यक्त किया था कि जब त्रिविक्रम ने स्वर्ग नापने के लिए अपना पैर ऊपर उठाया तो उसके टकराने से ब्रह्माण्ड फूट गया और उस टूटे ब्रह्माण्ड की दरारो से जल बहने लगा। यह मुख सम्भवत ब्रह्माण्ड की उस अवस्था को दर्शाता है।[२६] कालान्तर मे डा० स्टेल्ला क्रेमरिश,[२७] डा० आर० डी० बेनर्जी, डा० जे०

---

२१. ऐ० रि०, आ० स० ऑफ इन्डिया, १९२। २२३, पृ० ८९

२२. 'पद्मं कौमोदकीं चक्रं शंखं धत्ते त्रिविक्रमः' ॥७॥

२३ इसके विपरीत बादामी की गुफा मे इसी प्रकार के बने एक अन्य दृश्य मे राजा बलि का वामन को दान देते समय शीश मुकुट रहित है।

२४ राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली, न० एल–१४३

२५. हिस्ट्री ऑफ बंगाल I, पृ० ४३३–४३४

२६. **"That when the foot of Trivikrama was Lcifted to measure the heaven world, the Brahmanda burst and cosmtc water began to pour down through the clefts of the broken Brahmanda. This face is perhaps meant to represent the Brahmanda in that condition,"**

एलमिन्ट्स आफ हिन्दु आईक्नोग्रेफी, I, 1, पृ० १६७

२७ दी हिन्दु टेम्पिल, II, पृ० ४०३–४०४

एन० बेनर्जी[२८] और श्री सी० शिवराममूर्ति आदि ने इसे राहु बताया है। इन विद्वानो के अनुसार मध्य-कालीन कला मे राहु का इस प्रकार चित्रण किया जाता था। नीचे दिये नैषधचरित के श्लोक से भी इस मत की पुष्टि होती है।[२९]

उत्तरी भारत की भाति दक्षिणी भारत मे त्रिविक्रम की प्रतिमाए बादामी की गुफा न० ३ (छठी श० के उत्तरार्ध),[३०] महाबलिपुरम् के गणेश रथ (७वी श० ई०) तथा अलोरा (८वी श० ई०)[३१] आदि अनेक स्थानो मे उत्कीर्ण मिलती है।[३२] इन प्रतिमाओ मे महाबलिपुरम् वाली प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है (चित्र ६)। यह अष्टभुजी प्रतिमा अपने छ हाथो मे चक्र, गदा, खड्ग तथा शख, खेटक, धनुष आदि आयुध धारण किए है। दो रिक्त हाथो मे दाहिना हाथ वैखानसागम के अनुसार ऊपर उठा है तथा साथ वाला बाया हाथ उठे हुए बाए पैर के समानान्तर है। प्रतिमा के दोनो ओर पद्मासन पर चतुर्भुजी शिव एव ब्रह्मा का चित्रण है तथा नीचे सूर्य एव चन्द्र का अकन है। ऊपर मध्य मे वराह-मुखी जाम्बवान त्रिविक्रम की विजय पर हर्षध्वनि कर रहा है और ऊपर वर्णित ओसिया की प्रतिमा की भाति नमुचि राक्षस भगवान् का दाहिना पैर पकडे है।

दक्षिण भारत मे, मैसूर मे हलेबिद के प्रसिद्ध होयसलेश्वर मन्दिर पर निर्मित त्रिविक्रम की प्रतिमा भी कम महत्व की नही है (चित्र ७)। मध्यकालीन होयसल कला अत्यधिक सुसज्जित मूर्तियों एव कोमल अलकरण के लिए सर्वत्र विख्यात है। प्रस्तुत प्रतिमा काशीपुर की प्रतिमा की भाति ही शिल्परत्न के अनुसार है। त्रिविक्रम के उठे दाहिने पैर के ऊपर ब्रह्मा है, जो उसे गगा के पवित्र जल से धो रहे है। नीचे बहती गगा स्पष्ट रूप से दीखती है। कुशल कलाकार ने इसे नदी का रूप देने के लिए इसमे मछली एव कछुओ का सुन्दरता से चित्रण किया है। पैर के नीचे आलीढासन मे गरुड़ है, जिसके हाथ अञ्जली मुद्रा मे है। त्रिविक्रम के बाए पैर के समीप चामरधारिणी सेविका है। प्रतिमा के ऊपरी भाग मे जो लताये आदि हैं, उनका आशय सम्भवत कल्पवृक्ष से है। इस प्रतिमा के देखने मात्र से ही मूर्तिकार की उच्चतम कार्यकुशलता का सहज ही मे आभास हो जाता है।

---

२८. दी डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दु आईक्नोग्राफी, पृ० ४१६

२९ मां त्रिविक्रम पूर्नाहि पदेते किं लगन्नजनिराहु रूपानत्।
किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमि पाशं जाम्बवान दित ते बलिबन्धे ॥

—नैषध चरित, २१, ६६

३० गोपीनाथ राव, ऐलीमेन्टस ऑफ हिन्दु आईक्नोग्राफी, पृ० १७२ चित्र I.

३१. वही, पृ० १७४, चित्र L।

३२. इस सम्बन्ध मे हम त्रिविक्रम (८वी श० ई०) की एक कांस्य प्रतिमा को भी ले सकते है जिसमे वे बायें पैर से आकाश नापते प्रदर्शित किये गए है। प्रस्तुत प्रतिमा [illegible] (जिला [illegible]) के एक प्राचीन मन्दिर मे अब भी पूजी जाती है। शिवराममूर्ति सी०, साउथ इन्डियन ब्रान्जेज, पृ० ७१; चित्र १५०

पूर्वी भारत मे बगाल-विहार की पाल तथा सेन कालीन प्रतिमाओ मे एक उठे पैर की कुछ मूर्तिया प्राप्त है।[33] किन्तु अधिकाश मे त्रिविक्रम को पूर्ण विकसित कमल पर समभग मुद्रा मे खडे (स्थानक) प्रदर्शित किया गया है (चित्र ८)। इन प्रतिमाओ मे आयुधो का क्रम उसी प्रकार है जैसा कि हम उपर्युक्त वर्णित त्रिविक्रम की अन्य मूर्तियो मे देख चुके है। वे किरीट-मुकुट, कर्णपूर, रत्नकुण्डल, हार, उपवीत, कटिबन्ध, वनमाला, वलय, वाहुकीर्ति, नूपुर, उत्तरीय तथा परिधान आदि धारण किये है। प्रतिमा के पैरो के पास लक्ष्मी व जया तथा सरस्वती व विजया है।[34] मुख्य मूर्ति के दोनो ओर मध्य मे सवार सहित गज–शार्दूल, मकरमुख, तथा नृत्य एव वीणा वादन करते गन्धर्व युगल है। सिर के पीछें की कलात्मक प्रभावली के दोनो ओर वादलो मे मालाधारी विद्याधर वने है। सबसे ऊपर मध्य मे कीर्तिमुख है। पीठिका पर मध्य मे विष्णु का वाहन गरुड, दानकर्ता एव उसकी पत्नी एव उपासकों के लघुचित्रण है। इस प्रकार से ये प्रतिमाये उन प्रतिमाओ से सर्वथा भिन्न है, जिन पर एक ही साथ बलि द्वारा वामन को दिए जाने वाले दान का तथा उसकी प्राप्ति पर त्रिविक्रम द्वारा आकाशादि नापने का चित्रण मिलता है।

भगवान् विष्णु की पूजा त्रिविक्रम के रूप मे प्राचीन भारतवर्ष मे विशेषरूप से प्रचलित थी। इसका अनुमान हम उनकी अनेको प्रतिमाओ के अतिरिक्त साहित्य एव शिलालेखो से भी कर सकते है। इनका कुछ निदर्शन हम ऊपर कर चुके है। शिलालेखो से दो लेख उदधृत है।

पायासुर्व्व (र्ब्ब) लिवन्च (श्च) न व्यतिकरे देवस्य विक्रान्तयः
सद्यो विस्मित देवदानवनुतास्तिस्त्रस्त्रि (लो) कीं हरेः।
यासु व्र (ब्र) ह्मवितोरार्णमर्घसलिल पादारविन्दच्युत।
धत्तेद्यापि जगत्र (त्र) यैकजनक पुरायं स मुर्च्छा हर ॥[35]

तथा

भग्नम् पुनर्नूतनमत्र कृत्वा ग्रामे च देवायतनद्वयं यः।
पितुस् तथार्थेन चकार मातुस् त्रिविक्रम पुष्करिणीभि माञ्च ॥[36]

---

३३ क्रेमरिश, स्टेल्ला, पाल एन्ड सेन स्कल्पचर, रूपम, अक्टूबर १९२९, न० ४०, चित्र २७, भट्टसाली एन० के०, आईकनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट ऐन्ड ब्रह्मैनिकल स्कलपचर्स इन दी ढाका म्यूजियम, पृ० १०५, चित्र, XXXVIII, वेनर्जी, आर० डी०, ईस्टर्न इन्डियन स्कूल ऑफ मेडिवल स्कलपचर्स, चित्र, XLVI

३४ त्रिविक्रम की कुछ प्रतिमाओ मे लक्ष्मी व सरस्वती के स्थान पर आयुध पुरुषो का भी चित्रण मिलता है। द्रष्टव्यः जर्नल ऑफ विहार रिसर्च सोसाइटी, १९५४, ४०, IV, पृ० ४१३ तथा आगे।

३५. एपिग्राफिया इन्डिका, I, पृ० १२४, श्लोक २

३६ व्ही, XIII, पृ० २८५, श्लोक २४

इस लेख के लिखने मे मुझे अपने श्रद्धेय गुरु डा० दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट् से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हू।
लेख मे आए चित्रो के लिए मैं ग्वालियर सग्रहालय, राष्ट्रीय संग्रहालय तथा आ० सर्वे ऑफ इन्डिया का आभारी हू।

भारतीय संस्कृति में ब्रजकला
और
उसके ऐतिहासिक तिथिक्रम का विचार

भारत की सप्त महापुरियो मे मथुरा नगरी अपना महत्व तथा अपना स्थान एक विशेष रूप से रखती है। यह तीर्थ स्थान तो है ही साथ ही साथ ऐतिहासिक विभूतियो से भी ओतप्रोत है, और है उत्तरी भारत मे गगा यमुना की अन्तर्वेदी सच्ची रगभूमि। यह वह स्थान है जहा अनेक साम्राज्यो का उत्थान और पतन हुआ है।

जिन जातियो ने भारत पर चढाई की मथुरा उनके मार्ग मे अवश्य आया, जिसका फल यह हुआ कि मथुरा की सास्कृत-नद मे अन्य जातियो के धार्मिक विचार के पुट लगते रहे जिनकी छाप मथुरा कला पर भी विशेष रूप से पडी।

मथुरा कला के साथ अन्य कलाओ का प्रशसनीय प्रदर्शन हमको स्टेट म्यूजियम (विचित्रालय) भरतपुर मे तथा पुरातत्व सग्रहालय मथुरा मे देखने को मिलता है। उनके देखने से यह पता चलता है कि मथुरा कला मे यूनानी भावो को भी दर्शाने वाली मूर्तिया मौजूद है और इनके अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन धर्म सम्बन्धी भी अनेक मूर्तिया है।

मथुरा मे ब्राह्मण धर्म का बहुतायत से प्रचार था और इस धर्म के देवी देवताओ की मूर्तियो की एक प्रकार से पूरी भरमार सी रही है। अपने २ धर्म का प्रचार करने के लिये बौद्ध भिक्षुओ और जैन मुनियो ने इस स्थान को अपनाकर अपने २ धर्मो का कला द्वारा प्रदर्शन करके कला का प्रसार किया। प्रसंगवश यहा पर प्रथम मथुरा कला का तिथिक्रम उपस्थित करना परम आवश्यक है जो इस प्रकार से है :—

भगवान बुद्ध और महावीर जी ई० पूर्व ६ठी शताब्दी
मौर्यकाल ३२५ ई० पूर्व से १८५ ई० पूर्व तक
शुङ्गकाल १८४ ई० पूर्व से ९२ ई० पूर्व तक

क्षतरातवंश के महा क्षत्रप राजुल और सुदास १०० ई० पूर्व से ५९ ई० पूर्व तक, शक कुषाण वंश ई० प्रारम्भ से तीसरी शताब्दी तक, कुजुला कैड फाइसिस और वेम कैडफाइसिस ९८ ई० तक।

कनिष्क ९८ ई० से १०२ ई० तक
वासिष्क १०२ ई० से १०६ ई० तक

वासुदेव १३८ ई० से १६६ ई० तक
गुप्तकाल ३२० ई० से ६०० ई० तक
मध्यकाल ६०० ई० से १२०० ई० तक

उपरोक्त काल की जिन २ मूर्तियो का संग्रह है उनमे उनकी कला की कारीगरी तथा भाव भगी को सहज समझ सकते है। यहा पर उनके दो एक उदाहरण दिये जाते हैं। यथा वहा की एक मूर्ति मे आश्रम का दृश्य दरसाया गया है जिसमे ऊपर की पट्टी मे तीन यक्ष कमल नालो से गुम्फित एक भारी माला को उठाये हुए है और निचले भाग मे जटाधारी तपस्वी कबूतरो को चुगा रहे है। इतिहास विशारदो का मत है कि यह रोमक जातक का चित्रण है। इसी प्रकार का एक जैन आयाग पट्ट है जिसे लावण्य शोभिका नाम की गणिका की पुत्री ने दान मे दिया था। इस शिला पट्ट पर बीच मे दो स्तम्भो के बीच मे एक स्तूप है जिसके दोनो बगल दो मुनि, दो सुपर्ण तथा दो यक्षिणी हैं। इसी प्रकार का एक तोरण भी है। जिसके अलंकृत भाग पर बुद्ध की पूजा के दृश्य दर्शाये गये है। उभय सग्रहालयो मे धन कुबेर की भी एक २ मूर्ति है जो कुषाण काल की सुन्दर कला की प्रतीक है। इनमे कैलाश पर बैठे हुए आसव पान करते कुबेर दिखाये गये है जिनके पीछे उनका अनुचर है और पास मे कुबेर की स्त्री तथा उसकी सखी दिखाई गई है। यह कुषाण काल मथुरा कला का सुवर्ण युग रहा है। ई० प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक का समय मथुरा कला के उच्चतम वैभव का युग माना गया है जबकि यहा की कला धर्म और शासन की ख्याति दूर २ तक थी। इस युग मे जनता सर्वत्र विहार, स्तूप, चैत्य, देवकुल, पुण्य शाला उदयान (प्याऊ) आराम (बगीचा) आदि के निर्माण मे करने मे परम उत्साह का परिचय देती रही।

इस काल की कला की एक अन्य मूर्ति है जिसमे दो कुषाण जातीय भद्र पुरुष माला और पुष्प लिये शिव लिङ्ग की पूजा करते दिखाये गये है। और जिनके बाई ओर अगूर की बेल पर मोर बैठा है। इस मूर्ति से यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि शक जाति के विदेशी पुरुषो ने भी ब्राह्मण धर्म के देवी देवताओ की पूजा उपासना की है। यहा भगवान बुद्ध की गुप्त कालीन अत्यन्त मनोहर मूर्ति है। इसी प्रकार पद्मासन लगाये जैन तीर्थङ्कर की मूर्ति है जो प्रभा मण्डल से पूर्ण अलंकृत है तथा हाथ समाधि मुद्रा मे है। यह कला भी गुप्तकाल की है। इसी प्रकार से गुप्तकाल की कला का कौशल तथा पूर्ण प्रादुर्भाव एक चतुर्भुजी विष्णु भगवान की मूर्ति मे देखने को मिलता है। भगवान के मुकुट मे मकर का आभूषण है और मुक्ता दानो को मुख मे दबाये हुए सिंह है। इस मूर्ति मे अन्य आभूषणो को भी यथा स्थान दिखाया गया है।

भरतपुर के अन्तर्गत प्राप्त मूर्तियो का भी रूप रग कला कौशल बिल्कुल ऐसा ही है जैसा कि मथुरा कला की मूर्तियो का है। जिससे स्पष्ट होता है कि इनके कारीगर एक ही होगे। मथुरा और भरतपुर समीप मे है और है ब्रज मण्डल के अन्दर, अत भाव साम्य होना स्वाभाविक है।

ललित कलायें हमारी पूर्व प्राचीन सभ्यता और कला की द्योतक है, अत ब्रज मण्डल ऐतिहासिक, पौराणिक तथा अन्वेषण कार्य के लिये अपना एक विशेष स्थान इतिहास मे रखता है जहा पुरातत्व पारखियो की अभिरुचि के अनुसार प्रचुर सामग्री है जो उनकी शोध मे पूरी महायक हो सकती है।

का नाम गौडी पार्श्वनाथ हो गया । फिर यह प्रतिमा पाटन मे लाई गई और मुसलमानी आक्रमणो के समय सुरक्षा के लिए जमीन मे गाड दी गई । सम्वत् १४३२ मे पाटन के सूबेदार हसनखा की की घुडशाला मे यह प्रतिमा प्रगट हुई और उसकी बीबी उसकी पूजा करने लगी । एक दिन स्वप्न मे उसे ऐसी आवाज सुनाई दी कि नगर "पारकर" का सेठ मेघा यहाँ आयेगा, उसे उस प्रतिमा को दे देना । उसके आगे का वृत्तान्त उपरोक्त स्तवन के आधार से आगे दिया जा रहा है । सम्वत् १४३२ मे पाटन से राधनपुर होते हुए यह प्रतिमा नगर "पारकर" मे मेघाशाह द्वारा पहुची और १२ वर्ष बाद मेघाशाह को स्वप्न हुआ और उसके अनुसार जिस निर्जन स्थान मे यह स्थापित की गई वह गौडीपुर नाम से विख्यात हुआ । इसी तरह स० १४४४ मे गौडी पार्श्वनाथ तीर्थ स्थापित हुआ । उसकी प्रसिद्धि १७ वी शताब्दी से ही अधिक हुई मालूम देती है ।

नगर "पारकर" मारवाड से सिंध जाते हुए मार्ग मे पडता है । जगल या छोटे से गाव मे गौडी पार्श्वनाथ तीर्थ था । पाकिस्तान होने के पहले तक वहा के सम्बन्ध मे जानकारी मिलती रही। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के सिंध एव राजस्थान मे प्रचारक श्री दौलतरामजी कुछ वर्ष पूर्व बीकानेर आये थे तो उन्होने बतलाया था कि वे भी कुछ वर्ष पूर्व वहा गये थे । आस पास मे जैनो की वस्ती विशेष रूप न होने के कारण उधर कई वर्षों से उस तीर्थ के सम्बन्ध मे कुछ भी जानकारी प्राप्त नही हो रही है अत गौडी पार्श्वनाथ की प्रतिमा और मन्दिर की अब क्या स्थिति है उसकी जानकारी, जिस किसी भी व्यक्ति को हो, प्रकाश मे लाने का अनुरोध किया जाता है । ५०० वर्षो तक जो इतना प्रसिद्ध तीर्थ रहा है उसके विषय मे कुछ भी खोज नही किया जाना बहुत ही अखरता है ।

गौडी-पार्श्वनाथ-उत्पत्ति

सर्वप्रथम सरस्वती को नमस्कार कर कवि गौडी पार्श्वनाथजी की स्तवना उत्पत्ति कहने का सकल्प करता है । पार्श्व प्रभु की जीवनी का सक्षिप्त उल्लेख कर कवि बताता है कि पाटण मे गौडी-पार्श्वनाथजी की तीन प्रतिमाए निर्माण कर भूमि-गृह मे रखी गई थी । तुर्क ने एक प्रतिमा लेकर अपने कमरे मे जमीन के अन्दर गाड दी और स्वय उस पर शय्या बिछाकर शयन करने लगा । एक दिन स्वप्न मे यक्षराज ने कहा कि प्रतिमा को घर से निकालो अन्यथा मैं तुम्हे मारु गा । देखो 'पारकर' नगर से मेघा-शाह यहा आवेगा और तुम्हे ५०० टके दे देगा । तुम उसे प्रतिमा दे देना । किसी के सामने यह बात न कहना तो तुम्हारी उन्नति होगी ।

'पारकर' देश मे भूदेसर नामक नगर था । वहा परमारवशीय राजा "खगार" राज्य करता था । वहा १४५२ बडे व्यापारी निवास करते थे । उन व्यापारियो मे प्रधान काजलशाह था जिसका दरबार मे भी अच्छा मान था । काजलशाह की बहिन का विवाह मेघाशाह से हुआ था । एक दिन दोनो साले बहनोई ने विचार किया कि व्यापार के निमित्त द्रव्य लेकर गुजरात जाना चाहिये । मेघाशाह ने गुजरात जाने के लिये अच्छे शकुन लेकर प्रस्थान किया । ऊटो की कतार लेकर बाजार मे आया तो कन्या, फूल, छाब लेकर आती हुई मालिन वेदपाठी व्यास, वृषभ-साड, दधि, नीलकठ इत्यादि अनेक शुभ शकुन मिले । अनुक्रम से पाटण मे पहुचकर कतार को उतारा । रात को सोये हुए मेघा सेठ को यक्ष राज ने स्वप्न मे कहा—तुम्हे एक तुर्क पार्श्वनाथ-भगवान की प्रतिमा देगा । तुम ५००) टका नगद देकर प्रतिमा को ले लेना ।

मेघासेठ ने प्रात काल तुर्क को सहर्ष ५००) टका देकर पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा ले ली। २० ऊंट रूई (कंपास) खरीदकर उसके बीच प्रभु को विराजमान कर 'पारकर' नगर की ओर रवाना हुआ। जब वे राधनपुर आये तो कस्टम—आफिसर ने ऊटो की गिनती मे कमीवेशी की भूल होते देख आश्चर्यपूर्वक पूछा। मेघा सेठ से पार्श्व प्रतिमा का स्वरूप ज्ञातकर दाणी लोग लौट गए। संघ प्रभु के दर्शन कर आनन्दित हुआ। अनुक्रम से पारकर पहुचने पर श्री संघ ने भारी स्वागत किया। फिर स० १४३२ मि० फाल्गुण सुदी २ शनिवार के दिन पार्श्वनाथ भगवान की स्थापना की गई।

एक दिन काजलशाह ने मेघाशाह को पूछा कि आप मेरा द्रव्य लेकर गुजरात गये थे उसका हिसाब कीजिये। मेघा सेठ ने कहा ५००) टका तो भगवान के लिये दिये गये है। काजल सेठ ने कहा—इस पत्थर के लिए क्यों खर्च किया? मेघा ने कहा —हिसाब करें तव ५००) टका को मेरे हिसाब मे भर लीजियेगा।

मेघाशाह की धर्मपत्नी का नाम मृगावती था। महिओ और मेहरा नामक दो पुत्र थे। मेघा ने धनराज को भी प्रतिदिन प्रभु की पूजा की प्रेरणा दी। इसके बाद एक दिन स्वप्न मे यक्षराज ने मेघाशाह से कहा—कल प्रात काल यहा से चलना है। भावल चारण की वहली (रथ) और रायका देवानन्द के दो बैल मंगाकर प्रभु को विराजमान कर तुम स्वयं वहली हाकते हुए अकेले चलना। वाडा थल की ओर बहली हाकना।

प्रातःकाल मेघाशाह ने यक्षराज के निर्देशानुसार वाडाथल की ओर प्रयाण किया। वाडाथल की भयानक अटवी मे मेघाशाह भूत-प्रेतादि से जब भयभीत हुआ तो यक्षराज ने उसे कहा निश्चिन्त रहो।

जब वहली गौडीपुर गाव के पास आई तो एकाएक रुक गई। निर्जल और निर्जन स्थान मे सेठ अकेला चिन्तातुर होकर सो गया। यक्षराज ने कहा—दक्षिण दिशा मे जहा नीला छाण पडा हो वहां अखूट जल प्रवाही कुआ निकलेगा। पाषाण की खान निकलेगी। चावल के स्वस्तिक के स्थान मे कुआ खुदवाना एवं सफेद आक के नीचे द्रव्य भडार मिलेगा। सिरोही में शिल्पी सिलावट रहता है जिसका शरीर रोगाक्रान्त है। तुम उसे यहां लाना और प्रभु के न्हवण जल से वह निरोग हो जायगा।

सेठ ने शुभ मुहूर्त मे मन्दिर का काम प्रारम्भ किया। यक्ष के निर्देशानुसार जमीन खुदवाकर द्रव्य प्राप्त किया। गौडीपुर गाव बसाकर अपने सगे सम्बन्धियो को वहा बुला लिया। एक दिन काजल सेठ ने वहा आकर मेघा से कहा कि इस कार्य मे आधा भाग हमारा है। मेघा ने कहा कि हमें आपके द्रव्य की आवश्यकता नही है। प्रभु कृपा से हमे द्रव्य की कोई कमी नही है। आप तो कहते थे कि पत्थर क्या काम का है! काजल सेठ की दाल न गलने से वह क्रुद्ध होकर लौट गया और मन मे वह मेघा की घात सोचने लगा। उसने मन मे सोचा कि पुत्री के व्याहोत्सव मे नव स्थान को निमन्त्रूंगा और फिर अवसर पाकर मेघा का प्राण हरण कर स्वयं शक्तिशाली हो जाऊंगा। और फिर मन्दिर बनवाने का पूर्ण यश मुझे मिल जायगा। उसने पुत्री व्याह में मेघाशाह को भी निमंत्रित किया। मेघा के जिनालय बनवाने का काम जोर शोर से चल रहा था अत उसने स्वयं न जाकर अपने परिवार को भेज दिया। मेघा के न आने पर काजल ने कहा कि मेघाशाह के बिना शादी फीकी लगेगी। उसने स्वयं गौडीपुर जाकर मेघा को लाने का निश्चय किया।

यक्ष ने मेघा से कहा कि काजलशाह तुम्हे ले जाने के लिए आ रहा है। उसके मन मे तुम्हारी घात है। तुम वहा मत जाना। वह तुम्हे दूध मे जहर पिलाकर मारने का षडयंत्र कर रहा है। यक्ष के जाने के बाद काजलशाह मेघा के पास आया और नाना प्रकार से प्रेम प्रदर्शित कर हठ करके अपने गाव मुदेसर ले गया। विवाह और जातिभोज का काम निपट जाने पर काजल ने अपनी स्त्री को सकेत कर दिया कि जब हम दोनो एक साथ जीमेगे, तुम दूध मे विष मिलाकर दे देना। स्त्री ने कहा—मेघा को मत मारिये, अपने कुल मे कलक लगेगा। स्त्री ने लाख समझाया पर मन और मोती टूटने पर नही मिलता। काजल और मेघा दोनो साथ जीमने बैठे। स्त्री ने दूध लाकर दिया। काजल ने कहा मुझे दूध पीने की सौगन्ध है। मेघा ने दूध पिया और पीते ही शरीर मे विष फैल गया और उसका देहान्त हो गया। सर्वत्र काजल की अपकीर्ति हुई। मिरणादे और महिम्रो, मेहरा विलाप करने लगे।

मेघा की अत्येष्टि करके काजल ने अपनी बहिन को समझा बुझाकर शान्त किया। काजलशाह ने जिनालय को पूरा कराया। जब शिखर स्थिर न हुआ तो काजलशाह चिन्तित हो गया। दूसरी बार भी शिखर गिर गया तो यक्षराज ने महिम्रो को स्वप्न मे कहा कि तुम शिखर चढाना, स्थिर रहेगा। मेघा के हत्यारे काजल को यश कैसे मिलेगा ? यक्षराज की आज्ञानुसार महिम्रो ने शिखर चढाया संघ आया, प्रतिष्ठा हुई, चमत्कारी तीर्थ की सर्वत्र मान्यता हुई।

गौडी पार्श्वनाथ के प्रगटन व सवारी का चित्र लगा हुआ है। परिचय प्रस्तुत है—

गौडी पार्श्वनाथजी—यह चित्र ३१ × ३० इन्च माप का है। इसके मध्य मे सात सूड वाले हौदा युक्त श्वेत गजराज पर भगवान की प्रतिमाजी विराजमान है। पास मे प्रकट होने का उल्लेख है। उभय पक्ष मे नरनारी वृन्द अपने हाथ मे कलश व पूजन सामग्री लिए उपस्थित है। चित्र के ऊपरी भाग मे मेघ घटाओ से ऊपर छ विमान हैं जो अश्वमुखी, गजमुखी हसमुखी आदि विभिन्न रूपो मेहै और २-२ देव उनमे बैठे हुए पुष्प वर्षा कर रहे है। चित्र के निम्न भाग मे तम्बूडेरा—कनाते लगी हुई हैं।

इस चित्र के परिचय स्वरूप बोर्ड मे निम्नाकित अभिलेख है।

"गौडी पार्श्वनाथ स्वामी प्रगट हुआ तिसका भाव"

"कलम गणेश मुसवर की मुकाम जयपुर शहर कलकत्ता मे बनी।"

"सम्वत् १९२५ मिति कार्तिक सुदि १५ वार शनि श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलाल तत् पुत्र शिखरचन्द्रेन कारापितम"

श्री नेमविजय कृत

श्री गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन

भाव धरी भजना करु, आपे अविचल मत।
लघुता थी गुरुता करै, तू सारद सरसत्ति ॥ १ ॥
मुझ ऊपर माया धरो, देजो दोलत दान।
गुण गावु गोडी तणा, भवे भवे भगवान् ॥ २ ॥
धवल धीग गौडी धणी, सहु को आवै सग।
महिमदा वादें मोटको, नारगो नवरग ॥ ३ ॥
प्रतिमा त्रणे पास नी, प्रगटी पाटण माहि।
भगत करे जे भविजना, कुण ते कहिवाय ॥ ४ ॥

उतपत तेहनी उचरू, शास्त्र तणी करू साख ।
मोटा गुण मोटा तणा, भाखै कविजन भाख ॥ ५ ॥

ढाल—१ नदी यमुना के तीर उडै दोय पंखिया—ए देशी

कासी देश मझार के नगरी वणारसी ।
तेह समोवड कोय नहीं लका जसी ॥
राज करे तिहा राज के अश्वसेन नरपती ।
राणी वामा नाम के तेहने दीपती ॥ १ ॥

जनम्या पास कुमार के तेहनी राणीइ ।
उच्छव कीधो देव के इन्द्र इन्द्राणीइ ॥
जोवन परण्या प्रेम कन्या प्रभावती ।
नित नित नव नवा वेस करी नि देखावती ॥ २ ॥

दीक्षा लेई वनवास रहना काउसग तिहा ।
उपसर्ग करवा मेघमाली आव्यो तिहाँ ॥
कष्ट देई नि तेह गयो ते देवता ।
पाम्यो केवलग्यान आवी सुरनर सेवता ॥ ३ ॥

वरस ते सो नो आउषू भोगवि ऊपना ।
जोत माहि मली ज्योत इहा काइ क रूपना ॥
पाटण माहि मूरत त्रणे पासनी ।
भरावी मू इरा माहि राखी कई मासनी ॥ ४ ॥

एक दिन प्रतिमा तेह गोडी नी लेई करी ।
पोताना आवास मितर के लेई धरी ॥
खाड खणीने माह घाली तुरके जिहा ।
सुई नित प्रति तेह सज्या वाली तिहा ॥ ५ ॥

एक दिन सूहणा माहि आवीने इम कहै ।
तेण अवसर तुरक हीया माहि सरदहै ॥
नही तर मारीस मरडीस हवि हू तूझ नै ।
ते माटे घर माह थी काढ तू मूझ नै ॥ ६ ॥

पारकर माह थी मेघो सा इहा आवस्यै ।
ते तुझ देस्यै टंका पाचस्यै साथे लावस्यै ॥
देजे मूरति एह काढी नै तेहनै ।
मत कहिजें कोई आगल वात तु केहनै ॥ ७ ॥

थास्ये कोड कल्याण के ताहरे आज थी
वाधस्यै पाचा माहि के नामि लाज थी

मनसू वीहनो तूरकडो थाये आकलो
आगल जे थाइ वात भवि जन साभलो ॥ ८ ॥

ढाल—२ देशी १ मांहरा घणु सवाई ढोला।
२खंभाईत देशे जाजो, खंभाईति चुडला लाइजोरे मांहरां सगबरू

लाख जोयण ज बु परमाण, तेमा भरत खेत्र परधान रे।
माहरा सुगण सनेही सुणज्यो।
पारकर देस छै रूडो, जिम नारि नै शोभे चूडो रे ॥मा०॥१॥
शास्त्र माहि जिम गीता, तिम सतीया माहि जिम सीता रे ॥मा०॥
वाजित्र माहि जिम भेर, तिम परबत माहि मोटो मेर रे ॥मा०॥२॥
देव माहि जिम इ द, ग्रहगण माहे जिम चद रे ॥मा०॥
वत्रीस सहिस तिहा देस (भूछे) तेमा पारकर देस विसेस रे ॥मा०॥२॥
भूवेसर नामि नयरी, तिहा रहिता नथि कोइ वेरी रे ॥मा०॥
तिहा राज करे खगार, तेतो जात तणो परमार रे ॥मा०॥४॥
तिहा वणज करै रे व्यापारी, तसु अपछर सिरखी नारी रै ॥मा०॥
मोटा मदिर परधाम, तेतो चवदैसे बावन रे ॥मा०॥५॥
तिहा काजल सा व्यवहारी, सहु संघ मे छें अधिकारी रे ॥मा०॥
ते पुत्र कलित्र परिवार, तसु मानत छै दरवार रे ॥मा०॥६॥
ते काजल सा नी रे वाई, सा मेघो कीधो जमाई रे ॥मा०॥
एक दिन सालो बिनोइ, बैठा वात करता एहवी रे ॥मा०॥७॥
इहा थी घन घणो लेइ, जइ ल्यावो वस्तु केइ रे ॥मा०॥
गुजरात माहे तुम जाज्यो, जिम लाभ आवै ते लाज्यो रे ॥मा०॥८॥

ढाल—३ पांचम तप भणु रे—ए देशी

सा काजल कहै वात, मेघा भणि दिन रात, साभली सहु है ए, वलतु इम कहै ए
जाइस हू परभात, साथ करी गुजरात, सुकन भला सही ए, तो चालु वही ए ॥१॥
घन घणो लेई हाथ, परिवारी करि साथ, ककु तिलक कीयो ए, श्रीफल हाथ दीयो ए।
लेई ऊट कतार, आव्यो चोहटा मझार, कन्या सनमुख मलीए, करती रगरुली ए ॥२॥
मालण आवी जाम, छाब भरी छै दाम, वधावै सेठ भणी ए, आसीस आपे घणी ए।
मच्छ जुगल मल्यो खास, वेद बोलतो व्यास, पत्र भरी जोगणी ए, वृषभ हाथे घणी ए ॥३॥
डावो वोलै साड, दघि नु भरीउ भाड, खर डावौ खरोए,........................ .... ।
आगल आव्या जाम, मारग बूठा ताम, भेरव जिमणी भली ए, देव डावी वली ए ॥४॥
जिमणी रूपा रेल, तार वधी तेहनी वेल, नीलकठ तोरण कीयो ए, उलस्या अती हीयो ए।
हनुमत दीधी हाक, मधुरो वोले काग, लोक कहै सहु ए, काम होस्यै वहु ए ॥५॥
अनुक्रम चाल्या जाय, आव्या पाटण माहि, उतारा भला किया ए, सेठजी आविया ए।

निसि भर सूता जाँह, जक्ष आवी ने त्याह, सुहणे इम कहै ए, सघलु सरदहै ए ।६।।
तरक तणैं छे धाम, तेह नै घर जइ ताम, पाचसै रोकडा ए, देजे दोकडा ए।
देसे प्रतिमा एक, पास तणी सुविवेक, तेह थी तुझ थास्ये ए, चिंता दूर जास्यैं ए ।।७।।

संभलावी जक्ष्यराज, तुरक भणी कहै साज, प्रतिमा तु देजे ए, पाच से धन लेजे ए।
इम करता परभात, तुरक भणी कहै वात, मन मा गहगह्या ए, अचरज कुण लहै ए ।।८।।

ढाल—४ आसण रा रे जोगी, ए देशी

तरक भणी दियै पाच सै दाम, प्रतिमा आणी ठाम रे। पासजी मुने तूठा
पुजे प्रतिमा हरख भराणो, भाव आणी ने खरचो नाणो रे। पासजी मुने तूठा ।।१।।

मुझ वखते ए मूरत आवी, मूने आपस्यै दाम उपावी रे ।पा०।
दाम देई निरू तिहा लीधु, मन मान्यु कारज कीधु रे ।पा०।।२।।

रूना-भरीया ऊटज वीस, ते माहि वैसारया जगदीस रे ।।पा०।।
अनुक्रमे चाल्या पाटण माहि थी, साथैं मूरत लेइ नै तिहाँथी रे ।।पा०।।३।।

मली सहु दाणी विचारै मन मे, एतो कोतक दीसै इण मे रे ।।पा०।।
मेघा सा नै दाणी पूछै, कहो सेठ जी कारण स्यू छै रे ।।पा०।।४।।

आगल राधणपुर सहु आव्या, दाण लेवा दाणी मिली आव्या रे ।।पा०।।
गणे गणे उट नै भूलै भूलै लेखू, एक ओछो अेक अधिको देखू रे ।।पा०।।५।।

सा मेघो कहै साभल दांणी, अमे मूरत गोडीजी नी आणी रे ।।पा०।।
ते मूरत ए वरकी माहे, किम जालवीए वीजे ठामी रे ।।पा०।।६।।

पारसनाथ तणैं सुपसाइ, दाण मेली दाणी घर जाये रे ।।पा०।।
जात्रा करीनि, सहु घर आवै, जिन पूजी नै आणद पावै रे ।।पा०।।७।।

तिहा थी आव्या पारकर माहे, भूवेसर नगर छै ज्यांही रे ।।पा०।।
वधामणी दीधी जिण पुरषै, थया रूलियाइत घणु हरखै रे ।।पा०।।८।।

ढाल—५ राणपुरो रलयामणो रे लाल

संघ आवै मली सामठा रे लाल, दरसण करवा काज, भवि प्राणी रे।
ढोल नगारा ढल ढलै रे लाल, नादे अवर गाज ।भ०।।१।।
सुणजो वात सुहामणी रे लाल।

उछव महोछव करे घणा रे लाल, भेट्या श्री पारसनाथ ।भ०।
पूजा प्रभावना करे घणा रे लाल, हर्ष पाम्या सहु साथ ।भ०।।२।।मु०।।

सवद चउदै बत्रीस मे रे लाल, कार्त्तिक सुद नी बीज ।भ०।
थावर वारे थापीया रे लाल, नरपति पाम्या रीझ ।भ०।।३।।मु०।।
एक दिन काजलसा कहै रे लाल, मेघामा नैं वात ।भ०।
नाणु अमारु लेई करी रे लाल, गया हुता गूजरात ।भ०।।४।।मु०।।
ते धन तुमे किहा वावरचुं रे लाल, ते दयो लेजो आज ।भ०।

तव मेघो कहै सेठजी रे लाल, खरच्या धर्म नै काज ।भ०।।५।।सु०।।

सामीजी माटै सू पीया रे लाल, पाच सै दीधा दाम ।भ०।
काजल कहै तुमे स्यू करयु रे लाल, ए पथर कुण काम ।भ०।।६।।सु०।।

काजल भणी मेघो कहै रे लाल, ए व्यापार अम भाग ।भ०।
ते पाच सै सर माहरै रे लाल, तेमा नही तुम लाग ।भ०।।७।।सु०।।

मेघासानी भार्या रे लाल, मृघा दे छे नाम ।भ०।
महीयो नै मेरो ए वे सारिखा रे लाल, वहु सुत रति अति काम ।भ०।।८।।सु०।।

ढाल—६ कंत तमाखू परहरो, ए देशी

सा काजल मेघा भणी, वेहु जग मि सवाद । मोरा लाल
तिहा मेघो धनराज नै, एक दिन दीधो साद । मोरा लाल सुणजोबात सुहामणी।।१।।

आ प्रतिमा पूजो तुमे भाव आणी नि चित्त ।मो०।
वार वरस मेघे तेहनै, पूजी प्रतिमा नित्य ।मो०।

एक दिन सुहणै इम कहै, मेघा सा नै वात ।मो०।
तु अम साथै आवजे, परवारी परभात ।मो०।।३।।सु०।।

वहिल लेजे भावल तणी, चारण जात छे जेह ।मो०।
देवाणद रायका तणी, दोय वृषभ छै तेह ।मो०।।४।।सु०।।

वहिल खेडे तु एकलो, मत लेजे कोई साथ ।मो०।
वाडा थल भणी हाकजे, मुझ नै राखजे हाथ ।मो०।।५।।सु०।।

इम मेघा ने प्रीछवी, यक्ष गयो निज ठाम ।मो०।
रवि ऊग्या मेघो तिहा, करवा माड्यो काम ।मो०।।५।।सु०।।

वहिल लीधो भावल तणी, वृषभ आण्या दोय ।मो०।
जोतरी वैहिल स्वामी तणी, जाणै छै सव कोय ।मो०।।७।।सु०।।

तव मेघो ते वहिलनि, खेडी चाल्यो जाय ।मो०।
अनुक्रमे मारग चालता, आव्या थलवट माहे ।मो०।।८।।सु०।।

ढाल—७ अमली लाल रंगावो वर ना मोलियां, ए देशी

तिहा छोटा नै मोटा थल घणा, तिहा रूख तणो नही पार रे ।
तिहा भूत नै प्रेत व्यतर घणा, देखी सेठ करै विचार रे ।

सा मेघो रे मन मे चितवै, कुण करसै मोरी सार रे ।
तव जक्ष आवी ने इम कहै, तु म कर फिकर लगार रे ।।२।।

तव वैहल हाकी नै चालीयो, आव्यो ऊझड गौडीपुर गाम रे ।
तिहा वाव कुवा सरोवर नही, नही मोहल मदिर सुठाम रे ।।सा०।।३।।

तिहा वहिल थभाणी चालै नही, हवै सेठ हुयो दिलगीर रे ।सा०।
मुझ पासै नथी कोई दोकडा, कुण जाणै पराई पीड रे ।सा०॥४॥

तिहा रात पडी रवी आथम्यो, चिंतातुर थइनि सूतो रे ।सा०।
तव जख्य आवी ने इम कहै, सोहणा माहि एकतो रे ।मा०॥५॥

हवे साभल मेघा हु कहुँ, इहा वास जे गोडीपुर गाम रे ।सा०।
माहरो देरासर करजे इहा, उत्तम जोइ कोइ ठाम रे ।सा०॥६॥

तु जाजे रे दक्षण दस भणी, तिहा पड्यूं छै नीलू छाण रे ।सा०।
तिहा कुम्रो उमटसी पाणी तणो, परगटसै पाहाणरी खाण रे ।सा०॥७॥
पासै ऊग्यो छै उज्वल आकडो ते हेठल छै धन वहुलो रे ।सा०।
तिहा पूरचो छै चोखा तणो साथीयो. वली पाणी तणो कुयो पहोलो रे ।सा०॥८॥

ढाल—८ सीता तो रूपे रूड़ी, एहनी देशी

सीलावट सीरोही गामैं तिहा रहै छै चतुर छै कामै हो ।सेठजी सामलो ।
रोग छै तेह नै शरीरे, नमणु करी ने छाटो नीरे हो ।से०॥१॥

रोग जास्यै नै सुख थास्यै, बैठो इहा काम कमास्यै हो ।से०।
जोतिक निमत्त जोरावै, देरासर पायो मडावै हो ।से०॥२॥

जख्य गयो इम कही नै, करो उद्यम सेठ जी वही ने ।मे०।
सिलावट्ट नै तेडावै, वली धन नी खाण खणावै हो ।से०॥३॥

गोडीपुर गाम वसावै, सगा साजन नै तेडावै हो ।मे०।
इम करता वहु वीना, थया मेघो जगत्र वदीता हो ।से०॥४॥

एक दन काजलसा आवी, कहै मेघा नै वात वनावी हो ।से०।
ए कामैं भाग अमारो, अर्ध मारो अर्ध तमारो हो ।मे०॥५॥

ईम करी देरासर करीयै, जिम जग मे जस वरीयै हो ।मे०।
तव मेघो कहै तेहनै, दाम जोइ छै केहनै हो ।मे०॥६॥

सामीजी सुपसायै, घणा दाम छै वली इहाइहो ।मे०।
एक दिन कहिता तुमे आम, ए पथर छै कुण काम हो ।मे०॥७॥

क्रोध वसे पाछो वलीगो, आपण मादर मां भलीयो हो ।मे०।
सा काजल मनचितै, मारू मेघो नो थाऊं नचितो हो ।मे०॥८॥

ढाल ६ कोइलो परवत धूंधलो रे लाल

परणावु पुत्री माहरी रे लाल, खरचूं [illegible] घणा रे ।[illegible]।
न्यात जीमाडु आपणी रे लाल, तेडी मेघो निरधार रे ।[illegible]॥१॥

सांभलजो श्रोता जनां रे लाल ॥आंकणी॥

जो मेघो मारू नहीं रे लाल, तो मुझ [illegible] रे ।[illegible]

देवल करावु हु चली रे लाल, तो नाम रहै निरधार रे ।च०।।२।।सा।।
इम चितवी वीवाह नु रें लाल, करै कारिज ततकाल रे ।च०।

साजन नै तेडाव नै रे लाल, गोरीओ गावै धमाल रे ।च०।
सा मेघा भणी नुतरु रे लाल, मोकलै काजल साह रे ।च०।
वीवाह उपर आवज्यो रे लाल, अवस करी नै इहाय रे ।च०।।४।।सा०।।

सांभली मेघो चीतवै रे लाल, किमकरी जइयै त्याह रे ।च०।
काम अमारे छै घणु रे लाल, देहरासर नो इहाह रे ।चं०।।५।।सा०

तब मेघो कहै तेहनै रे लाल, तेडो जाओ परवार रे ।च०।
काम मेली नै किम आवीयै रे लाल, जाणो तुमे निरधार रे ।च०।।६।।सा

मरघादे नै तेडनै रे लाल, पुत्र कलत्र परवार रे ।च०।
मेघा ना सहु साथ ने रे लाल, तेडी आव्या तिणवार रे ।च०।।७।।सा०।

कहै काजल मेघो किहा रे लाल, इहा नाव्या सा माट रे ।च०।
मेघा विना कहो किम सरै रे लाल, न्यात तणी ए वात रे ।च०।।८।।सा०।

ढाल १० नंद सलूणा नंदजी रे लो—ए देशी

जक्ष गयोइ मेघा भणी रे लो, हवै ताहरी आवी वनी रे लो ।
काजल आवस्यै तेडवा रे लो, कूड करी तुझ वेडवा रे लो ।।१।।

तु मत जाजे तिहा कणे रे लो, झेर देई तुझ नै हणे रे लो ।
तेडे पिण जइसे नही रे लो, नमण करी ले इजे सही रे लो ।।२।

दूध मांहि देस्ये ग्वरू रे लो, नमणु पीधे जास्यै परू रे लो ।
ते माटे तुझ नै घणु रे लो, मान वचन सोहामणु रे लो ।।३।।

जक्ष गयो कही तेहवै रे लो, काजल आव्यो एहवै रे लो ।
कहै मेघा निसाभलो रे लो, आवी मेलो मन आवलो रे लो ।।४।।

तुम आव्या विना किम सरै रे लो,, न्यात मे सोभीयै किण परै रे लो ।
तुम सरीखा आवै सगा रे लो, तो अमनै थायै उमगा रे लो ।।५।।

हु आव्यो धरती भरी रे लो, तो किम जाऊ पाछो फरी रे लो ।
जो अमनि काइ लेखवो रे लो, आडो अवलो मत देखवो रे लो ।।६।।

हठ लेई बैठा तुम रे लो, खोटी थइयै छै हवै अमे रे लो ।
सा मेघो मन चींतवै रे लो, अति ताण्यो किम पूरवै रे लो ।।७।।

काजल साथ चालियो रे लो, भूधेसर माहे आवीया रे लो ।
नमणु विसारयु तिहा कणै रे लो, भविस पूरण अखी वण्यी रे लो ।।८।।

ढाल–११ काधल मत चालो, ए देशी

न्यात जीमाडी आपणी, देई नें बहुमान ।
वर कन्या परणाविया, दीधा बहुला दान ॥१॥

काजल कहे नारी भणी, मेघो अमे भेला ।
जिमण देज्यो विष भेलनै, दूध में तिण वेला ॥२॥

दूध तणी छै आखडी, तुमनै कहिनहुं गैस ।
मेघा नैं मेलवु नही, प्रीसुं जिमण जिमेस ॥३॥

तव नारी कहै प्रिउजी, मेघो मत मारो ।
कुल मे लछण लागसी, जास्यै पाच मि वारो ॥४॥

काजल तो मानै नही, नारी कही नैं हारी ।
मन भांगो मोती अछ्युं, तेहनै न लागै कारी ॥५॥

इम सीखवी निज नारि नैं, जमवा विहुँ बैठा ।
भेला एकण थाल मे, हीयो हरखी नैं हेठा ॥६॥

दूध आण्यो तिण नारीयै, प्रीस्यो थाली माहि ।
काजल कहै मुझ आखडी, पीधो मेघा माहि ॥७॥

मेघा नैं हवै तत खणैं, विष व्याप्यो अंग ।
मासो सास रमी गयो, पाम्यो गति सुरंग ॥८॥

अधविच रह्या देहरा आज थी रे, जग मा नाम रह्यो निरधार रे।
नगरी मे बात घर घर विस्तरी रे, सहु को ना दिल मिं आव्यो खार रे ।।७।।फि०।।

द्वेष राखी नें मेघो मारीयो रे, ए तो काजल कपट भंडार रे।
मन नो मैलो दीठो एहवो रे, इम बोलै छै नर नै नार रे ।।८।।फि०।।

ढाल–१३ पूरब पुण्ये पामियै–ए देशी

वेहनी अगनि दाह देइ करी, आव्या सहु निज ठाम हे। बैहनी
काजल कहै तुं मत रोए, न करु एहवुं काम हे।ब०।।१।।

लेख लख्यो ते लाभीयै, दीजै किए नै दास हे बैं०
जनम मरए हाथे नथी, खोटी माया जाल हे बैं० ।।२।।ले०।।

एह संसार छै कारमो, खोटी माया जाल हे बैं०
एक आवे ठाली भरी, जेहवी अरट नी माल हे बैं० ।।३।।ले०।।

सुख दुख सरज्या पामियै, नहिं छै कोई नै हाथ हे बैं०
म कर फिकर तुं आज थी, बहुली आपने आथ हे बैं० ।।४।।ले०।।

खाओ पीयो सुख भोगवो, न करो चिंत लगार हे बैं०
जे जोइ इं ते मुझनै कहो, न करो दिल मे विचार हे बैं० ।।५।।ले०।।

जिन नो प्रसाद कराविसु मितस राखीसु माम हे बैं०
इजत आपए कर तएो, खोसुं किम करि नाम हे बैं० ।।६।।ले०।।

सोढा नें हाथे सुंपीसु, गौडीपुर ए गाम हे बैं०
चालो आपए सहु तिहा, हु लेई आवुं नाम हे बैं० ।।७।।ले०।।

अनुक्रम आव्या सहु मली, गौडीपुर गाम मझार हे बैं०
जिन नो प्रसाद करावियो, काजल सा तिए वार हे बैं० ।।८।।ले०।।

ढाल–१४ करेलडां घड़ दे रे–ए देशी

देहरै सखर भढावीयो, थर न रहै तिए वार।
काजल मन मा चितवै, हवै कुए करवो प्रकार ।।१।।
भविक जन साभलो रे, मु की मन नो आमलोरे ।।भ०।।आकणी।।

वीजी वार चढावीयो, पडै हेठो ततकाल।
सोहए मा जक्ष आविनै, कहै मेरा नै सुविसाल ।।भ०।।१।।

तुं चढावे जाय नै थिर रहस्यै सर तेह।
काजल नें जस किम होवै मेघो मार्यो तेह ।।भ०।।३।।

मेरें सखर चढावियो, नाम राख्यो जग माहे।
मूरत थापी पासनी, संघ आवै उच्छाह ।।भ०।।४।।

सवत चवद चौमाल मा, देहरै प्रतिष्ठा कीध।
महियो मेरो मेघा तरणा, तिरण जग माहे जस लीघ ॥भ०॥४॥

देसी प्रदेसी घणा, आवै लोक अनेक।
भाव धरी भगवत ने, वादे अधिक विवेक ॥भ०॥६॥

खरचै द्रव्य घणा विहा, राउ राणा तिण वार।
मानत मानै लाखनी, टालै कष्ट अपार ॥भ०॥७॥

निरधणीआनै धन दियै, अपुत्रिया नै पुत्र।
रोग निवारै रोगीआ, टालै दालिद्र दुख ॥भ०॥८॥

ढाल–१५ घर आवोजी आंबो मोरीयो–ए देशी

आज अम घर रग व धामणा, आज तूठा श्री गौडी पासो।
आज चितामण आवी चढ्यो, आज सफल फली मन आसो ॥आ०॥१॥

आज सुरतरु फल्यो आगणे, आज प्रगटी मोहन वेलो।
आज विछडीया वाहला मिल्या, आज अम घर हुई रंग रेलो ॥आ०॥२॥

आज अम घर आवो मोरीयो, आज बूठो सोवन धार।
आज दूधे वूठा मेहला, आज गगा आवी घर बार ॥आ०॥३॥

श्रीहीर विजय सूरीश्वरू, तस शुभ विजय कवि सीस।
तेहना भाव विजै कवि दीपता, तेहना सीध नमु निशदीसो ॥आ०॥४॥

तेहना रूप विजै कविराय ना, तेहना कृष्ण नमु करजोडि।
वली रंग विजै रगे करी, हुतो प्रणपत करु कर जोडि ॥आ०॥५॥

आज गायो श्री गौडीपुर धणी, श्री सघ केरै पसाय।
चतुर चौमासू कीधू चुप सु, गामते मन्हियल मांह ॥आ०॥६॥

सवत अठारै सतलोत्तरे, भाद्रवा मास उदार।
निथ तेरस चन्द्रवास रै इम नेम विजय जै जैकार ॥आ०॥७॥

इति श्री गौड़ी पार्श्वनाथजी स्तवनम् संपूर्णम्

भारतीय संगीतशास्त्र में मार्ग और देशी का विभाजन

भारतीय सगीतशास्त्र के अध्येता के सम्मुख मार्ग और देशी—सगीत का यह द्विविध विभाजन, अध्ययन के प्रवेशद्वार पर ही उपस्थित हो जाता है। किन्तु आजकल सगीतशास्त्र का अध्ययन जिस रीति से, जिस चित्तवृत्ति से हो रहा है, तदनुसार इस विभाजन को कुछ भी महत्व नही दिया जाता और इसे अतीत का अनुपयोगी अवशेष मात्र मान कर इसकी उपेक्षा कर दी जाती है, 'लक्षण' मे जो स्थिति है, वही 'लक्ष्य' मे भी है, वहाँ भी आज इस विभाजन का कोई स्थान नही समझा जाता। किन्तु वास्तव मे यह विभाजन हमारे सगीतशास्त्र मे मौलिक महत्व रखता है। इस विभाजन के मर्म को समझे विना यह कहते रहना कि भारतीय सगीत आध्यात्मिक साधना का सशक्त अङ्ग है, कोरा अर्थवाद वन कर रह जाता है और उससे सत्य दर्शन के स्थान पर भ्रमजाल को ही पोषण मिलता है।

'मार्ग' शब्द मृग् धातु से वना है, जिसका अर्थ है अन्वेषण (मृग मार्गणे)। 'देशी' शब्द की निष्पत्ति दिश् धातु से है जिसका अर्थ है देना या वाहर फैंकना (दिश अतिसर्जने) । मार्ग मे अन्वेषण का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु वह अन्वेषण किस का ? इस प्रश्न पर हम कुछ आगे चल कर विचार करेंगे। इतना तो आपातत स्पष्ट है कि अन्वेषण 'भूमा' का ही अभिप्रेत हो सकता है, 'अल्प' का नही। देशी मे भीतर से वाहर अतिसर्जन करने का भाव है इसलिये इसमे जन रजन का प्रयोजन अन्तर्निहित है 'देश' से 'देशी' का सम्वन्ध जोडा जाय तो उस मे खण्डवोध का अर्थ अनुस्यूत मानना होगा। इन दोनो शब्दो का सगीतशास्त्र मे क्या स्थान है, यही प्रस्तुत प्रवन्ध मे आलोच्य है।

भारतीय सगीत का शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र मे मिलता है, किन्तु वहाँ सगीत का मार्ग और देशी यह द्विविध विभाजन कही भी स्पष्ट रूप से नही मिलता, यद्यपि हम कुछ आगे चल कर देखेंगे कि इस विभाजन का वीज सूक्ष्म रूप से नाट्याशास्त्र मे अवश्य प्राप्त है'। इस विभाजन का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख मतग के वृहद्देशी मे मिलता है। इस ग्रन्थ के नाम मे ही 'देशी' पद है, इसलिये ऐसा समझा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के रचना-काल (१००–६०० ई० के मध्य)तक मार्ग और देशी का विभाजन वहुत स्पष्ट रूप से स्वीकृत हो चुका होगा, और इसमे देशी के निरूपण के प्रति अधिक अभिनिवेश रहा होगा। सपूर्ण ग्रन्थ उपलव्ध न होने से और उपलव्धाश का पाठ वहुत खडित होने से उक्त अनुमान की पूर्ण पुष्टि करना तो सभव नही है, किन्तु ग्रन्थ के प्रारभ मे ही देशी और मार्ग का जो उल्लेख मिलता है, वह अवश्य ही सूचक है।

'वृहद्देशी' के वाद प्राय १५ वी शताव्दी तक यह विभाजन सगीतशास्त्र के सभी प्रमुख ग्रन्थो मे मौलिक स्थान पाता रहा। किन्तु १५ वी शताव्दी के वाद इसका महत्व घटने लगा, या तो इसका

केवल नामोल्लेख ही ग्रन्थो मे रह पाया और या उसका भी लोप हो गया। 'बृहद्देशी' के परवर्ती ग्रन्थो को मार्ग-देशी विभाजन की दृष्टि से निम्नलिखित चार श्रेणियो मे रखा जा सकता है।

१. मार्ग और देशी विभाजन का स्पष्ट उल्लेख एवं पूर्ण निर्वाह करने वाले ग्रन्थ

इस श्रेणी के अन्तर्गत ग्रन्थो मे गीत, वाद्य और नृत्य। सगीत के इन तीनो अगो का मार्ग और देशी के रूप मे द्विविध विभाजन किया गया है। गीत के प्रसग मे राग का ग्रामराग और देशीराग के रूप मे एव गीत प्रबन्ध का शुद्ध गीतक और (देशी) प्रबन्ध के रूप मे द्विधा विभाजन हुआ है। वाद्य के प्रसग मे मार्ग और देशी का विभाजन कही भी स्पष्ट रूप से नही किया गया है, इसका कारण यही हो सकता है कि भारतीय परम्परा मे वाद्य गीत का अनुवर्ती–मात्र है, इसलिये गीत के प्रसग मे रागो का जो द्विधा विभाजन हुआ है, वही तत और सुषिर वाद्यो को भी अविकल रूप से लागू हो जाता है। ताल प्रकरण मे मार्ग-ताल और देशी-ताल ऐसा विभाजन किया गया है। इसका सम्बन्ध परोक्ष रूप से घन और-अवनद्ध वाद्यो के साथ समझा जा सकता है। जहा तक वाद्य यन्त्रो का सम्बन्ध है, ऐसा कोई निर्देश कही नही मिलता कि-अमुक वाद्य मार्ग सगीत के उपयोगी है और अमुक देशी सगीत के। वास्तव मे ऐसा निर्देश आवश्यक भी नही है। केवल मार्गपटह और देशीपटह इस प्रकार पटह (अवनद्ध वाद्य विशेष) के दो सविशेषण भेद कहे गये है। (द्रष्टव्य सगीतरत्नाकर वाद्याध्याय, श्लोक ८०५)। नृत्य के प्रकरण मे मार्ग नृत्य और देशी नृत्य यह दो भेद स्वीकृत है।

प्रस्तुत श्रेणी के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थो के नाम प्रमुख है।

(१) नान्यदेव का भरतभाष्य (१२ वी शती ई०) इसका प्रारम्भिक अश ही अभी प्रकाशित हुआ है। पूरे ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उपलब्ध नही है। जो कुछ उपलब्ध है, उसमे देशी रागो का पृथक निरूपण नही है, मार्ग रागो की 'भाषाओ' के साथ-साथ ही कुछ ऐसे रागो का वर्णन मिलता है जो अन्य ग्रन्थो मे देशी कहे गये है। देशी तालो का वर्णन भी नही मिलता। केवल देशी प्रबन्धो का साङ्गोपाङ्ग निरूपण मिलता है। नृत्य प्रकरण इसमे है ही नही।

(२) शार्ङ्गदेव का 'सगीत रत्नाकर' (१३ वी शती ई०) इसमे राग, ताल, प्रबन्ध और नृत्य-सभी प्रकरणो मे मार्ग देशी का विभाजन प्राप्त है।

(३) पण्डितमण्डली का 'सगीत शिरोमणि' (१५वी शती ई०)–यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और पाण्डुलिपियां बहुत ही खण्डित है।

(४) राणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) का 'सगीतराज' (१५वी शती० ई०)–इसमे विषय-प्रतिपादन सगीतरत्नाकर की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत है, अतः मार्ग-देशी का ऊपर लिखे सभी प्रकरणो मे विभाजन अधिकतर स्पष्ट है।

२. मार्ग और देशी के विभाजन का अपूर्ण निर्वाह करने वाले ग्रन्थ

(१) श्रीकण्ठ की 'रसकौमुदी' (१६वी शती) केवल राग प्रकरण मे यह विभाजन स्पष्ट मिलता है।

(२) रघुनाथ भूप की 'सगीतसुधा' (१७वी शती) केवल राग-प्रकरण मे ग्रामरागो और देशी रागो का परम्परागत निरूपण मिलता है। ताल प्रकरण की प्रतिज्ञा मे तो मार्ग देशी का स्पष्ट उल्लेख है, पर वह अध्याय उपलब्ध नही है।

३. मार्ग और देशी का केवल नामोल्लेख करने वाले ग्रन्थ

(१) वाचनाचार्य सुधाकलश का 'सगीतोपनिषात्सारोद्धार' (१४वी शती ई०)

(२) रामामात्य का 'स्वरमेलकलानिधि' (१६वी शती ई०)

(३) दामोदर पण्डित का 'सगीतदर्पण' (१७वी शती ई०)

(४) तुलजाधिप का 'सगीतसारामृत' (१७वी शती ई०)

(५) अहोबल का 'सगीतपारिजात' (१७वी शती ई०)

(५) सोमनाथ का 'रागविबोध' (१७वी शती ई०)

४. मार्ग–देशी का नामोल्लेख तक न करने वाले ग्रन्थ

(१) पुण्डरीक विट्ठल का 'सद्रागचन्द्रोदय' (१६वी शती ई०) इनके 'रागमाला' तथा 'राग-मञ्जरी' ग्रन्थ भी इसी श्रेणी मे आते हैं, किन्तु वे सगीतशास्त्र के केवल एक देश राग के ही प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, इसलिये उनका यहा पृथक् उल्लेख नही किया गया है।

(२) शुभङ्कर का 'सगीतदामोदर' (१६वी शती)

(३) श्रीनिवास का 'रागतत्त्वविबोध' (१७वी शती)

मार्ग-देशी का लक्षण प्रमुख ग्रन्थकारो ने इस प्रकार दिया है :—

(१) नानाविधेषु देशेषु जन्तूना सुखदो भवेत् ।
तत प्रभृति लोकाना नरेन्द्राणा यदृच्छया ॥१॥
× × × ×
देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीति सञ्ज्ञित ॥२॥
ध्वनिस्तु द्विविध प्रोक्तो व्यक्ताव्यक्तविभागत ।
वर्णोपलम्भनाद् व्यक्तो देशीमुखमुपागतः ॥१२॥
अबला बालगोपालै क्षितिपालैर्निजेच्छया ।
गीयते साऽनुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥१३॥
निबद्धाश्चानिबद्धश्च मार्गोऽय द्विविधो मत ।
आप्ला (ला) पादिनिबन्धोय स च मार्ग प्रकीर्त्तित ॥१४॥
आलापादिविहीनस्तु स च देशी प्रकीर्त्तित । (बृहद्देशी पृ० १, २)

इस उद्धरण की अन्तिम पक्ति बृहद्देशी के मूलपाठ मे नही है, सोमनाथ ने अपने राग–विबोध के प्रथम अध्याय के श्लोक ७ पर टीका मे मतग के नाम से जो उद्धरण दिया है, उसमे से यह पक्ति ली गई है।

(२) गीत वाद्य तथा नृत्त त्रय सगीतमुच्यते ।
मार्गो देशीति तद्द्वेधा तत्र मार्ग स उच्यते ॥
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यै प्रयुक्तो भरतादिभि ।
देवस्य पुरत शम्भोर्नियताभ्युदयप्रद ॥

देशे देशे जनाना यद् रुच्या हृदयरञ्जकम् ।
गीन च वादनं नृत्त तद्देशीत्यभिधीयते ।। (संगीतरत्नाकर १/१/२१–२४)

(३) सामवेदात्समुद्धृत्य यद्गीतमृषिभि पुरा ।
सद्भिराचरितो मार्गस्तेन मार्गोऽभिधीयते ।।
सस्कृतात्प्राकृत तद्वत् प्राकृताद्देशिका यथा ।
तद्वत् मार्गात्स्वबुध्याग्न्यैर्वाग्देशीय समुद्धृता ।। (भरतभाष्य ११/२)

इन तीनो उद्धरणो का सम्मिलित साराश मार्ग और देशी–विभाजन के निम्नलिखित दो आधार प्रस्तुत करता है।

१—प्रयोजनगत—जिसके अनुसार देशी का प्रयोजन जनरजन है और मार्ग का अभ्युदय ।❀

२—स्वपरूपगत—इसके अनुसार 'मार्ग' शुद्ध और नियमबद्ध है और देशी अपेक्षाकृत अशुद्ध और नियमरहित है।

इस प्रसंग मे प्रयोजनगत और स्वरूपगत भेद की कुछ सामान्य चर्चा अस्थानीय न होगी। सभी पदार्थों के दो पहलू होते हैं। एक वस्तुगत धर्म जो प्रयोक्ता अथवा ग्राहक की निष्ठा से निरपेक्ष है, दूसरे प्रयोजनगत धर्म जो ग्राहक अथवा प्रयोक्ता की निष्ठा के सापेक्ष है, अर्थात् उसी के अनुस्तर प्रकाशित होते हैं। किसी पदार्थ मे प्रथम पहलू प्रबल होता है तो किसी मे दूसरा। उदाहरण के लिये, विष का मारक धर्म वस्तुगत है। विष का सेवनकारी उसे मारक समझे अथवा सजीवक, विष का मारक धर्म दोनों अवस्थाओ में समान रूप से कार्य करेगा। (मीरा जैसे भक्तजनो को विष से भी सजीवनी प्राप्त होने के अलौकिक उदाहरण इस सामान्य नियम की परिधि के बाहर हैं)। दूसरी ओर औषधि का वस्तुगत धर्म जो भी हो, उसका प्रकाश सेवनकर्त्ता की निष्ठा पर काफी मात्रा मे निर्भर रहता है। सामान्य भोज्य पदार्थों का वस्तुगत धर्म भी भोजन कराने वाले और करने वाले की भावना के अनुसार बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप से प्रकट होता है। होटल मे प्राप्त परम पौष्टिक भोजन भी पुष्टि और तुष्टि के विधान मे माता के दिये हुए रूखे-सूखे भोजन की समता नही कर सकता। इस प्रकार सभी स्थूल लौकिक पदार्थों मे वस्तुगत धर्म प्रबल होने पर भी उसका प्रकाशन सर्वत्र एकसा नही होता।

जो कुछ स्थूल पदार्थों के विषय मे कहा गया वह सूक्ष्म विषयो मे और भी अधिक लागू होता है। ललित कलाओ को ही ले लें, उनके द्वारा सौन्दर्यबोध, भावबोध अथवा रसबोध ग्राहक के सस्कार, शिक्षा, भावनात्मक स्तर इत्यादि अनेक आश्रयगत तत्त्वो पर निर्भर रहता है जिन्हे विषयगत धर्म से निरपेक्ष माना जा सकता है। काव्य, सगीत, चित्र अथवा मूर्ति—इन कलाओ की एक ही कृति भिन्न भिन्न स्तर की अनुभूति जगाती है। उन कलाकृतियो मे विषयगत स्तरभेद न हो ऐसी बात नही है, किन्तु ग्राहकगत स्तरभेद ही यहां प्रस्तुत है। जिस प्रकार कलाजगत् मे ग्राहक का स्तरभेद वस्तुगत धर्म के प्रकाशन मे

❀ 'अभ्युदय' से यहाँ आध्यात्मिक उन्नति का ही ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा देशी से मार्ग का कुछ वैशिष्ट्य स्थापित न हो सकेगा। जहा 'नि श्रेयस्' और 'अभ्युदय' को परस्पर भिन्न कहा जाता है वहां 'अभ्युदय' लौकिक उन्नति का वाचक माना जाता है। किन्तु यहा वह अर्थ लेना उचित नही जान पड़ता।

साधक अथवा बाधक होता है, उसी प्रकार प्रयोक्ता यानी स्रष्टा का मन पूत प्रयोजन भी कलाकृति के वस्तुगत स्तरभेद का नियामक होता है। अर्थ, यश, कामना-पूर्त्ति आदि लौकिक प्रयोजनो से की गई कला-साधना अथवा कलासृष्टि प्रेयोमार्ग मे ही प्रगति करा सकेगी, यद्यपि कला के वस्तुगत धर्म मे श्रेय प्रदत्व सर्वमान्य है। इस वस्तुगत धर्म का प्रकाशन तभी हो सकता है जब प्रयोक्ता की भी उस प्रयोजन मे निष्ठा हो अर्थात् प्रेय से वैराग्य और नि श्रेयस् के प्रति अनुराग हो। इस निष्ठा के अभाव मे अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि करने का वस्तुगत धर्म कला मे प्रकाशित नही हो सकता।

ऊपर की चर्चा के अनुसार मार्ग और देशी के लक्षण पर विचार करे तो पहले प्रयोजनगत भेद उपस्थित होता है और बाद मे स्वरूपगत। जन-मन-रजन का प्रयोजन देशी मे और नि श्रेयस् का प्रयोजन मार्ग मे है, साथ ही दोनो के वस्तुगत धर्म अथवा स्वरूप की विभिन्नता कही गयी है, जिसके अनुसार मार्ग शुद्ध और नियमित है एव देशी अशुद्ध अथवा मिश्र और अनियमित। इस प्रसग मे भरत भाष्य का ऊपर दिया हुआ उद्धरण विचारणीय है। उसके अनुसार मार्ग के शुद्ध स्वरूप से देशी का आविर्भाव हुआ है। आज-कल विज्ञान के विकासवाद के सिद्धान्त के पभाव से प्रत्येक क्षेत्र मे निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर अभियान ही स्वाभाविक क्रम माना जाने लगा है। तदनुसार यदि मार्ग शुद्ध एव नियम सहित है तो स्वयं उसका विकास अशुद्ध और अनियमित देशी के आधार पर होना चाहिए। किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार शुद्ध की विकृति से अशुद्ध या मिश्र का आविर्भाव माना जाता है। तदनुसार देशी को मार्ग का अशुद्ध रूप मानने मे कुछ भी आपत्ति नही हो सकती। चेतना के उच्चतम स्तर पर जो आविर्भाव होता है, उसी मे नाना प्रकार की उपाधियो के मिश्रण से अशुद्ध रूप प्रकट होते है, यह अवरोह-मार्गीय विचारधारा है। दूसरी ओर आरोह-मार्गीय विचारधारा के अनुसार अशुद्ध स्तर पर से अशुद्धि का निरास करते हुए क्रमश शुद्ध स्तर तक विकास होता है। स्थूल वुद्धि से भले ही आरोह-मार्गीय विचार ही सगत जान पडे, किन्तु वास्तव मे सभी विकृतियो, अशुद्धियो के मूल मे परम विशुद्ध अविकृत तत्त्व माने विना गति नही है। तद-नुसार सस्कृत से प्राकृत का और मार्ग से देशी का आविर्भाव मानना पूर्णतया सगत है।

ऊपर हमने जिन तीन उद्धरणो पर विचार किये उनके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्धरण भी यहाँ प्रसग प्राप्त हैं—

१—गान्धर्व और गान के प्रकरण मे—

अत्यर्थमिष्ट देवाना तथा प्रीतिकर पुन ।
गन्धर्वाणाञ्च यस्माद्धि तस्माद् गान्धर्वमुच्यते ॥

अस्य योनिर्भवेद् गान वीणावशस्तथैव च। (नाट्य शास्त्र २८ । ९,१०)

सामभ्यो गीतमिति कथित सामानि चात्र कारणकारणानि। गान्धर्व हि सामभ्यस्तस्माद् भव गान न तुल्ये स्वराद्यात्मकत्वे गान गान्धर्वेऽन्तर्भूतमिति का भापा। विपर्य्ययोऽपि कस्मान्न भवति, तादात्म्यमेव वा कथ न स्यादित्याशका शमयितुमाह अत्यर्थमिष्ट देवानामिति। अनेनादित्व सूचितम्। देवाहि कथमिष्ट विजह्यु। तथेति तेन देवतापरितोषद्वारेण प्रीतिं ददातीत्यदृष्टफलत्वं दर्शितम्। .... तथा तेन प्रकारेण प्रतीतेरपवर्गोचितानन्द स्वभावविशेषणावर्जित मित्यपवर्गफलत्व दर्शितम्। तथाऽतिक्रांत घनादिनिरपेक्ष चेद देवाना यजन यथा पूराणयोगादिभ्योऽधिका प्रीतिर्गान्धर्वाच्छङ्करस्येति। गन्धर्वाणामिति

प्रयोक्त्रपलक्षरण तेन ह्यत्यन्त सवितप्रवेशलाभेन तु गातुः फलयोगो गन्धत्वात्।···· इति प्रयोक्तृगतमत्र मुख्य फलम् । न तु गानमिव मुख्यतया श्रोतृनिष्ठम् । गानं हि केवलं प्रीतिकार्ये वर्नते

(अभिनव भारती)

पूर्वरङ्गादावहष्ठसिद्धौ सयतगीतकवर्द्धमानादि प्रयुज्यते ।
ध्रुवागाने तु दृष्टफले गायनस्येव सोऽस्तु व्यापार ।

(अभिनव भारती नाट्य शास्त्र चतुर्थ खड पृ १५२)

नाट्य शास्त्र मे मार्ग-देशी का उल्लेख नही है, किन्तु सगीत के लिये 'गान्धर्व' सज्ञा है जो बाद मे चल कर गीत-प्रबन्ध के प्रकरण मे मार्ग की पर्यायवाची बन गई थी (दृष्टव्य संगीत-रत्नाकर का निम्न उद्धरण) । 'गान्धर्व' को देवताओ का अत्यन्त इष्ट अर्थात् प्रिय बताया गया है । अभिनवगुप्त ने उसे दृष्टादृष्ट-फलप्रद कहा है और उस के फल को मुख्यतया प्रयोक्तृगत बताया है । दूसरी ओर 'गान' का फल मुख्यतया श्रोतृ-निष्ठ कहा है । यही पर मार्ग और देशी का मूल तत्व मिल जाता है । मार्ग आत्मनिष्ठ होने से उसमे मुख्य-फल प्रयोक्ता को ही मिलता है और देशी मे श्रोता के प्रति लक्ष्य रहने के कारण उसका फल मुख्यतया श्रोतृनिष्ठ अर्थात् श्रोताओ का रजनमात्र होता है । पुन. ३१ वें अध्याय मे जहाँ भरत ने शुद्ध गीतको के प्रकार कहे हैं वहाँ भी अभिनवगुप्त ने वर्द्धमानादि शुद्ध गीतको को अदृष्ट-फल-प्रद बताया है और ध्रुवागान को दृष्ट-फल-प्रद । भरत के परवर्त्ती काल मे शुद्ध गीतक मार्ग का अग माने गये और ध्रुवाओ के आधार पर देशी प्रबन्धो का विकास हुआ । इस प्रकरण मे भी मार्ग और देशी के बीज नाट्यशास्त्र मे मिल ही जाते हैं ।

२—गीत-प्रबन्ध प्रकरण मे—

रञ्जक स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते ।
गान्धर्व गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ॥१॥
अनादिसम्प्रदाय यद्गान्धर्वं सप्रयुज्यते ।
नियत श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधा. ॥२॥
यत्तु वाग्गेयकारेण रचित लक्षणान्वितम् ।
देशीरागादिषु प्रोक्त तद्गान जनरञ्जनम् ॥३॥

(सगीतरत्नाकर ४ /१-३)

३—राग-प्रकरण मे—

देशीत्व नाम कामचारप्रवर्तितत्वम् ।
तदत्र मार्गरागेषु नियम· यः पुरोदित ।
स देशिरागभाषादावन्यथापि क्वचिद् भवेत् ॥

(वही, २/२/२ पर कल्लिनाथ की टीका)

४—नृत्य-प्रकरण मे—

नाट्यं मार्गञ्च देशीयमुत्तम मध्यम तथा
अधम क्रमतो ज्ञेय नृत्यत्रितयमुत्तमैः ॥२८६॥

नृते क्यप्प्रत्यये नृत्यशब्द कर्म विवक्षया ।
भावोपसर्जनो यत्र रसो मुख्य प्रकाशते ॥४४५॥
तन्नाट्यपूर्वक नृत्य मार्गनृत्यं तदुच्यते ।
रसोपसर्जनीभूतो यत्र भाव प्रकाशते ॥४४६॥
मार्गो भावाभिधस्तस्मान्मृग्यतेऽत्र रसो यतः ।
नाट्यमार्गोपाधिभिन्न द्विधा नृत्यमुदीरितम् ॥४४७॥
नृते क्तप्रत्यये रूप देशीनृत्तमिहोदितम् ॥४४८॥
नन्वत्र प्रत्ययैकार्थे मार्ग देशीति का भिदा ।
उच्यतेऽत्र तदैक्येऽपि यो यत्र विनियुज्यते ।
विवक्षावशतो ब्रूते स तमर्थमिति स्थितम् ॥४४९॥
पकजत्वे समानेऽपि लोके पद्मे तदीरितम् ।
विवक्षा चात्र शोभाया हस्ते हस्तैकदेशवत् ॥४५०॥
नृत्ये नृत्यैकदेशेऽपि नृत्यशब्दाद् द्वयोर्ग्रह ॥४५१॥

(सगीतराज,नृत्यरत्नकोश, उल्लास १, परीक्षण १)

ऊपर द्वितीय उद्धरण मे 'गान्धर्व' को मार्ग का पर्यायवाची मान कर उसे अपौरुषेय कहा गया है, और 'गान' को देशी का पर्यायवाची मान कर उसका पौरुषेयत्व बताया गया है। गीत-प्रबन्धक के प्रकरण मे मार्ग-देशी की यह विभाजक रेखा उचित भी है। तीसरा उद्धरण राग के प्रसग का है। इस मे मार्ग से सबद्ध ग्राम-रागो मे नियमो की अपरिवर्तनीयता कही गई है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रामरागों का नाट्य के प्रसग मे ही प्रयोग विहित है, किन्तु देशी रागो का प्रयोग नाट्य से स्वतन्त्र कहा गया है। चौथा उद्धरण नृत्य-सवन्धी है, और उस पर विशेष विचार अपेक्षित है।

नृत्य का मार्ग के साथ एव नृत्त का देशी के साथ सम्बन्ध जोडा गया है। नाट्य को इन दोनो के ऊपर सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस स्तर निर्धारण का आधार है—नाट्य मे रस की मुख्यता एव नृत्य मे भाव की मुख्यता के साथ-साथ रस का मार्गण अथवा अन्वेषण। नृत्त को देशी क्यो कहा है, इस की कोई स्पष्टता नही दी गई है, किन्तु उस मे ताल लयाश्रित गात्रविक्षेप मात्र और अभिनय का अभाव बताया गया है। इसीलिये उसमे रस और भाव दोनो की अपेक्षा छोड कर केवल ताल, लय का ही प्राधान्य रखा जाता है। यथा—

नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम् ।
चतुर्धाभिनयोपेत लक्षणावृत्तितो बुधैः ॥१७॥
आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत् ।
तन्नृत्य मार्गशब्देन प्रसिद्ध नृत्यवेदिनाम् ॥२६॥
गात्रविक्षेपमात्र तु सर्वाभिनयवर्जितम् ।
आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्त नृत्तविदो विदु ॥२७॥

(सगीतरत्नाकरनृत्याध्याय)

अन्यद्भावाश्रय नृत्यं, नृत्त ताललयाश्रयम् ।
आद्य पदार्थाभिनयो मार्गो, देशी तथाऽपरम् ।। (दशरूपक १ । ९)

अभिनयरहित एव केवल तालालयाश्रित होने के कारण नृत्त को तृतीय श्रेणी मे स्थान दिया गया है, और इस निम्न कक्षा के कारण ही उसे देशी कहा है । आदिम जातियो के नाचने मे आज भी केवल ताल लयाश्रित गात्र-विक्षेप का दर्शन होता है । नाट्य मे रस मुख्य होने के कारण आगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य्य चारो प्रकार के अभिनय का उस मे स्थान होता है । नृत्य मे केवल आगिक अभिनय से ही भावाभिव्यक्ति की जाती है और रस उतने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नही हो पाता जितना कि नाट्य मे । इसीलिये उस मे रस का मार्गण कहा गया है । नृत्त मे तो अभिनय का कोई स्थान ही नही है, इसलिये वह देशी है ।

नृत्य के रस प्रसग मे मार्ग और देशी का अर्थ आपातत सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न दिखाई देता है, क्योकि न तो यहाँ नियमो की कठोरता अथवा शिथिलता से अभिप्राय है, न अपौरुषेय और पौरुषेय का भेद है, न दृष्टा-दृष्ट-फल का विचार है और न ही नि श्रेयस् अथवा जनरजन के प्रयोजन के प्रति लक्ष्य हैं । किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह समझा जा सकता है कि रस की अलौकिकता के कारण उसका मार्गण नृत्य के मार्गत्व का प्रयोजक है और उस मार्गण के अभाव मे केवल लौकिक मनोरजन नृत्त के देशीत्व का प्रयोजक है ।

नाट्य को मार्ग से भी ऊपर रखा गया है । इसका आधार अवश्य विचारणीय है । अभिनव गुप्त ने जैसे साम से गान्धर्व और गान्धर्व से गान की उत्पत्ति बताई हैं तद्वत् नाट्य को साम के, नृत्य को गान्धर्व के और नृत्त को गान के समानान्तर समझा जा सकता है । सामगायन मे सामरस्य की पूर्ण उपलब्धि रहने के कारण उसमे मार्गण व्यापार का कोई स्थान नही हो सकता । उसमे एक स्तर नीचे उतर कर गान्धर्व अथवा मार्ग का अस्तित्व है, एवं उससे भी निम्न स्तर देशी का है ।

मार्ग में अन्वेषण किस तत्त्व का है ? इस प्रसग मे याज्ञवल्क्य-स्मृति के निम्नोद्धृत अश और उन की टीका मननीय है ।

अनन्यविषय कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभु ।।

यस्य पुनरस्मिन् सवितर्के समाधौ निरालम्बनतया वहिर्मुखावनार्तिरस्कारेण चित्तवृत्तिनाभिरमते तस्य शब्दब्रह्मोपासनेन ब्रह्मज्ञानाभ्यासात् परब्रह्माधिगमोपायमाह—

यथावधानेन पठन् साम गायत्यविस्वरम् ।
सावधानस्तथाभ्यासात् पर ब्रह्माधिगच्छति ।।

ब्रह्मज्ञानाभ्यासोपायविशेषमाह—

अपरान्तकमुल्लोप्य मद्रकं प्रकरी तथा ।
औवेणुकं तु रोविन्दमुत्तर गीतकानि तु ।।
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गायन्नेतत्तदभ्यास कारणान्मोक्ष सज्ञितम् ।।

अपरान्तिकादयो भरतशास्त्रोक्तगीत प्रकार विशेपा ब्रह्मज्ञानाभ्यासहेतोर्ज्ञेया. । एतेपु गीयमानेपु नादस्य यत उदयो यत्र च लयस्तदवगन्तव्यम् । तदेव ब्रह्म, ततश्च तज्ज्ञानाभ्यासाय ते गेया इति युज्यते वक्तुम् । अपि च,

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारद ।
तालज्ञश्चप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।।

तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽनायासेन मोक्षमार्गं मोक्षोपायभूतमनस ऐकाग्र्यब्रह्माज्ञाहेतु निगच्छति । यस्तु वीणादिनादाना यत उदयो यत्र च लयस्तत्रान्तरेभ्यो विविक्ततया न सम्यग्वेत्ति त प्रत्याह—

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परम पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ।।

(याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय ३, प्रकरण ४, श्लो. ११०-१५ एव अपरादित्य विरचिता अपरार्कापरा टीका)

ऊपर उद्धृत वचनो का साराश इस प्रकार है —(१) जो व्यक्ति वाह्य आलम्बन के अभाव मे चित्त को समाधि मे स्थिर नही कर पाते, उनके लिए सामगान का विधान है, क्योकि उसमे परम अवधानयुक्त गायन से परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है । (२) सामगान के ही समकक्ष एक अन्य अभ्यास है और वह है अपरान्तक, उल्लोप्यक आदि गीतो का गायन । स्मरणीय है कि यही भरतोक्त शुद्ध गीतक है+ । (३) साम अथवा गीतको के गायन मे अन्वेषण का विषय यही है कि नाद का उदय कहा से होता है और लय कहाँ होता है यह उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है । नाद का उदय और लय दोनो ही का आधार ब्रह्म है, इसलिये वही मार्ग के अन्वेषण का विषय है । इस पर विशेष विचार अपेक्षित हैं । (४) यदि नाद के उदय और लय के आधार को तत्त्वत जाने विना साम अथवा (देवस्तुतिपरक) गीतक का गान किया जाता है तो प्रयोक्ता परम पद को प्राप्त नही होता, अपितु रुद्र का अनुचर वन कर उसी के साथ हर्ष को प्राप्त होता है । याज्ञवल्क्य की इसी उक्ति को अभिनवगुप्त ने नाट्य शास्त्र २८।११ की टीका मे यह कह कर उद्धृत किया है कि योग रूप अवधान गीतक के गायन मे आवश्यक अथवा उपयोगी नही होता ।× याज्ञवल्क्य और अभिनवगुप्त का ऐसा अभिप्राय जान पडता है कि परमपद-प्राप्ति के लिये गायन के साथ योग-रूप अवधान अनिवार्य है, किन्तु देवता-परितोष उसके बिना भी हो सकता हैं । देवतापरितोष से यहाँ सभवत. साम अथवा गीतक के गायन के वस्तुगत धर्म के अनुसार होने वाला अदृष्ट फल ही अभिप्रेत है । कहना न होगा कि इस अदृष्ट फल की सिद्धि के लिये भी प्रयोक्ता मे तदनुकूल वासना रहना अनिवार्य है ।

नाद का उदय और लय कहाँ है इस सम्बन्ध मे आधुनिक ध्वनिविज्ञान की जो स्थापनायें हैं उनमे तीन न्यूनतायें दिखाई देती हैं । १—ध्वनि के ग्राहक के विषय मे । यह माना जाता है कि मनुष्य के कान की

+ यहाँ साम से गीतको को पृथक् कहा गया है, किन्तु बाद मे चल कर साम भी गीतकों का ही एक भेदमात्र रह गया । (दृष्टव्य सगीतरत्नाकर, सगीतराज आदि मे निरूपित १४ गीतक भेद ।)

× अवधान योगरूप तच्चात्र नोपयोगि । परिवर्तकेऽवनद्धे—पूर्वरङ्गे, तत्र हि देवतापरितोषादेव सिद्धि । तदेतदुक्तम्—"गीत ज्ञो यदि········" इत्यादि ।

स्रवणशक्ति मर्यादित है, आन्दोलनो की कुछ न्यूनतम और अधिकतम सीमा के भीतर ही मनुष्य का श्रोत्र काम करता है। इस मर्यादा के बाहर असीम क्षेत्र है किन्तु वह मनुष्य के लिये अगम माना जाता है। २—वाहक माध्यम के सम्बन्ध मे। ध्वनिविज्ञान द्वारा प्रतिपाद्य ध्वनि पृथ्वी (Solid) जल (Liquid) अथवा वायु (gas) के माध्यम के बिना चल नही सकती। वाहनहीन आन्दोलन श्रव्य नही होता और वाहन हीनता शून्य (Vacuum) मे ही हो सकती है। भारतीय दर्शन के अनुसार सपूर्ण शून्यता असभव है क्योकि तथाकथित शून्यता मे भी शक्ति का बहुत प्रबल और सूक्ष्म रूप निहित रहता है। हमारे दर्शन मे आकाश अथवा व्योम 'शून्य' मे ही रहता है। वह सूक्ष्मतम भूत है जो सारे विश्व मे व्याप्त है तथा जो Solid, Liquid तथा gas से भी सूक्ष्म है। ३—ध्वनि का लय कहाँ होता है इस का कोई उत्तर ध्वनि विज्ञान के पास नही है। विज्ञान अधिक से अधिक यही कह सकता है कि ध्वनि की शक्ति (energy) किसी अन्य शक्ति मे परिवर्तित हो गई, किन्तु वह परिवर्तन कैसे कब और किस रूप मे होता है इन प्रश्नो का कोई उत्तर विज्ञान के पास नही है। भारतीय दर्शन के अनुसार ध्वनि का उदय और लय आकाश या व्योम मे ही है, और उसी मे सब ध्वनियाँ अमर रूप मे सगृहीत रहती है। इसी सूक्ष्म व्योम के अनुसन्धान से परब्रह्म की प्राप्ति की सुगमता ही मार्ग सगीत का आधार है। इस अनुसन्धान के लिये नाद का माध्यम सर्वाधिक सुलभ माना गया है। इसी लिये सगीत को नादयोग कहा गया है। किन्तु इस अनुसन्धान के अभाव मे सगीत साधना एक लौकिक कर्म मात्र है। इस नादअनुसन्धान के प्रसग मे निम्नलिखित उद्धरण विशेष उपयोगी होगा।

"हमारे समस्त नादोच्चारण का कोई एक आधार अवश्य है, और वह है ब्रह्माकाश मे ज्ञानमय पो रूप मूल स्पन्द। यह मूल स्पन्द अपने को नाद अथवा ध्वनि के रूप मे व्यक्त कर रहा है। अवश्य ही यह ध्वनि साधारण श्रव्य ध्वनि नही है। यह ध्वनि रूपा सुर-धुनी ध्रुवा व सनातनी है। 'तद् विष्णोः परमं पदम्'—यह है इस ध्वनि का पराभाव। ब्रह्मलोक मे जो कुण्ठाहीन दिव्य अनुभूति है, वह है पश्यन्ती भावा हर के जटा जाल मे अवगुंठित होने पर मध्यमा और अन्त मे भगीरथ के शख-निनाद से गोमुख से निःसृता होने पर वैखरी होती है। हमारा सब वाग्व्यवहार रस ध्रुव-धारा के वक्ष स्थल पर वीचिवत् उठ कर पुन. उसी मे लीन हो जाता है, इसलिये साधक को मूल-स्पन्द रूपा उस ध्वनि-सुरधुनी ध्रुवा का सन्धान करना होता है।"

(स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती कृत जपसूत्रम्, भाग २, परिशिष्ट, श्लोक ४—१०)

देशी का सम्बन्ध वैखरी से ही है। किन्तु मार्ग मे मध्यमा पश्यन्ती और परा का क्रमश अनुसन्धान आवश्यक हैं। इस प्रसंग मे एक भ्रान्त धारणा का निराकरण आवश्यक है। कुछ लोगो का यह विचार है कि मार्ग-सगीत का माध्यम अनाहत नाद है। किन्तु वास्तव मे मार्ग उसी संगीत की सज्ञा है जो इन्द्रियजन्य व्यापार के स्तर पर आहत नाद को आलम्बन बना कर निःश्रेयस् प्राप्ति मे समर्थ होता है। यदि ऐसा न होता तो तो सगीत शास्त्र के अन्तर्गत उसका वर्णन ही न हो पाता। फिर तो वह अनाहत नाद की भाति केवल योग-शास्त्र का ही विषय रह जाता।

उपसहार मे कुछ विषयो का संकेत-मात्र प्रस्तुत किया जाता है क्योकि स्थानाभाव से उनका प्रतिपादन नही किया जा सका है।

Substance—Country made Paper

Size—5 × 9 inches

Folio—12 (Marked by M M Harprasad Shastry, vice President of Asiatic Society, Calcutta

Lines—9 to 12 in a page.

Character—Modern Nagar.

Appearance—Solid, written lengthwise & on the one side The former owner of the manuscript thought the 7th leaf to be the first on which he wrote—

"गोकुलप्रशादस्येद पुस्तक पृथ्वीराज विजय खण्डित् १२ पत्राणि।"

इस ग्रन्थ मे ६२४ वे पद्य से ७७६ पद्य तक उपलब्ध हैं। इनमे आमेर के कछवाह शासको का इतिहास है। इतिहास के आधार पर हम इसकी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। ग्रन्थ के नाम का औचित्य विचारणीय है। लेखक का नाम कही भी नही आया है। इसे ऐतिहासिक महाकाव्य न कहकर केवल काव्य की ही सज्ञा देंगे। जो १२ पत्र उपलब्ध हैं, वे अपने मे पूर्ण हैं। कही कही पर अशुद्ध अवश्य हैं और दुर्वाच्य भी। उपलब्ध १५६ पद्यो मे २० शासको का वर्णन है।

इस ग्रन्थ का प्रथम श्लोक (उपलब्ध ६२४ वा इस प्रकार है—

"स श्रीमानुपग्रह्य हर्पदकृति स्तत्पारिवर्हं ततो
विस्मेरीकृत सर्वलोकनिवहो रम्यैरनेकैर्गुणैः ॥
औदार्यादिभिराविधाय विधिवद् वैवाहिका स्नान् विधीन
स्तेनैनु व्रजता सम कतिपयैं प्रत्याययौ पद्धतिम्" ॥६२४॥०

यह महाराज सोढदेव का वर्णन है। महाराज सोढदेव ने यादव कुल की राजकुमारी से विवाह किया था, जिसके गर्भ से 'दूलहराय' उत्पन्न हुए थे। (जयपुर का इतिहास—प० हनुमान शर्मा चौंमू–पृष्ठ, १३–१४) जैसाकि हम विवेचन कर चुके हैं, इनके पिता का नाम महाराज ईशदेव था। इनका देहावसान सवत् १०२३ मे हुआ था। इस पद्य मे उल्लेख न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह पद्य महाराज सोढदेव से सवद्ध है, क्योकि इसके बाद इनके पुत्र दूलहराय की उत्पत्ति वर्णित है।

इन्ही सोढदेव के विषय मे कुछ पद्य हैं, जिनमे इनके विवाह तथा शृङ्गार का विवेचन है। इनके विवाह से इनकी माता बहुत प्रसन्न हुई थी।

पद्य हैं—

"धीमान् नीतिविशारदो विदमित प्रोन्नद्ध दस्युव्रजो
भूपालेन्द्र विभाविताखिलविधिर्वाग्मी विदिम्यत्खल ॥
कन्दर्पाति मनोहरो नववधूहृद्वारि जहृत्करी
राजा रञ्जित सर्वलोक निवहो मातुर्वितेने मुदम्" ॥४२६॥

इसके पश्चात् दो पद्य शृ गारिक है जिसमे नववधू का सज्जित होकर अपने वीर पति के पास आना तथा पति का उसके साथ विलास वर्णित है। रानी गर्भवती होती है तथा पु सवनादि क्रियायें यथाविधि सम्पन्न की जाती हैं। श्री दूलहराय का जन्म होता है—

"दानप्रीत महीराभिहितगा रागाभि शर्माश्रया
देवी दर्शन लस्यमान महिमा देव्या विजज्ञे सुत।
भूपालस्य शुभास्यया ग्रहवरैरावेद्य मानोदये
लग्ने लग्नपतौ वलीयसि पिता प्राचेथतं दूल्लहम्" ॥६३१॥

क्रमश बाल्यकाल व किशोरावस्था को पार कर दूलहराय युवक बने। तरुणावस्था मे उनकी आभा दर्शनीय थी। विवाह सस्कार सम्पन्न हुआ। जैसाकि इतिहासो मे लिखा है—श्री दूलहराय ने एक ही विवाह किया था। वह भी मोरा के चौहान रालणसिंह की पुत्री सुजान कु वरी के साथ। चौहान रालणसिंह का दौसा (द्यौसा) पर आधा अधिकार था। इन्होंने इसे दूलहराय को दहेज मे दे दिया था और कुछ सैनिक सहायता भी दी थी, जिसकी सहायता से दूलहराय ने मीणो व बजगूजरो को परास्त कर सम्पूर्ण दौसा अपने अधिकार मे कर लिया था। ढू ढाड प्रदेश मे इन कछवाहो का यह प्रथम स्थान था। इसे ही उन्होने राजधानी बनाया था।

"वीर श्रीरुचिराश्रितो गुणगणैरुज्जृम्भमाणो बलै
निघ्नन् वैरिजनान् गजानिव बली पचाननो हेतिमान।
राजेन्द्र प्रति नन्दितेन गुरूणा राजन्यकन्या शुभा
चन्द्रास्या प्रतिलम्भितोधिशु शुभे चन्द्रो यथा, रोहिणीम्" ॥६३५
"जित्वा सत्वर जित्वरो रिपुजनान् द्यौसा चलस्थायिनो
रम्य स्थानमवेक्ष्य स क्षितिपजावस्तु समीहा दधौ॥
आहूय स्वजनान् स्वक च जनकं तद् गोपनाय प्रभु
तथैवोर्ध्य निजोजिसाधु विजयी प्रत्यर्थिना निर्ययौ" ॥६३६

इसको जीतने पर श्री दूलहराय ने 'माची' पर अधिकार किया। "हितैषी" (जयपुर अ क) मे 'जयपुर के राजवश' का वर्णन करते हुए—प० श्री हनुमान शर्मा (चोमू) ने लिखा है—

"अपने पिता की आज्ञानुसार श्री दूल्हरायजी ने सर्वप्रथम 'माची' के मीणो पर चढाई की, जिसमे वे असफल रहे। उस फनह का मीणो ने एक जलसा किया। सब मीणे मदिरा पीकर जब मस्त हो रहे थे तब इन्होने पुन धावा किया और उन्हे मार भगाया, तथा उनके राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया। इस विजय के उपलक्ष में दूलहराय ने माची से तीन कोस पर एक देवी का मन्दिर बनवाया जो जमवायमाता के नाम से आद्यावधि वर्तमान है।" (पृ० ५१)

कुछ पद्यो मे युद्ध का वर्णन किया गया है—

"सैन्य शत्रुविभीषण गजरथ व्यूहैर्हया रोहिभि-
वीरैर्भूरिपदाति वर्ग शतकैरग्रेसरैर्दुर्जयम्॥

वर्ते सम्प्रति सन्निधौ तव जवा देताजयश्रीरिव
श्रीमानेधिसमेधिताखिलबालो 'काले' ति सा त जगौ ।।"
पीयूषायितमेत देव वचने तस्या निपीयोत्थितं
प्रोत्थाय प्रणनाम वर्णित गुण विश्वाम्बिकाया वुधै; ।।
श्रीमत्या चरणाम्बुजद्वयमिद भाग्य ममाहो महन्
मन्दस्येति विभावयन् दृढमति श्रीसोढदेवात्मज ।।६६३।।"

× × ×

"प्रीतास्मि त्वयि निर्भयेन मनसा दुहृद्बलें भीषण
पाथोधि तरसा विलोलितवति श्रीकोलविष्णावित्र ।।
क्षात्रविक्षतविग्रहे प्यजहति त्रेय स्वधर्म पर
रक्तस्राव सुतोबितस्वकगुणा शृण्वेहि कोदन्तकम् ।।६६६।।"

उसी समय भगवान् नारद दिखाई दिये। राजा ने उन्हें देखकर प्रणाम किया। श्रीनारद मुनि ने भी भगवती के अर्चना के लिए ही उपदेश दिया—

"दैवादेवतदैवदेवपथगो दृग्गोचरो नारदो
वीणापाणिरुदाननीकृतमृगो वेगोन्वममहीसिग ।
दृष्टो हृष्टतनूरूहेण सहसा वेधो भुवाभ्यर्थितो
लब्धार्थी कृतजात दर्शन जनो नत्वा मिनिन्ये भुवम् ।।६७०।।

मुनि नारद ने उपदेश दिया—

"शक्ति सर्वविधायित्ती भजविभो! भक्तप्रिया शक्तये
भ्रातमतिरमातुरन्तिंशमिनी विभ्राजिनी जल्मिनाम् ।
सा शीघ्र मनसा घृताघ्रिकमला विध्यच्युतेशार्चिता
चिन्ता सन्ततिमोचिनी भगवती कर्त्त हतेमीक्षितम् ।।७२।।"

राजा दूलहराय ने पुन भगवती की आराधना प्रारम्भ की। सन्तुष्ट होकर भगवती ने उसे दर्शन ही नही दिये, अनेक वरदान भी दिये। राजा ने उसका मन्दिर वनवाकर वहाँ स्थापित कर दिया। यह मन्दिर "जमुवायमाता" के नाम से प्रसिद्ध है, जो माची से ३ कोस दूर है। रामगढ के वन्ध से कुछ दूर, अनुमानत २ मील नीचे 'जमुवा रामगढ' नामक ग्राम है, वही देवी का प्राचीन मन्दिर है।

"श्रीभिर्मिश्रित मेनमाशु तवचा माता कृतानुग्रहा
गुह्यानुग्रहणोचिता धियमथ प्रागल्भ्य गर्भा मुदा ।
दिव्या च प्रतिभा दधानमधिका विक्रातता कुर्वती
भूयोवाचमिमामुवाच रूचिरा त सर्व लोकेश्वरी ।।६७६।।"

× × ×

'साहित्य-रत्नाकर' के संपादक स्व० श्री सूर्यनारायण जी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने 'मानवंश महाकाव्य" लिखना प्रारम्भ किया था। यह भी एक ऐतिहासिक काव्य है। इसके कुछ ही सर्ग प्रकाशित है। उपर्युक्त घटनाओं के संबन्ध में उनका साक्ष्य इस प्रकार है—

"अथैकदाय धृतसैन्यसंघो मञ्चादिकान् ग्रामगणान् विजित्य।
ग्राहो यथा हन्ति सुपृष्टमीनान तथैव मीनान् तरसा जघान ।।२०।।
(मानवंश काव्ये द्वितीय सर्गे-पृ० ५१)

"भुवं पतिर्दूलहराय वीरो विजित्य माञ्ची विजयं प्रहृष्ट ।
गिरि प्रदेशे निजवंशदेव्या विनिर्ममे मन्दिरमुच्चशृङ्गम् ।।१।।
देव्यासु 'बुढवाय' इति प्रसिद्धं नामैष 'जमवाय' इति प्रचक्रे ।
जम्वायमातुस्तु नितान्तरम्यं तन्मन्दिरं ख्यातमिहाद्य यावत् ।।२।।
यद्यप्यमुष्मिन् समये स द्यौसा समध्यतिष्ठन्नृपदूलहरायः।
तथाप्यहो रामगढं गरिष्ठि न्यवासयत् पत्तनमेव शूर· ।।४।।
कुर्वन् स्थिति रामगढे स वीर· स्वराज्यसीमापरिवर्द्धनेच्छु ।
खोहं च गेटोरमहो विजित्य तं झोटवाडं सहसा विजित्ये ।।५।।"
(संस्कृत रत्नाकर—वर्ष८।संचिका ३, अक्टूबर १९४१ पृ० ८८)

"इतिहास-राजस्थान" में श्री रामनाथ रत्नू ने लिखा है—'सोढदेव जी खोह विजय तक दूलहराय के साथ रहे थे। खोह में जाने पर उनकी मृत्यु हुई थी। खोह एक प्रकार से आमेर का ही अंग है।"
(पृष्ठ ८८)

इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। खोह पर अपना अधिकार कर श्रीदूलहराय ने अपने पिता को दौसा सूचना भेजकर वहीं बुला लिया था और उनकी सेवा में रहने लगा था। वहीं श्रीसोढदेव का परलोकवास हुआ था—

तातं दूतमुखेन वृत्तमखिलं सम्बोध्य साम्बं मुदा
देवी वागमृत स्तुतिप्लुतमतिः मित्रैसतमेतो मितैं ।
कोशादात्तधनो निधेरिव भृशं कर्तुं स वै मण्डपं
गण्डो भुज्जदलि व्रजैर्गज वरैरश्वै स वीरै ययौ" ।।६९५।।

× × × ×

"धृत्वा सत्त्वं समूर्जितो हृदि शुभं देवी पदाब्जद्वयं
खोदेश प्रमुखा वरानविकलं प्रोन्मूल्य सर्वान् खलान्।
राज्यं प्राज्यतरं विधाय जनकं सत्सूनुतानुत्दितं
कुर्वन् गर्वं विवर्जितोर्जितयशा रेजे स राजात्मज· ।।६९८।।

श्री दूलहराय के पुत्र का नाम "काकिल" था। काकिल के जन्म का वर्णन इस पद्य से प्रकट किया है—

Substance—Country made Paper

Size—5 × 9 inches.

Folio—12 (Marked by M. M. Harprasad Shastry, vice President of Asiatic Society, Calcutta

Lines—9 to 12 in a page.

Character—Modern Nagar.

Appearance—Solid, written lengthwise & on the one side The former owner of the manuscript thought the 7th leaf to be the first on which he wrote–

"गोकुलप्रशादस्येद पुस्तक पृथ्वीराज विजय खण्डित् १२ पत्राणि ।"

इस ग्रन्थ मे ६२४ वें पद्य से ७७९ पद्य तक उपलब्ध हैं। इनमे आमेर के कछवाह् शासको का इतिहास है। इतिहास के आधार पर हम इसकी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। ग्रन्थ के नाम का औचित्य विचारणीय है। लेखक का नाम कही भी नही आया है। इसे ऐतिहासिक महाकाव्य न कहकर केवल काव्य की ही सज्ञा देंगे। जो १२ पत्र उपलब्ध हैं, वे अपने मे पूर्ण हैं। कही कही पर अशुद्ध अवश्य हैं और दुर्वाच्य भी। उपलब्ध १५६ पद्यो मे २० शासको का वर्णन है।

इस ग्रन्थ का प्रथम श्लोक (उपलब्ध ६२४ वा इस प्रकार है—

"स श्रीमानुपगृह्य हर्षदकृति स्तत्पारिवर्हं ततो
विस्मेरीकृत सर्वलोकनिवहो रम्यैरनेकैर्गुणैः ॥
औदार्यादिभिराविधाय विधिवद् वैवाहिका स्नान् विधीन
स्तेनैनु व्रजता सम कतिपयै प्रत्याययौ पद्धतिम्" ॥६२४॥

यह महाराज सोढदेव का वर्णन है। महाराज सोढदेव ने यादव कुल की राजकुमारी से विवाह किया था, जिसके गर्भ से 'दूलहराय' उत्पन्न हुए थे। (जयपुर का इतिहास—प० हनुमान शर्मा चौंमू–पृष्ठ, १३–१४) जैसाकि हम विवेचन कर चुके हैं, इनके पिता का नाम महाराज ईशदेव था। इनका देहावसान सवत् १०२३ मे हुआ था। इस पद्य मे उल्लेख न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह पद्य महाराज सोढदेव से सबद्ध है, क्योकि इसके वाद इनके पुत्र दूलहराय की उत्पत्ति वर्णित है।

इन्ही सोढदेव के विषय मे कुछ पद्य हैं, जिनमे इनके विवाह तथा शृङ्गार का विवेचन है। इनके विवाह से इनकी माता वहुत प्रसन्न हुई थी।
पद्य हैं—

"धीमान् नीतिविशारदो विदमित प्रोन्नद्ध दस्युव्रजो
भूपालेन्द्र विभाविताखिलविधिर्वाग्मी विदिभ्यत्खल ॥
कन्दर्पाति मनोहरो नववधूहृद्वारि जहृत्करी
राजा रञ्जित सर्वलोक निवहो मातुर्वितेने मुदम्" ॥४२६॥

इसके पश्चात् दो पद्य शृंगारिक है जिसमे नववधू का सज्जित होकर अपने वीर पति के पास आना तथा पति का उसके साथ विलास वर्णित है। रानी गर्भवती होती है तथा पुंसवनादि क्रियायें यथाविधि सम्पन्न की जाती हैं। श्री दूलहराय का जन्म होता है—

"दानप्रीत मही राभिहितगा रागाभि शर्माश्रया
देवी दर्शन लस्यमान महिमा देव्या विजज्ञे सुत.।
भूपालस्य शुभास्यया ग्रहवरैरावेद्य मानोदये
लग्ने लग्नपतौ वलीयसि पिता प्राचेथतं दूल्लहम्" ॥६३१॥

क्रमश वाल्यकाल व किशोरावस्था को पार कर दूलहराय युवक बने। तरुणावस्था मे उनकी आभा दर्शनीय थी। विवाह सस्कार सम्पन्न हुआ। जैसाकि इतिहासो मे लिखा है—श्री दूलहराय ने एक ही विवाह किया था। वह भी मोरा के चौहान रालणसिह की पुत्री सुजान कुंवरी के साथ। चौहान रालणसिह का दौसा (द्यौसा) पर आधा अधिकार था। इन्होने इसे दूलहराय को दहेज मे दे दिया था और कुछ सैनिक सहायता भी दी थी, जिसकी सहायता से दूलहराय ने मीणो व वजगूजरो को परास्त कर सम्पूर्ण दौसा अपने अधिकार मे कर लिया था। ढूंढाड प्रदेश मे इन कछवाहों का यह प्रथम स्थान था। इसे ही उन्होने राजधानी वनाया था।

"वीर श्रीरुचिराश्रितो गुणगणैरूज्जृम्भमाणो वलै
निघ्नन् वैरिजनान् गजानिव वली पंचाननो हेतिमान।
राजेन्द्र प्रति नन्दितेन गुरूणा राजन्यकन्या शुभा
चन्द्रास्या प्रतिलम्भितोभिशु शुभे चन्द्रो यथा, रोहिणीम्" ॥६३५
"जित्वा सत्वर जित्वरो रिपुजनान् द्यौसा चलस्थायिनो
रम्य स्थानमवेक्ष्य स क्षितिपजावस्तु समीहा दधौ ॥
आहूय स्वजनान् स्वक च जनकं तद् गोपनाय प्रभु
तथैवोर्ध्य निजोजिसाधु विजयी प्रत्यर्थिना निर्ययौ" ॥६३६

इसको जीतने पर श्री दूलहराय ने 'माची' पर अधिकार किया। "हितैषी" (जयपुर अंक) मे 'जयपुर के राजवश' का वर्णन करते हुए—प० श्री हनुमान शर्मा (चोमूं) ने लिखा है—

"अपने पिता की आज्ञानुसार श्री दूल्हरायजी ने सर्वप्रथम 'माची' के मीणो पर चढाई की, जिसमे वे असफल रहे। उस फनह का मीणो ने एक जलसा किया। सब मीणे मदिरा पीकर जब मस्त हो रहे थे तब इन्होंने पुन. धावा किया और उन्हे मार भगाया, तथा उनके राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया। इस विजय के उपलक्ष मे दूलहराय ने माची से तीन कोस पर एक देवी का मन्दिर बनवाया जो जमवायमाता के नाम से आद्यावधि वर्तमान है।" (पृ० ५१)

कुछ पद्यो मे युद्ध का वर्णन किया गया है—

"सैन्य शत्रुविभीषण गजरथ व्यूहैर्हया रोहिभि
वीरैर्भूरिपदाति वर्ग शतकैरग्रेसरैर्दुर्जयम् ॥

आदायाभि जगाम धाम अपर विभ्रत्स धीरोत्तमो
माची नामपुरी परैरविजिता जेतु जनेशात्मज" ॥६३७॥

× × × ×

"आरूह्योरूजव महाश्वममितो वीरैरनेकैर्वृ तो
भिन्दन्नापततोसिपाणि रहितान् वीरानिभारोहिणः ।
कुम्भे दन्तयुगे च वाजिवरणानुच्चैरिभाना दधत्
वाहस्याशु जघान वारिणि गजो दीर्घास्तरङ्गानिव" ॥६४२॥

× × × ×

"एव गर्जति सिहराजतनये सिहायमाने पर
धर्मं सत्रुवति व्यतीतसुकृता हित्वा रण निर्घृणा ।
द्राक्सर्वेपि तिरोदधुर्निजबलै रूद्धातन्दन्तीभि. ये
साम्भीभूय रणागणस्थविजयी रेजे सहायोऽपि स." ॥६४६॥

युद्ध मे विजय प्राप्त कर भगवती की स्तुति करते हैं । इसमे भगवती की गुणमहिमा वर्णित है—

"या भीतेन विरचिना परिणुता हन्तु मधु कैटभम्
विष्णु बोधयितु च नेत्रयुगलादाविर्बभूवार्चिकम् ।
तस्यैषा विजयप्रदा निजपद ससेदुषोऽधीश्वरी
पायान्तः शरण रणाङ्गणगतानागत्य लोकाम्बिका" ॥६५२॥

अन्तिम पद्य है—

"या सर्वाशयवेदिनी गुणमयी वेदैरशेषैर्नु ता
चिद्रूपा च परावरान्तरचरी चित्तादि सचारिणी ।
सा माता जगता मतिर्मतिमता मा तिग्महेति क्षत ।
चक्षुर्गोचरतामुपेत्य सदया पातात्पतन्त शिवा ॥६६०॥

स्तुति से प्रसन्न होकर भगवती ने दर्शन दिये । राजा सोढदेव के पुत्र दुलहराय को बालक के रूप मे सबोधन करती हुई उसने राजा की प्रसशा की और उसे आशीर्वाद प्रदान किया—

"एव दुर्गतिहारिणी रणगते दुर्गा प्रणम्यावनौ
पित्सत्यगुलिकास्ति तत्सामयुगे व्यादीयमानव्रणे । (?)
तस्मिन वीरवरे विमुह्यति महो विध्वसितध्वान्तिका
भक्तत्राणमहाव्रतासकरुणा प्रादुर्बभूवाम्बिका ॥६६१॥"

+ +

"मापप्तो विभुहोऽपि तप्तहृदय प्रोदग्रतापावली
वेलेव प्रतिरोद्धमम्बुधि चलत्कल्लोकं भालामहम् ।

वर्ते सप्रति सन्निधौ तव जवा देताजयश्रीरिव
श्रीमानेधिसमेधिताखिलवालो 'काले' ति सा त जगौ ।।"
पीयूपायितमेत देव वचने तस्या निपीयोत्थित
प्रोत्थाय प्रणनाम वर्णित गुण विश्वाम्बिकायां वुधैः ।।
श्रीमत्या चरणाम्बुजद्वयमिद भाग्य ममाहो महन्
मन्दस्येति विभावयन् दृढमति श्रीसोढदेवात्मज ।।६६३।।"

× × ×

"प्रीतास्मि त्वयि निर्भयेन मनसा दुहृद्वर्ले भीषण
पाथोधि तरसा विलोलितवति श्रीकोलविष्णाविव ।।
क्षात्रविक्षतविग्रहे प्यजहति त्रेयं स्वधर्मं पर
रक्तस्राव सुतोवितस्वकगुणा शृण्वेहि कोदन्तकम् ।।६६६।।"

उसी समय भगवान् नारद दिखाई दिये। राजा ने उन्हें देखकर प्रणाम किया। श्रीनारद मुनि ने भी भगवती के अर्चना के लिए ही उपदेश दिया—

"दैवादेवतदैवदेवपथगो दृग्गोचरो नारदो
वीणापाणिरुदाननीकृतमृगो वेगोन्वममहीक्षिगः ।
दृष्टो हृष्टतनूरुहेण सहसा वेधो भुवाभ्यर्थितो
लव्वार्थी कृतजात दर्शन जनो नत्वा मिनिन्ये भुवम् ।।६७०।।

मुनि नारद ने उपदेश दिया—

"शक्ति सर्वविधायिनी भजविभो[1] भक्तप्रिया शक्तये
भ्रातमतिरमातुरन्तिशमिनी विभ्राजिनी जत्मिनाम् ।
सा शीघ्र मनसा धृताघ्रिकमला विध्यच्युतेशार्चिता
चिन्ता सन्ततिमोचिनी भगवती कर्त्त हृतेमीक्षितम् ।।७२।।"

राजा दूलहराय ने पुन भगवती की आराधना प्रारम्भ की। सन्तुष्ट होकर भगवती ने उसे दर्शन ही नही दिये, अनेक वरदान भी दिये। राजा ने उसका मन्दिर वनवाकर वहाँ स्थापित कर दिया। यह मन्दिर "जमुवायमाता" के नाम से प्रसिद्ध है, जो माची से ३ कोस दूर है। रामगढ के वन्ध से कुछ दूर, अनुमानत २ मील नीचे 'जमुवा रामगढ' नामक ग्राम है, वही देवी का प्राचीन मन्दिर है।

"श्रीभिर्मिश्रित मेनमाश्रुतवचा माता कृतानुग्रहा
गुह्यानुग्रहणोचिता धियमथ प्रागल्भ्य गर्भा मुदा ।
दिव्या च प्रतिभा दधानमधिका विक्रातताँ कुर्वती
भूयोवाचमिमामुवाच रूचिरा त सर्वं लोकेश्वरी ।।६७६।।"

× × ×

'याहि त्वं विजहीहि संशयहता चिन्ता सुचिन्तामणो
चिन्तान्तर्निहिते हिते पदयुगे याम्यर्हिते मामके ।
साह पूर्विक मापतन्ति सहसा सचिन्तितार्थालयो
यन्र्थार्था विलयो पय सुनिगतो नश्यन्ति सर्वेऽरय ।।८२।।"

× × ×

"तत्सर्वं सतिशम्य रम्य सुषमे देवी स्वनामाङ्किता ।
सद्यो जाम्बावती निवेश्य भवने हृद्याकृति कल्पिते ।
देवी वागमृतम्तुतिग्रह वृहत्स्फूतिप्रभावोदयो
धुर्यो निर्धुतसशयोधृतजयो धीयोगिनामुद्ययौ ।।८४।।"

प० श्री हनुमान शर्मा ने अपने जयपुर के इतिहास मे महाराज दूलहराय का परिचय देते हुए लिखा है—

(१) 'वशावलियो मे लिखा है कि मांची की पहली लडाई मे दूलहरायजी मूर्च्छित हो गये थे । तब वहा की 'बुढवाय' माता ने सपने मे कहा कि "डरो मत, दुबारा चढाई करो । मरी हुई सेना सजीव हो जायगी और तुम जीतोगे ।' यह सुनकर दूलैराय चैतन्य हुए और दारू पीये हुये मीणो को मारकर माची मे अधिकार किया ।" (पृ०-१५)

(२) "माची विजय की यादगार मे दूलैरायजी ने माची से तीन कोस पर नाके मे देवी का नवीन मन्दिर बनवाया था और उसको 'बुढवाया' के बदले 'जमवाय' नाम से विख्यात किया था । इस अवसर तक दूलैरायजी दौसा ही रहे थे । किन्तु 'माची' में अधिकार हो जाने से वहाँ रामचन्द्र जी के नाम पर "रामगढ" बसाया और वही रहने लगे ।" (पृ० १६)

म० सवाई जयसिंह तृतीय के सभासद प० श्री सीताराम शास्त्री पर्वणीकर ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य मे उन घटनाओ को इस रूप मे उपस्थित किया है—

"इत्थ स्थिते रात्रिरभून्निशीथे देवी पुरोऽस्याविरभूद्दयालु ।
आपन्नदीनोद्धरणव्रत यन्न देवतानामिदमस्ति चित्रम् ।।२७।।
उत्तिष्ठ वत्सेति वचो निशम्य देव्या कुमार सहसोदतिष्ठत् ।
उत्थाय ता बुद्धद्वयनुसारमेव स्तोतु प्रवृत्तो व्यथितोऽपि देवीम् ।।२८ ।
नमोस्तु ते देवि विशालनेत्रे कृपानिधे त्व शरणागतान्न ।
पाहि प्रशंस्यासि महेन्द्रपूर्वै सुरैर्न चेत्तर्हि कुतो मनुष्यै ।।२६।।
अस्या प्रतीरे खलु वाणनधा मूर्ति महीया यमवोय नाम्नीम्।
विधाय सस्थाप्य यथावदेना पूज्यामविच्छिन्नतया य यजस्व ।।३२।।
ततो यथा वैभवमेव तस्या निर्माय देव्या नरदेवसूनु ।
स्व मन्दिर ता यमवायदेवीमास्थापयामास यथावदर्चाम् ।।३८।।

इत्यादि

(जयवश महाकाव्य-प्रथम सर्ग०पृ०३-५)

'साहित्य-रत्नाकर' के सपादक स्व० श्री सूर्यनारायण जी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने 'मानवश महाकाव्य" लिखना प्रारम्भ किया था। यह भी एक ऐतिहासिक काव्य है। इसके कुछ ही सर्ग प्रकाशित हैं। उपर्युक्त घटनाओ के सबन्ध मे उनका साक्ष्य इस प्रकार है—

"अथैकदाय धृतसैन्यसघो मञ्चादिकान् ग्रामगणाँन् विजित्य।
ग्राहो यथा हन्ति सुपृष्टमीनान तथव मीनान् तरसा जघान ॥२०॥
(मानवंश काव्ये द्वितीय सर्गे–पृ० ५१)

"भुव पतिर्दूलहराय वीरो विजित्य माञ्ची विजय प्रहृष्ट.।
गिरि प्रदेशे निजवशदेव्या विनिर्ममे मन्दिरमुच्चशृङ्गम् ॥१॥
देव्यासु 'बुढवाय' इति प्रसिद्ध नामैष 'जमवाय' इति प्रचक्रे।
जम्वायमातुस्तु नितान्तरम्य तन्मन्दिर ख्यातमिहाद्य यावत् ॥२॥
यद्यप्यमुष्मिन् समये स दौसा समध्यतिष्ठन्नृपदूलहरायः।
तथाप्यहो रामगढ गरिष्ठि न्यवासयत् पत्तनमेव शूरः ॥४॥
कुर्वन् स्थिति रामगढे स वीर स्वराज्यसीमापरिवर्द्ध नेच्छु।
खोह च गेटोरमहो विजित्य त झोटवाडं सहसा विजित्ये ॥५॥"
(संस्कृत रत्नाकर—वर्ष८।सचिका ३, अक्टूबर १९४१ पृ० ८८)

"इतिहास-राजस्थान" मे श्री रामनाथ रत्नू ने लिखा है—'सोढदेव जी खोह विजय तक दूलहराय के साथ रहे थे। खोह मे जाने पर उनकी मृत्यु हुई थी। खोह एक प्रकार से आमेर का ही अग है।"
(पृष्ठ ८८)

इस ग्रन्थ मे भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। खोह पर अपना अधिकार कर श्रीदूलहराय ने अपने पिता को दौसा सूचना भेजकर वही बुला लिया था और उनकी सेवा मे रहने लगा था। वही श्रीसोढदेव का परलोकवास हुआ था—

'तात दूतमुखेन वृत्तमखिल सम्बोध्य साम्ब मुदा
देवी वागमृत स्तुतिप्लुतमतिः मित्रैसतमेतो मितै'।
कोशादात्तधनो निधेरिव भृश कर्तु स वै मण्डप
गण्डो भुज्जदलि व्रजैर्गज वरैरश्वै. स वीरै ययौ" ॥६९५॥

× × × ×

"धृत्वा सत्त्व समूर्जितो हृदि शुभ देवी पदाब्जद्वय
खोदेश प्रमुखा. वरानविकल् प्रोत्खय सर्वान् खलान्।
राज्य प्राज्यतर विधाय जनकं सत्सूनुतानुदित
कुर्वन् गर्व विवर्जितोर्जितयशा रेजे स राजात्मज. ॥६९८॥

श्री दूलहराय के पुत्र का नाम "काकिल" था। काकिल के जन्म का वर्णन इस पद्य से प्रकट किया है—

"तस्य सान्वय् वर्द्धनस्य दयिता देवी मनोरञ्जिनो
देवाधीश समद्युते सम भवति स्मेरस्फुर होहृदा ।
काले सा सुवुवे जयन्त सुषम शर्म प्रकाशे ग्रहै-
रूच्चस्थै रभिसूचितै स्थितितमो व्युत्सारि दीप्ति सुनम् ।।७०१।।
अन्या काकिल सोच्यते कुलवधू रूद्दाम धामाद् भुत
वाल लोक मनोहराकृतिमिति प्रोचुर्नरेश जना ।
सोऽप्येन किल काकिलामिधमथा सकथ्य सार्थामिध
देव्यन्या मम काकिलेति नृपतिर्यातिस्म चित्ते मुदम् ।।२।।

(३) **महाराज काकिलदेव** (माघ शु० ७ स० १०६३ से वैशाख शु० १० सवत् १०६६)

अपने पिता श्री दूलहराय की आज्ञा लेकर महाराज काकिल ने 'भाण्डारेज' को जीतने के लिए प्रस्थान किया था । लिखा है—

ताताज्ञा परिगृह्य दैवतमपि स्मृत्वा च नत्वा द्विजान्
वृद्धा नप्यपरान् परन्तपतति र्वाहानि वृन्दैभृताम (१) ।
सेना वोध्वरैर्नयन्नृपसुतो भीमप्रभा पतिभि
भीण्ड़ारेजि पुरीममण्डित वयुर्वीरो विजेतुं ययौ ।।८।।

'जयवंश महाकाव्य' मे श्रीसीताराम भट्ट पर्वणीकर ने भी इस घटना की पुष्टि की है । वे लिखते है—

'राजा कदाचित्खलु सोढदेविग्रॅहीतुकामोऽजनि भाण्डरेजीम् ।
स्वभाव एवैष हि विक्रमस्य युयुत्सुता प्रत्यहमुद्भवेद्यत् ।।१६।।
विचार्य चञ्चद् भुजदण्डवीर्य नृपोत्तम काकिलमादिदेश ।
कुमारविक्रान्तिदिहक्षुचित्त. स तु प्रणम्याथ युधे प्रतस्थे ।।१७।।
(द्वितीयसर्ग— पृष्ठ— ८)

इसके पश्चात् महाराज दुलहराय की दक्षिणयात्रा का उल्लेख है । यह वर्णन प्रायः सभी ऐतिहासिक ग्रन्थो मे मिलता है । परन्तु इसमे कुछ मतभेद है । 'वशावली' मे एक स्थान पर लिखा है कि—'आयुष्य के अन्त मे दुलैरायजी ग्वालियर के राजा की अर्जी पर वहा गये थे और दक्षिण से आये हुए शत्रुओ को परास्त कर ग्वालियर के जयसिह को सहायता दी थी ।" एक अन्य वशावली मे लिखा है कि—"ग्वालियर से दुलहराय घायल होकर आये थे और खोह मे आकर सवत् १०६३ मे परलोकवासी हुए थे ।" वशावली की तीसरी प्रति के ११वें पृष्ठ पर लिखा है कि—"दुलैरायजी ग्वालियर के युद्ध मे विजयी हुए थे और वही मरे थे ।" 'वीर विनोद' मे भी ग्वालियर मे ही मरने का उल्लेख है । राजस्थान के इतिहास लेखक कर्नल जेम्स टाड ने तो इन सभी से भिन्न लिखा है तथा मीणो के द्वारा उनकी मृत्यु का उल्लेख किया है । वे तो काकिलजी की उत्पत्ति भी दुलहराय के मृत्यु की पश्चात् वतलाते हैं जो किसी भी ऐतिहासिक ग्रन्थ या प्रमाण से पुष्ट नही है ।

श्रीसीताराम भट्ट ने जयवंश महाकाव्य मे लिखा है कि ग्वालियर के राजा द्वारा वुलाये जाने पर दाक्षिणात्यो से युद्ध करते हुए ही महाराज दुलहराय की मृत्यु हुई थी ।

पतिर्गवालेर पदस्य वार्तामश्रावद्दूतमुखेन राज्ञे ।
इद पद ते वलिनो ग्रहीतुकामा: प्रसह्य ति हि दाक्षिणात्या: ।।
हेतोरतस्त्व समुपेहि शीघ्र तेभ्य: पद स्व परिपालय त्वम् ।
वयं न तादृग्बलिनो यत.स्यु पराजितास्मे विमुखाभवेयु' ।।
गत्वा गवालेरमसौ नरेन्द्रसौर्दाक्षिणात्यैर्वलिभिस्त्वनन्तै: ।
शास्त्रास्त्र विद्यानिपुणै ससैनैरयुद्ध दोर्दण्डपराक्रमेण ।।३।।
स छिन्नभिन्नापघनो घनोऽपि पेपीय्यमानश्रुतशोणितोस्त्रै: ।
लेभे महेन्द्रादवनीमहेन्द्र: सत्कारमर्हत्तममाशु नाक ।।३९।।

(द्वितीय सर्ग—३१ से ३९ श्लोक पृष्ठ–९/१०)

'मानवश महाकाव्य' मे श्री सूर्यनारायणजी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने लिखा है—

'दुर्गे नवीने निवसन् प्रवीरो भुञ्जान आसीद् विविधान् सुभोगान ।
अथैकदापत्रमवाप दीन ग्वालेरराजस्य जयाभिधस्य ।।६।।
लेखीऽभवत् तत्र तु राजपत्रे यद् दाक्षिणात्या रिपव सुधीरा' ।
हतु पतन्ते मम राज्यमेनत् सत्रायतामेत्य भवान् सुशीघ्रम् ।।७।।
लब्ध्वैव सदेशमिम स वीर' स्वदत्तराज्य परिशक्य नष्टम् ।
तत्त्राणहेतो. स्वयमेव गत्वा ग्वालेरराजून् तरसा जघान ।।८।।
जातो जयी यद्यपि दूलरायरे वीराङ्कशस्त्रक्षतपूर्ण देह: ।
स्वल्पैर्दिनैरेव जगाम धाम तद् यत्र वीरेतरसं प्रवेश्यम् ।।९।।

(मानवश– तृतीय सर्ग– सस्कृतरत्नाकर वर्प ८ सचिका ३ पृ० ८८)

इस 'पृथ्वीराज महाकाव्य' मे यह वर्णन इन पद्यो से प्रस्तुन किया गया है । इसमे भी यही वताया गया है कि राजा दुलहराय की मृत्यु ग्वालियर मे ही हुई थी । अत यही बात प्रमाणित है—

"राजन् दक्षिणादिक्पतेर्बलवतो योधाश्चमूचारिणो
राज्य जातु जिघृक्षवो नृपशवो गर्जन्ति सर्पित्सव ।।
भूपालेशकमर्दिनोऽपि भवतो भूपालसिंहस्य तत्
नीतिज्ञैरवधीर्यता यदहिते सावनतैवाजता ।।१५।।
श्रुत्वा विश्रुतपौरुषो नृपवरो दूतस्यवाच रुषो
वेग सशमयान्निषोद्गत मिति प्रत्युक्तिमुच्चैर्जगौ ।
क्षात्र धर्ममिहोज्झतामितिवचो भीत्यै न च क्षत्रिया
वीक्ष्यन्ते निजजीवितक्षयमपि क्षात्रैकरक्षापरा: ।।१६।।
"आपत्य प्रणिहत्य यान्ति विमुखादूरादर खादिव

प्रत्यापत्यपुनर्वियान्ति च परागृष्टैर्विनष्टानुगा ।
एवञ्चञ्चलविभ्रमा वहुतमास्ते दाक्षिणात्या भटा-
द्दृष्टो चण्डपराक्रमस्य नृपतेश्चक्रे ग्रस विच्युताम्। ।२३।।
"त सहत्य रणे निपत्य नृपति हेति प्रणीतोन्नति।
चञ्चद्द्वारकचन्द्रहासशतकैरेकैकश सर्वत ।
घ्नन्त भूरिवलाम्वुजघ्नुरनय रहास्विवाहाजवा-
दुद्विग्नाविमय भयकरममु ते दाक्षिणेशानुगा ।।२९।।
"कृत्वासौं जनकस्य चोत्तरविधि यातस्य दिव्य पद ।
राज्य प्राज्यतम विधाय विविधैर्भूयो वलैर्दुर्ग्रहम् ।।
आश्वास्य स्वजनानुपेत्य ग्रहिणी हृद्य प्रभारोहिणी ।
वुद्ध्वा दोहदशालिनी प्रमुदितो युद्धाय वुद्धि दधौ ।।३२।।

अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर पिता की मृत्यु के पश्चात् महाराज काकिल ने आमेर को जीता और खोह के स्थान पर इसे राजधानी बनाया। श्री काकिल का राज्य काल ३ वर्ष का ही रहा, परन्तु इतिहास मे आपका नाम प्रसिद्ध है। आपने आमेर को राजधानी बनाने के अतिरिक्त आमेर मे अम्बिकेश्वर महादेव की स्थापना की। यह मन्दिर आज भी विद्यमान है। गालवाश्रम (गलता) के पर्वतो मे पृथ्वी मे विद्यमान, अनेक नागो से वलयित इस मूर्ति को लाकर भगवती के आदेश से आमेर मे स्थापना की थी। इस सबन्ध मे इस काव्य मे लिखा है—(भगवती काकिल को कह रही है)

"तावत्तजन केरितेव जननी लोकाम्बिका त्र्यम्बका
रोचीरोचित लोहिताचित समिद्रङ्गा शुतङ्गामिमाम् ।
आविर्भूय तदङ्गसङ्गतिहितप्रेक्षा समक्षाहित
प्रोचे, काकिल! नाकिलम्भित पदा त्वा संपदा योजये ।। ७३६ ।।
भूमीगूहित मम्बिकेश्वर मर पातार मभ्यर्च्यतां
दातार च दुराय वस्तु वितते धीतारमेनस्य च ।
हर्त्तारं सुमहापदा त्रिजगता भर्त्तारमाविष्कुरू
क्रूराणामनवेक्षण क्षममथ स्व दुर्गमारात् कुरू ।। ३७ ।।
पावन्या दिशि गालवाश्रम गिरेर्वन्यान्तराले गिरौ
वाराधार 'महावटाभिध सरो रोधौ महीगूहिनम् ।
गौरेकापयसामिविञ्चति पर लिङ्ग सलिङ्ग मया
यत्तेवादि तदादिहेतुरहितध्वसे च शर्मोदये ।। ३८ ।।
उज्जीवद्वलसयुतो व्रजगिरा प्रातर्ममेति स्फुट
विध्वस्त कुटिलाशयैरकुटिल प्रोज्जीव्य चादिश्यताम् ।
सा तेन प्रणता यथा मतिनुता माता थ विश्वस्थत ।
वाचाश्वास्य सुधारुचाँ सुचतुर भक्तिप्रियान्तर्दधे ।। ३९ ।।

× × × ×

'देव्यावाच मनुस्मरन् मृगयया वीरैरनेकैर्वृतो
गत्वा तत्पदमाप सपदवधि तल्लिङ्गमालिङ्गितम् ।
भीमैर्भोगिवरैर्मणि धरैर्निभिद्यभूमि द्रढा
माविर्भाव्य महोपचार निचयैस्सपूज्जयामास मः' ।।७४२।।

जयवश महाकाव्य' मे भी इसी वृत्त को प्रस्तुत किया है । अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थो मे अम्बिकेश्वर के प्राप्ति स्थान के विषय मे कुछ भी विशेष नही बतलाया गया है । फिर भी जमीन के अन्दर से ही इस मूर्ति को निकाल कर स्थापित किया गया था—इस विषय मे सभी एक मत है । श्री पर्वणीकरजी लिखते है—

"मदाज्ञयेतो रचयाम्बिकापुरी 'पुरी' महेन्द्रस्य पराजये तया ।
तथैकपिङ्गीमपि सम्पदचिता दशाननीयामपि हाटकोच्चिताम् ।। २२।।
भुवोऽन्तरालीनमिहै व यत्नतो नरेन्द्र ! निस्सार्य तमम्बिकेश्वरम् ।
प्रतिष्ठितीकृत्य यथावदर्चये जयस्ततस्तेऽधिरण भविष्यति ।। २३।।

× × × ×

'तत्राम्बिकेश्वर मथार्च्य मशेषदेवै सन् मन्दिरे धरणितो नृपति' प्रतापी ।
उद्धृत्य सद्द्विजवरै प्रयतैः प्रतीतैः त प्रत्यतिष्ठिपद थान्वहमार्चिचच्चा ।।३९।।
(जयवंश—तृतीयसर्ग—२२ से ३९ श्लोक, पृष्ठ १३—१५)

श्री सूर्य कवि की कल्पना है कि भगवति पार्वती भगवान शिव के विना सन्तुष्ट नही रहेगी—इसी विचार से काकिल ने आमेर मे अम्बिकेश्वर की स्थापना की थी—

"अभीष्टदात्री मम सा हि दुर्गा विना शिव स्थास्यति न प्रतुष्टा ।
इतीव सचिन्त्य तमम्बिकेश शिवं समस्थापयदत्र पुर्याम्" ।।
(मानवशकाव्य—तृतीयसर्ग २१ वा पद्य पृ० ८९)

इनके पश्चात् इनके पुत्र श्री हणूदेव आमेर के शासक बने ।

४. श्री हणूदेव (वैशाख शु० १० स० १०९६ से कार्तिक शु० १३ स० १११०)

यद्यपि इनकाशासन काल श्रीकाकिल की अपेक्षा बहुत अधिक था, इन्होने कुल १४ वर्ष राज्य किया था, तथापि इनके शासन काल मे कोई विशेष घटना नही हुई । किसी भी इतिहास मे इनके जीवन पर अधिक विवेचन नही मिलता । इनके पुत्र का नाम था—

५. श्री जान्हड (कार्तिक शु० १३ स० १११० से चैत्र शु० ७ स० ११२७)

इनके अनेक नाम थे । इस काव्य मे इन्हे "जानुग" नाम से व्यवहृत किया है । यो इनका नाम जनेदेव भी मिलता है । इन्होने भी १७ वर्ष राज्य किया, परन्तु इनके समय मे भी कोई विशेष घटना नही हुई थी । 'पृथ्वीराज विजय' नामक इस काव्य मे श्री हणूदेव एव श्री जानुग के लिए एक ही श्लोक लिखा गया है—

"सूनुस्तस्य हनोत को गतवति श्रीकाकिले भूपतौ
देव्याधाम भुवंशशास, वलवानुग्रप्रतापश्चिरम् ।
तस्य श्री वलभूषिते ऽ मरपुर याते च तस्मिन् महा-
सूनुर्जानुग वाहुराहव जयी सभ्रातृक संययौ" ॥७४४॥

इनके पश्चात् प्रजवन (पजवन या पजोन जी) उत्तराधिकारी वने ।

६. श्री पजवन जी (चैत्र शु० ७ सं० ११२७ से ज्येष्ठ कृ० ३ सवत् ११५१)

महाराज पजवन जी राजनीति तथा युद्धादि मे निपुण और साहसी होने के कारण हिन्दू-सम्राट पृथ्वीराज चौहान के पचवीरो मे से एक थे—ऐसा प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज रासो मे महाकवि चदवरदाई ने इनका ओजस्वी वर्णन किया है। 'पृथ्वीराज विजय' काव्य मे इनका वर्णन एक ही पद्य मे किया है—

श्रीमास्तस्य सुनो वली प्रजवनो नामस्फुरद् विक्रमे
भर्तृ विक्रम यत्कलासु चतुरो हर्प प्रतेने गुरौ ।
गर्जद्वैरिगज प्रभञ्जन हरिर्मोहाब्धि मज्जत्तरि-
स्स्वर्याते पितरि प्रभासवितरि त्राता वभूवावने ॥७४५॥

इनके एक ही पुत्र था, जिसका नाम मलयसी जी (मलेपी) था।

७. श्री मलयसीजी (ज्येष्ठ कृ० ३ स० ११५१ से फाल्गुन शु० ३ स० १२०३)

अपने पिता के समान ये भी वीर व पराक्रमी थे। श्री चन्दवरदायी ने इनकी भी प्रससा की है। सभी इतिहासो मे यही लिखा है कि पजवनजी के एक ही पुत्र था, परन्तु इस काव्य मे चार अन्य पुत्रों के विषय मे भी सकेत है।

"मल्लेषी तनयो वभूव भयदो मल्लो व्रतो द्वेषिणा
चत्वारस्तनया वभूवुरपरे तस्य प्रभावोज्ज्वला ।
राजासौ निर्बवन्ध युद्धविजित नागौरिकाधीश्वर
तद्राज्य निजसाच्चकार मिहिरो भूचारिपाथो यथा" ॥७४६॥

"कन्नोज युद्ध के एक वर्ष पश्चात् मलयसीजी ने नागोरगढ गुजरात, मेवाड तथा माडू को जीता था। श्री पर्वणीकरजी ने 'जयवश महाकाव्य' मे लिखा है—

"उपेत्य नागौर मनल्प विक्रमस्तदीश गौरीपतिना नृप समम् ।
अयुद्ध लक्षत्रय सैन्य संयुजा स्वय पर पञ्चसहस्त्र सैनिका ॥१०॥
स्व विक्रमोपायविधेर्व्यधात्तमा स गुर्ज्जरीये ऽ सुलभे ऽ पि नीवृति ।
पद स्वकीय निहित हित तत न कस्य विक्रान्तिवल वलीयस ॥१७॥
कदाचिदत्यन्तरणोद्धतोद्भट क्षमापति. प्राप्त महेन्द्र विक्रम ।
मिवाडदेशाधिपतिं ससेनक रणेषु धिक्कृत्य पद स्वकन्यधात् ॥१६॥
(जयवश, चतुर्थ सर्ग—१० से २० तक)

नागौर विजय तक श्री प्रजवनजी जीवित थे। यहा जो श्लोक दिया गया है, उसमे श्री मलयसीजी के उत्तराधिकार प्राप्ति की पुष्टि करता है। यहा सवत् की समानता तो है परन्तु तिथि की समानता नही है। इतिहास मे उनके शासन प्रारम्भ करने की तिथि ज्येष्ठ कृष्णा ३ है जब कि इस काव्य मे माघ शुक्ला ६ है। सवत् के विषय मे श्री हनुमान शर्मा ने 'जयपुर के इतिहास' (नाथावतों का इतिहास) पृष्ठ-२५ पर लिखा है—

"(१) सवत् ११५१ मे अपने पिता (पजोनजी) के उत्तराधिकारी हुए।....(३) कन्नौज युद्ध के एक वर्ष बाद मलैसीजी ने नागौर गढ विजय किया और गुजरात मेवाड एव माडू आदि मे अपनी वीरता दिखलाई।"

'जयपुर की वशावली' मे भी ज्येष्ठ वदि ३ स० ११५१ मिलता है। इस काव्य मे यह श्लोक तिथि का सकेत करता है—

"वर्षे विक्रमतो यतीन्दुशरभूचन्द्र प्रमेये मधौ
११५१
शुक्ले घूनित धन्वनि ध्वनदलिज्ये जे, नवम्यां तिथौ।
लब्ध्वा राज्यममौ विधातुमधिक वीरश्रमत्कारिधा—
युद्धाय प्रवलैर्बलैरनुगतो गर्जत्पुरा निर्ययौ" ॥७४७॥

अग्रिम पद्य मे मलैसीजी का गुजरात विजय का उल्लेख है—

"तस्मिन् भूपवरे विभुज्य विभवान् पुण्येन याते दिवं
'मल्लेषी' पदमाप तस्य तनयो ज्यायानजय्योरिभि।
जित्वा गुर्जरराजमानिचतुरो निर्जित्य भूपान् पराम्
बाहूर्दजित भूरिकीर्ति कनको भुङ्क्तेस्म भौम सुखम्" ॥७४८॥

इनके ६ पत्निया तथा ३२ पुत्र हुए थे। 'जयपुर के इतिहास' मे श्री हनुमान शर्मा ने लिखा है—

(४) "इनके १ मनलदे (खीचणजी) राव अंतल की, २ महिमादे (सोलखणी) राव जीमल की ३ नरमदे (देवडीजी) देवा देवडा की, ४ बडगूजरजी, ५ चौहाणजी, ६ दूसरा चौहाणजी—ये ६ राणी थी। इनके (१) बीजल, (२) बालो (३) सीधण (४) जेतल (५) तोलो (६) सारग (७) सहसो (८) हरे (९) नद (१०) बाघो (११) घासी (१२) अरसी (१३) नरसी (१४) खेतसी (१५) गागो (१६) गोतल (१७) अरजन (१८) जालो (१९) बीसल (२०) जोगो (२१) जगराम (२२) ग्यानो (२३) बीरम (२४) भोजो (२५) बेणो (२६) चाचो (२७) पोहथ (२८) जनार्दन (२९) द्रुदो (३०) गबूदेवो (३१) लूणो और (३२) रतनसिंह ये बत्तीस बेटे थे।"

'इतिहास राजस्थान' मे लिखा है कि मलैसी के ३२ पुत्रो मे से अधिकाश तो कछवाहे रहे और कुछ ने दूसरी जाति ग्रहण करली।' (पृ० ९२)

इस काव्य मे भी इनका उल्लेख सकेत मे है—

"तस्यारीन् वलिनो वर्जैजितवतो द्राड्मालन्वेद्रादिकान्
कीर्तिदिग्वलय च कारधवल ज्योत्स्नेव भूर्युज्ज्वला ।
षड्भार्यस्य वभूवुरुग्रमहसो द्वात्रिंशदात्मोद्भवा—
भावज्ञा भुज वैभवार्जितघना धन्य च त चक्रिरे" ।।७४६।।

८ महाराज वीजलदेवजी (फाल्गुन शु० ३ स० १२०३ से आषाढ शु० ४ सं० १२३६)

इनके जीवन की कोई उल्लेखनीय घटना नही है । इनके समय मे विद्वानो का वडा सम्मान था । इनके समय मे अनेक ग्रन्थो का निर्माण भी हुआ होगा, परन्तु अभी तक पता नही चल सका है । इस काव्य मे लिखा है—

"स्वर्याति जनके, पदेस्य बिजलो ज्यायान्सुनो मन्त्रिभि
नीतिज्ञैरुपवेशितो मतिमता मान्यो वभूवौजसा ।
दीप्तो वह्निरिव द्विपा विषधरो गर्तोन्दुरूणामिव
श्रीदोर्दण्डघरो विदामविदुषा जिष्णुर्जिगायाहितान्" ।।७५०।।
"विद्वद्भिर्धनदानमानिततया सुप्रीत चित्तैर्भृ ण
वालाना कुलयावभूव कलया वोघाय शब्दावले ।
ग्रन्थ सुग्रथित विभक्ति गुणितैर्बोध्यै समासादिभिः
धीमानुद्धतिवर्जितोर्जितयशा राजा जुगोपावनिम्" ।।७५१।।

इनके तीन पुत्र हुए थे, जिनमे ज्येष्ठ पुत्र का नाम श्रीराजदेव था । उसे राज्य सोपकर श्रीवीजलदेव दिव्य धाम चले गये—

"भुक्त्वासौ चिरमत्र मन्त्रचतुरैर्द्वित्रैरमात्यैर्धृ तो
राज्ये दुर्जयता गते जितरिपुश्शर्माणि भौमानि स ।
दिव्य धाम जगाम भीमवपुषे राज्य प्रदाय स्वक
पुत्राय प्रतिगर्जिशत्रु जयिने तज्ज्यायसे भूपति" ।।७५२।।

९ महाराज राजदेव (आषाढ शु० ४ स० १२३६ से पौष कृ० ६ स० १२७३)

इन्होने आमेर का जीर्णोद्धार किया था । अपने दोनो भाइयो के साथ प्रेम पूर्ण रहते हुए इनका समय भगवान् अम्बिकेश्वर महादेव की पूजा मे बीता था । इनके ६ पुत्र थे जिनमे श्री कील्हणजी सबसे बडे थे । इस काव्य मे लिखा है—

"भ्रातृभ्यामुदितो भुव स बुभुजे श्री राजदेवो दिवा
सस्पर्द्धामिव सविधाय नगरीम् आम्बेरिकामम्बिकाम् ।
सपूज्यार्यितमाम्बिकेश्वर महादेवेश्वरौ मा युवा
सन्मातापितरौ प्रयातमितितो (?) सप्रार्थ्य तस्थौ पुर" ।।७५३।।

श्री कील्हण के जन्म का वर्णन करते हैं—

"राज्ञी तस्य मनोज्ञलक्षणयुत सूनु विशालेक्षणा
वर्पान्तिक्षणदा पतिद्यु तिभरा भूरक्षिण सत्क्षणे ।
विक्षीणीकृत दीप दीप्तिमतुल दत्तक्षणं वीक्षिणा
भूरक्षा सुविचक्षण प्रसुषुवे पद्मेक्षण कीलनम्" ।।७५६।।

१० महाराज कील्हणजी (पोष कृ० ६ स० १२७३ से कार्तिक कृ० ६ स० १३३३ तक)

श्री कील्हणजी के समय चित्तौड तथा मालवा, गुजरात मे बडे शक्तिशाली शासक थे। ये उनके पास कुम्भलमेर रहा करते थे। यह 'वीर–विनोद' तथा 'महाराणा रायमल्ल के रासे' मे लिखा है। इनके दो रानिया थी जिनसे ६ पुत्र हुए थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'कुन्तिल' था जो उत्तराधिकारी बने थे।

"जयपुर का राज्यवश" (हितैषी जयपुर—अक, पृ० ५५) तथा "जयपुर का इतिहास" (नाथावतो का इतिहास) पृ० २६।३० पर लिखा है—

"इनके एक राणी भावलदे निर्वाणजी खडेला के रावत देवराज की। इनके कुन्तलजी हुए। दूसरी राणी कनकादे चौहाणजी। इनके २ पुत्र हुए।"

इस अवतरण से दो रानिया होना तो सिद्ध होता है, परन्तु पुत्रो की सख्या ३ ही बनती है। "वीर-विनोद" मे ३ पुत्रो का उल्लेख इस प्रकार है—

"१ कुन्तलजी—राज पायो। २ अखैराज—जिसके वशज धीरावत कहलाते हैं। ३. जसराज—जिनके टोरडा और वगवाडा के जसरा पोता कछवाहा कहलाते है।

केवल एक वशावली मे ६ पुत्रो का उल्लेख है, जिनमे तीन नाम तो 'वीर–विनोद' के है ही, इनके अतिरिक्त (४) सैबरसी (५) दैंदो तथा (६) मसूड और है। मसूड के वशज टाख्यावास के बघवाड कछवाहे हैं। यहा काव्य मे ६ पुत्रो का उल्लेख इस प्रकार है—

"रेमेऽसौ रमणीद्वयेन रहसि श्रीमानुतीशद्यु ति—
भूंमि भूंरि जुगोप जिष्णु विभवो विष्णु स्त्रिलोकीमिव ।
षड्सूनुस्सनृपो निहत्य च रिपूनाराध्य देवौ भवे
लब्ध ज्ञान महोदयो द्विजवराल्लेभे दुराय पदम्" ।।७५८।।

उपयु क्त विवेचन से सिद्ध है कि श्री कुन्तलजी ज्येष्ठ पुत्र थे।

११. महाराज कुन्तलदेवजी (कार्तिक वदि ६ स० १३३३ से माघ कृ० १० स० १३७४)

इन्होने आमेर मे 'कुन्तल किला' वनवाया था, जो आज 'कुन्तलगढ' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके ५ रानिया तथा १३ पुत्र थे। 'जयपुर के इतिहास'—पृष्ठ ३० पर लिखा है—

"इनके राणी (१) काश्मीरदेजी, चौडाराव जाट की वेटी (२) रैणादे (निर्वाणजी) जोधा की वेटी, (३) कनकादे (गौडजी) (४) कल्याण दे (राठोडजी) वीरमदेव की वेटी और (५) वडगूजरजी पूरणराव की वेटी थी।"

वशावली की एक प्रति मे पुत्रो के नाम इस प्रकार हैं—

"(१) जूणसी (२) हमीर (३) भडसी (४) आलणसी (५) जीतमल (६) हणूतराव (७) महलणसिंह (८) सूजो (९) भोजो (१०) बाघो (११) बलीवग (१२) गोपाल (१३) तोरणराव ।"

'वीर-विनोद' मे केवल प्रथम चार पुत्र ही प्रसिद्ध है। ज्येष्ठ पुत्र जूणसीजी (जोनसी) आमेर के शासक बने थे। पद्य मे इनका सकेत है—

"धीमास्तस्य पद शशास विधिवत्सूनु र्वली कुन्तिलो
लालत्कीलित शत्रुरिन्दुरुचिरो दुर्ग परं रोचयत् ।
रामाभि स च पञ्चभि सुचतुरो रेमे रतिं वर्द्धयन्
पुत्रानात्मसमा स्त्रयोदश दिशोघावच्च लेभे यश" ।।५६।।

१२. महाराज जूणसीजी (माघ कृ० १० स० १३७४ से माघ कृ० ३ स० १४२३)

महाराज 'योनसि' के जीवनकाल मे शान्ति रही। कोई भी उल्लेखनीय घटना नही हुई। इनके 'उदयकरणजी' ज्येष्ठ पुत्र थे, जिन्होने आमेर का राज्य सभाला था—

"कुन्तैरुन्नत वैरिदन्तदलिनि क्ष्मापालके कुन्तिले
याते चारुतिलोत्तमादिर्कलित गीत समाकर्णके ।
राज्य तस्य सयोनसिर्विनयवान् रूपैर्नयैरर्दयन्
दस्यून् वश्यनृपावलिर्विबुभुजे चन्द्रानना चाङ्गनाम्" ।।७६१।।

१३. महाराज उदयकरणजी (माघ कृ० ३ स० १४२३ से फाल्गुन कृ० ३ स० १४४५)

इनके विषय मे भी कोई विशेष वृत्तान्त नही मिलता। इस काव्य मे भी एक ही पद्य द्वारा इनका वर्णन किया गया है। इनके पुत्र 'नरसिंह' उत्तराधिकारी बने थे—

"तस्योद्यद् किरणो वभूव तनयो बाल्येऽपि भूयो नयो
जन्मागार तमो निरासक महावशार्णवेन्दुवंशी ।
ताते भुक्तसमुज्झिताखिल सुखे नाकोन्मुखे सत्सखे
वर्पन्नवस्वमृत प्रजाकुमुदिनी राल्हादयामास स ।।७६२।।

इनका सस्कृत नाम—'उद्यत् किरण' रखा गया है।

१४ महाराज नरसिंहजी (फाल्गुन कृ० ३ स० १४४५ से भाद्रपद कृ० ६ स० १४८५)

श्री उदयकरणजी के पुत्र का नाम नरसिंह था। पद्य है—

"तस्य स्वानुगुणो गुणैरगणितै र्वर्ण्य सुवर्णोज्ज्वलो
जज्ञे नूनमतिर्मनोज्ञरचना नारीमनोरोचन ।
पुत्रो मित्ररुचि र्हृदम्बुज मुदि त्रिभ्रातृकस्योन्नतो
नाम्नाय नरसिंह माह मुदितो भूरिस्म भूमीपति" ।।७६३।।

इनके तीन रानिया थी तथा ७ छोटे भाई थे। तीन पुत्रो मे से ज्येष्ठ पुत्र बनवीर ने आमेर का

शासन किया था। वशावलियो से यह सभी सख्या सिद्ध है। महाराज उदयकरणजी के आठ पुत्रो के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

"(१) नरसिंह (२) वरसिंह (३) वालाजी (४) शिवब्रह्म (५) पातल (६) पीथल (७) नाथा (८) पीपाजी।"

इनकी तीन रानियो के विषय मे इतिहास का साक्ष्य इस प्रकार है—

"(१) सीसोदणी जी राणा दुदा हमीर की (२) सोलखणी जी राव सातल बली की बेटी (३) भागा, चौहाण जी पुष्पराज की पुत्री थे। इनके वनवीर (२) जैनसी और (३) काघल तीन पुत्र हुए थे।"

पद्य हैं—

'तेनामौ तनयेन प्रोदितमना राजाजितारिर्वली
रामाभि· तिसृभि विभुज्य बहुल भौम चिर सत्सुखम्।
स्वसौख्याभिमुखो बभूव स तदा सप्तानुजो बुद्धिमान्
सूनुस्तस्य जुगोप गोपतिरिव प्रोच्छन्माही मण्डलम् ॥७६४॥
तिस्त्रो सौरमयन्वधूरवहितो निर्धूतवैरिव्रजो
लब्ध श्रीर्जनया बभूव तनयास्तासु प्रभावोज्ज्वलान्।
श्रीनुग्रानपि राज्यमर्जितयशाधाम व्रजन्नाकिना
सत्सूनौ वनवीर नामति निज सर्व स राज दधौ ॥"६५॥

१५ महाराज वनवीरजी (भाद्रपद कृ० ६ स १४८५ से आश्विन कृ० १२ स० १४६६)

इनकी भी कोई उल्लेखनीय घटना नही है। इनके ६ रानिया थी और ६ पुत्र थे परन्तु इस काव्य मे उनके ५ पुत्रो का ही उल्लेख है। इतिहास मे लिखा है—

"इनके ६ रानिया थीं। (१) उत्सवग्गदे (तवरजी) कवल राजा की (२) राजमती (हाडीजी) गोविन्दराज की (३) कमला (सीसोदणीजी) कीचैचाकी (४) सहोदरा (हाडीजी, बाघा की (५) करमवती (चौहाणजी) बीजा की और (६) गौरा (वघेलीजी) रणवीर की थी। इनके पुत्र १. उद्धरण २ मेलक ३ नरो ४ वरो ५ हरो और ६ वीरम थे।" (पृ० ३२)

पद्य है—

षडजानि स षडाननश्रियमपि स्वस्मिन्समावेशयन्
लब्ध राज्यमवत् पितुर्भुजवलै र्जित्वारिपून् दुर्जयान्।
पञ्चोत्पाद्य सुतान् प्रकामसुभगान् भुक्त्वा च भौम सुख
पात्रे वित्तमपि प्रणीय वहुल यातिस्म दिव्य पदम् ॥७६६॥"

श्री उद्धरण जी (आश्विन कृ० १२ स० १४६६ से स० १५२४ मार्गशीर्ष कृ १४)

इनके चार रानिया थी। पुत्र एकमात्र श्री चन्द्रसेन जी थे। इतिहास मे इनके नाम ये हैं—

(१) हसावदे (राठौड जी) राव रणमल की (२) मापू (चौहाण जी) मेदा की (३) इन्द्रा (सीसोदण जी) राणा कुम्भा की (४) अनन्तकु वरि (चौहाण जी) राव वैरिसाल की पुत्री थी। पुत्र १. चन्द्रसेन जी थे।"

पृ० (३२)

काव्य का पद्य इस प्रकार है—

"धीमानुद्धरणाभिधो　भुजवलैरुद्ध्　नितारिव्रजो
दीर्घापञ्जलधि　प्रमज्जदचिर　प्रोद्धारण　प्रोद्धु र ।।
राज्य　प्राप्य　पितुर्विराजित　यशो　राशीनृदुराशाततो
कान्ताभि　बुभुजे　चिर　चतसृभिर्भौम　स्मरामः　सुखम् ।।७६८।।'

इनके पुत्र चन्द्रसेनजी का वर्णन इस पद्य से प्रकट किया है—

'तस्मिन्　विस्मयकारिणी　च　तनये　श्रीशालिनि　प्रोन्नते
लोकाह्लादिनि　चन्द्रमस्सुरुचिरे　द्राक्　चन्द्रसेनाह्वये।
चन्द्रे　ध्वान्तचयानि　वाजिपु　परा　नाराज्जयत्युत्मना
राजा　रञ्जयितु　नरानिव　सुरान्　सौरान्वयस्व　ययौ ।।७७०।।"

१७. महाराज चन्द्रसेन जी (मार्गशीर्ष कृ० १४ सं १५२४ मे फाल्गुन शु० ५ स १५५६)

इनके सम्बन्ध मे कोई विशेष उल्लेख नही है। इनके ६ पत्निया थी। पुत्रो मे से ज्येष्ठ महाराज पृथ्वीराज आमेर के शासक बने। इतिहास मे लिखा है—

"महाराजा चन्द्रसेन की राणी १, नोली (सोलखणीजी) सातल की, २ बोली (वडगुजरजी) राव चादा की, ३ अमृत दे (चौहाणजी) ऊधो की ४ राकण (सुरताणजी) रावत कुम्भाकी ५ भागा (चौहाणजी) नरसिंह की ६ आभावती (चौहाणजी) वीरमदेव की थी। इनके पुत्र १ पृथ्वीराजजी अमृत दे (चौहाणजी) के उत्पन्न हुए।"　　(पृ० ३३)

पद्य है—

"राज्य　प्राप्य　पितुश्शतक्रतुरुचो　विक्रम्य　जित्वा　रिपून्
आपूर्यद्रविणै　स्वकोशमधिक　चिक्रीड　षडभिर्यु वा ।।
कान्ताभि　सुमनोहराभिरभितो　राजावनीषु　श्रिया
राजन्तीषु　जयी　गजीभिरिव　स　श्रीमान्　गजाधीश्वर ।।"७७१"
श्रीमास्तस्य　सुतो　बभूव　वलवान्　पृथ्वीपतिर्बु द्धिमान्
पृथ्वीराज　मरातिभीतिकरम　नाम्ना　स　नामोत्सवे।
एव　प्रीतमनाद्विजैरभिदधे　सपूजितैर्व्याहृतो
हृष्यद्भि　र्वहुरत्न　हेमनिकरं　श्री चन्द्रसेन　किरन् ।।७७२।।"

१८. महाराज पृथ्वीराजजी (फाल्गुन शु० ५ स १५५६ से कार्तिक शु. ११ स १५८४)

इनका नाम इतिहास मे वहुत ही प्रसिद्ध है। यह काव्य भी इन्ही के नाम पर लिखा गया है। इनका जीवन एक भक्त के समान था। प्रथम तो ये बावा चतुरनाथ के शिष्य बनकर जोगी वन गये थे परन्तु

बाद मे श्री कृष्णदासजी पयोहारी के शिष्य बनकर भगवान श्रीकृष्ण के उपासक बनगए थे। आमेर जाते समय सस्थापित बदरीनाथजी की डूंगरी आपके द्वारा ही बनवाई गई थी। आपकी पत्नी बाला बाई प्रसिद्ध कृष्ण भक्त थी तथा प्रतिदिन भगवान बद्रिकेश्वर के दर्शन करने जाया करती थी। इनके सम्बन्ध मे अनेक जनश्रुतिया है। आमेर मे बालाबाई की साल' के नाम से आज भी एक स्थान है, जहा राजघराने के मागलिक कार्य सपन्न होते थे।

महाराज पृथ्वीराज के राज्याविरूढ होने का समय इस काव्य मे पद्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है जो सभी इतिहास–ग्रन्थो से पुष्ट है। पद्य है—

"राज्य प्राज्यतम विभुज्य जनके स्वाराज्य भोगेशया
स्वर्याते बहुदायिनि श्रितनय श्री चन्द्रसेने नृप.।।
अङ्केषुश्वसनावनी परिमिते संवत्सरे वैक्रमे
चक्रे फाल्गुनकृष्ण कुण्डलितिथौ विप्रैरसौ पार्थिव।।७७४।।"

अङ्क–९, इषु–५, श्वसन–५ अवनि–१ अङ्काना वामतो गति=१५५९ विक्रम सवत्–फाल्गुनकृष्णा कुण्डलि=सर्प=पचमी तिथि को इनका राज्याभिषक हुआ था।

इस काव्य मे इनके विषय मे कोई विशेष उल्लेख नही है। इनके ९ रानियाँ थी, १८ पुत्र थे तथा इन्होने २४ वर्ष ८ मास २१ दिन राज्य किया था इसका उल्लेख है। इनके पश्चात इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री पूर्णमल आमेर की गद्दी पर बैठे थे, इस दिन कार्तिक शुक्ला ११ थी। वशावलियो मे इनके १९ पुत्र बतलाये हैं जबकि इस काव्य मे १८ का ही उल्लेख है। रानियो के सबन्ध मे भी लिखा है कि बालाबाई के अतिरिक्त ९ थी परन्तु यह इतिहास से असत्य सिद्ध है। बालाबाई का नाम अपूर्व देवी था। यही भ्राति सख्या मे वृद्धि करती है। इतिहास मे लिखा है—

"पृथ्वीराज जी के राणी—(१) भागवती (बडगुजर जी) देवती के राजा जैता की, (२) पदारथदे (तवर जी) भगवन्तराव गावडी की (३) अपूर्वदेवी "बालांबाई" (राठौड़ जी) राव लूणकरण जी बीकानेर की (४) रूपावती (सोलखणी जी) राव लखानाथ टोडा की (५) जाबवती (सीसोदण जी) राणा रायमलजी उदयपुर की (६) रमादे (निर्वाण जी) रायसल अचला की (७) रमादे (हाडी जी) रावनरवद बूदी की (८) गौरदे (निर्वाण जी) धामदेव की और (९) नरबदा (गौड जी) खैरहथ की थी।" (पृ० ४२)

"रामाभिर्विजहार भूरिनवभि लब्धाङ्कमाद्युति
श्रीदश्री स्मरसुन्दरी सुरुचिभि. द्रोणी निजादे शुभा।
नानर्तु प्रभवप्रसूननिकर स्वामोद मत्तालिका
अघ्युष्येन्दुमरीचि रोचितरू श्री चन्द्रसेनात्मज।।७८५।।"

पुत्रो के विषय मे लिखा है—

'तस्याष्टादशतुष्टिदाजनहृदा पुत्राः बभूवु शुभा
मित्राभासुहृदा हृदम्बुजवने, शूरारणोत्साहिक.।।

राजा राज्यसुख चतुभिरधिका सवत्सराणामसौ
भेजे विंशतिमेकविंशति दिनामष्टौ च मासानपि ।।७७६।।"

१६ महराज पूर्णमलजी (कार्तिक शु० ११ स० १५८४ से माघ शु० ५ सं० १५६०)

इनके सबन्ध मे इतिहास में मतभेद है। इतिहास-लेखक श्री हनुमानप्रसाद शर्मा ने लिखा है कि ये १८ भाइयो मे एक से बडे तथा अन्य सबसे छोटे थे। किसी कारणवश महाराज पृथ्वीराज ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। इस काव्य मे भी इनके लिए कही ज्यायान शब्द का प्रयोग नही हुआ है। लिखा है

"पृथ्वीराजसमाह्वये नरपतौ याते पद नाकिनाम्
कीनाशाति भयङ्करे भगवतो व्युत्थापनार्हे तिथौ।
अत्येद्युस्तनयोस्य भास्वरवपुः श्री पूर्णमल्लाभिधो
राज्य प्राज्यगुण गुणैरगणितैराय प्रजारञ्जयन् ।।७७७।।"

इन्होने ६ वर्ष २ मास २३ दिन राज्य किया था। इनकी मृत्यु सदिग्ध है। कुछ लोग भीमसिंह (भाई) द्वारा मारे गए थे, ऐसा कहते हैं, कुछ प्राकृतिक मृत्यु बतलाते हैं। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके पुत्र सूजाजी बालक थे और इसलिये इनके भाई महाराज भीमसिंह गद्दीनशीन हुए।

षड्वर्षाणि षडाननोन्नतरुचि नीचीकृतान्यद्युति
द्वौमासौ दिवसानपि श्रुतवता वर्यस्त्रयोविंशतिम्।
भुक्त्वा भीमसमौ सुख सुखसखो राजा बुभूर्वुदिव
पुण्योर्द्धरनघोर्जिता जितरिपु श्री पूर्णमल्लो ययौ ।।७७८।।"

२०. महाराज भीमसिंहजी (माघ शु ५ स १५६० से श्रावण शु १५ स १५६३)

यहा पहुच कर नियमित चला आ रहा कछवाहो का इतिहास अपने नियमो से च्युत हो गया। गद्दी पर श्री पूर्णमल के बेटे श्री सूजासिंह नही बैठे। उनके भाई श्री भीमसिंहजी ने संभाली। उनके विषय मे इतिहास अभी तक संदिग्ध है। कोई इन्हे पितृहन्ता तथा भ्रातृहन्ता बतलाते हैं। उपलब्ध काव्य का यह अन्तिम पद्य है जिसमे महाराज भीमसिंह को उत्तराधिकार मिलने का वर्णन है—

"याते तूवरिकासुते सुरपुर बालासुनो विक्रमी
सचक्राम च वैक्रमे बलनिधि र्व्योमाङ्क बाणेन्दुभि।
वर्षे सकलिते सहस्यधिक धी शुक्ले मृडानी तिथौ
राज्यं भ्रातुरलचकार चतुरो भीमोभिधस्त्वैर्बलै ।।७७६।।

यावन्मात्र वशावलियो एव इतिहास ग्रन्थो मे श्री पूर्णमल की निधनतिथि तथा महाराज भीमसिंह की राज्याभिषेक तिथि माघ शु ५ स १५६० दी गई है, परन्तु इस काव्य मे सवत् तो ठीक है परन्तु मास व तिथि का उल्लेख ठीक नही है। 'सहस्य' का अर्थ पौष मास होता है—'पौषे तैष सहस्यौ है।" अमरकोश मे लिखा है। 'अधिक धी' शब्द से तात्पर्य यदि एक मास अधिक है तो मास ठीक है। 'मृडानी' तिथि से तात्पर्य पचमी तो नही होता। षष्ठी या एकादशी होता है। एक तिथि का अन्तर कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही। पद्य मे – 'भ्रातु रलचकार' पद इस बात को सिद्ध करता है कि श्री भीमसिंह अपने भाई के उत्तराधिकारी बने थे।

इस पद्य मे उनकी माता 'बालाबाई' का भी उल्लेख है– 'बालासुतो' पद से । सवत् के लिये विशेष लिखने की आवश्यकता नही है– व्योम=०, अक=९, बाण=५, इन्दु=१– अकाना बामतो गति के अनुसार १५९० संवत् आ जाता है ।

खेद है, इस पद्य के पश्चात् ग्रन्थ के पत्र नही मिलते । अतः अपूर्ण होने से नही कहा जा सकता यह कितना और रहा होगा ।

समालोचन

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम उपलब्ध पद्यो मे कही भी नही मिलता । ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध मे भी केवल पुस्तक के (उपलब्ध पत्रों के ७ वें पत्र के पृष्ठ पर लिखे गए– "गोकुल प्रसाद स्यैद पुस्तक पृथ्वीराजविजय खण्डित १२ पत्राणि" के आधार पर स्वीकार किया गया है । मेरी दृष्टि में इस काव्य का यह नाम नही रहा होगा । क्योकि इस काव्य का नायक यदि पृथ्वीराज को मानते हैं तो लेखक उसका बहुत विस्तृत वर्णन करता तथा उनके जीवन की घटनाओ पर विशद् प्रकाश डालता । लेखक ने पृथ्वीराज के विषय मे कोई भी उल्लेखनीय घटना नही लिखी है तथा रानियो एव पुत्रो की सख्या मात्र दी है । किसी भी काव्य या महाकाव्य के नायक के लिए २–३ पद्य लिखना ही पर्याप्त नही माना गया है । फिर एक बात और भी है । पृथ्वीराज ही यदि इसके नायक हैं तो उनकी 'विजय' से सम्बन्धित किसी घटना का उल्लेख भी होना चाहिये– तब नाम की सार्थकता बनेगी । इसके अतिरिक्त लेखक इसकी समाप्ति पृथ्वीराज के शासनकाल के साथ ही नही करता, वह उसके पुत्र पूर्णमल व भीमसिंह का भी वर्णन करता है । चू कि इतने ही पद्य उपलब्ध है, अत नही कहा जा सकता इसके पश्चात् कितने शासको का वर्णन और किया होगा । श्री पृथ्वीराज के वर्णन से तो अधिक महाराज सोढदेव व दूलहराय का वर्णन है ।

जब इस काव्य का नाम "पृथ्वीराज विजय" उचित नही है तो क्या नाम हो सकता है– इस पर विचार करना भी कठिन है । यदि ग्रन्थ आदि या अत मे कही भी पूर्ण होता तो यह विचार फिर भी संभव था । इतना जरूर कहा जा सकता है कि इसमे जयपुर (आमेर) के कछवाहो का इतिहास वर्णित है और यह इतिहास उपलब्ध वंशावलियो एवं ऐतिहासिक घटनाओ के विरुद्ध नही है । कही कही मत-मतान्तर अवश्य है परन्तु वे इतने विचारणीय नही है । बीच-बीच मे शासनकाल का भी संकेत इसके ऐतिहासिक काव्यत्व मे सहयोगी है । चू कि, इसमे इतिहास एव ऐतिहासिक घटनाओ का काव्यमय वर्णन है, अत. ऐतिहासिक काव्य को स्वीकार करने मे सन्देह नही है । महाकाव्य स्वीकार किया जाय या नही, यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है, परन्तु ग्रन्थ के पूर्ण उपलब्ध न होने एव उपलब्ध पद्यो के आधार पर इसे लक्षणग्रन्थो की कसौटी पर नही उतारा जा सकता ।

साराश मे– यही कहा जा सकता है कि पद्य सरल एव सुन्दर हैं । यह एक ऐतिहासिक काव्य है– यह तथ्य निर्विवाद है । ग्रन्थ मे अशुद्धिया लेखक की न होकर लिपिकार की है, जिसने मूलग्रन्थ से इसकी नकल की थी । ग्रन्थ त्रुटित व कीट अशित लगता है, क्योकि अनेक स्थानो पर पद उपलब्ध नही है ।

इस काव्य की पूर्ण प्रतिलिपि राजकीय पोथीखाने मे हो सकती है । यदि वह उपलब्ध हो तो इस पर विवेचना की जा सकती है ।

संस्कृत की शतक-परम्परा

पद्य-सख्या-सूचक रचनाओ की परम्परा सस्कृत मे बहुत प्राचीन तथा समृद्ध है। प्राकृत, अपभ्रंश तथा कतिपय वर्त्तमान प्रादेशिक भाषाओ की भाँति सस्कृत मे अष्टक, दशक, पञ्चविंशति, द्वात्रिंशिका, पञ्चाशिका, सप्तति, शतक, सप्तशती, सहस्र अथवा साहस्री सज्ञक कृतियो का विपुल तथा वैविध्यपूर्ण साहित्य विद्यमान है। इनमे से कुछ विधाओ ने तो जनमानस को इतना मोहित किया कि समय-समय पर विभिन्न कवियो ने वैसी अनेक रचनाए लिखी है। हिन्दी मे प्राय इन समस्त साहित्यागो ने व्यापक ख्याति अर्जित की है। सस्कृत मे अष्टको तथा शतको का प्रचुर निर्माण हुआ है। प्राचीन-अर्वाचीन प्रतिभाशाली प्रख्यात कवियो ने अपनी कृतियो से साहित्य के इस पक्ष को पुष्ट तथा गौरवान्वित किया। स्तोत्र, चरित वर्णन, नीति इतिहास, छन्द, कोश, आयुर्वेद, सदाचार, शृङ्गार, वैराग्य आदि जीवनोपयोगी सभी विषयो तथा पक्षो पर सैकडो शतको की रचना हुई है। छठी शताब्दी ईस्वी से प्रारम्भ होकर शतक-रचना की परम्परा, किसी न किसी रूप मे, आज तक अजस्र प्रचलित है। कतिपय वैदिक सूक्तो मे भी मन्त्र-सख्या शत अथवा शताधिक है। किन्तु इस साहित्याङ्ग के विकास मे उसका विशेष योग प्रतीत नही होता, यद्यपि वैदिक मन्त्रो की भाँति अधिकाश प्राचीन शतको के पद्य भी पूर्णत प्रसङ्ग मुक्त एव स्वत सम्पूर्ण है। कुछ आधुनिक शतक अवश्य ही सम्बन्ध-सूत्र से स्यूत, हैं भले ही वह सूक्ष्म अथवा अदृश्य हो। सोमेश्वर-रचित रामशतक (१३ वी शताब्दी) मे यह कथा-तारतम्य अधिक मासल है। इस प्रकार, संस्कृत-शतको मे प्रसङ्ग-स्वातन्त्र्य से प्रबन्ध रूपता की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सस्कृत तथा हिन्दी शतक-साहित्य के सम्बन्ध मे श्री डा० विश्वमित्र का कथन है कि "भारतीय साहित्य की परम्पराओ के मूलस्रोत सस्कृत-साहित्य मे शतको की सख्या एक शत से अधिक नही है। अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी इस साहित्याग का समृद्ध रूप (सख्या और साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से) प्राप्त नही है। हिन्दी-साहित्य मे शतको की सख्या ऊँगलियो पर गिनी जा सकती है।" [१]। परन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। हिन्दी के २२० शतको की सूची सम्मेलन पत्रिका, भाग ५२, सख्या १-२ मे प्रकाशित हो चुकी है। सस्कृत-शतको की सख्या भी सौ तक सीमित नही। गत दो वर्षों की खोज से मुझे १०६ शतकों की जानकारी प्राप्त हुई है, जिनमे अधिकतर प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त जैन कवियो के ५३ सस्कृत शतकों का विवरण श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने एक सद्य प्रकाशित लेख मे दिया है। बौद्ध शतक अलग हैं। अधिक खोज से विभिन्न सम्प्रदायो के विद्वानो द्वारा रचित सस्कृत शतको की सख्या तीन सौ के करीब

१. द्रष्टव्य-सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४६, सख्या ४ मे प्रकाशित लेख तेलगु भाषा मे शतक-काव्य की परम्परा।

पहुँचेगी। प्राप्त १०६ शतको का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। इनमे कुछ तो प्रादेशिक भाषाओं के शतको के सस्कृत-अनुवाद है कुछ मात्र सकलन है, परन्तु अधिकाश कृतियाँ मौलिक है। विषय-वैविध्य, सख्या तथा साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का यह अग नितान्त रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है।

(प्राचीनतम उपलब्ध शतक सज्ञक रचनाए भर्तृहरि (५७०-६५१) के (१-३) नीति, शृङ्गार तथा वैराग्य शतक हैं।) नीतिशतक मे उन उदात्त सद्गुणो का चित्रण हुआ है जिनका अनुशीलन मानव-जीवन को उपयोगी तथा सार्थक बनाता है। भर्तृहरि की नीति परक सूक्तियाँ लोकव्यवहार मे पग-पग पर मानव का मार्गदर्शन करती है। यहा शतक प्रणेता, वस्तुत लोककवि के रूप मे प्रकट हुआ है जो अपनी तत्त्वभेदी दृष्टि से मानव प्रकृति का पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण कर उसकी भावनाओ को वाणी प्रदान करता है। शृङ्गार शतक काम तथा कामिनी के दुर्निवार आकर्षण [2] तथा आसक्ति की सारहीनता का रगीला चित्र प्रस्तुत करता है। आकर्षण तथा विकर्षण के दो ध्रुवों के बीच भटकने वाले असहाय मानव की दयनीय विवशता का यहाँ रोचक वर्णन हुआ है। वैराग्य शतक मे ससार की भगुरता, धनिको की हृदयहीनता तथा प्रव्रज्या की शान्ति तथा आनन्द का अकन है [3]।

प्रो० कोसम्बी के मतानुसार नीति, शृङ्गार तथा वैराग्य सम्बन्धी भर्तृहरि- विरचित प्रमाणिक पद्य मूलत शतकाकार विद्यमान नही थे। उन्हे इस रूप मे प्रस्तुत करना कवि को अभीष्ट भी नही था [4]। डॉ० विण्टरनिटज शृङ्गार शतक को तो भर्तृहरि की प्रामाणिक तथा सुसम्बद्ध रचना मानते हैं। उनके विचार से इसमे वैयक्तिकता के स्वर अन्य दो शतको की अपेक्षा, अधिक मुखर हैं। नीति तथा वैराग्य शतक, लिपिको के प्रमाद के कारण, सुभाषित सग्रह बन गये है, जिनमे भर्तृहरि के प्रामाणिक मूल पद्यो की संख्या बहुत कम है [5]। निस्सन्देह विभिन्न सस्करणो मे तथा एक ही संस्करण की विभिन्न प्रतियो मे इन शतको की पद्य सख्या अनुक्रम तथा पाठ मे पर्याप्त वैभिन्य है। पर इनके रूप के अस्तित्व को चुनौती देने की कल्पना साहसपूर्ण प्रतीत होती है, क्योकि परवर्ती समग्र शतक-साहित्य की प्रेरणा का मूलस्रोत ये शतक ही हैं।

इनका आकार तथा परिमाण कुछ भी रहा हो, शतकत्रयी को देश–विदेश मे अनुपम लोकप्रियता प्राप्त हुई है। अगणित पाण्डुलिपियाँ, सस्करण, टीकाए तथा अनुवाद इस ख्याति के ज्वलन्त प्रमाण है। इण्डिया आफिस तथा ब्रिटिश सग्रहालय के सूची पत्रो से भर्तृहरि के शतको के शताधिक मुद्रित सस्करणो, रूपान्तरो तथा अनुवादो के अस्तित्व की सूचना मिलती है।

यूरोप का भर्तृहरि से सर्वप्रथम परिचय नीति तथा वैराग्य शतको के डच अनुवाद के माध्यम से सन् १६५१ मे हुआ, जो अब्राहम रोजर ने पालघाट के ब्राह्मण पद्मनाभ की सहायता से किया था। इस

---

२. तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मल विवेक दीपक.।
यावदेव न कुरङ्गचक्षुषा ताड्यते चटुल लोचनाञ्चलै ॥ शृङ्गार

३. सुख शान्त शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव। वैराग्य

४ शतकत्रयादि-सुभाषित-सग्रह की भूमिका, पृष्ठ ६२

५ History of Indian Literature, Vol. III, Part I, P. 156

अनुवाद के आधार पर थामसग्रू ने दोनो शतको का फ्रेंच रूपान्तर प्रस्तुत किया (एम्सड्रेम, १६७०)। भर्तृहरि के समस्त पद्यो का प्राचीनतम मुद्रित सस्करण विलियम कैरी का है, जो हितोपदेश के सग से रामपुर से १८०३-४ ई० मे प्रकाशित हुआ था इसकी एक प्रति इण्डिया ऑफिस मे सुरक्षित है। इसके पश्चात् भारत तथा विदेशो मे शतकत्रय के अनेक सस्करण तथा देशी-विदेशी भाषाओ मे अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए। वॉन व्होलेन ने बर्लिन से इसका सम्पादन (१८३३ ई०) तथा जर्मन मे अविकल पद्यानुवाद किया (१८३५ ई०)। हरिलाल द्वारा सम्पादित शतकत्रय दिवाकर प्रेस, बनारस से १८६० मे प्रकाशित हुए। भर्तृहरि का यह प्राचीनतम भारतीय संस्करण है। अलवर-महाराज के सग्रह मे सुरक्षित पाण्डुलिपि इसी की विकृत प्रति है। हिन्दी मे भर्तृहरि का सर्वाधिक लोकप्रिय अनुवाद राणा प्रतापसिंह कृत पद्यानुवाद है (१८ वी शताब्दी)। शृङ्गारशतक का गद्यानुवाद हिन्दी मे सब से प्राचीन है[६] (१६२७)।

भर्तृहरि के शतको के आधुनिक समीक्षात्मक सस्करणो का प्रारम्भ कान्तानाथ तैलग के सस्करण से हुआ, जो सन् १८६३ मे बम्बई से प्रकाशित हुआ था। अब भी इन शतको के सामूहिक अथवा स्वतन्त्र प्रकाशन और अनुवाद होते रहते है। (परन्तु सर्वोत्तम तथा स्तुत्य कार्य प्रो० कोसम्बी ने किया। उन्होने ३७७ हस्तलिखित प्रतियो तथा उपलब्ध सस्करणो के पर्यालोचन के आधार पर भर्तृहरि के समस्त उपलब्ध पद्यो का परम वैज्ञानिक सस्करण विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशित किया है (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४७))

शतकत्रय पर विभिन्न समय मे अनेक टीकाए लिखी गई। जैन विद्वान् धनसार की टीका प्राचीनतम है (१४७८ ई०)। इन शतको की सबसे प्राचीन प्राप्य प्रति भी एक जैन विद्वान्, प्रतिष्ठा सोमगणि, द्वारा की गयी थी (१४४० ई०)

(४) मयूर का सूर्यशतक (सातवी शताब्दी) स्तोत्र-साहित्य की अग्रणी कृति है। इसमे क्रमश सूर्य की किरणो, उसके अश्वो, सारथि, रथ तथा बिम्ब की अत्यन्त प्रौढ तथा अलकृत शैली मे स्तुति की गई है। शतक का प्रत्येक पद्य आशी रूप है। कल्याण, धन प्राप्ति अथवा शत्रु एव आपत्तियो के विनाश की कामना शतक मे सर्वत्र की गई है। अन्तिम पद्य (१०१) मे सूर्यशतक की रचना का मुख्य प्रयोजन 'लोकमगल' बतलाया गया है (श्लोका लोकस्य भुत्यै शतमिति रचिता श्री मयूरेण भक्त्या)। स्रग्धरा वृत्तो मे रचित शतको की परम्परा का प्रवर्तन सूर्यशतक से ही हुआ है।

सूर्यशतक के सात सस्करण ज्ञात हैं, तथा भिन्न-भिन्न समय मे इस पर २२ टीकाए लिखी गयी। सूर्य शतक का सर्वप्रथम अनुवाद डा० कार्लो बर्नहीमर ने इतालवी भाषा मे किया जो 'सूर्य शतक डि मयूरे' नाम से १९०५ मे प्रकाशित हुआ। क्वेकेनबास ने The Sanskrit Poems of Mayura मे सूर्य शतक, मयूराष्टक तथा बाणकृत चण्डीशतक का सम्पादन तथा अग्रेजी मे अनुवाद किया (१९१७)। इसके पश्चात् सूर्यशतक रमाकान्त त्रिपाठी के हिन्दी-अनुवाद सहित, १९६४ मे चौखम्बा भवन, वाराणसी प्रकाशित हुआ।

---

६. R. P. Dewhurst ने इसे उत्तर प्रदेश इतिहास समिति की शोध पत्रिका की प्रथम जिल्द (१९१७) मे प्रकाशित किया था।

श्री रमाकान्त त्रिपाठी ने स्वसम्पादित सूर्यशतक की भूमिका मे चार अन्य सूर्यशतको का उल्लेख किया है। (५) गोपाल शर्मन् कृत सूर्यशतक कलकत्ता से १८७१ ई० मे प्रकाशित हुआ था। ऑफ्रेक्ट के कैटालोगस कैटालोगोरियम मे इसका उल्लेख हुआ है। (६) श्रीश्वर विद्यालङ्कार के सूर्यशतक की एक पाण्डुलिपि राजेन्द्रलाल मित्र को प्राप्त हुई थी। सम्भवतः यह अभी तक अप्रकाशित है। (७) तीसरा सूर्यशतक राघवेन्द्र सरस्वती नामक किसी कवि की रचना है। पीटरसन को इसकी एक हस्तलिखित प्रति भी मिली थी। एक हस्तलिखित प्रति महाराज–अलवर की पुस्तकालय मे विद्यमान है। (८) एक अन्य सूर्यशतक लिङ्ग कवि की कृति है। विलियम टेलर को इसकी एक पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई, जिसमे मूल पाठ के साथ टीका भी है।

मयूर के जामाता बाण का (९) चण्डीशतक एक अन्य प्राचीन प्रसिद्ध स्तोत्र काव्य है। बाण ने अपने श्वसुर द्वारा प्रवर्तित स्रग्धरा–परम्परा को चण्डीशतक मे पल्लवित किया। इसके १०२ स्रग्धरा पद्यों मे भगवती चण्डी की, विशेषत उनके चरण की, जिससे उन्होने महिषासुर का वध किया था, प्रशस्त स्तुति हुई है। सूर्यशतक की भाति इसका भी प्रत्येक पद्य आशी रूप है। गद्य सम्राट बाण की दुरुह तथा कृत्रिम शैली चण्डीशतक मे पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हुई है। बाण की यह काव्यकृति उनके गद्य के समान दुर्बोध तथा दुर्भेद्य है। चण्डीशतक काव्य माला के चतुर्थ गुच्छक मे प्रकाशित हो चुका है। क्वेकेनबास ने इसका अग्रेजी मे अनुवाद किया है।

(१०) अमरुशतक (आठवी शती का पूर्वार्ध) अमरु-रचित शृङ्गारिक मुक्तको का सग्रह है जिनकी सख्या तथा क्रम मे, विभिन्न सस्करणो मे, पर्याप्त भेद है। सामान्यत प्राचीनतम टीकाकार अर्जुन वर्मदेव (तेहरवी शताब्दी) का पाठ शुद्ध तथा प्रमाणिक माना जाता है। गीतिकाव्य के क्षेत्र मे कालिदास के उपरान्त कदाचित् अमरु ही एक मात्र ऐसे कवि है, जिन्हे काव्य शास्त्रियो से भरपूर प्रशसा मिली है। आचार्य आनन्द-वर्धन ने अमरु के प्रत्येक मुक्तक को, रस-प्राचुर्य तथा भाव गाम्भीर्य की दृष्टि से, प्रबन्ध काव्य के समकक्ष माना है (मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका शृङ्गार रस-स्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव) सचमुच अमरु ने मुक्तक की गागर मे रस का सागर भर दिया है। अमरुशतक मे मदिरमानस प्रेमी युगलो के कोप-मनुहार, मान-मनावन, ईर्ष्या-प्रणय तथा शृङ्गार की अन्य मादक भगिमाओ का भाव भीना तथा चारु चित्रण हुआ है।

भर्तृहरि के शतको की भाँति अमरुशतक भी रसिक समाज मे बहुत विख्यात हुआ। इस शतक पर विभिन्न विद्वानो ने चालीस टीकाए लिखी तथा देश-विदेश मे इसके अनेक सम्पादन और अनुवाद हुए। सन् १८०८ मे 'एडिटियो प्रिन्सेप्स' मे देवनागरी लिपि मे प्रथम बार कलकत्ता से अमरुशतक का 'कामदा' के साथ प्रकाशन हुआ। १८७१ ई० मे भाषा सञ्जीवनी प्रेस, मद्रास से इसका एक दाक्षिणात्य सस्करण प्रकाशित हुआ। इसमे वेमभूपाल की टीका थी। सन् १८८९ मे निर्णय सागर प्रेस ने 'रसिक सञ्जीवनी' के साथ इस ग्रन्थ का पश्चिमी सस्करण प्रकाशित किया। जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित पौरस्त्य पाठ काव्यसग्रह' के द्वितीय भाग मे मुद्रित हुआ। रिचर्ड साइमन ने तब तक उपलब्ध समस्त सामग्री तथा पाण्डुलिपियो का मन्थन कर कील (जर्मनी) से अमरुशतक का १८९३ ई० मे अतीव समीक्षात्मक सस्करण प्रकाशित किया। सुशील कुमार डे ने 'अवर हेरिटेज' के प्रथम–द्वितीय भाग मे रुद्रदेव कुमार की टीका तथा अमरुशतक के मूल

पाठ का प्रकाशन किया [७]। श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी ने सन् १९६१ मे मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थ माला के अन्तर्गत ललित हिन्दी भावानुवाद के साथ, शतका सुन्दर सस्करण प्रकाशित किया ।

टीकाकार रविचन्द्र ने अमरु की भावनाओ के साथ खिलवाड करते हुए उसकी कृति की शान्तरस-परक व्याख्या करने की दुश्चेष्टा की है। इस सन्दर्भ मे म० म० दुर्गा प्रसाद का कथन है "स च शुचिरस-स्यन्दिष्व-मरुश्लोकेषु परिशीलयमानेषु 'रहसि प्रौढवधूना रतिसमये वेदपाठ इव सहृदयाना शिर शूलमेव जनयति" ।

कश्मीरी कवि भल्लट (आठवी शती) का (११) शतक शिक्षाप्रद नीतिपरक मुक्तको का सगृह है। कविता विविध विषयो का स्पर्श करती है, किन्तु अन्योक्तियो का बाहुल्य है। भल्लट की कृति लालित्य तथा प्रसाद से परिपूरित है। ऐसी आकर्षक तथा भावपूर्ण अन्योक्तिया साहित्य मे कम मिलती है।

चिन्तामणि ! किसी चक्रवर्ती सम्राट् ने तुम्हे अपने मुकुट मे धारण कर गौरवान्वित नही किया है, इस कारण तू विषाद मत कर। जगत् मे कोई शीश इतना पुण्यशाली कहा कि तुम्हारे परस का सौभाग्य पा सके।

चिन्तामणे भुवि न केनचिदीश्वरेण
मूर्ध्नां धृतोऽहमिति मा स्म सखे विषीद ।
नास्त्येव हि त्वदधिरोहणपुण्यबीज-
सौभाग्ययोग्यमिह कस्यचिदुत्तमाङ्गम् ॥

पाच अन्य कश्मीरी कवियो ने अपनी रुचि तथा मान्यता के अनुसार शतको का निर्माण किया है। स्तोत्र काव्यो की शृङ्खला मे ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन के (१२) देवीशतक का निजी स्थान है। देवी शतक के सौ पद्यो मे भगवती दुर्गा की स्तुति हुई है। देवीशतक कवि की किशोर कृति प्रतीत होती है। सम्भवत इसीलिये इसमे न भक्ति की ऊष्मा है, न भावो की उदात्तता, न कल्पनाओ की कमनीयता। देवीशतक की महत्ता काव्य-गुणो के निमित्त नही, कवि के व्यक्तित्व के कारण है।

कश्मीर-नरेश शकर वर्मा (८८३–९०२ ई०) के सभाकवि वल्लाल का (१३) शतक, भल्लट शतक की भाति अन्योक्ति प्रधान है।

(१४) चारुचर्याशतक कश्मीर के प्रख्यात बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि क्षेमेन्द्र (११ वी शती) की रचना है। शतक मे जीवनोपयोगी सद्व्यवहार तथा लोकज्ञान का सन्निवेश है। प्रत्येक उपदेश को तत्सम्बन्धी पौराणिक ऐतिहासिक आख्यान का दृष्टान्त देकर पुष्ट किया है। उपकार करते समय प्रत्युपकार की कामना करना अशोभनीय है। कर्ण का दान 'शक्ति' प्राप्ति की याचना से दूषित हो गया था।

त्यागे सत्त्वनिधिः कुर्यान्न प्रत्युपकृतिस्पृहाम् ।
कर्णः कुण्डलदानेऽभूत कलुष शक्तियाञ्चया ॥

---

७ देखिये श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'अमरुशतक' की भूमिका ।

चारुचर्याशतक काव्यमाला के द्वितीय गुच्छक तथा 'क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसग्' मे मुद्रित हुआ है ।

शिल्हन के (१५) शान्तिशतक की विशुद्ध धार्मिक रचना भर्तृहरि के वैराग्यशतक के अनुकरण पर हुई है । शान्तिशतक विशुद्ध धार्मिक रचना है, जिसमे जीवन की निस्सारता तथा वैराग्य एव विरक्तो की चर्या का गौरवगान किया गया है । शतक के पद्यो मे भर्तृहरि की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पडती है । शिल्हरण का समय अज्ञात है । पिशेल ने शिल्हरण को विक्रमाङ्क देवचरित के प्रणेता विल्हरण से अभिन्न मानकर उसकी स्थिति ११ वी शती मे निर्धारित की है ।

शम्भुकृत (१६) अन्योक्तिमुक्तालताशतक मे १०८ नीतिपरक अलकृत अन्योक्तिया सगृहीत हैं। कविता मे विशेष आकर्षण नही है । शम्भु कश्मीर के प्रसिद्ध शासक हर्ष (१०८९—११०१ ई०) के सभाकवि थे । उनका 'राजेन्द्रकर्णपूर' आश्रयदाता की प्रशस्ति है ।

(१७) चित्रशतक मयूर-रचित सूर्यशतक की परम्परा का स्तोत्रकाव्य है । इसमे विभिन्न देवी-देवताओ की विविध छन्दो मे स्तुति की गई है । काव्य की यह विशेषता है कि प्रत्येक पद्य मे 'चित्र' शब्द अवश्य आया है । श्लोकों की कुल सख्या सौ है । सम्भवत इसी कारण कवि ने इस ग्रन्थ का नाम चित्र शतक रखा है । ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य अन्तिम पद्य मे इस प्रकार बतलाया गया है—

बालानामपि भूषरण परिगलदवर्णं यथा जायते
प्राज्ञाना मनस प्रमोदविधये चित्र विहासास्पदम्
तद्वत्काव्यमिद भवेदय बुधै प्रोत्साहना नित्यशः
कर्त्तव्या चतुरोक्तिः शिक्षरण पुरस्कारेण निर्मत्सरै ॥

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश के सम्पादक श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने चित्रशतक के प्रणेता रामकृष्ण कदम्ब की स्थिति तेरहवी शताब्दी मे निश्चित की है ।[८]

नागराजकवि का (१८) भावशतक काव्यमाला के चतुर्थ गुच्छक मे प्रकाशित हुआ है । काव्यमाला के उक्त भाग के सम्पादक के अनुसार नागराज धारानगरी का नृपति था । उसके आश्रित किसी कवि ने इस शतक की रचना उसके नाम से की । नागराज इसका वास्तविक कर्त्ता नही है [नाग राजनामा धारा नगराधिप कश्चित् महीपतिरासात्, तन्नाम्ना तदाश्रितेन केनचित् कविना (भावेन !) शतकमेत-न्निर्मितामिति] शतक के अन्तिम पद्य मे नागराज के शौर्य का जिस प्रकार वर्णन किया गया है, उससे भी उसका शासक होना प्रमाणित होता है ।[९]

भावशतक के प्रत्येक पद्य मे एक विशिष्ट भाव निहित है, जिसका स्पष्टीकरण पद्य के पश्चात् गद्य में प्राय कर दिया गया है । कही कही पाठक के अनुमान अथवा कल्पना पर छोड दिया गया है । उदाहरणार्थ—

---

८. द्रष्टव्य—Studies in Sanskrit and Hindi, July, 1967 (University of Rajasthan) मे प्रकाशित श्री रमेशचन्द्र पुरोहित का लेख 'रामकृष्ण कदम्ब'—नव्ययुग के एक अज्ञात कवि तथा उनकी अप्रकाशित रचनाए । पृष्ठ ७२—८२ ।

९. सोऽयं दुर्जयदोर्भुजगजनितप्रौढप्रतापानल—
ज्वालाजालखिलीकृतारिनगर श्रीनागराजो जयते । १०२

षण्मुखसेव्यस्य विभो सर्वाङ्गेऽलङ्कृतित्वमापन्ना. ।
पन्नागपतय सर्वे वीक्षन्ते गणपति भीता. ॥
स्कन्दवाहनमयूरदर्शनभीताः शुण्डादण्डप्रवेशाय ।

नागराज के नाम से एक अन्य रचना (१९) 'शृङ्गारशतक' भी प्रचलित है।[10] नागराज का समय अज्ञात है।

काव्यमाला के पञ्चम गुच्छक मे पञ्चशती के अन्तर्गत पाच स्तोतकाव्य–(२०-२४) कटाक्षशतक, मन्दस्मितशतक, पादारविन्दशतक, आर्याशतक तथा स्तुतिशतक– प्रकाशित हुए। कटाक्ष, मन्दस्मित तथा आर्याशतक मे सौ-सौ पद्य हैं, शेष दो मे १०१। इनका रचयिता मूककवि है, जो नाम को अपेक्षा उपाधि प्रतीत होती है। प्रथम तीन शतको मे काञ्ची की अधिष्ठात्री देवी कामाख्या के कटाक्ष, स्मित तथा चरणकमलो की स्तुति की गई है। अन्य दो मे देवी की सामान्य स्तुति है। मूककवि का स्थितिकाल अज्ञात है। जीवानन्द ने इन शतको को कलकत्ता से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था, किन्तु पाचवा शतक उपलब्ध न होने के कारण, सख्यापूर्ति के निमित्त, उन्हें इस श्रेणी मे (२५) माहिषशतक प्रकाशित करना पडा। विभिन्न हस्तलिखित प्रतियो मे शतको का क्रम भिन्न-भिन्न है।

मूककवि की रचना साधारण कोटि की है। कही-कही अनुप्रास का विलास अवश्य अवलोकनीय है। कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

आर्याशतक —

मधुरधनुषा महीधरजनुषा नन्दामि सुरभि बाणजुषा ।
चिद्वपुषा काञ्चिपुरे केलिजुषा बन्धुजीवकान्तिमुषा ॥७॥
प्रणतजनतापवर्गा कृतरणसर्गा ससिंहससर्गा ।
कामाक्षि मुदितभर्गा हतरिपुवर्गा त्वमेव सा दुर्गा ॥८७॥

स्तुतिशतक —

कवीन्द्रहृदये चरी परिगृहीतकाञ्चीपुरी
निरूटकरुणाभरी निखिललोकरक्षाकरी ।
मन पथदवीयसी मदनशासनप्रेयसी
महागुणगरीयसी मम दृशोऽस्तु नेदीयसी ॥८४॥

अन्योक्तिपरक काव्यो की परम्परा मे भट्ट वीरेश्वर का (२६) अन्योक्तिशतक रोचक कृति है। भ्रमर, चन्दन, भेक, पिक आदि परम्पराभुक्त प्रतीको को लेकर भी कवि ने सुन्दर अन्योक्तियो की रचना की है। भ्रमर को यदि चम्पक-कलि से अनुराग नही, तो क्या हानि ! वे मृगनयनी बालाएं कुशल रहे जो केलिगृह की देहली पर बैठकर उसे अपना कर्णाभूषण बनाती हैं।

१० Winternitz History of Indian Literature, Vol III, part I, Foot Note 1, P 163

त्व चेच्चम्पककोरके न कुरुषे प्रेमाणमेतावता
का हानिर्नहि तस्य कृत्यमपि रे किञ्चित्पुनर्हीयते ।
तेनैवास्य तु वैभव मधुप हे यद भूषयन्ति स्फुटं
केलीमन्दिर देहलीपरिसरे कर्णेपु वामभ्रुव. ।।

कवि वीरेश्वर द्रविडनरेश मौद्गल्य हरि का पुत्र था ।[11] उसका समय अज्ञात है। वीरेश्वर का शतक काव्यमाला ५ मे प्रकाशित हो चुका है ।

(२७) रामशतक रामायणीय इतिवृत्त पर आधारित प्राचीनतम परिज्ञात प्रबन्धात्मक शतक है। मयूर ने जिस स्रग्धरात्मक शतक-परम्परा का प्रारम्भ किया था, रामशतक मे उसका सफल निर्वाह हुआ है। इसके सौ छन्दो मे भगवान् राम की अभिराम स्तुति है। १०१ वां पद्य भी हैं, पर वह स्तोत्र का भाग नही। इस उपजाति मे कवि सोमेश्वर ने आत्मपरिचय दिया है—

विश्वम्भरामण्डलमण्डनस्य श्रीरामभद्रस्य यशः प्रशस्तिम् ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा यामार्धनिष्पन्नमहाप्रबन्ध ।।

रामशतक मे रामजन्म से लेकर अयोध्या-आगमन तथा राज्याभिषेक तक की समूची कथा सक्षेपत. निबद्ध है। स्तुति रामकथा के अनुसार आगे बढती है। स्रग्धरा जैसे दीर्घ तथा जटिल छन्द का प्रयोग होने पर भी रामशतक की कविता माधुर्य तथा प्रसाद से सम्पन्न है। स्तोत्र-सुलभ सहृदयता तथा भक्ति-विह्वलता से रामशतक आद्योपान्त ओतप्रोत है। कवि सूर्यशतक आदि शतश्लोकी स्तोत्रो से प्रभावित अवश्य है, किन्तु उसकी कविता दुरूहता तथा कृत्रिमता से सर्वथा मुक्त है। रामशतक सोमेश्वर की नाट्यकृति 'उल्लासराघव' के परिशिष्ट रूप मे, गायकवाड ओरियेण्टल सीरीज, बडौदा से प्रकाशित हुआ है। सोमेश्वर गुजरात के शासक वस्तुपाल (तेरहवी शताब्दी) का आश्रित कवि था।

(२८) रोमावलीशतक लक्ष्मण भट्ट के पुत्र कवि रामचन्द्र की रचना है। रामचन्द्र ने १५२४ ई० मे रसिक रञ्जन नामक एक अन्य काव्य का निर्माण अयोध्या मे किया था। इस पर उन्होने श्रृङ्गार तथा वैराग्य परक एक टीका भी लिखी थी।[12]

(२९) आर्याशतक को, इसके सम्पादक श्री एन० ए० गोरे ने शैवदर्शन के प्रकाण्ड आचार्य अप्पय-दीक्षित (१५५८–१६३० ई० अथवा १५२०–१५९२ ई०) की रचना माना है, यद्यपि उनकी उपलब्ध ग्रन्थ सूची मे इसका उल्लेख नही है। शतक की सौ आर्याओ मे आर्यापति भगवान् शङ्कर की कमनीय स्तुति की गयी है। इसीलिये इसका नाम आर्याशतक रखा गया है। काव्य का प्रारभ भगवद् वन्दना से होता है—

दयया यदीयया वाड् नवरसरुचिरा सुधाधिकोदेति ।
शरणागत चिन्तितद त शिवचिन्तामणि वन्दे ।।

---

११ योऽभूद्द्राविडचक्रवर्तिमुकुटालकारभूतस्य रे
मौद्गल्यस्य हरे सुत क्षितितले वीरेश्वर सत्कवि ।।१०५।।

१२. शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ भाग, पृष्ठ १५२.

शतक मे कवि ने भगवान् शङ्कर से अपनी शरण मे लेने, दारिद्र्य-निवारण, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त तथा भक्ति भावना स्फुरित करने की प्रार्थना की है। काव्य को सामान्यत: दो खण्डो मे विभक्त किया जा सकता है। पूर्वार्ध मे आराध्यदेव की कृपा-पात्रता प्राप्त करने की आत्मनिवेदन-पूर्ण विह्वलता का प्रतिपादन है। कवि अर्धं नारीश्वर से अपने अर्ध भक्त को, उसके समस्त दोप भुला कर, औदार्य पूर्वक स्वीकार करने की याचना करता है।

वपुरर्धं वामार्धं शिरसि शशी सोऽपि भूषण तेऽर्धम्।
मामपि तवार्ध भक्त शिव शिव देहे न धारयसि ॥

अपरार्ध मे कवि ने अपने मन तथा ज्ञानेन्द्रियो को शिव-आराधना मे तत्पर होने को प्रेरित किया-है।

चेत शृणु मद्वचन मा कुरु रचन मनोरथाना त्वम्।
शरण प्रयाहि शर्व सर्व सकृदेव सोऽर्पयिता ॥

प्रवाहमयी शैली तथा रचना-चातुर्य के कारण आर्याशतक स्तोत्र-साहित्य की अनूठी कृति है। चमत्कार पूर्ण भावो को ललित तथा मधुर भाषा मे व्यक्त करने की कवि मे अद्भुत क्षमता है। मधुर हास्य की अन्तर्धारा काव्य मे रोचकता का सञ्चार करती है। श्री गोरे ने डॉ० राघवन की संस्कृत टीका तथा अपने अंग्रेजी अनुवाद सहित इसका पूना से सम्पादन किया है। काव्यमाला के द्वितीय गुच्छक के सम्पादक ने एक पाद-टिप्पणी मे अप्पयदीक्षित के (३०) उपदेशशतक का उल्लेख किया है। सम्भवत यह उनके वशज नील कण्ठ दीक्षित की कृति है।

शकरराम शास्त्री-सम्पादित 'माइनर वर्क्स ऑव नील कण्ठ दीक्षित' (मद्रास, १९४२) मे नील कण्ठ दीक्षित (१७ वीं शती) के (३१-३३) तीन शतक प्रकाशित हुए हैं। समारञ्जन शतक मे विद्वन्मण्डली के मनोरञ्जनार्थ विद्वत्ता, दान, शौर्य, सहिष्णुता, दाम्पत्य प्रणय आदि मानवीय सद्गुणो का १०५ अनुष्टुप छन्दो मे चित्रण हुआ है। दीक्षित जी की शैली अतीव सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। शतक की कतिपय सूक्तिया वहुत मार्मिक हैं।

उद्यन्तु शतमादित्या उद्यन्तु शतमिन्दव।
न विना विदुषा वाक्यैर्नश्यत्याभ्यन्तर तम ॥

शतक की पुष्पिका मे कवि ने विस्तृत आत्म परिचय दिया है। इति श्रीभरद्वाज कुल जलधिकौस्तुभ श्रीकण्ठ मत प्रतिष्ठापनाचार्य चतुरधिकशतप्रबन्ध निर्वाहक महाव्रतयाजि श्रीमदप्पय दीक्षित सोदर्य श्रीमदाच्चा दीक्षित पौत्रेण श्री नारायण दीक्षितात्मजेन श्री भूमिदेवी गर्भ सम्भवेन श्री नीलकण्ठ दीक्षितेन विरचित सभारञ्जन शतकम्।

वैराग्य शतक विरक्ति तथा इन्द्रियवश्यता की महिमा का गान है। प्रयास तो अनेक करते हैं, किन्तु विषय-सेवन का परित्याग विरले ही कर सकते है।

शतश परीक्ष्य विषयान्सघो जहति क्वचित्क्वचिद् धन्याः।
काका इव वान्ताशनमन्ये तानेव सेवन्ते ॥

अन्यापदेश शतक १०१ अन्यापदेशात्मक पद्यो का सग्रह है । मधु सूदन का (३४) अन्यापदेश शतक काव्य माला के नवम गुच्छक मे प्रकाशित हुआ । काव्य माला ४, पृष्ठ १८६ की पाद टिप्पणी मे नील कण्ठ-दीक्षित के (३५) कलिविडम्बन शतक का उल्लेख हुआ है ।

उपर्युक्त टिप्पणी मे उल्लिखित (३६-३८) ओष्ठशतक, काशिका तिलकशतक तथा जारजात शतक के कर्त्ता नील कण्ठ नारायण दीक्षित के आत्मज नील कण्ठ दीक्षित से भिन्न तीन अलग व्यक्ति हैं। सभारञ्जन की पुष्पिका मे उपलब्ध दीक्षित के आत्मवृत्त से यह स्पष्ट हो जाता है । ओष्ठ शतक का लेखक कवि नीलकण्ठ शुल्क जर्नादन का पुत्र है । काशिका तिलक शतक के रचयिता के पिता का नाम रामभट्ट है । तीनो का रचना काल अज्ञात है ।

(३९) आश्लेषाशतक विरहव्यथित मानस का करुण स्पन्दन है । वियोग मे पूर्वानुभूत सयोग की माधुरी विष बन जाती है । कविप्रिया को सम्बोधित शतक के समूचे पद्यो मे उत्कण्ठित मन की इसी कसक की अभिव्यक्ति हुई है ।

बाले मालति ! तावकीमभिनवामा स्वादयन् माधुरी
कञ्चित्कालमथाधुना बलवता दैवेन दूरीकृतः ।
उद्बाष्य चिरसेवितामनुदिन तामेव सञ्चिन्तयन्
भृङ्ग. कश्चन दूयते तव कृते हा हन्त रात्रिन्दिवम् ॥

आश्लेषा नक्षत्र मे उत्पन्न होने के कारण कवि प्रिया को शतक मे आश्लेषा कहा गया है । उसका वास्तविक नाम 'गङ्गा' प्रतीत होता है (गङ्गेति प्रथिता करोषि सततं सन्ताप मित्यद्भुतम्)

इसके रचयिता नारायण पण्डित कालिकट-नरेश मानदेव (१६५५-५८) के आश्रित कवि थे । मानदेव स्वय विद्वान् तथा विद्या प्रेमी शासक था । नारायण पण्डित उत्तरराम चरित की भावार्थदीपिका टीका के लेखक नारायण से भिन्न हैं । आश्लेषा शतक त्रिवेन्द्रम से १९४७ मे प्रकाशित हुआ है ।

प्रख्यात वैष्णवाचार्य महाप्रभु चैतन्य के जीवन चरित से सम्बन्धित रचनाओ मे सार्वभौम (१७ वी शती) की (४०) शतश्लोकी ने बगाल मे काफी लोकप्रियता प्राप्त की है ।[13]

कुसुमदेव कृत (४१) दृष्टान्त कलिका शतक सौ अनुष्टुपो की नीतिपरक रचना है । इसके प्रत्येक पद्य के भाव को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया गया है । यही इसके शीर्षक की सार्थकता है ।

उत्तम क्लेशविक्षोभ क्षम. सोढुं नहीतरः ।
मणिरेव महाशाणघर्षण न तु मृत्कणः ॥

---

१३. द्रष्टव्य—S. K. De :.Bengats Contribution to Sanskrit Literature and Studies in Bengal Vaisnavism, 1960. P. 102

कुसुमदेव का स्थितिकाल अनिश्चित है। सम्भवत वे सतरहवी शताब्दी मे हुए, यद्यपि वल्लभदेव ने सुभाषितावली मे उनके कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। यह काव्यमाला के गुच्छक १४ मे प्रकाशित हो चुका है।

गुमानि का (४२) उपदेश शतक काव्यमाला के भाग १३ मे प्रकाशित हुआ। विषय नाम से स्पष्ट है। लेखक का समय ज्ञात नही है।

कवि नरहरि का (४३) शृङ्गारशतक ११५ आत्म सम्बोधित शृङ्गारिक मुक्तको का संग्रह है, जो कही कही अश्लीलता की सीमा तक पहुच जाते हैं। कवि को अपनी विद्वत्ता तथा कवित्व शक्ति पर बहुत गर्व है। प्रिया-वर्णन के व्याज से नरहरि ने अपनी कविता को कालिदास तथा बाण के काव्य का समकक्षी माना है।

श्री कालिदास कविता सुकुमार मूर्ते
बाणस्य वाक्यमिव मे वचन गृहाण।
श्री हर्ष काव्य कुटिल त्यज मानबन्ध
वाणी कवेर्नरहरेरिव सम्प्रसीद ॥

अनुप्रास के प्रयोग मे नरहरि सचमुच सिद्ध हस्त हैं।

सविनयमनुवार वच्मि कृत्वा विचार
नरहरि परिहारं मा कृथा. दु ख भारम्।
हृदि कुरु नवहारं मुञ्च कोप प्रकार
कुरु पुलिन विहार सुभ्रु सभोग सारम् ॥

काव्य माला ११ मे एक अन्य (४४) शृङ्गारशतक प्रकाशित हुआ, जिसके प्रणेता गोस्वामी जर्नादन भट्ट है। पुष्पिका मे कवि ने कुछ आत्म परिचय दिया है। इति श्री गोस्वामिजगन्निवा सात्मज गोस्वामि जर्नादन भट्ट कृत शृङ्गार शतक सम्पूर्णम्। भट्ट जनार्दन ने नारी-सौन्दर्य के कई मनोरम चित्र अ कित किये हैं। उनकी दृष्टि मे नारी कामदेव की गतिमती शस्त्रशाला है (प्राय पञ्चशराभिधक्षिति भुजा शस्त्रस्य शाला निजा)

कामराज दीक्षित के (४५-४७) तीन शृङ्गारिक शतक शृङ्गारकलिका त्रिशती नाम से प्रकाशित हुए (काव्य माला १४)। प्रत्येक शतकमे पूरे सौ मुक्तक हैं। पद्य-रचना अकारादि तथा मात्रा क्रम से हुई है। प्रारम्भिक पद्यो मे कवि ने आत्म परिचय दिया है। उसके पिता सामराज स्वय सफल तथा विख्यात कवि थे।

हृदि भावयामि सतत तात श्रीसामराजमहम्।
यत्कृतमक्षरगुम्फ कवय कण्ठेषु हारमिव दधते ॥१०॥
श्रीसामराज जन्मा तनुते श्रीकामराज कवि।
मुक्तक काव्य विदुषा प्रीत्यै शृङ्गार कलिकाख्यम् ॥१५॥

(५२) माधवसिंहार्या शतक जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह (१७५०–६८ ई०) की प्रशसा मे लिखा गया है। लेखक हैं उनके सभाकवि श्याम सुन्दर दीक्षित लद्दूजी। इसमे ब्रह्ममण्डली के अन्तर्गत केवलराम ज्योतिषराय का भी गुणगान हुआ है।

स जयति ज्योतिपराय केवलरामाभिव सूरि।
श्रीमज्जयपुरनगरे पण्डितवर्य्य सदाचार्यः ।।१२६।। [१५]

श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने २४–८–६५ के पत्र मे तीन (५३–५५) शतको की सूचना दी है— सद्बोध शतक राजवर्णनशतक (नाहटा जी द्वारा सम्पादित सभाशृङ्गार मे प्रकाशित) तथा कृष्णराम भट्ट-रचित 'प्लाण्डुराज शतक'। प्लाण्डुराज शतक मे प्लाण्डुराज (प्याज) के गुणो का रोचक वर्णन किया गया है। यह जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। कृष्णराम भट्ट के (५६–५७) दो अन्य शतको-आर्यालङ्कार शतक तथा सार शतक का भी उल्लेख मिलता है। गोपीनाथ शास्त्री दाधीच कृत (५८) राम सौभाग्य शतक मे जयपुर नरेश रामसिंह (१९ वी शती का मध्य) का चरित वर्णित है।

बुहारी की उपयोगिता पर अनन्तलवार ने रोचक शैली मे (५९) सम्मार्जनी शतक लिखा है। यह मैसोर से प्रकाशित हुआ है।

(६०) विज्ञान शतक का कर्तृत्व अज्ञात है। विज्ञान शतक का सर्वप्रथम सम्पादन कृष्ण शास्त्री भाऊ शास्त्री गुह्ले ने १८९७ ई० मे नागपुर से किया था। एक अन्य सस्करण, जिसमे उपर्युक्त से दो पद्य कम हैं तथा अन्य पद्यो के अनुक्रम मे पर्याप्त वैभिन्य है, गुजराती प्रेस, बम्बई से मुद्रित हुआ। प्रो० कोसम्बी ने शतक त्रयादि सुभाषित-सग्रह मे इसका सशोधित पाठ प्रकाशित किया है।

गुह्ले-सम्पादित सस्करण की पुष्पिका मे विज्ञान शतक को भर्तृहरि की रचना माना गया है। इस कारण तथा विज्ञान शतक एव भर्तृहरि की कृतियो मे भाव तथा रचना-साम्य के आधार पर अब भी इसे भर्तृहरि-रचित मान लिया जाता है। परन्तु यह आधुनिक गढन्त प्रतीत होती है।

शतक के मगलाचरण मे गणेश की स्तुति की गयी है —

विगलदमलदानश्रेणि सौरभ्यलोभोपगत मधुपमाला व्याकुला काशदेश।
अवतु जगदशेष शश्वदुग्रात्मजो यो विपुलपरिघदन्तोद् दण्ड शुण्डा गणेश ।।

अन्तिम पद्य में (१०३) इसे वैराग्य शतक नाम से अभिहित किया गया है (बुधाना वैराग्य सुघटयतु वैराग्य शतकम्) वास्तव मे अन्य वैराग्य शतको की भाति विज्ञान शतक मे भी प्रेम की छलना, जगत् की नश्वरता तथा वैराग्य की महिमा का वर्णन है।

(६१-६२) सस्कृतस्य सम्पूर्णेतिहास (छज्जूराम शतकद्वय) सस्कृत-साहित्य के इतिहास की एक मात्र शतक सज्ञक रचना है। 'शतकद्वय' ६ परिच्छेदो मे विभक्त है, जिनमे क्रमश. व्याकरण, काव्य, साहित्य, न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, पूर्वोत्तर मीमासा के ग्रन्थो का निरूपण किया गया है। यह निरूपण विवेचनात्मक

१५ वही

न होकर गणनात्मक है । कुछ साहित्यिक विधाओ के प्रमुख ग्रन्थो का नामोल्लेख करके सन्तोष कर लिया गया है । कवियो का वर्णनक्रम भी सदैव निर्दिष्ट नही है । कई परवर्ती कवियो को पहले तथा पूर्ववर्तियो को पश्चात् रख दिया है । लेखक ने पद्यो की हिन्दी मे विस्तृत व्याख्या की है, जिसमे सस्कृत के विभिन्न लेखको की प्रशसा मे स्वरचित १०२ पद्य यथास्थान उद्धृत किये है । सम्भवत व्याख्या के इन पद्यो तथा मूल श्लोको को मिलाकर ही काव्य को शतक द्वय' का उपनाम दिया गया है । 'अन्यथा मूल काव्य की पद्य सख्या से इस उपशीर्षक की सगति नही बैठती । व्याख्या मे कुछ नवीन तथा अज्ञात टीकाकारो का नामोल्लेख हुआ है । इसके रचयिता म० म० छज्जूराम शास्त्री प्रतिभाशाली कवि, नाटककार, टीकाकार तथा दर्शन एव व्याकरण के मान्य पण्डित हैं । [१६]

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय मुज्जफरपुर के साहित्य-प्रधानाध्यापक श्री बदरीनाथ शर्मा की अन्योक्ति साहस्री मे (६३-७२) दस शतक सम्मिलित है । शतको के नाम हैं—जलाशयशतक, खेचरशतक, शकुन्तशतक, स्थावरशतक, तरुवरशतक, लताशतक, पशुशतक, यादश्शतक, क्षुद्रजन्तुशतक, प्रत्येकशतक उपरोक्त प्रतीको पर आधारित सौ अन्योक्तियो का सकलन है । अन्योक्ति साहस्री काशी से प्रकाशित हुई है । प्रसिद्ध नाटककार प० मथुराप्रसाद दीक्षित ने एक (७३) अन्योक्तिशतक की भी रचना की है । आधुनिक नाटककारो मे पण्डित मथुराप्रसाद अग्रगण्य हैं । उनके भक्त सुदर्शन, वीर प्रताप, वीर पृथ्वीराज, भारत विजय आदि नाटक बहुत सफल, रोचक तथा लोकप्रिय हैं ।

गान्धी स्मारक निधि, देहली से प्रकाशित (७४) गान्धी सूक्ति मुक्तावलि भारत के भूतपूर्व वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख द्वारा सस्कृत-पद्य में अनूदित गाधी जी की सौ सूक्तियो का सग्रह है । कवि ने प्रत्येक पद्य का अंग्रेजी मे अनुवाद भी कर दिया है । गान्धी सूक्ति मुक्तावलि का उपशीर्षक अथवा नामान्तर तो प्रत्यक्षत. शतक नही है, किन्तु अनुवादक ने भूमिका मे स्पष्टतः इसे शतक की संज्ञा प्रदान की है । 'I, therefore, Complated a Sataka and thought that this form and size would not be unwelcome to the public'

नागपुर से सन् १९५८ मे प्रकाशित प्रो० श्रीधर भास्कर वर्णेकर की जवाहर तरङ्गिणी अपरनाम (७५) भारतरत्नशतक एक आधुनिक प्रबन्धात्मक शतक है । इसमे भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री युग पुरुष जवाहरलाल नेहरू की गौरवशाली जीवन गाथा का मनोरम वर्णन हुआ है । भारतरत्नशतक उन रचनाओ मे है जिनसे साहित्य की प्रतिष्ठा तथा यथार्थ गौरव वृद्धि होती है । सस्कृत से अनभिज्ञ पाठको के उपयोग के लिये कवि ने स्वकृत अग्रेजी अनुवाद भी साथ दिया है । श्री वर्णेकर प्रतिभाशाली कवि हैं । भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है । उनकी कवित्वशक्ति रोचक तथा प्रभावशाली है । प्राचीन भारतीय इतिहास के पात्रो के प्रतीको के माध्यम से कवि ने नेहरूजी की कर्मठता, स्वार्थहीनता तथा राजनीति-नैपुण्य का भव्य चित्र अकित किया है ।

सोढश्चिराय खरदूषणसनिपात .
यद्वा नरोत्तमकुलैर्घटिता सुहृत्ता ।
उल्लघितो वहलसकट वारिधिश्च
रामायणं सुचरिते प्रतिबिम्बित ते ।।

---

१६. छज्जूराम शास्त्री की कृतियो के विवेचन के लिये देखिये 'विश्वसस्कृतम्' फरवरी, १९६४ मे प्रकाशित मेरा लेख 'केचित् पञ्चनदीया सस्कृतकवय'।

दुर्योधन प्रखरभीष्मबलावगुप्त
दुःशासन निहतपञ्चजन प्रभावम् ।
निस्सारता जन जनार्दन सङ्गतेन
नीत्वा, त्वयैव रचित नवभारत हि ॥

स्वार्थैकसक्ता पुरुषाधमसेवितेय
वाराङ्गनेव नृपनीतिरिति स्वनिन्दाम् ।
निस्स्वार्थमेत्य शरण पुरुषोत्तम वा
दूरीचकार सुगत हि यथाम्रपाली ॥

प्रधानमन्त्री के प्रिय व्यायाम 'शीर्षासन' की इम पद्य मे भावपूर्ण व्याख्या की गयी है ।

भूर्रहति क्रतुमयी शिरसा प्रणाम
द्यौ. किन्तु भोगबहुला चरणाभि घातम ।
इत्येव किं निजमनोगत मुत्तम त्वं
शीर्षासनेन नियत प्रकटीकरोषि ॥

भारतरत्नशतक के पृष्ठ पत्र पर श्री वर्णेकर की रचनाओ के विज्ञापन मे तीन (७६-७८) शतको का उल्लेख है—विनायकवैजयन्ती शतक, रामकृष्ण परमहसीय शतक, तथा शाकुन्तलशतश्लोकी । सम्भवत ये सभी अप्रकाशित हैं ।

साहित्य अकादमी दिल्ली के प्रकाशन 'आज का भारतीय साहित्य' मे सम्मिलित 'आधुनिक सस्कृत-साहित्य के उपयोगी सर्वेक्षण' मे डॉ० राघवन् ने (७९-८३) पाच शतको का—वेमनाशतक, सुमतिशतक, दशरथी शतक, कृष्ण शतक, भास्कर शतक—उल्लेख किया है । ये मूल तेलुगु शतको के श्री एस. टी जी वरदाचारियर द्वारा किये गये सस्कृत रूपान्तर हैं ।

परचित पद्यो तथा सूक्तियो के कुछ सकलन भी शतकाकार प्रकाशित हुए हैं । जगदीशचन्द्र विद्यार्थी ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के सौ-सौ मन्त्रो के[१७] चयन (८४–८६) ऋग्वेद शतक, यजुर्वेद शतक तथा सामवेद शतक के नाम से प्रस्तुत किये हैं । ऋग्वेद शतक दिल्ली से १९६१ ई० मे प्रकाशित हुआ, शेष दोनो १९६२ मे । इसी प्रकार हरिहर झा ने सस्कृत कवियो की सूक्तियो को सूक्ति शतक के (८७–८८) दो भागो मे सकलित किया है । प्रत्येक भाग मे पूरे सौ–सौ पद्य हैं । सूक्तिशतक चोखम्वा भवन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है ।

मेरे मित्र डा० सत्यव्रत शास्त्री की (८९) शतश्लोकी की 'वृहत्तर भारतम्' 'सस्कृत प्रतिभा' मे प्रकाशित हुई । इसमें वृहत्तर भारत की सास्कृति तथा वैभव का गौरव गान है । कविता सर्वत्र लालित्य तथा माधुर्य से समवेत है । डॉ० सत्यव्रत प्रतिभासम्पन्न कवि हैं । उनके दो अन्य काव्य —श्री बोधिसत्वचरितम् तथा गोविन्दचरितम् देहली से प्रकाशित हुए हैं ।

कण्टकार्जुन की कण्टकाञ्जलि अपरनाम (९०) नवनीति शतक आधुनिक सस्कृत-साहित्य की क्रान्तिकारी कृति है । नवनीति शतक आधुनिक विषयो पर व्यग्यात्मक शैली मे निबद्ध १६७ मुक्तक पद्यो

१७. श्री बोधिसत्वचरितम् का विवेचन मैंने 'विश्व सस्कृतम्, मे प्रकाशित अपने पूर्वोक्त लेख मे किया है ।

का अभिनव सग्रह है, जिसे 'पद्धति' नामक दस भागों, मुखबन्ध, अञ्जलिबन्ध तथा परिशिष्ट मे विभक्त किया गया है। भारतीय राजनीति, समाज, धर्म, प्रशासन, वर्तमान मंहगी, खाद्यान्न का अभाव, भ्रष्टता, कृत्रिम तथा छलपूर्ण जीवनचर्या आदि विविध विषयो पर कवि ने प्रबल प्रहार किया है कविता मे अपूर्व रोचकता तथा नूतनता है। कवि ने सस्कृत–काव्य की घिसी-पिटी लीक को छोडकर अभिनव शैली की उद्भावना की है। सस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिये ऐसी रचनाओं की विशेष आवश्यकता है, जो समकालीन जीवन के निकट हो तथा उसकी समस्याओ का विवेचन प्रस्तुत करें।

वर्तमान प्रशासन मे परिव्याप्त घूसखोरी पर, उपनिषदो के अश्वत्थ के प्रतीक से, कवि ने मर्मान्तक व्यंग किया है। उपनिषदो मे सृष्टि की तुलना एक ऐसे काल्पनिक वृक्ष से की गयी है। जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाए नीचे हैं। यह सृष्टितरु शाश्वत है। उसका उच्छेद करने की क्षमता किसी में नही है। परन्तु कवि की कल्पना है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग मे मानव ने सृष्टि के वृहत् अश्वत्थ के उन्मूलन के लिये अनेक उपकरणो का आविष्कार कर लिया है। पर घूस के बद्ध मूल अश्वत्थ का उच्छेत्ता आज भी नही है, न अतीत मे था और न भविष्य मे होगा।

ऊर्ध्वं मूलमधश्च यस्य वितता शाखा, सुवर्णच्छदः
कस्योत्कोचतरुर्जगत्यविदित यद्यप्यरूपोऽगुण ।
छेत्ता कश्चिदुदेति ससृतितरोः छेत्तास्य वृक्षस्य तु
नाभून्नास्ति न वा भविष्यति पुमान् । अश्वत्थ एषोऽक्षयः ।।

रामकैलास पाण्डेय का (९१) भारत शतक 'संस्कृत-प्रतिभा' मे तथा हजारीलाल शास्त्री का (९२) शिवराज विजय शतक 'दिव्य ज्योति' (शिमला) मे प्रकाशित हुए है। ये दोनो ऐतिहासिक काव्य हैं। भारतशतक में भारत के गौरवशाली अतीत तथा वर्तमान स्थिति का चित्रण है। शिवराजविजय शतक मे छत्रपति शिवाजी का चरित वर्णित है।

इनके अतिरिक्त निम्नांकित शतको की जानकारी जिनरत्न कोश, आमेर शास्त्र भण्डार तथा राजस्थान ग्रन्थ-भण्डारो की सूचियो से प्राप्त हुई है।

(९३-९४) चाणक्य शतक तथा नीतिशतक की रचना का श्रेय चाणक्य को दिया जाता है। किन्तु यह चाणक्य चन्द्रगुप्त के प्रधानामात्य विष्णुगुप्त चाणक्य कदापि नही हो सकता। प्राचीन भारत मे साहित्यिक रचनाओ को सम्बद्ध विषय के लब्धप्रतिष्ठ आचार्यो के नाम से प्रचलित करने की बलवती प्रवृत्ति रही है। इसी प्रकार वररुचि के नाम से दो (९५-९६) शतक उपलब्ध हैं—शतक तथा योगशत। शतक कोषग्रथ है। इसकी एक अपूर्ण प्रति जैन मन्दिर सघीजी, जयपुर मे सुरक्षित है। वेष्टन सख्या६९८। योगशत आयुर्वेद से सम्बन्धित रचना है। श्री मल्ल अथवा त्रिमल्लक का (९७) द्रव्यगुणशत श्लोक भी आयुर्वेद ग्रन्थ है। दोनो की हस्तलिखित प्रतिया आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर मे उपलब्ध हैं। योगशत की प्रति खण्डित है। प्रथम तथा अन्तिम पृष्ठ नही है। योगीन्द्रदेव के (९८) दोहशतक की एक प्रति ठौलियो के मन्दिर जयपुर मे है। वेष्टन सख्या १२०। अज्ञात कवियो के दो (९९-१००) दृष्टान्त शतक ज्ञात है। एक सुभाषित सग्रह है, दूसरा अलङ्कार ग्रन्थ। (१०१-१०६) अज्ञात कवियो के गोरक्ष शतक, आत्मनिन्दा शतक, आत्मशिक्षा शतक, मूर्ख शतक, गौडवशतिलक कृत वृद्धयोग शतक तथा शिववर्मन

का वन्घ शतक का उल्लेख भी सूची पत्रो मे हुआ है ।

इस प्रकार सस्कृत का शतक-साहित्य विशाल तथा वैविध्यपूर्ण है । पता नही शतक सज्ञा का क्या आकर्षण था कि प्राय समस्त कल्पनीय विषयो पर शतक लिखे गये हैं । स्पष्टत. इस साहित्यिक विधा ने जनता मे अपूर्व ख्याति प्राप्त की होगी । इसीलिए कवियो ने अपनी कविता को शतक का आवरण पहना पहनाकर प्रचलित किया । यह खेद की बात है कि साहित्य की यह रोचक सामग्री अस्तव्यस्त बिखरी पडी है । उपलब्ध शतको का सुसम्पादित सग्रह अवश्य प्रकाशित होना चाहिये ।

महाकवि समयसुंदर और उनका छत्तीसी-साहित्य

राजस्थान मे अेक कहावत है—'समयसु दर–रा गीतडा, कु भे राणे–रा भीतडा' अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कु भा द्वारा बनवाये हुये सपूर्ण मकानो, मदिरो, स्तभों और शिलालेखो आदि का पार पाना अत्यत कठिन है उसी प्रकार समयसुंदरजी विरचित समस्त गीतो का पता लगाना भी दुष्कर कृत्य है; उनके गीत अपरिमित है । यह महाकवि समयसु दर १७ वी शताब्दी के लब्धप्रतिष्ठ राजस्थानी जैन कवि हुअे है । उनका जन्म पोरवाल जातीय पिता श्री रूपसिंह और माता लीलादेवी के यहाँ अनुमानत सवत् १६१० मे साचोर (सत्यपुर) मे हुआ । बाल्यावस्था मे ही उन्होने दीक्षा ग्रहण कर क्रमश महोपाध्याय-पद प्राप्त किया । मधुर-स्वभावी महाकवि अपनी अप्रतिम विद्वत्ता और अनूठे व्यक्तित्व से अपने जीवन-काल मे ही प्रशसित हो चुके थे । उन्होने भारत के अनेक प्रदेशो का भ्रमण करके अपनी नानाविध रचनाओ और सदुपदेशो द्वारा तत्रस्थ जनसमुदाय को कल्याणपथ की ओर अग्रसर किया । सौभाग्यवश महाकवि ने दीर्घायु प्राप्त की थी । स० १७०३ मे उन्होने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अहमदाबाद मे समाधिपूर्वक नश्वर देह को त्यागकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया । अपनी इस दीर्घायु मे महाकवि ने सस्कृत, प्राकृत और राजस्थानी की अनेक रचनाअें की । 'इनकी योग्यता अेव बहुमुखी प्रतिभा के सवध मे विशेष न कहकर यह कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचद्राचार्य के पश्चात् प्रत्येक विषयो मे मौलिक सर्जनकार अेव टीकाकार के रूप मे विपुल साहित्य का निर्माता (महाकवि समयसु दर के अतिरिक्त) अन्य कोई शायद ही हुआ हो ।'[1] 'सीताराम–चौपई' नामक वृहत्काय जैन रामायण महाकवि की प्रतिनिधि रचना है । उनके अपरिमित गीत भी बडे महत्त्वपूर्ण हैं । महाकवि के संवध मे विस्तृत जानकारी अेव उनकी लघु रचनाओ के रसास्वादन के लिये श्री अगरचद नाहटा और भँवरलाल नाहटा सपादित 'समयसुंदर–कृति–कुसुमाजलि' द्रष्टव्य है । यहा प्रस्तुत है महाकवि के छत्तीसी-साहित्य का सक्षिप्त परिचय ।

छत्तीसी

मुक्तक रचनाओ का अेक प्रकार है 'छत्तीसी' । अैसी रचना जिसमे छत्तीस पद्य हो, छत्तीसी कहलाती है । इसमे छद कोई भी हो सकता है, पर उसके सपूर्ण पद्यो का उसी छद मे होना आवश्यक है । कही–कही छत्तीस के स्थान पर सैंतीस पद्य भी देखने को मिलते हैं, परतु वहा सैंतीसवा पद्य रचना के विषय से थोडा भिन्न और उसका उपसहार–सूचक होता है । इसी प्रकार इन छत्तीसियो का विषय कोई भी हो सकता है, पर वर्णनात्मकता और औपदेशिकता की इनमे प्रधानता पायी जाती है ।

---

१. महोपाध्याय विनयसागर : 'समयसु दर कृति कुसुमाजलि' गत निबध
'महोपाध्याय समयसुंदर' पृष्ठ १
(प्रकाशक–नाहटा ब्रदर्स, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता–७)

महाकवि समयसुदर विरचित सात छत्तीसियां उपलब्ध हैं जो इस प्रकार हैं—

१. सत्यासीया दुष्काल वर्णन छत्तीसी २. प्रस्ताव सवैया छत्तीसी ३. क्षमा छत्तीसी ४ कर्म छत्तीसी ५ पुण्य छत्तीसी ६. सतोष छत्तीसी और ७ आलोयणा छत्तीसी ।

(१) सत्यासिया दुष्काल वर्णन छत्तीसी

प्रस्तुत छत्तीसी की रचना महाकवि ने वि० सं० १६८७-८८ मे गुजरात मे की । ऋद्धि-सिद्धि से सर्वथा सपन्न गुजरात प्रदेश मे वि० स० १६८७ मे वडा भयकर दुष्काल पडा । वरसात का नामोनिशान न था । घनघोर घटायें घिर घुमडकर आती और कृषक-समुदाय को चिढाकर गायव हो जाती थी । खेत सूखे पडे थे । पानी के अभाव मे लोगो मे खलवली मच गई ।[1] खाने की समस्या विकट रूप में आ पहुँची । पशुओ को तो कुछ अंशो मे, आस पास के नगरो की सीमाओ पर, जहा थोडी-वहुत वर्षा हुई थी, चरने के लिये भेज दिया गया, परतु लोगो को अपने ही भोजन की व्यवस्था करना मुश्किल हो गया । खाद्य-सामग्री के लिये परस्पर लूट-मार होने लगी । महगाई का पार न रहा । प्रजावत्सल नरेशो ने अपनी जनता के लिये सस्ते अनाज की व्यवस्था की भी तो लोभी हाकिमो ने अपने पास जमाकर उसे महगे मोल वेचना प्रारभ कर दिया था ।[2]

ऐसी स्थिति मे लोगो को आधा पाव अन्न तक मिलना भी दुर्लभ हो गया । मान त्यागकर भीख मागने से भी लोगो का पेट नही भरता था । वृक्षो के पत्ते, काटी (घास विशेष) और छालें खाने की भी नौवत आई । जूठन खाना-पीना तो सामान्य बात हो गई थी ।[3]

प्रेम और ममत्व नाम की कोई चीज उस समय नही रह गई थी । पति पत्नि को, वेटा वाप को, वहन भाई को, भाई वहन को छोड-छोडकर परदेश को भागने लगे । परिवार का सम्वन्ध अन्न-प्रेम के आगे गौण हो गया । अपने आत्मज, आखो के तारे प्यारे पुत्र को वेचना पिता के लिए रचमात्र भी दुष्कर नही था ।

---

१. घटा करी घनघोर, पिण वूठो नही पापी ।
खलक लोग सहु खलभल्या, जीवइ किम जलवाहिरा;
'समयसुदर' कहइ सत्यासीया, ते ऋतूत सहू ताहरा ।३।।
(समयसुदर कृति कुसुमाँजलि, पृ० ५०१)

२ भला हुता भूपाल, पिता जिम पृथ्वी पालइ;
नगर लोग नरनारी, नेह सु नजरि निहालइ ।
हाकिम नइ हुतो लोभ, धान ते पोते धारइ,
महा मुहगा करि मोल, देखि वेचइ दरवारइ ।।
(समयसुंदर कृति कुसुमाजलि, छद ६, पृ० ५०२)

३. अध पा न लहै अन्न, भला नर थया भिखारी,
मूकी दीधउ मान, पेट पिण भरइ न भारी ।
पमाडीयाना पान, केइ वगरो नइ काटी,
खावै खेजड छोड, शालितूस सवला वाटी ।
अन्नरूण चुगइ अइंठि मे, पीयइ अइठि पुसली भरी ।
समयसुदर कहइ सत्यासीया, ग्रेह अवस्था तइ करी ।।८।। (स कृ कु पृ० ५०३)

यतियो को अपना पथ बढाने का सुअवसर मिल गया। लोग पथ-विचलित होने लगे। धधा उठने से धर्म और धैर्य की जडें खिसक उठी। श्रावको ने साधुओ की सार-सँभाल छोड दी। शिष्यो ने भूख से बाधित हो उदरपूर्ति के लिए गुरुओ को ही पत्र-पुस्तकें, वस्त्र-पात्रादि बेचने के लिए विवश किया।[1]

धर्म-ध्यान भी लुप्त होने लग गया था। भूख के मारे भगवान का भजन किसे भाता है। श्रावक लोगो ने मन्दिरो मे दर्शन करने जाना छोड दिया। शिष्य ने शास्त्राध्ययन बन्द कर दिया। गुरुवदन की तो परपरा ही उठ गई। गच्छो मे व्याख्यान-परंपरा मद पड गई। लोगो की बुद्धि मे फेर आ गया था।[2]

अनेक लक्षाधीश साहूकारो की सहायता के उपरात उस 'भुखमरी' मे अनेक मनुष्य वेमौत मरे। उनकी अर्थियाँ उठाने वाले ही नही मिल रहे थे। घरो मे हाहाकार मच रहा था और गलियो तथा सडको पर शवो की दुर्गंध व्याप्त थी।[3] अनेक सूरि-गच्छपतियो को भी हत्यारे काल ने अपने गाल मे ले लिया।

स्वय कवि पर भी इस प्रवल दुष्काल के कई तमाचे पडे। पौष्टिक भोजन के अभाव मे उसकी काया कृश हो गई। उपवासो से रही-सही शक्ति भी चली गई। धर्मध्यान और गुरुगुणगान ही उसके जीवन-पथ का संवल रह गया था।[4] ऐसे भीषण अकाल के समय यद्यपि शिष्यो ने कवि की कम ही सार-सँभाल ली, किंतु अन्य अनेक श्रावको और सेवाव्रतियो ने यथासामर्थ्य साधुओ और भिखारियो आदि के भोजन की व्यवस्था की जिनमे प्रमुख थे—सागर, करमसी, रतन, बछराज, ऊदो, जीवा, सुखिया वीरजी, हाथीशाह, शाह लटूका, तिलोकसी आदि। अहमदाबाद में प्रतापसी शाह की प्रोल मे रोटी और बाकला बाटने की व्यवस्था

---

१. दुखी यथा दरसणी, भूख आधी न खमावइ। श्रावक न करी सार, खिण धीरज किम थायइ।
चेले कीधी चाल, पूज्य परिग्रह परहउ छाडउ। पुस्तक पाना वेचि, जिम तिम अम्हनइं जीवाडउ॥
(स क्रु. कु छद १३, पृष्ठ ५०५)

२. पडिकमणउ पोसाल करण को श्रावक नावइ;
देहरा सगला दीठ, गीत गधर्व न गावइ।
शिष्य भणइ नही शास्त्र, मुख भूखइ मचकोडइ,
गुरुवंदण गइ रीति, छती प्रीत माणस छोडइ।
वखाण खाण माठा पड्या, गच्छ चौरासी एही गति,
'समयसुदर' कहइ सत्यासीया, काइ दीधी तइ ए कुमति॥१५॥ (स सु क्रु. कु पृ० ५०५)

३ मूआ घणा मनुष्य, राक गलीए रडवडिया;
सोजो वल्यउ सरीर, पछइ पाज माहे पडिया।
कालइ कवण वलाइं, कुण उपाडइ किहा काठी;
ताणी नाख्या तेह, माडि थइ सगली माठी।
दुरगधि—दशोदिशि ऊछली, माडा पाड्या दीसइ मूसा।
समयसुदर कहइ सत्यासीया, किण घरि न पड्या कूकुआ॥१७॥ (स क्रु कु पृ० ५०६)

४ पछि आव्यउ मो पासि, तु आवतउ मइ दीठउ,
दुरबल कीधी देह, म करि कह्यउ भोजन मीठउ।
दूध दही घृत घोल, निपट जीमिवा न दीधा।
शरीर गमाडि शक्ति, कई लघन पणि कीधा।
धर्म ध्यान अधिका धर्या, गुरुदत्त गुणगणउ पिण गुण्यउ;
समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, तुं नै हाक मारिनइ मइ हण्यउ॥ १९॥ (स. क्रु. कु पृ० ५०७)

की गई-थी ।[1] कवि ने लिखा है कि भगवान महावीर के काल से लेकर अब तक तीन द्वादशवर्षीय दुष्काल पडे थे किंतु जैसा संहार उस वर्ष के अकाल मे हुआ, वैसा पूर्व के उन लवे अकालो मे भी नही हुआ ।[2]

और इस सत्यानाशी 'सत्यासीये' का शमन किया 'अठ्यासीया' (वि० स० १६८८ के वर्ष) ने । वर्ष के आरम मे ही खूब जोरो की वर्षा हुई । धरती धान से हरी-भरी हो उठी । लोगो मे धैर्य का सचार हुआ । खाद्य पदार्थ सस्ते हो गये । लोगो का उल्लास लहरें लेने लगा । 'मरी' और 'मादगी' (महामारी) मुंह मोड चले । हा साधुओ की दशा अभी तक चिंतनीय थी ।[3] धीरे-धीरे उनकी भी सेवा और आदर की ओर ध्यान दिया गया । इस प्रकार गुजरात में पुन आनन्द का स'म्राज्य हो गया ।

बडी सुन्दर और सरस शैली तथा सरल भाषा मे लिखित इन मुक्तको मे कवि ने खुलकर अपनी भावुकता–सहृदयता का परिचय दिया है । जहाँ अेक ओर वह तत्कालीन प्रजा की दयनीय स्थिति का चित्रण करता है, वहा दूसरी ओर वह उस दुष्काल को जमकर गालिया भी निकालता है । अकाल के प्रति की गई इन कटूक्तियो मे कवि की कलात्मकता तो झलकती ही है, मानवता के प्रति उसका अगाध स्नेह भी इनमे परिलक्षित होता है । और सच तो यह है कि इस स्नेह भावना के कारण ही उसकी इन उक्तियो का उद्भव हुआ है—

१. समयसुंदर कहइ सत्यासीयउ, पड्यो अजाण्यउ पापीयउ ।।२।।
२. दोहिलउ दंड माथइ करी, भीख मगावि भीलडा ।
   समयसु दर कहइ सत्यासीया, थारो कालो मु ह पग नीलडा ।।५।।
३. कूकीया घणु श्रावक किता, तदि दीक्षा लाभ देखाडीया ।
   समयसु दर कहइ सत्यासीया, तइ कुटुंब विछोडा पाडीया ।।१०।।
४. सिरदार घणेरा सहर्‍या, गीतारथ गिणती नही ।
   समयसु दर कहइ सत्यासीया, तु हतियारउ सालो सही ।।१८।।
५. दरसणी सहूनइ अन्न द्यई, थिरादरे थोभी लिया ।
   समयसु दर कहइ सत्यासीया. तिहाँ तु नइ धक्का दिया ।।२५।।
६ समयसु दर कहइ सत्यासीयउ, तुं परहो जा हिव पापीया ।।२८।।

रसो मे करुण और अलकारो मे अनुप्रास की प्रधानता है । छद सवैया है । भाषा गुजराती मिश्रित

---

१. स क्र. कु छद २१–२३, पृ० ५०७-८,
२. महावीर थी माडी, पड्या त्रिण वेला पापी,
   बार बरषी दु काल, लोक लीधा, सतापी
   पणि अेकलइ अेक तइ ते कीयउ, स्यु बार वरसी बापडा,
   समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, बारै लोके न लह्या लाकडा ।।२६।। (स क्र कु पृ० ५०६)
३. मरगी नइ मदवाडि, गया गुजरात थी नीसरि,
   गयउ सोग सताप, घणो हरख हुयउ घरि घरि ।
   गोरी गावइ गीत, वली विवाह मडाणा ,
   लाडू खाजा लोक, खायइ थाली भर माणा ।।
   शालि दालि घृत घोल सु , भला पेट काठा भर्‍या ।
   समयसुन्दर कहइ अठ्यासीया, साध तउ अजे न साभर्या ।।३३।। (स क्र. कु पृ० ५११)

सरल और मुहावरेदार राजस्थानी है।

इस प्रकार महाकवि ने गुजरात के उस भीषण दुष्काल का आखों देखा हाल अपनी इस छत्तीसी मे वर्णन किया है जो रोमाचकारी तो है ही, प्रत्यक्षदर्शी द्वारा वर्णित होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

(२) **प्रस्ताव सवैया छत्तीसी**

इस रचना मे विविध विषयो पर प्रस्तावना के रूप मे (प्रास्ताविक) कहे गये ३७ उपदेशात्मक सवैये हैं जिनकी रचना [1] कवि ने स० १६६० मे खभात मे की।

वर्ण्य–विषय

सपूर्ण कृति मे ईश्वर, मनः शुद्धि, ससार के प्रति अनासक्ति, धर्मकृत्यों की महत्ता, दुष्कृत्यो के दुष्परिणामो आदि विषयो पर प्रकाश डाला गया है।

ईश्वर-साक्षात्कार के विषय मे कवि कहता है—सब कोई परमेश्वर-परमेश्वर चिल्लाते हैं किंतु उन्हे देख तो विरला ही पाता है। सचमुच वह कोई योगीश्वर ही होता है जिसे परमेश्वर के दर्शन होते हैं—

'समयसुंदर' कहइ जे जोगीसर, परमेसर दीठउ छइ तिणइ' ॥१॥

उस परमेश्वर को कोई ईश्वर कहता है तो कोई वेद-विधायक ब्रह्मा, कोई उसे कृष्ण के रूप मे मानता है तो कोई अल्लाह के रूप मे और कोई उसे ही सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहर्ता मानता है। किंतु कवि की मान्यता है कि परमेश्वर की महानता की थाह पाना किसी के वश की बात नही, वह (कवि) तो मात्र 'कर्म' को ही 'कर्त्ता' रूप मे जानता है—

'समयसुंदर कहइ हु तो मानु, करम एक करता ध्रू वेद' ॥२॥

धर्म की उपयोगिता की व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है—यज्ञ तथा पचाग्नि आदि की कठिन साधनाऐं करके कोई यह मान बैठे कि हम मुक्त हो जायेंगे सो ऐसी बात नही। सब धर्मों का मूल तत्त्व है–दया। जो व्यक्ति शास्त्रोक्त दया-धर्म का पालन करता है उसे ही जैन-धर्म दुराचारो के गर्त मे गिरने से बचाता है। अतः मुक्तिकामी को निस्सकोच हो आस्थापूर्वक धर्मकृत्य करने चाहिये क्योकि इनके अभाव मे किया गया धर्मकृत्य निष्फल होता है—

सका कखा सासउ म करउ कियउ धरम सहु धूंडि मिलइ।

× × × ×

समयसुदर कहइ आस्ता आणी धर्म कर्म कीजइ ते फलइ' ॥१०॥

धर्म के सबध मे कवि ने दूसरी बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण बतलाई है और वह यह कि किसी भी गच्छवाद के झझट मे न फँसकर मुक्तिकामी को केवल मन को निर्मल बनाने का प्रयास करना चाहिऐ।

---

१. सवत सोलनेउया वरषें श्री खभाइत नयर मझारि;
कीया सवाया ख्याल विनोदइं मुख मडण श्रवणे सुखकारि।
(स० कृ० कु० पृ० ५२२, छद ३७).

उसके बिना, चाहे कितना ही मूड मुडाओ, जटा बढाओ, नग्न रहो, पचाग्नि साधना करके और काशी मे करवत लेकर कष्ट सहो, भस्मी लगाकर भिक्षा मागो, मौन धारण करो चाहे कृष्ण नाम जपो, मुक्ति प्राप्त करना सर्वथा दुर्लभ है—

कोलो करावउ मुड मुंडावउ, जटा घरउ को नगन रहउ ।
को तप्प तपउ पचागनि साधउ कासी करवत कष्ट सहउ ।
को भिक्षा मागउ भस्म लगावउ मौन रहउ मावइ कृष्ण कहउ;
समयसुदर कहइ मन सुद्धि पाखइ, मुगति सुख किमही न लहउ ।।१६।।

इसी प्रकार बिना धर्मकृत्यो के नर की सपूर्ण मान-प्रतिष्ठा और नारी का सपूर्ण साज-शृगार भी निस्सार है—

मस्तिकि मुगट छत्र नइं चामर वइसठ सिंहासन नइ रोकि;
आण दाण वरतावइ अपणी आज नमइ नर नारी लोक ।
राजरिद्धि रमणी घरि परिघल जे जोयइ ते सगला थोक ।
पणि समयसुदर कहइ जउ ध्रम न करइ, तउ ते पाम्यु सगलु फोक ।।२०।।
सीसफूल स मथउ नकफूली, कानई कुडल हीयइ हार ।
भालइ तिलक भली कटि मेखल बाहै चूडि पुणछिया सार ।।
दिव्य रूप देखती अपछर, पगि नेउर झांझर झणकार ।
पणि समयसुदर कहइ जउ ध्रम न करइ, तउ भार भूत सगलौ सिणगार ।।२१।।

इसलिए मास-भक्षण, मदिरापान, विजया-सेवन, चोरी, असत्य भाषण, परदार-रति आदि समस्त नर्क के द्वारो से विमुख होकर मुमुक्षु को अविलव धर्म-साधना मे लग जाना चाहिए क्योकि यह आयुष्य पल प्रतिपल बीता जा रहा है और बीता हुआ समय किसी भी प्रकार से हाथ नही आ सकता ।

ससार-सुख के विषय मे भी कवि का दृष्टिकोण स्पष्ट है । उसके अनुसार ससार मे आज सच्चा सुखी कोई नही । यहा कोई विधुर है तो कोई निस्सतान, कइयो के पास खाने को अन्न नही है तो कई रोगाक्रात और शोकाविष्ट हैं । कहीं विधवाएँ छाती पीटती दृष्टिगत होती हैं तो कही विरहिणिया छतों पर खडी काग उडाती हैं । सबको किसी न किसी प्रकार का दुख है ही । ये सब दुख मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मो के कारण भोगने होते हैं ।

कर्म की गति भी बडी विचित्र है । महान व्यक्तियो को भी कर्मों के फल तो भोगने ही पडते हैं चाहे वे सत् हो अथवा असत् । इस कर्मबंधन के कारण ही महावीर के कानो मे कीलें गाडी गई, राजा हरिश्चद्र को चाडाल के घर पानी भरना पडा । राम-लक्ष्मण को वनवास की कठोर यातनाएँ सहनी पडी तथा रावण जैसे महान पराक्रमी को स्वर्णमडित लका और लका ही क्यो, प्राणो तक से हाथ धोना पडा—

महावीर नइ काने खीला, गोवालिए ठोक्या कहिवाय,
द्वारिका दाह पाणी सिर आण्यउ, चडाल नइ घरि हरिश्चद राय ।
लखमण राम पाडव वनवासि, रावण वध लका लूटाय,
समयसुन्दर कहइ कहउ ते कहु परिण, करम तणी गति कही न जाय ।। २८।।

इस कर्म-प्रधानता का अेक और पहलू भी कवि ने हमारे सम्मुख उपस्थित किया है । कर्मो (भाग्य) द्वारा ही सवको दुःख सुख भोगने होते है, यह मानकर किसी को हाथ पर हाथ रखकर वैठ भी नही जाना चाहिअे । अनवरत उद्यम का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है । कविवर इन दोनो को मान्यता प्रदान करते हैं—

वखत माहि लिख्यउ ते लहिस्यइ, निश्चय वात हुयइ हुणहार,
एक कहई काछड बाधीनइं उद्यम कीजइ अनेक प्रकार ।
नीखण करमा वाद करता इम भगडउ भागउ पहुतौ दरवारि ।
समयसुन्दर कहइ वेऊ मानउ, निश्चय मारग नइं व्यवहार ।।२९।।

कर्म और उद्यम की व्याख्या के बाद कवि ने लोकव्यवहार के सवंध मे भी कुछ बातें वतलाई है । लोकव्यवहार मे आदमी को वडा सतर्क रहना चाहिअे । परनिंदा और आत्मप्रशसा से विलग होकर सदैव अपने आपको तुच्छ अेव दूसरो को महान मानना चाहिअें । वस्तुतः दूसरो की निंदा करने मे रखा ही क्या है ? सव अपने-अपने कर्मों का फल तो भोग ही लेते हैं । पर निंदक को कोई पूछता तक नही, उसकी गिनती चाडालो मे की जाती है । जिनका स्पर्श तक करने मे लोग घृणा का अनुभव करते हैं । अैसे व्यक्तियो को नर्क की कठोर यातनाअें सहनी पड़ती हैं—

अपणी करणी पार उतरणी पार की वात मइ काइ पडउ,
पूठि मास खालउ परनिंदा लोका सेती काइ लडउ ।
(निंदा म करउ कोइ केहनी तात पराई मैंमत पडउ)
निंदक नर चंडाल सरीखउ, एहनई मत कोई आभडउ,
समयसुन्दर कहइ निंदक नर नइ नरक माहि वाजिस्यइ दडउ ।।३३।।

परनिंदा और मिथ्या भाषण—इन दोनो से दूर रह इस ससार को असार मानकर पंच महाव्रतो का पालन करते हुअे जो लोग जप तप और उत्कृष्टी क्रिया करते हैं, निस्सदेह उन्ही विरल व्यक्तियो को सच्चे जिन-धर्मोपासक कहा जा सकता है ।

अत मे कवि जैन-धर्म की महानता को स्वीकार करता हुआ यह कामना करता है कि इस जन्म के वाद आगे भी वह किसी जैन-धर्मावलवी के यहा ही उत्पन्न हो—

साचउ एक धरम भगवत नउ दुरगति पडता द्यइ आधार ।
समयसुन्दर कहइ जैन धरम जिहा तिहा हइज्यो माहृ अवतार ।।३७।।

(३) क्षमा छत्तीसी

प्रस्तुत छत्तीसी मे पूरे छत्तीस पद्य हैं जो नागोर,[1] मे लिखे गये। क्षमा का महत्व और क्रोध के दुष्परिणामो का प्रदर्शन करना ही इसमे कवि का प्रमुख उद्देश्य रहा है। प्रारम्भ मे ही कवि अपने जीव को समझता है—

आदर जीव क्षमा गुण आदर, म करि राग नइ द्वेप जी।
समता ये शिव सुख पामीजे, क्रोधे कुगति विशेष जी ॥१॥

वर्ण्य–विषय

अपने इसी कथन (कृति के प्रमुख उद्देश्य) को और स्पष्ट करने के लिये कवि ने यहा अनेक अैसे प्रसिद्ध महान पुरुषो का स्मरण किया है जिन्होने क्षमा गुण के द्वारा अपना उद्धार किया और अनेक ऐसे दुष्टात्माओ की गर्हणा भी की है जिन्होने क्रोध के वशीभूत हो अनेक दुष्कृत्य किये और अ तत. पाप के भागी हुअे। इनके नाम इस प्रकार हैं—सोमल ससुर और गजसुकुमाल, कोणिक और वेश्या, स्वर्णकार और मेतार्य ऋपि, खधकसूरि के शिष्य, सुकोशल साधु, ब्रह्मदत्त, चडरुद्र, सागरचद, चदना, मृगावती, साव–प्रद्युमन, भरत–वाहुवली, प्रसन्नचद्र ऋपि, स्थूलिभद्र आदि। दो-तीन प्रसग इस प्रकार है.—

ध्यानवस्थित गजसुकुमाल के चारो ओर मिट्टी की पाल वाधकर उसके ससुर सोमल ने अग्नि द्वारा उसका सिर जला दिया था किंतु गजसुकुमाल हिला तक नही और अत मे इस क्षमा के परिणामस्वरूप मृत्यूपरात उसे मुक्ति की प्राप्ति हुई—

सोमल ससरे सीस प्रजाल्यउ, वाधी माटीनी पाल जी।
गज सुकुमाल क्षमा मन धरतउ, सुगति गयउ तत्काल जी ॥४॥

क्षमामूर्ति मृगावती पर उसकी गुरुनी चदना ने, उसके भगवान के दर्शण करके रात्रि मे जरा देर से आने के कारण क्रोध किया था, उसकी भर्त्सना की थी किंतु मृगावती ने विना टस-से-मस हुये सव कुछ सहन कर लिया। इसी क्षमाशीलता के प्रभाव से मृगावती को केवल ज्ञान हुआ और तदनतर मोक्षप्राप्ति भी।

क्रोधावेश मे क्षमा जादू का सा प्रभाव ला देती है यह भरत और बाहुवली के चरित्र से भी जाना जा सकता है। किंतु जो क्रोधपूर्वक ही अपना जीवन व्यतीत करता है उसके पूर्वसचित शुभ कर्मों का ह्रास होने लगता है। मुनि स्थूलिभद्र ने अेक चातुर्मास मे कोश्या को दीक्षित किया जिससे उनके गुरु नें उन्हे तीन वार धन्यवाद दिया जव कि अन्य शिष्यो को अेक ही वार। इससे अेक शिष्य को, जिसने उक्त चातुर्मास अेक सिंह की गुफा पर विताया था, स्थूलिभद्र पर क्रोध आ गया। उसने भी विशेष धन्यवाद पाने की

१.　नगर माहि नागोर नगीनउ, जिहा जिनवर प्रासाद जी।
श्रावक लोग वसइ अति सुखिया, धर्म तणइ परसाद जी ॥३४॥
क्षमा छतीसी खाते कीधी, आतमा पर उपगार जी।
साभलता श्रावक पण समझ्या, उपसम धर्यउ अपार जी ॥३५॥
(स. कृ. कु. पृ० ५२६)

कामना से अगले चातुर्मास पर कोश्या वेश्या के यहा रहने की गुरु से अनुमति चाही । आदेश मिलने पर वह वहा गया, किंतु पूर्वोक्त क्रोध के कारण वह सयम-पथ से विचलित हो गया और चातुर्मास के बीच मे ही उसे कोश्या को प्रसन्न करने के लिए रत्नकबल लाने के लिये नेपाल जाना पडा—

सिंह गुफा वासी ऋषि कीधउ, थूलिभद्र ऊपर कोप जी ।
वेश्या वचने गयउ नेपाले, कीधउ संजम लोप जी ।। २८।।

हलाहल विष प्राणी को अेक ही बार मारता है किंतु क्रोध उससे भी अधिक बलिष्ठ है । अनेक वार किया गया क्रोध उतनी ही वार प्राणी को मृनकवत् बना देता है । क्रोधावस्था मे किये जप, तप आदि सुकृत्य किसी भी काम के नही रहते और वैसे क्रोध से लाभ भी तो कुछ नही होता । क्रोधी स्वय उस कोपाग्नि मे जलता है और दूसरो को भी जलाता है—

विष हलाहल कहियइ विरुयउ, ते मारइ इक वार जी ।
पण कषाय अनती वेला, आपइ मरण अपार जी ।।३१।।
क्रोध करता तप जप कीधा, न पडई काइ ठाम जी ।
आप तपे पर नइं संतापइ, क्रोध सुं केहो काम जी ।।३२।।

अ त मे कवि क्षमा-गुण पर रीझ कर उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करता दृष्टिगत होता है—

क्षमा करता खरच न लागइ, भागे कोड कलेस जी ।
अरिहुन देव आराधक थावइ, व्यापइ सुयश प्रदेश जी ।।३३।।

(४) कर्म छत्तीसी

इस छत्तीसी मे भी कुल छत्तीस पद्य हैं जिनकी रचना मुलतान नगर मे सं० १६६८ के मार्गशीर्ष शुक्ला ६ के दिन हुई ।[1]

वर्ण्य विषय

इस रचना मे कवि ने कर्म की सबलता का उल्लेख किया है । प्रत्येक जीवधारी कर्मो के वशीभूत है ।[2] विना कर्मों के फल को भोगे कोई भी उनसे विमुक्त नही हो सकता । अतुलवली तीर्थंकर और चक्रवर्ती तथा वासुदेव–प्रतिवासुदेवो तक को कर्म अपने चगुल मे फँसाये रखते हैं ।[3]

कृति मे कवि ने उन पौराणिक महान आत्माओ की नामावली दी है जिन्हे कि कर्म की कठोर विडबना सहनी पडी थी । प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—भगवान आदिश्वर, मल्लिनाथ तीर्थंकर,[4] भगवान

---

१. सकलचद सदगुरु सुपसाये सोलह सइ अडसठ्ठ जी ।
करम छत्तीसी ए मइ कधी, माह तणी सुदी छठ्ठ जी ।।३५।।
—कर्म छत्तीसी (स. कृ कु. पृ०५३३)

२. कर्मथी को छूटइ नही प्राणी, कर्म सवल, दुख खाणजी ।
कर्म तणइ वस जीव पड्या सहु, कर्म करइ ते प्रमाण जी ।।१।।

३. तीर्थंकर चक्रवर्त्ति अपुल वल, वासुदेव वलदेव जी ।
ते पणि कर्म विटब्या कहिये, कर्म सवल नितमेव जी ।।२।।

४ मल्लिनाथ तीर्थंकर लाधउ, स्त्री तणउ अवतार जी ।
तप करता माया तिण कीधी, करमे न गिणी कार जी ।।६।।

महावीर, सगर राजा, ब्रह्मदत्त, सनत्कुमार, कृष्ण,[1] रावण,[2] राम,[3] कडरीक, कोणिक, मुज,[4] ढढण ऋषि,[5] सेलग आचार्य, नदिषेण, सुकुमालिका आदि अनेक सतिया इत्यादि इत्यादि।

अंत मे ऐसे क्लिष्ट कर्मों के क्लेश से बचने के लिये कविवर ने इस छत्तीसी का श्रवण करना और धर्मकृत्यो का सेवन करना हितकर वतलाया है।

करम छत्तीसी काने सुणि नइ, करजो व्रत पच्चखाण जी।
समयसु दर कहई सिव सुख लहिस्यउ, धर्म तणो परमाण जी ॥३६॥

(५) पुण्य छत्तीसी

प्रस्तुत छत्तीसी की रचना महाकवि ने सवत् १६६९ मे सिद्धपुर मे की।[6]

रचना में कुल ३६ पद्य हैं जिनमे पुण्यकृत्यो का माहात्म्य प्रदर्शित है। रचना के माध्यम से कवि समाज मे पुण्य-कृत्यो का प्रचार-प्रसार करता दृष्टिगत होता है। कवि का यह उद्देश्य कृति के प्रथम पद्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है—

पुण्य तणा फल परतिख देखो, करो पुण्य सहु कोय जी।
पुण्य करता पाप पुलावे, जीव सुखी जग होय जी ॥१॥

वर्ण्य-विषय

अरिहंत देव द्वारा निरूपित पुण्य के निम्नांकित रूपो का उल्लेख करके कवि ने उन अनेक पुण्यात्माओ का अपनी कृति मे नाम-निर्देश किया है जिन्होने पुण्यकृत्यो के सयोग से अपार आनद, ऋद्धि-समृद्धि और मोक्ष की प्राप्ति की—अभयदान, अनुकपादान, साधु-श्रावको का धर्मपालन, तीर्थयात्रा करना, शील-सयम का पालन और जप-तप तथा ध्यान धारण करना; नियम पूर्वक सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण एव देव पूजन तथा गुरु सेवा करना आदि।[7]

---

१ कृष्णे कोण अवस्था पामी, दीठउ द्वारिका दाह जी।
माता पिता पण काढी न सक्या, आप रह्यउ वन माह जी ॥१२॥

२. राणउ रावण सबल कहातो, नव ग्रह कीधउ दास जी।
लक्ष्मण लका गढ लूंटायो, दस सिर छेद्या तास जी ॥१३॥

३ दसरथ राय दियो देशवटउ, राम रह्यउ वनवास जी।
वलि वियोग पड्यउ सीतानउ, आठे पहर उदास जी ॥१४॥

४. लुब्धो मुज मृणालवती सु, उज्जेनी नउ राव जी।
भीख मगावी सूली दीधउ, कर्णाट राय कहाय जी ॥१८॥

५ कृष्ण पिता नर गुरु नेमीश्वर, द्वारिका ऋद्धि समृद्धि जी।
ढढण ऋषि तिहा आहार न पामइ पूर्व कर्म प्रसिद्ध जी ॥२०॥

६ सवत् निधि दरसण रस ससिहर, सिधपुर नगर मझार जी।
शातिनाथ सुप्रसादे कीधी, पुण्य छत्तीसी सार जी ॥३५॥
(स. कृ. कु पृ० ५४०, पुण्य छत्तीसी)

७ अभयदान सुपात्र अनोपम, वली अनुकपा दान जी।
साधु श्रावक धर्म तीरथ यात्रा, शील धर्म तप ध्यान जी ॥
सामायिक पोपह पडिकमणो, देव पूजा गुरु सेव जी।
पुण्य तणा ए भेद परुप्या, अरिहंत वीतराग देव जी ॥३॥

भगवान शातिनाथ ने अपने पूर्वभव मे एक कबूतर को शरण मे रखकर जो पुण्य कार्य किया उसी के परिणामस्वरूप उन्हे तीर्थ कर-सी श्रेष्ठ पदवी और अपार ऋद्धि की उपलब्धि हुई।[1] चपक-श्रेष्ठि ने दुष्काल के अवसर पर जो दान दिया उसके पुण्य से उसे छियानवे करोड स्वर्ण-मुद्राओ की प्राप्ति हुई।[2] आदि तीर्थ कर भगवान ऋषभदेव को सेलडी रस देकर श्रेयासकुमार भवमुक्ति पा गये थे।[3]

इनके अतिरिक्त महाकवि ने पुण्याचारियो की सारिणी मे इनके भी पुण्य कर्मों का उल्लेख किया है–मेघकुमार, अयवतिसुकुमाल, धन्ना सार्थवाह, चदनबाला, सुमुख गाथापति गोभद्र सेठ, मूलदेव, बलदेव मुनि, सुव्रत साधु, सनत्कुमार, बलभद्र, [4] वस्तुपाल-तेजपाल, कुलध्वजकुमार, सती सुभद्रा, धन्ना अणगार, रावण और श्रेणिक राजा [5] तथा प्रदेशी [6] आदि। इसी प्रकार के अन्य अनेक विवेकी जीव पुण्य के प्रभाव से सुखी हो चुके हैं, हैं और आगे भी होगे।[7]

(६) संतोष छत्तीसी

इस छत्तीसी की रचना कवि ने स० १६८४ मे लूणकरणसर के चातुर्मास मे की थी।[8] इसमे भी कुल ३६ पद हैं।

वर्ण्य-विषय

प्रस्तुत कृति मे कवि ने कहा है—सपूर्ण वैर-विरोधो से विमुक्त हो प्रत्येक सहधर्मी को दूसरे के साथ बडे प्रेम और सौहार्द के साथ व्यवहार करना चाहिये। ऐसे व्यवहार को सतोष कहा गया है, समता कहा गया है। सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और नवकार-मत्र आदि की सिद्धि भी रागद्वेष वालो को नही होती अपितु उन्हे होती है जो समता का व्यवहार करते हैं, संतोषपूर्वक रहते हैं। अरिहत देव ने भी यही बतलाया है—

---

१. सरणागत राख्यउ पारेवउ, पूरव भव परसिद्ध जी।
शातिनाथ तीर्थ कर पदवी, पाम्या चक्रवर्ती रिद्ध जी ।।४।।

२ चपक सेठ कीधी अनुकपा, दीधु दान दुकाल जी।
कोडि छन्नु सोनइया केरी, विलसइ रिद्धि विसाल जी ।।१५।।

३. उत्तम पात्र प्रथम तीर्थ कर, श्री श्रेयास दातार जी।
सेलडी रस सूधउ वहरायो, पाम्यउ भव नउ पार जी ।।६।।

४. रूप थकी अनरथ देखी नइ, गयो वलभद्र वनवास जी।
तप सयम पाली नई पहुतउ, पाचमइ स्वर्ग आवास जी ।।१८।।

५ राणे रावण श्रेणिक राजा, अरच्या अरिहत देव जी।
वेहु गोत्र तीर्थ कर वाध्या, सुरनर करस्यै सेव जी ।।३२।।

६. केसी गुरु सेव्यउ परदेसी, सुर उपनो सुरिआभ जी।
चार हजार बरस एक नाटक, आगे अनता लाभ जी ।।३३।।

७ इम अनेक विवेक धरता, जीव सुखिया थया जाण जी।
सप्रति छै सुखिया वलि थास्यै, पुण्य तणै परमाण जी ।।३४।।

८. तिम सतोष छत्तीसी कीधी, लूणकरणसर माहि जी।
मेल थयउ साहमी माहो माहि, आणद अधिक उच्छाह जी ।।३५।।

× × × ×

सामायक पोसो पडिकमणो, नित सभाय नवकार जी।
राग द्वेष करता सूझइ नही, न पडै ठाम लगार जी ॥२६॥
समता भाव धरी नइ करता, सहु किरिया पडै ठाम जी।
अरिहत देव कहइ आराधक, सीझइ वंछित काम जी ॥२७॥

और राग-द्वेष करने वालो को नर्क के दुख भी भोगने पडते हैं। उनकी दुर्गति का कोई पार नही होता।

सहधर्मी का सयोग सौभाग्य से ही मिलता है। अत उसके साथ सतोपपूर्वक रहना चाहिये। कवि का कहना है—

साहमी सु सतोप करीजइ, वयर विरोध निवार जी।
सगपण ते जे साहमी केरउ, चतुर सुणो सुविचार जी ॥१॥

सहधर्मी के साथ प्रेमपूर्वक रहना, उससे अपने दोषो के लिए क्षमा मागना, उसे हित की बात कहना, उसकी हित की बात सुनना, ये सब सहधर्मी–वात्सल्य (समता, संतोष) के अन्तर्गत आता है। इस सहधर्मी–वात्सल्य को जिन महापुरुषो ने निभाया और जिसके कारण उन्हे यश और मुक्ति लाभ हुआ, उनमे से कइयो का कवि ने अपनी कृति मे स्मरण किया है।

सवत् सोल चउरासी वरसइ, सर माहे रह्या चउमास जी।
जस सोभाग थयउ जग माहे, सहु दीधी साबास जी ॥३५॥

वज्रजंघ राजा अरिहत और साधु के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नही किया करता था। अपने से बडे राजा सिंहोदर को भी वदना करते समय वह अपना व्रत नही भूलता था और हाथ की मुद्रिकागत मुनि सुव्रत स्वामी की मूर्ति को ही उस समय नमन करता था। ऐसा सहधर्मी जब सिंहोदर के आक्रमण से आक्रात हो रहा था, भगवान राम ने उसे सहायता देकर अपना सहधर्मी–वात्सल्य प्रदर्शित किया था।[1] ऐसे अनेक सतोषधनियो के उदाहरण कवि ने दिये हैं जिनमे से प्रमुख ये है—राजा उदयन और चडप्रद्योतन भरत और बाहुबली, सागरचन्द्र और नभसेन, कोणिक और चेडा, विजयचोर, रुक्मिणी और सत्यभामा, कपिल ब्राह्मण और राम-लक्ष्मण, मृगावती और चदनबाला तथा आर्द्रकुमार और अभयकुमार।

---

१. अरिहत साधु विना प्रणमे नही, वज्रजघा ध्रम धीर जी।
सिंहोदर सु सतोष करायो, रामचद्र करि भीर जी ॥ ८॥

× ×

सिंहोदर पासे दिवरायो, रामे आधउ राज जी।
वज्रजंघन स्वामी जाणी नइ, सखर समार्‍यउ काज जी ॥१२॥

(७) आलोयणा छत्तीसी

कुल ३६ पद्यो की प्रस्तुत छत्तीसी का सृजन महाकवि ने सवत् १६६८ मे अहमदाबाद मे किया ।[1]

वर्ण्य–विषय

कृति का प्रमुख कथ्य है—शुद्ध अत करण से अपने किए हुए पापों की आलोचना करने से अर्थात् पश्चाताप करने से प्राणी उनके दुष्परिणामो से मुक्त हो सकता है । शुद्ध हृदय से कहा गया 'मिच्छामि दुक्कड' अनेक पापो के पलायन मे समर्थ है चाहे वह कितने ही भयकर और दुष्परिणामप्रद क्यो न हो ।[2] किंतु इस 'मिच्छामि दुक्कड' करने के पश्चात् मुक्तिकामी को उस अकृत्य को सदा के लिए न करने का व्रत ले लेना चाहिए ।[3]

इसके साथ ही कवि ने उन कृत्यो का भी उल्लेख किया है जिनके करने से जीव पाप का भागी होता है । उनमे प्रमुख हैं— असत्य-भाषण, चोरी, परदारगमन और किसी निरपराधी का अकारण जीव-हनन करना आदि । जो लोग मिथ्या भाषण करते हैं अथवा किसी को मिथ्या कलक लगाते हैं उनके गले मे गलजीभी जैसा रोग हो जाता है जिसके कारण मु ह टेढा हो जाया करता है ।[4] जीभ के स्वाद के लिए मारा गया प्राणी भव-भव मे अपने अपराध का वदला लेता है, अपने हत्यारे के साथ युद्ध करता है और उसे मार डालता है ।[5] लगभग ऐसी ही दुर्गति चोरो की हुआ करती है ।[6]

परदार-सेवन जैसे दुष्कृत्यो के क्षणिक सुख मे मस्त रहने वाले काम-कीटो को नर्क मे गर्म की हुई लौह-पुतली का आलिगन करने जैसी अनेक यातनाए सहनी पडती है—

परस्त्री नइ भोगवी, तुच्छ स्वाद तूं लेसि ।
पिण नरके ताती पूतली, आलिगन देसि ।।१५।।

घाणी, घट्टी ओखली मे कई वार असावधानी से छोटे-छोटे जीवों की हत्या हो जाती है । यदि उनके लिये क्षमापना (पापालोचना) नही की जाती है तो जैसे प्राणी को नर्क मे घाणी के अन्दर पील दिया जाता है—

---

१. सवत् सोल अट्ठाणूए, अहमदपुर माहि ।
समयसु दर कहइ मइ करी, आलोयणा उच्छाहि ।।३६।। (स. कृ कु. पृ० ५४७)

२. पाप आलोय तूं आपणा, सिद्ध आतम माख ।
आलोया पाप छूटियइ, भगवत इणि परि भाख ।।१।।

३ मिच्छामि दुक्कड देइ नैं, पछइ लेजे तू सू सि ।।२६।।

४ झूठ वोल्या घणा जीभडी, दीधा कूड कलक ।
गलजीभी थास्यैं गलैं, हुस्यइ मु हडो त्रिवक ।।१३।।

५ जीभ नइ स्वाद मार्‌या जिके, ते मारस्यइ तुज्झ ।
भव माहे भमता थका, थास्यैं जिहा तिहा जुज्झ ।।१२।।

६ परधन चोरया लूटिया, पाड्या धसकउ पेट ।
भूख्यो भमि ससार मा, निर्धन थकउ नेट ।।१४।।

घाणी, घट्टी ऊंखले, जीव जे पीडेसि ।
खामिस तू नहि तरि नरक मइं, घाणी माहि पीलेसि ।।१७।।

अतः कवि कहता है, इस प्रकार के पाप जिस किसी ने इस भव अथवा पर-भव मे किए हो वह उन पापो का नाम ले-लेकर क्षमा-प्रार्थना (आलोचना) करके पश्चाताप करे जिससे उन पापो से छुटकारा मिल जाय—

इण भव परभव एहवा, कीधा हुवे जे पाप ।
नाम लेइ तू खामजे, करिजे पछताप ।।३४।।

पापालोचन मे न तो कोई खर्च होती हैं एव न ही किसी प्रकार का शारीरिक श्रम ही करना पडता है अतः इसमे कभी ढील नही करनी चाहिए । आलोचना के पश्चात् मन को वैराग्य की ओर उन्मुख कर लेना चाहिए जिससे सही सुख की प्राप्ति हो सके—

खरच कोई लागस्यै नही, देह मैं नहिं दुख ।
पण मन वैराग वाल जे, सही पामिस सुख ।।३५।।

जो लोग जीवन भर अपने राग-द्वेपो के लिये क्षमापना नही करते, वे अनत काल तक भव-भ्रमण से मुक्त नहीं हो सकते—

राग द्वेष खाम्या नही, जा जीव्यउ ता सीम ।
अनतानुबंधी ते थया, कहि करिस तू केम ।।२१।।

जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त : जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१. कर्मवाद की तीन धाराएं

भारतीय चिंतकों ने अपने चिंतन का जो विशाल भवन निर्मित किया है, उसका स्वर्ण कलश यदि मुक्ति है तो उसकी आधार-शिला कर्मवाद या जन्मान्तर। कर्मवाद का विश्लेषण भारतीय विचारधारा मे मुख्यतया तीन तरह से हुआ है। एक तो उन अनीश्वरवादियों—जैन, बौद्ध और मीमासक—के द्वारा जो कर्म को इतना शक्तिशाली मानते हैं कि उसके लिए किसी नियन्ता की जरूरत नही होती। दूसरे उन ईश्वर-वादियो—विशिष्टा द्वैत, शैव—द्वारा जो एक ऐसे कर्माध्यक्ष या ईश्वर को मानते हैं जो जीव को यथोचित फल देता है। और तीसरे वे अद्वैतवेदान्ती एव साख्य हैं जो कर्म की पारमार्थिक सत्ता नही मानते। अविद्या के नष्ट होते ही कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इनमे मतभेद अवश्य हैं, किन्तु यदि सब के मूल मे हम जायें तो इतना सब मानते हैं कि किए हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है, चाहे वे अच्छे हो या बुरे।

जैन दर्शन मे कर्म-विज्ञान पर बहुत गम्भीर, विशद, वैज्ञानिक चिन्तना की गई है। कर्मों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्यत्र प्राप्त नही होता। जीवन के समस्त अगो का विश्लेषण कर्मवाद के द्वारा प्रतिपादन करना जैनो की अपनी मौलिक शोध है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त अपने आप मे इतना शक्तिशाली एव स्वतन्त्र है कि जीवो को कर्मफल देने मे उसे किसी नियता आदि की आवश्यकता नही होती। अचेतन का यह चेतन पर शासन है। एकदम चौका देने वाली बात ? लेकिन जब हम इस कर्मवाद की गहराई तक पहुचते हैं तो आश्चर्य होता है उन जैन मनीषियो की बुद्धि पर जिन्होने कितने सरल और वैज्ञानिक ढग से जीवन को सारी गुत्थिया सुलझाकर रख दी हैं।

जैन दर्शन मे कर्मवाद :

जैन-दर्शन मे कर्मवाद कैसे प्रारम्भ हुआ और कब से इन दो प्रश्नो को, कर्म-सिद्धान्त क्या है इसके विवेचन के पूर्व, समाधित कर लेना चाहिए। विश्व की विविधता पर चिंतन करते हुए प्राय प्रत्येक दर्शन ने उसके कारणो की खोज की। लेकिन यह कोई सरल कार्य नही था। जीवन का प्रारम्भ कब और क्यो हुआ यह कह पाना कठिन था। कब तो अभी तक अनुत्तरित है और क्यो को ईश्वर की इच्छा से जोड दिया गया। अतः विश्व का विविध रूपो मे परिवर्तन सब ईश्वर की कृपा है, इच्छा है। उस महान की इच्छा पूर्ति करने के हम केवल माध्यम है। प्राय इसी तरह की मान्यताओ ने अन्य दर्शनो को विश्राम दे दिया।

लेकिन जैन–दर्शन को यह दुहरी परिकल्पना कोई दिशा न दे सकी। उसने इस चिन्तन-प्रक्रिया को और गति दी। चिन्तन की गहराई ने मान्यताओ के व्यामोह को भग किया। इन चार अवस्थाओ को प्रतिपादित किया —

१. विश्व के मूल मे दो तत्व हैं—जीव और अजीव।

२. इन चेतन और अचेतन का सम्बन्ध जीव को नाना प्रकार की दशाओ मे परिवर्तित करता है। यही विश्व की विविधता है।

३. उक्त जीव-अजीव के सम्पर्क को रोकने और सर्वथा नष्ट करने की शक्ति जीव मे विद्यमान है।

४. तथा सम्पर्क नष्ट होते ही जीव पुन विशुद्ध एव निर्मल हो जाता है। यही मुक्ति है।

उक्त चार अवस्थाओ के प्रतिपादन से जैन-दर्शन के निम्न चार सिद्धान्त प्रतिफलित होते हैं—

१. तत्वज्ञान निरूपण सृष्टि का विश्लेषण।
२ कर्म-सिद्धान्त जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।
३. जैनाचार · सयम एव तपसाधना।
४. मुक्ति · जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि।

जैन-दर्शन ने इन चारो सिद्धान्तो की व्याख्या सात तत्वों के निरूपण द्वारा की है। प्रथम सिद्धान्त का सम्बन्ध जीव और अजीव से है। द्वितीय का आश्रव एव बन्ध से। तृतीय का मूलाधार सवर तथा निर्जरा हैं एव मोक्ष का सम्बन्ध अन्तिम सिद्धान्त से है।

यहा हमे द्वितीय सिद्धान्त कर्मवाद के अन्तर्गत आश्रव एव वन्ध तत्वो पर विचार करना है और यह देखना है कि आधुनिक मनोविज्ञान को कितने सूक्ष्म ढग से जैन मनीषियो ने हजारो वर्ष पूर्व हृदयगम कर रखा था।

जीव के साथ कर्मों का सम्पर्क ·

दो बातें यहा जानना जरूरी है। प्रथम यह कि कर्मों का जीव तक पहुँचने के साधन क्या हैं एव जीव के समक्ष पहुँचने पर कर्म उसमे अपना सम्बन्ध कैसे स्थापित करते हैं? साधनो पर विचार जैन-दर्शन मे 'आश्रव' तत्व के निरुपण द्वारा किया गया है।

जीव और कर्मो का वन्ध तभी सम्भव है जब जीव मे कर्म पुद्गलो का आगमन हो। अतः कर्मों के आने के द्वार को 'आश्रव' कहते हैं। वह द्वार जीव की ही एक शक्ति है जिसे योग कहते हैं। हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ वोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं वह सव कर्मो के आने मे कारण है। इस मन, वचन और काय की क्रिया को योग कहा गया है। अत स्पष्ट है, हमारा मन एव पाचो इ द्रिया ही कर्मो के आगमन मे प्रमुख कारण है। इन छहो की क्रियाओ (कर्म) द्वारा आत्मा का पुद्गल परमाणुओ से सम्पर्क होता है इसलिए इस सम्पर्क को 'कर्म' कहा गया है।

आत्मा के साथ कर्म-सम्पर्क होने मे मन का विशेष हाथ है। जीवन के सभी कार्य-व्यापार, चिंतन, मनन, इच्छा, स्नेह, घृणा आदि सभी कुछ मन के ऊपर ही निर्भर है। पाचो इ द्रियो पर इसी का शासन है।

अत आत्मा का विकास एव पतन इसी मन पर ही आश्रित है। जैन-दर्शन मे जहा मन को चचल और दुर्जय कहा गया वहा उसको वश मे करने की दिशा भी प्रदान की गई है। सयम एव ध्यान की एकाग्रता मन को स्थिर करती है। मन के निग्रह से पाचो इन्द्रिया वश मे हो जाती हैं और इन छहो पर विजय प्राप्त कर लेने से सारी विषय-वासना अपने आप तिरोहित हो जाती है। जीवन मे एक सन्तुलित गतिशीलता आ जाती है। अतः कर्म बन्धन मे मन प्रधान कारण है।

उपरोक्त साधनो से कर्म परमाणु आत्मा के समक्ष दो तरह से आते है और उसमे मिल जाते है। प्रथम काय आदि योगो की साधारण क्रियाओ के द्वारा और दूसरे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार तीव्र मनोविकार रूप कषायो के वेग से प्रेरित होकर। प्रथम प्रकार के कर्माश्रव को मार्गगामी कहा गया है, क्योकि उसके द्वारा आत्मा और कर्म प्रदेशो का कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नही होता। कर्म-परमाणु आते है और चले जाते है। जिस प्रकार किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर बैठी धूल शीघ्र झड जाती है, देर तक वस्त्र से चिपटी नही रहती। इस प्रकार का कर्माश्रव समस्त ससारी जीवो के निरन्तर हुआ करता है। क्योकि उनके किसी न किसी प्रकार की मानसिक, शारीरिक व वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु इसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नही पडता।

परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएँ कषायो से युक्त होती हैं, तब आत्म प्रदेशो मे एक ऐसी परपदार्थ ग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके सम्पर्क मे आने वाले कर्म परमाणु उससे शीघ्र पृथक नही होते। यथार्थत क्रोधादि विचारो की इसी शक्ति के कारण उन्हे कषाय कहा गया है। सामान्यतः वह वृक्ष के दूध के समान चेप वाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते हैं, क्योकि उनमे चिपकने की शक्ति होती है। उसी प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव मे कर्म परमाणुओ का आश्लेष कराने मे कारणी भूत होने के कारण कषाय कहलाते है। मनोविज्ञान की भाषा मे कहे तो जिन मनोविचारो से आत्मा कलुषित हो जाय एव मन मे विकार पैदा हो जाय उन्हे कषाय कहते है। इस सकषाय अवस्था मे उत्पन्न हुआ कर्माश्रव अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये विना आत्मा से पृथक नही होता। अत कषाययुक्त कर्मों का ही हमे फल भुगतना पडता है।

कर्म सम्बन्ध अनादि ·

स्वभावत· यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कर्म-परमाणु अचेतन है और आत्मा सचेतन। तब चेतन-अचेतन का परस्पर मेल कैसे होता है और किस प्रकार का होता है ?

अन्य दर्शनो की तरह जैन-दर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है। यह मानकर चलना आवश्यक भी है। क्योकि यदि यह मानकर चलें कि सर्वथा शुद्ध आत्मा (जीव) के साथ कर्मों का वन्ध होता है तो कई विवाद उठ खडे होते हैं। प्रथम यह कि सर्वथा शुद्ध जीव के कर्म वन्ध कैसे सम्भव है ? और यदि सर्वथा शुद्ध जीव भी कर्मवन्धन मे पड सकता है तो मुक्ति का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है ? मुक्त जीव भी तब कर्मों का कभी वध कर सकते हैं।

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि मान लेने से उपर्युक्त प्रश्नो की गुंजाइश नही रहती। जीव जब तक ससार मे रहता है किंचित राग-द्वेष परिणामो से हमेशा लिप्त रहता है, फिर भी उसकी सचेतनता मे

कोई फरक नही पडता। जैसे ताजे दूध मे पानी का अ श विद्यमान होने पर भी वह दूध ही कहलाता है। जीव के यही किंचित राग द्वेष रूप परिणाम नये कर्म बाघते हैं। अर्थात् जीव की सचेतनता मे जो अचेतनता के अ श है, वही नये कर्मों का आह्वान करते है। इन कर्मों से नाना गतियो मे जीव जन्म लेता है। जन्म लेने से ससारी पदार्थों के प्रति फिर उसके राग और द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं, जिनसे फिर कर्म बघते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष भाव और कर्म एक दूसरे के जन्म दाता है। इसी क्रम का नाम ससार-चक्र है।

जहा तक आत्मा और कर्म-परमाणुओ के सयोग के स्वरूप की बात है, उसका कोई निश्चित रूप-विधान नही किया जा सकता। जीव और कर्म-परमाणुओ का सवघ यद्यपि सयोग-पूर्वक होता है, किन्तु वह संयोग से एक जुडी वस्तु है। सयोग तो मेज और उस पर रखी हुई पुस्तक का भी है, किन्तु उसे बन्ध नही कह सकते। बन्ध तो एक ऐसा मिश्रण है जिसमे रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। उसमे मिलने वाले दो तत्व अपनी असली हालत को छोडकर एक तीसरे रूप मे बदल जाते हैं। जैसे दूध और पानी की मिलावट न तो दूध को दूव रहने देती और न पानी को पानी। दोनो एक दूसरे पर प्रभाव डालकर परस्पर घुल जाते हैं। जीव और कर्म बघन की भी यही अवस्था होती है।

जैन-दर्शन आत्मा और कर्मों के बन्ध का निरूपण करके ही चुप नही हो जाता बल्कि कर्म कितने प्रकार के है, किन क्रियाओ से कौन से कर्म बघते हैं, यह बन्धन कब तक रहता है, कैसे फल देता है, किस प्रकार घटता-बढता है तथा किन प्रयत्नो द्वारा सर्वथा नष्ट होता है आदि समस्त सम्बन्धित प्रश्नो पर भी विस्तार से विचार करता है। इस प्रकार का विषय-निरूपण सचमुच, जैन-दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है।

कर्मो के भेद :

जैन-दर्शन के कर्मों के भेद को कर्म प्रकृतियो के नाम से उपस्थित किया गया है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। अर्थात् कर्म कितने स्वभाव वाले होते है। कुछ कर्मो का स्वभाव ज्ञान को ढाकना होता हैं, किन्ही का दर्शन को। इस प्रकार की कर्मो की मूल आठ प्रकृतिया हैं--ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियो की अपनी-अपनी भेद रूप विविध उत्तर प्रकृतिया भी है।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसका पूर्ण विकास नही होने पाता। जिस प्रकार वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड जाता है उसी प्रकार इस कर्म के द्वारा आत्मा धूमिल हो जाती है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। मोहनीय कर्म जीव के जीव की रुचि व चारित्र मे अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। अन्तराय कर्म जीव द्वारा दान देने, लाभ लेने, वस्तुओ का भोग करने, उनसे सुख लेने एव सामर्थ्य के प्रयोग करने मे बाधा उत्पन्न करता है। वेदनीय कर्म प्राप्त वस्तुओ से फलित सुख-दुख का अनुभव कराता है। आयु कर्म जीव की देव, नरक, मनुष्य एव तिर्यञ्च गतियो की स्थिति का निर्धारण करता है। गोत्र-कर्म जीव को नीचगोत्र या उच्चगोत्र मे ले जाता है। नाम कर्म जीव का शारीरिक-निर्माण करता है। किसी को सुन्दर व कुरूप बनाना इसी के हाथ मे है।

कर्म-बन्ध के कारण :

सामान्य रूप से कर्म बन्ध का कारण जीव की कषायात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तिया हैं। किन्तु कौन-सी कषायात्मक प्रवृत्तिया किन कर्म-प्रवृत्तियो को बाधती है, जैन-दर्शन इसका भी सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करता है।

किसी के ज्ञानार्जन मे बाधा उपस्थित करना, उसके ज्ञान मे दूषण लगाना आदि कुटिल वृत्तिया ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति का बंध करती है। इसी प्रकार किसी के सम्यकदर्शन मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करने से दर्शनावरणीय कर्म बधता है। सज्जन पुरुषो की निंदा एव उनके प्रति क्रोधादि कषायो के तीव्र भाव उत्पन्न करने से मोहनीय तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग एव शक्ति जीवन की इन सामान्य प्रवृत्तियो मे विघ्न उपस्थित करने से अन्तराय कर्म का बध होता है। स्वयं या दूसरे को दु ख, शोक, बध आदि रूप पीडा देने से असाता वेदनीय एव जीवो के प्रति दया भाव, अनुकम्पा आदि करने से सातावेदनीय कर्म बधता है। इसी असाता और साता वेदनीय कर्मो के अनुसार पाप-एव पुण्य की स्थति होती है। यद्यपि कर्मो का बन्ध दोनो से होता है।

सासारिक कार्यों मे अति आसक्ति अति परिग्रह नरकायु का, मायाचार तिर्यञ्च आयु का, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह व स्वभाव की मृदुता मनुष्य आयु का तथा सयम व तप देवायु का बध कराते हैं। परनिन्दा, आत्म-प्रशसा आदि नीचगोत्र के, तथा इनसे विपरीत प्रवृत्तिया एव मान का अभाव और विनय आदि उच्च गोत्र-बन्धन के कारण है। मन-वचन-काय योगो की वक्रता एव कुत्सित क्रियाएँ आदि अशुभ नाम कर्म का बन्ध कर जीव को कुरूप बनाती है तथा इससे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म का बध कर जीव को सुन्दर तथा तीर्थंकर बनने की भी क्षमता प्रदान करता है।

कर्मों की स्थिति एवं शक्ति :

इस प्रकार नाना प्रकार की क्रियाओ द्वारा जब विविध कर्म-प्रकृतिया बध को प्राप्त होती है तभी उनमे जीव के कषायो की मदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वह बध कितने काल तक सत्ता मे रहेगा और फिर अपना फल देकर झड जायगा। पारमार्थिक शब्दावली मे इसे कर्मो का स्थिति बन्ध कहा है। यह स्थिति जीवो के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। कर्मों का स्थिति-बंध होने के साथ उनमे तीव्र व मन्द फलदायिनि शक्ति भी उत्पन्न होती है। इसी के अनुसार कर्म फल देते हैं।

कर्मों का फल :

कर्म किस प्रकार फल देते है, कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन के समय, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अन्य दर्शनो मे तो जीव को कर्म करने मे स्वतन्त्र और उसका फल भोगने मे परतन्त्र माना गया है। ईश्वर ही सब को अच्छे-बुरे कर्मों का फल देता है।

किन्तु जैन-दर्शन का कहना है कि कर्म अपना फल स्वय देते हैं। उसके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नही है। जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्म-परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बध जाते हैं, उन कर्म परमाणुओं मे शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है, जो चैतन्य के

सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है। और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक व दुखदायक होते है। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बधने वाले कर्म परमाणुओ पर अच्छा प्रभाव पडता है और बाद मे उनका फल भी अच्छा होता है। तथा यदि बुरे भाव होते है तो बुरा असर पडता है और कालान्तर मे उनका फल भी बुरा ही होता है। अत स्पष्ट है कि हमारे भावों का असर कर्म-परमाणुओ पर पडता है। उसी के अनुसार उनका अच्छा-बुरा विपाक होता है। इस प्रकार जीव जैसे कर्म करने मे स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्मफल के भोगने मे भी।

कर्मों मे परिवर्तन

यहा अब यह जिज्ञासा होती है कि जब कर्म निरन्तर बंधते और फल देते रहते हैं तो उन्हे हमेशा एक-सा ही होना चाहिए या तो अच्छा या बुरा। तब फिर कोई बुरे कर्मों को बाधने वाला जीव अच्छे कर्मो को किस प्रकार बाधेगा ? जैन-दर्शन ने इन तमाम जिज्ञासाओ को भी समाधित किया है।

उक्त विवेचन मे हमने देखा कि कर्म-परमाणुओ को जीव तक लाने का काम जीव की योग शक्ति करती है और उसके साथ बन्ध कराने का काम कषाय अर्थात् जीव के राग-द्वेष भाव करते है। इस तरह कर्मों मे अनेक प्रकार का स्वभाव पडना तथा उनकी सख्या का कमती-बढती होना योग पर निर्भर है। तथा कर्मों मे जीव के साथ कम या अधिक काल तक ठहरने की शक्ति का पडना और तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति का पडना कषाय पर निर्भर है। अब जैसा जिसका योग (मन-वचन-काय की क्रियाए) होगा और जैसी जिसकी कषाय (राग-द्वेष) होगी, वैसे ही उसके कर्म बधेंगे और वैसा ही उनका फल होगा।

जैन-दर्शन मे कर्मों की दस मुख्य क्रियाओ का प्रतिवादन किया गया है। कर्मों का बध होना, उनके ठहरने एव फल देने की शक्ति का बढना, घटना, स्थित रहना, निश्चित समय मे फल देना, समय से पूर्व फल देना, परस्पर सजातीय कर्मों मे मिल जाना, फल देने की शक्ति को रोक देना, कर्म को घटने-बढने न देना आदि। कर्मों की इन क्रियाओ से स्पष्ट है कि बुरे कर्मो का बन्ध करने वाला जीव यदि अच्छे कर्म करने लग जाता है तो उसके पहले बाधे हुए बुरे कर्मों की स्थिति और फल दान-शक्ति अच्छे भावो के प्रभाव से घट जाती है। और अगर बुरे कर्मों का बन्ध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते हैं तथा वह अधिक बुरे कर्म करने लग जाता है तो बुरे भावो का असर पाकर पहले बाधे हुए कर्मो की स्थिति और फल-दान-शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देर मे। किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। अत कर्म फल के भोग मे समय की विषमता, तीव्रता, मन्दता आदि सभी कुछ जीव के योग एव कषाय की मात्रा पर भी निर्भर है।

कर्मो से मुक्ति

कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित अब अन्तिम प्रश्न और बच रहना है, वह है—इस विशाल कर्म बधन की परम्परा से सर्वथा छुटकारा कैसे सम्भव है ? जैन दर्शन का परमतत्व, जीवन का अन्तिम एव उत्कृष्ट लक्ष्य आदि सब कुछ उक्त प्रश्न के समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

जीव के साथ कर्मों के बन्धन मे दो क्रियाए होती है—कर्मों का आना (आश्रव) और बध जाना (बन्ध)। अत उसके छुटकारा मे भी दो ही क्रियाए अपेक्षित हैं—कर्मो के आगमन को रोक देना और आये

हुए कर्मो को जीव से अलग कर देना। प्रथम क्रिया को संवर कहा गया है, दूसरी को निर्जरा। इन दोनो क्रियाओ के सम्पन्न होते ही जो स्थिति जीव की होती है वही मुक्ति की अवस्था है।

कर्मो से जीव की मुक्ति के लिए जैन-परम्परा मे जो प्रयत्न किये जाते है उसी का नाम जैन-धर्म है। वह धर्म दो भागों मे विभाजित है। प्रथम आचार मूलक धर्म, जिसकी आधार भूत भित्ति अंहिसा है। और जिसका पालन करके गृहस्थ श्रावक-श्राविकाए नवीन कर्मो को रोकने का प्रयत्न करते है। सवर की साधना करते हैं। दूसरा है, चारित्र मूलक धर्म। जिसकी आधारभूत भित्ति सयम और तप है। और जिसका साधु-वर्ग पालन करके पूर्व सचित कर्मो को सर्वथा जीव से पृथक कर देने का प्रयत्न करता है। निर्जरा की साधना करता है। इस साधना की चरम सीमा ही मोक्ष है। जीवन के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की प्राप्ति।

उत्तरदायित्व एवं शक्ति का समन्वय

उपर्युक्त कर्म-सिद्धान्त के विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक पक्ष को कितने वैज्ञानिक एव सूक्ष्म ढग से कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा उजागर किया है। मानव यदि अपने मन वचन काय की क्रियाओं मे सन्तुलन एव क्रोध, मान, आदि मनोभावो पर नियन्त्रण करलें तो उसके जीवन को शात और सुखमय होने में देर नही लगेगी। कर्म सिद्धान्त की जानकारी हो जाने पर मनुष्य के ऊपर जहा उसके हर अच्छे-बुरे कार्य का उत्तर दायित्व आता है, वहा उसमे अपने ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थियो को बदल डालने की शक्ति भी जागृत होती है उत्तरदायित्व एव निर्माण शक्ति का यह सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन दर्शन मे प्रतिपाद्य कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य है।

[प्रस्तुत निबन्ध में निम्न पुस्तकें सन्दर्भग्रन्थ हैं। विस्तृत जानकारी के लिये उनका अवलोकन अपेक्षित है]

१ जैन धर्म—प० कैलाशचन्द शास्त्री पृ० १४०–१५६

२ भारतीय सस्कृति मे जैन सस्कृति का योगदान डा० हीरालाल जैन पृ० २२२–२४०

३. जैन शासन–सुमेरचन्द दिवाकर पृ० १९५–२३०

४ जैन दर्शन–डा० मोहनलाल मेहता, पृ० ३४५–५७

सत्यमेव जयते नानृतम्

'सत्यमेव जयते नानृतम्–ए अथर्ववेदना मुण्डकोपनिपद मानु (३-१-६) वाक्य घणा खरा जाणे छे, एमानो पहेलो भाग स्वतन्त्र भारतनु ध्येय वाक्य तरीके पण चु टायो छे । ए श्रुति वाक्य नो अर्थ सत्यनोज (सदा) जय जूठानो नही । एवो आज सुधी लेवा आव्यो छे ।

पण उपनिषद मा जे सदर्भ माँ ए वाक्य आव्यु छे ते जोतां उपरनो अर्थ योग्य नथी एम लागे छे, ए अर्थ करती वखते 'सत्यम्' अने 'अनृतम्' ने वाक्य ना कर्ता लेवामा आव्या छे, पण ते योग्य न थी । ए वाक्य मा 'सत्यम्' (अने अनृतम्) ए कर्म रोई ऋषि ने कर्ता तरीके स्वीकारवानो छे । एम करता ए वाक्य नो अर्थ आवो थशे 'ऋषि सत्यज मेलवे छे, अनृत मेलवतो नथी' । उपनिपदो मा ऋपि मुनिओ नु ध्येय ब्रह्म प्राप्ति करवा नु छे, अने ए ब्रह्म एटलेज अन्तिम सत्य (सत्यस्य सत्यम्) । अहिंया सत्य ए साध्य छे, ए सत्य करता जे जुदु होय ते वधु अनृत गणाय, ए साध्य थई शकतु नथी । ब्रह्म ना सत्य अने असत्य रूपो विशे मे –उपनिषद मा अनुवाक्य छे—द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमूर्तं च । अथ यन्मूर्तं तद असत्यम्, यदमूर्तं तत् सत्यम् । तद् ब्रह्म तज्ज्योति मैत्रि ६,३ । जर्मन तत्वज्ञ Deusseu पण 'सत्यमेव जयते' नो आनोज अर्थ करे छे –Wahiheit Crisiegter (ie.ativadm of. Chandh 16) nieht unwebrheit" अपर श्रुति वाक्यनो नवो आपेलो अर्थ स्पष्ट थाय तेटला माटे मुण्डकोपनिषद माना वे श्लोक जोवु ठीक थशे—

> सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
> अन्त. शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यंति यतय क्षीण दोपा ॥
> सत्यमेव जयते नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान ।
> योनाक्रम वृन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र न तत्सत्यस्य परम निधानम ।। (३,१ ५–६)

आमाना पहेला श्लोक मा सत्यना गणतरी तप, सम्यक्ज्ञान, वगैरे साघनो मा करी छे, अने तेवडे आत्म प्राप्ति थाय छे एम कह्यु छे। अने बीजा श्लोक मा एम कह्य छे के जे देवयान थी ऋषिओ जाय छे ते सत्य थी वितत छे अने आखरे ते सोज्या 'पहोचे छे ते सत्यनु परम निधान छे'[1] । तेथी श्लोक ना आरम मा आवता 'सत्यमेव जयते' ए श्रुति वचन मा सत्य एटले व्यावहारिक सत्य अने ए वचन नो लौकिक दृष्टिए करेलो अर्थ 'सत्यनोज सदा जय थाय छे' एवो अर्थ करवो योग्व लागतु नथी, ऋषि आखरे ज्या पहोचे छे त्या

---

१ ऋपि जे मार्ग वडे जाय छे तेनु वर्णन मुण्डक मा जेम सत्येन पन्था विततो देवायान ' एवु कयु छे तेम वृहदारण्यक मा (४ ४ ९) मार्ग विशे एष पन्था ब्रह्मणह अनुक्ति· तेन एति ब्रह्मविन....एम कह्यु छे। आ बन्ने वाक्यो छेक समानार्थक न थी तो ए तेपर थी मुण्डकमाना उपला श्लोक मा सत्य ए ब्रह्म ना अर्थ मा छे ए जणाई आवशे ।

मात्र सत्य होवाथी उपरना वाक्य नो अर्थ ऋषि सत्यतेज मेलवे छे' एम लेवो जोइये । ऋषि अनृत के बीजा लोको मेलवतो नथी, कारण ऐनु ए साध्य नथी ।

आ नवा अर्थनी योग्यायोग्यता तपासवा माटे उपनिषदोमा 'सत्य' अने 'जी' ए शब्दो तो वापर केवी रीते करवामा आव्यो छे ए जोवू ईष्ट गणाय । एमाथी ब्रह्म एटलेज अन्तिम सत्य ए सिद्धान्त उपनिषदो मा अनेक ठेकाणे मूकवामा आव्यो छे । छादोग्यमा उद्दालक आरुणीए श्वेतकेतु ने जे आत्मैक्य नी शीखामण आपी तेमा आ बधी चराचर सृष्टि नो जे आत्मा तेनेज सत्य कह्यु छे, रसयः एष अणिमा, ऐ तदा त्वमिद सर्वम् तत् सत्य, स आत्मा तत् त्वम् आसे श्वेतकेता (६,८-१६) ए शीखामण आपता पहेला आरुणीए श्वेतकेतू ने जे प्रश्न पूछ्यो तेनो थोडो उकेल करती बखते पण 'सत्य शब्द मूलभूत सत्य ए अर्थ माँ वपरायो छे (एकेन मृत्पिन्डेन सर्व मृन्मय विज्ञात स्यात् वाचारम्मणं विकारो नामधेय मृत्तिका इत्येव सत्यम् ।…लोहम् इत्येव सत्यम् । … विगेरे ६ १) । एज उपनिषदमा आगल ब्रह्मनु नाम सत्य एवू स्पष्ट रीते कह्यु छे (तस्य हवा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यम् इति । ८,३) जे मुण्डक मा 'सत्यमेव जयते' ए वाक्य छे ते मा पण ब्रह्म विद्यानु स्वरूप कहेती बखते 'अक्षर पुरुप एज सत्य' एम कह्य छे (योनाक्षर पुरुष वेद सत्य प्रोवाच ता तत्वतो ब्रह्मविद्याम् । १ २.१३ तेमज, तद् एनद् अक्षर ब्रह्म … तद् एतत् सत्य, तद् अमृत · (२.२ २) एजे आखरी सत्य का तो ब्रह्म तेना पर आदित्य रूप सोनानु ढाकणु होई ते दूर कर्या पछी सत्य जोई शकाय छे एनु केटलाक ठेकाणे वर्णन छे (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् । तत् त्व पूषन् अपावृणु सत्य धर्मपि दृष्टये ।। ईशा० १५ बृह० ५१५) । 'सत्यमेव जयते' ए वाक्यमा सत्यने कर्ता तरीके लेता पहेला एक बात ध्यान माँ राखवी जोइए ते एके सत्य ए ब्रह्मनु एक अभिधान होवा थी उपनिपद मा सत्यने कयाय कर्तृत्व आपवामा आव्यु नथी । बृहदारण्यक माँ एक ठेकाणे (५ ५.१.) सृष्टी ना उत्पत्ति नु वर्णन करती वखते आवा वाक्यो छेः आप एव इदम् अग्रे आसुः । ता. आप सत्य असृजन्त, सत्य ब्रह्म. ब्रह्म प्रजापति प्रजापति देवान् … । आ वाक्यो उपर उपर जोता पहेला तो एम लागे के अहिया सत्य ने ब्रह्म उत्पन्न करवानु कर्तृत्व आपवामा आव्यु छे पण वस्तुस्थिति तेवी नथी । आना पहेला ना खड मा (५.४) सत्य एटलेज जे ब्रह्म ते 'प्रथमज' होवानु कह्यु छे (सयोर एत महद्यक्ष प्रथमज वेद सत्य ब्रह्म इति …..) आ पर थी ए स्पष्ट थशे के उपरना वाक्यो मा 'सत्यब्रह्म ए शब्दो मा सामानाधिकरण्य छे । अने तेनो अर्थ पाणी ए सत्य उत्पन्न कर्यु '। ए सत्य एटलो ब्रह्म, ब्रह्मा ए प्रजापति, प्रजापति ए देवो ने उत्पन्न कर्या एवो लेवानो छे।

उपनिषदो मा बधेज ठेकाणे सत्य एटले ब्रह्म एवो अर्थ होय छे एनू सूचन करवानो हेतु न थी । केटलेक ठेकाणे सत्य एटले 'साचु' बोलवु' एवो व्यावहारिक अर्थ पण होय छे दाखला तरीके वेदाभ्यास पूरोथाय पछी गुरु ए शिष्य ने जे उपदेश करवाने होय छे तेमा 'सत्यवद । सत्यान्न प्रमदितव्यम्' (तैति १११ १) एवा वाक्यो छे छादोग्य माँ (१.२,३) पण कह्यु छे 'तस्मात् तया (×वाचा) उभय वदनि सत्य च अनृतम् च, कोई के चोरी करी छे के नही ए बाबत मा चुकादो आपवा माटे तप्त परशु नो जे प्रख्यात दाखलो छे तेमा पण आवा प्रसगे जेना हाथ दभाय ते अनृताभि संधी अने जेनो हाथ न दभाय ते सत्याभि सधी एवो निर्णय कर्यो छे (छादोग्य ६- ६) आँखे जोएलु ते सत्य काने साभले लु नही, आ सत्य अत्मवार व्यावहारिक सत्य होई ते वस प्रतिष्ठित होय छे । एम बृहदारण्यक कहे छे । चक्षुर्वै सत्यम् ।….तस्माद् पद इदानी द्वौ विवदमानौ एया ताम्, अहम् अदर्शम्, अहम् अश्रौषम् इति, यो एव ब्रूयात् अहम् अदर्शम् इति, तस्मै एव श्रद्दध्याय (५ १४४) ब्रह्म मेलववाना साधनो माँ ज्यारे सत्यनी गणत्री होय छे त्यारे त्यापण

सत्य एटले लौकिक सत्य अभिप्रेत होय छे। उपर आपेला मुण्डकमाना श्लोक मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान अने ब्रह्मचर्य ए चार आत्म प्राप्ती ना साधनो कह्या छे। एमा ना सत्य अने तपनो उल्लेख श्वेताश्वतर मा पण छे (सत्येन् एव तपसा योऽनुपश्यति। १ १५) ए सिवाय साधन विपयक बीजु वाक्य तस्पाद् वित्रया तपसा चिन्तया च उपलभ्यते ब्रह्म। (मैत्रि. ४-४ विगेरे) ब्रह्म प्राप्ति ना ए सावनो नी उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म थी ज थई छे (तस्माच्च देवा बहुधास प्रमूता. तपश्च श्रद्धा सत्य ब्रह्मचर्य विधिश्च। (मुण्डक २ १.७) प्रश्नोपनिपद् मा क्या साधनो ब्रह्म लोक मेलवण माटे सफल थाय छे अने क्या थता नथी ए स्पष्ट रीते बताव्यु छे तेपाम् एव ब्रह्मलोको येपा तपो ब्रह्मचर्य, येपु सत्य प्रतिष्ठितम्।....न येपु जिह्मम् अनृत् न माया च इति। १ १५.६ तेमज मुण्डक मा (३ २ ३) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन-एम जणाव्यु छे। पण आपणे जे वाक्यनो अर्थ करवो छे ते श्लोक मा ऋपि आखरे क्या जई पहुचे छे ते कह्यु होवाथी सत्यनो अर्थ ब्रह्म एवो घटे, साचु बोलवु ए नथी।

उपनिपदो मा 'सत्य शब्द ना जे प्रयोगो छे ते जोया पछी आपणे 'जी' शब्द ने लईये। छेक ऋग्वेद थी माडा ए घ तूना मेलववु, प्राप्त करवु 'तेमज' जीतवु विजय मेलववो एवा बन्ने अर्थो सभवे छे। उपनिषदो मा पण 'एकाद वस्तु मेलववी। ए अर्थ जी धातूनो प्रयोग जोवा मा आवे छे 'लोके जयति' के सलोकता जयति—एवा प्रयोगो उपनिपदो मा घणीवार आवे छे-तत लोके जयते ताश्च कामान्' एम मुण्डक माज (३.१ १०) कह्यु छे. अने त्या 'जयते' नो मेलवे छे, प्राप्त करे छे एज अर्थ ए चोक्खु छे। आ वाक्य मा आवता 'कामान् जयते' ने बदले छादोग्य मा आवता 'आप्नोति सर्वान् कामान् (७ १०) ए शब्दो पण एज वस्तु बतावे छे। सामविपयक गूढार्थना उकेल करता वखते एकवीस अक्षरो वडे आदित्य प्राप्ति थाय छे। अने बावीसमा अक्षरे आदित्यमी जे पर छे ते मले छे ए करती वखते 'जयति' अने 'आप्नोति' ना जे प्रयोगो छे ते परथी आ हकीकत वधारे स्पष्ट थाय छे एकविंशत्या आदित्यम्' आप्नोति'।....द्वाविंशेन परम् आदित्यात् जयति तत्नाकम् तद् विशोकम् (छा २ १० ५.)। ए पर थी 'सत्यमेव जयते' ए वाक्य मा 'सत्य' एटले 'अ तिम सत्य' अथवा 'ब्रह्म' अने जयते 'मेलवे छे' एवा अर्थो लेवा मा कोई वाँधो न थी ए वस्तु ध्यान मा आवशे।

'सत्यमेव जयते'—ए श्रुति वाक्य पर श्रीशकराचार्य लखेछे. सत्यमेव सत्यवान एव जयते जयति, न अनृत न अनृतवादी इत्यर्थ। नहि सत्यानृतयो केवलयो पुरुपानाश्रितयो जय पराजयोवा सभवति। प्रसिद्ध लोके सत्यवादिना अनृतवादी अभिभूयते न विपर्यय-। अत सिद्ध सत्यस्य बलवत्साधनत्वम्। एपर थी आचार्य श्री बेपण मात्र सत्य तरफ कर्तृत्व आपवामा अडचण लागी अने तेथी तेमणे सत्यम्—सत्यवादी पुरुष एवो अर्थ लीधो। पण तेम छता एमणे सत्यने वाक्य नो कर्त्ता मान्यो अने जयते नो अर्थ जयथाय छे एवो लीधो तेथी उपर ना वाक्यनो 'सत्यनोज सदा जय थाय छे। एवो लौकिक अर्थ एमने अभिप्रेत छे। एमना मतव्य प्रमाणे एम कहेवानु' कारण सत्यनी उत्तम साधन तरीके प्रशसा करवी एछे। पण एनी जरूर गणाती न थी। कारण आ उपनिषद जे ऋषिओन अक्षर प्राप्ति तत्व ज्ञान रूप जे पराविद्या तेथी थई शकेछे। लौकिक जय के पराजय ए बधु अपराविद्या मा आवी शके, ते मुण्डको[1] ने केटला उपनिषत् मा स्थान न थी। ए उपदेश ग्रहण

---

१ मुण्डक उपनिषद मा आपेला ब्रह्मविद्या माथानु मुण्डन करी अरण्य मा रहेवारा ओ माटे हती एवु तेपामेव एतां ब्रह्मविद्या वदेत शिरो व्रतं विधिवत् यैस्तु चीर्णम् [३, २, १०] ए वाक्य परथी लागे छे।

करी वन मा रहेता आप्तकाम ऋषिओने 'सत्यनोज सदा व्यवहार मां जय थाय छे'—ए वात कहेवानो [illegible] नथी) तप श्रद्धेयोह्यु प वसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष चव चिरन्त:(१२,११); आ उपदेश देनार अने लेनार गुरु शिष्यनुं वर्णन पण आमे भेनु (१, २, १२-१३) एकंदरे मुण्डक उपनिषद् मा आपेलुं तत्व ज्ञान अने त्या आवतु साध्य साधकोनुं वर्णन जोता 'सत्यमेव जयते' नो अर्थ ऋषि सत्य-(ब्रह्म) तेज मेलवे छे' [illegible] उचित थशे ।

आ विवेचन सामे थोडाक आक्षेपो मूकवा शक्य छे, पहेलो आक्षेप एवो छे के 'जी' धातुने [illegible] पदे उपयोग कर्यो होय तो कर्मनी अपेक्षा रखाये ।[1] पण उपरना वाक्य मा 'जयते' एवो आत्मनेपदे [illegible] होवा थी कर्मनी अपेक्षा न थी अने तेथीज ए वाक्यनो 'सत्यनोज जय थाय छे' एवो अकर्मक अर्थ [illegible] छे । आ बन्ने प्रयोगोनुं उदाहरण तरीके ऐतरेय ब्राह्मणमानु (१२.६) एक वाक्य आपी शकाय । [illegible] ....जयति स्वर्गलोक, व्यस्मिन् लोके जयते' । आ आक्षेपनो परिहार एम करी शकाय । पहेलो [illegible] आत्मने पदमा थता प्रयोगोहमेश कर्म निरपेक्ष होय छे एवुं न थी । मुण्डकमाज आवता 'पश्यते' [illegible] उपयोग जोवा. यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णकर्तार ईश पुरुष ब्रह्मयोनिम् (३, १, ३) [illegible] निष्कल ध्यायमान: (३, १, ८) । बीजी वात एवी के 'जयते' नोज सकर्मक उपयोग [illegible] जयते ताश्च कामान् । ३, १, १० । परन्तु खरे खर जोता तो श्रुति वाक्य मा [illegible] सत्यमेव जयते' एवो प्रयोग करवानु कारण मुण्डकमा वपरायेला छंद मा छे । [illegible] मुन्डकोपनिषत परना पुस्तकमा ए छंदनु जे विवेचन कर्युं छे ते पर थी (पा० २८) [illegible] उपनिषद् मा आवता त्रिष्टुभ मा ज्या पादनो पहेलो अवयव चार अक्षर नो अने [illegible] नो होय छे त्या वचता अवयव ना त्रणे अक्षरे कदे लघु होता नथी । अने तेथीज [illegible] जयति' ने वदले 'सत्यमेव जयते' अने ततलोक जयते एवा प्रयोग थया छे । तेथी [illegible] मा उपयोग गृहीत—'सत्यं' ने कर्म लेवामा कोई वांधो न थी । हेर्टलना मानवा [illegible] पदमा शेत्रटनु अक्षर नीकली गयुं छे । आपाद छंदनी दृष्टि ए एकाक्षर [illegible] पहेली लीटी एम वांचे छे सत्यमेव जयते, नानृतं स , सत्येन पन्था विततो देवयान: । [illegible] 'एम कर्युं होयतो 'स ' ए कर्ता अने 'सत्य' ए कर्म ए चो करवी वात छे । [illegible] अर्थ अभिप्रेत हतो ए समजवा मार्ग नथी । पण उपनिषद् मा एमणे सूजवेली [illegible] ए वाक्यमा 'सत्य' मानवुं केम घटे छे ते उपर जणाव्यु छेज ।

बीजो आक्षेप एवो के श्लोकना पहेला पादमा 'जयते' एवो एक [illegible] एक वचनी कर्ता मानवानो छे पण बीजा पादमा तो ऋषय: आक्रमन्ति' [illegible] पहेला पादमा एक वचनी कर्ता अव्याहृत न मनाय । आक्षेपनु पण उत्तर [illegible] ना वचन विरोध बीजे ठेकाणे पण जोवा मले छे । दाखला तरीके मुण्डकमा [illegible]

> स वेद एतत् परम ब्रह्मधाम यत्र विश्व निहित मातिशुभ्रम् ।
> उपासते पुरुषयसे ह्यकामास्ते शुक्रम् एतद अतिवर्तन्ति धीरा. ॥३, २, १

एतैद उपायैर यतते यस्तु विद्वान् तस्य एष आत्मा विशत ब्रह्म धाम ।
सप्राप्य एनम् ऋपयो ज्ञान तृप्ता. कृतात्मानो वीतरागा प्रशान्ता ।।३–२–४–५।।

एक बीजा आक्षेप एवो के उपनिपदो मा 'ऋपि ब्रह्म जयति' एवो प्रयोग मलतो नथी । आवात साची छे । पण जयतिने वदलेई सत्यम् इविन् इमाय् ईसथ क्रियापदोना उपयोग नीचे ना वाक्यो मा जोवा जेवा छे सत्येन लभ्य आत्मा (मु० ३–१–५) नायामात्मा प्रवचनेन लभ्य (मु० ३–२–३) तस्माद् विद्यया...... उपलभ्यते ब्रह्म (मैत्रि ४–०) ब्रह्मचर्येण आत्मानाम् अनुविन्दते (छा–८–५) ब्रह्म प्राप्तः (कठ–६–१८) अत्र ब्रह्म समश्नुते (कठ ७–१४ वृह० ४–४७), 'जयति' विशेपण उपर छा–२–१०–५–६ मानु साहित्यनी प्राप्ति अने साहित्य थी जेपर छे तेनी प्राप्ति तियेनु वाक्य टाकी शकाय: गव वि शेन आदित्यम् आप्नोति .. द्वावि शेन परम् आदित्या ज्जयति । एक ठेकाणे साहित्यनुंज अंतिम ध्येय जे ब्रह्म तेंना साथ ऐक्य गणीतेनी प्राप्ति विशे 'जयति' नो उपयोग कर्यो छे । प्रश्न १–१० मा एम लखायु छे अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानम् अन्विष्य आदित्यम् अभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानाम् अपतनय एतद् अमृतम् अभयम् एतद् पणयणम् एतस्मान्न पुनरावर्तना इति । आ वाक्यमा पहेला आत्माना अन्वेषणना साधनो आप्या छे । अनेते पछी तरतज आदित्यम् अभिजयन्ते नो प्रयोग छे । मुण्डकमां पण पहेला आत्म प्राप्ति ना साधनो वताव्या छे अने तेपछी तरतज 'सत्यमेव जयते' नो प्रयोग छे । प्रश्न मानु आदित्यम् अभिजयन्ते अने मुण्डकमानु सत्यमेव जयते आ वन्ने वाक्यो जे स्थितिमा आव्या छे तेमानी सरखामणी आपणे ध्यानमा लईए नो सत्यमेव जयते नो जे अर्थ अमे वतावामा आव्योछे ते विशे शक रही शके नथी ।

उपरना वधा विवेचन मां एवु मनायु नथी के 'सत्यमेव जयते' ना 'सत्यनोज जय थाय छे' एवो अर्थ कयारेव थई शके नथी । ए वाक्यनो जो प्रकारण निरपेक्ष उपयोग कर्यो होय तो तेना तेवो अर्थ लेवामा कोई भूल नथी । ते अर्थ पण शास्त्रशुद्र छे तेथी अर्थनी ज्या विवक्षा छे त्या स्वतत्र रीते ए वाक्यनो उपयोग कर्यो होय त्या पण उपनिषदमा मलतो मूलनोज अर्थ कायम राखवो जोइए एवो आलेख लखवामा आग्रह नथी । आग्रह एटला परतोज छे के मूल उपनिपदमाज ए अर्थ होवानु जे आज सुधी मनायु छे ते योग्य लागतु न थी ।